विश्व-इतिहास-कोष

Encyclopedia of World History

पाँचवाँ खण्ड

(ख, ग, घ वर्ण के विश्व-इतिहास के नामों का संकलन)

श्री चन्द्रराज भण्डारी "विशारद"

प्रकाशक

ज्ञान-मन्दिर, भानपुरा (मध्यप्रदेश)

(१ जुलाई १९६[illegible])

प्रथम संस्करण]

[मूल्य—पन्द्रह रुपये

पूरा सेट १६ भागों का पेशगी मूल्य—१५० रुपये

प्रकाशक—

श्री चन्द्रराज भण्डारी

ज्ञान-मन्दिर, भानपुरा (मध्यप्रदेश)

लेखक की अन्य पुस्तकें

(१) भगवान महावीर—ऐतिहासिक जीवनी पृष्ठ संख्या ५००
प्रकाशन सन् १९२५।

(२) भारत के हिन्दू सम्राट्—ऐतिहासिक ग्रंथ पृष्ठ संख्या ३००,
भूमिका लेखक रायबहादुर स्व० गोरीशंकर
हीराचन्द ओझा। प्रकाशन सन् १९२५।

(३) समाज-विज्ञान—समाज-शास्त्र का मौलिक ग्रंथ, कुछ वर्ष पूर्व हिन्दी-
साहित्य सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा में स्वीकृत,
पृष्ठ संख्या ६०० प्रकाशन सन् १९२७।

(४) अग्रवाल जाति का इतिहास—(दो खण्ड) पृष्ठ संख्या २०००
प्रकाशन सन् १९३६।

(५) नैतिक-जीवन—पृष्ठ संख्या २०० प्रकाशन सन् १९२५।

(६) सिद्धार्थ कुमार (बुद्धदेव सम्बन्धी नाटक) प्रकाशन सन् १९२३।

(७) सम्राट् अशोक (नाटक) प्रकाशन सन् १९२४।

(८) वनौषधि-चन्द्रोदय (वानस्पतिक विश्व-कोष) १० भाग।
२२०० पृष्ठ, प्रकाशन सन् १९३८ से १९४४ तक।

(९) भारत का औद्योगिक विकास—पृष्ठ संख्या ७००
प्रकाशन सन् १९६०।

(१०) ओसवाल-जाति का इतिहास—पृष्ठ संख्या १०००।
प्रकाशन सन् १९३४।

(११) सम्पादक—जीवन-विज्ञान (मासिक-पत्र) प्रकाशन सन् १९४६।

बुक-बाइण्डर
दफ्तरी एण्ड को०
बुलानाला,
वाराणसी।

मुद्रक—
प्रकाश प्रेस
मध्यमेश्वर, वाराणसी।
फोन : ४८७८

विषय-सूची नं० १

(अकारादिक्रम से)

[ग]

★

विषय-सूची नं० २

(विषयानुक्रम से)

देश और नगर

राजा, राजवंश और राज्याधिकारी

साहित्य और साहित्यकार

धर्मग्रन्थ और धर्माचार्य

विज्ञान और वैज्ञानिक

★

सन्दर्भ-ग्रन्थ

नागरी प्रचारिणी	विश्वकोष १-२-३-४
नगेन्द्रनाथ वसु	विश्वकोष ४-५
डॉ० भ० श० उपाध्याय	विश्व साहित्य की रूपरेखा
राहुल सांकृत्यायन	म० एशिया का इतिहास
पं० जवाहरलाल नेहरू	विश्व इतिहास की झलक
डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार	एशिया का प्रा० इतिहास
,,	यूरोप का प्रा० इतिहास
श्रीकृष्ण चैतन्य	संस्कृत साहित्य का इतिहास
वाचस्पति गैरोला	,, ,, ,,
लोकमान्य तिलक	गीता रहस्य
ज्ञानेश्वर	ज्ञानेश्वरी गीता
ज्ञानमण्डल	हिन्दी साहित्य कोष
परशुराम चतुर्वेदी	भारत की सन्त परम्परा
चिरञ्जीलाल पाराशर	विश्व सभ्यता का विकास
गंगा प्रसाद एम० ए०	अंग्रेज जाति का इतिहास
ज्योति प्रसाद सूद	राजनैतिक विचारों का इतिहास
आचार्य्य नरेन्द्रदेव	बौद्ध दर्शन
सुखसम्पतिराय भण्डारी	भारत के देशी राज्य
विश्वेश्वरनाथ रेऊ	भारत के प्राचीन राजवंश
चिन्तामणि वैद्य	मध्य कालीन भारत
अत्रिदेव	आयुर्वेद का इतिहास
व्रजरत्नदास	उर्दू साहित्य का इतिहास
डॉ० सत्येन्द्र	बङ्गला साहित्य का इतिहास
के० भास्करन नायर	मलयालय साहित्य का इतिहास
जयचन्द्र विद्यालंकार	भा० इतिहास की रूपरेखा
देवीप्रसाद मुन्सिफ	मारवाड़ राज्य का इतिहास
कर्नल टॉड	राजस्थान का इतिहास
गौरीशङ्कर ही० ओझा	राजपूताने का इतिहास
,,	भारत की प्राचीन लिपि माला
डॉ० रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास
रामनरेश त्रिपाठी	कविता कौमुदी ५ भाग
गुलाब राय एम० ए०	विज्ञान विनोद
अम्बिका प्रसाद बाजपेई	समाचार पत्रों का इतिहास
शंकरराव जोशी	रोम साम्राज्य
छबिनाथ पाण्डेय	पश्चिमी यूरोप
प्लूटार्क	ग्रीस रोम के महापुरुष
प्राणनाथ विद्यालंकार	इंग्लैण्ड का इतिहास
एल० मुकुर्जी	यूरोप का इतिहास
पी० वी० बापट	बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष
चन्द्रराज भण्डारी	भगवान महावीर
,,	भारत के हिन्दू सम्राट्
डॉ० ज्योति प्रसाद जैन	भारतीय इतिहास
डा० रघुबीर सिंह	मालवा मे युगान्तर
नाथूराम प्रेमी	जैन साहित्य और इतिहास
अलेक्झेण्डर फारबस	रासमाला
माधवाचार्य	सर्व दर्शन संग्रह
सत्यकाम विद्यालंकार	हिन्दी गीताञ्जलि

गुजराती

मोहनलाल दुलीचन्द	जैन साहित्यनो इतिहास
रतिलाल नायक	विज्ञान कथा
कृष्णलाल जवेरी	गुजराती साहित्य

अंग्रेजी

John macy	The Story of the World Literature.
H G. Wells	Out line of Histoıy
K, M Pannikar	A Servey of Indian History
Roy Chaudhary	Political History of Ancient India.
Bhandarkar	Early History of Daccan.
E. G. Browne	Literary History of Parsia
H. H. Howarth	History of Mangol
L A. Mills	The New world of South East Asia
Chaldea	The Story of the Nations
Nawrice W. Ph.D.	A.Story of Indian Literature
Hays C. G. H.	A History of Modern Europe
Keith	A History of Sanskrit Literature

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग, मासिक कादम्बिनी, हिन्दी नवनीत इत्यादि के करीब २०० अङ्क।

★

विश्व-इतिहास-कोष

Encyclopedia of World History

[पाँचवाँ खण्ड]

ज्ञान-मन्दिर—प्रकाशन, भानपुरा

विश्व-इतिहास-कोष

पाँचवाँ खण्ड

खगोल-विज्ञान

आकाश मण्डलीय सूर्य्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रों की स्थिति का ज्ञान कराने वाला विज्ञान, जिसकी उत्पत्ति का इतिहास बहुत प्राचीन है।

आकाश मण्डलीय नक्षत्रों का ज्ञान आदिमकाल से ही मनुष्य के अध्ययन की एक अनिवार्य वस्तु रहा है। सृष्टि में अवतीर्ण होने के साथ ही मनुष्य जब देखता है कि प्रतिदिन नियमित रूप से सूर्य्य उसको प्रकाश प्रदान करता है और उसके अस्त होते ही सृष्टि में घोर अन्धकार छा जाता है तथा उस घोर अन्धकार के अन्तर्गत आकाश मण्डल में हजारों नक्षत्र जगमगाने लग जाते हैं। चन्द्रमा दिन प्रतिदिन घटता और बढ़ता हुआ उसकी रातों को सुन्दर बना देता है। तब स्वभावतः उसके मन में प्रश्न होता है कि यह सब क्या है ?

मनुष्य की यही जिज्ञासा आगे जाकर खगोल शास्त्र, गणित शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र के रूप में विकसित होती है। खगोल शास्त्र, गणित ज्योतिष और ज्योतिष शास्त्र मनुष्य की इसी जिज्ञासा-वृत्ति के क्रमागत विकसित रूप हैं। जिस प्रकार चिकित्सा विज्ञान में, शरीर शास्त्र (एनाटोमी) का का विकास शरीरक्रिया विज्ञान में (फिजियालाजी) और उसका विकास सम्पूर्ण चिकित्सा शास्त्र के रूप में होता है उसी प्रकार खगोल शास्त्र के साथ गणित ज्योतिष और उसके पश्चात् समस्त ज्योतिष शास्त्र का विकास होता है। इसलिये इन तीनों विषयों का विवेचन ज्योतिष शास्त्र के विवेचन में करना ही विशेष उपयुक्त रहता है।

लेकिन आज के युग में मनुष्य ने अपनी वैज्ञानिक शक्ति से खगोल-विज्ञान में जो आश्चर्यजनक उन्नति करली है उसके कारण इस विज्ञान ने एक स्वतन्त्र विज्ञान का रूप धारण कर लिया है और इसीलिए इस पर आज कल स्वतन्त्र रूपसे विवेचन करने की आवश्यकता समझी जाती है।

खगोल-विज्ञान का विकास, मनुष्य की इस जिज्ञासा वृत्ति के कारण सभी देशों में भिन्न २ रूपों में हुआ, मगर इस शास्त्र को वैज्ञानिक रूप सबसे पहले किस देश में मिला, इस विषय में इतिहासकारों के अन्तर्गत बड़े मतभेद हैं।

प्रोफेसर व्हिटनी, कोलब्रुक इत्यादि विद्वानों के मत से भारतवर्ष में खगोल विज्ञान और ज्योतिष का वैज्ञानिक ज्ञान वेबीलोनियन और यूनानी सभ्यता से आया और बरजेस के समान अंग्रेज विद्वानों के मत से भारतवर्ष अपने ज्योतिष ज्ञान के लिये किसी का ऋणी नही है।

ज्योतिषशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ "सूर्य्य सिद्धान्त" मे खगोलशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए लिखा है कि—

"सतयुग के कुछ शेष रहने पर 'मय' नामक महान् असुर ने सब वेदांगो में श्रेष्ठ सारे ज्योतिषपिण्डों की गतियों का कारण बताने वाले, परम पवित्र और रहस्यमय उत्तम ज्ञानको जाननेकी इच्छासे कठिन तप करके सूर्य्य भगवान् की आराधना की। उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर सूर्य्य भगवान् ने अपने एक अनुचर के द्वारा सबसे पहले उसको आकाश मण्डलीय ग्रहों का रहस्य बतलाया।"

इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि खगोल-शास्त्र और सूर्य्य सिद्धान्त का सबसे पहला ज्ञान वेबिलोनियन और असीरियन या आसुरी संस्कृति के लोगों को प्राप्त हुआ और वहीं से यह ज्ञान यूनान और भारतवर्ष में साथ २ आया।

डा० गोरखप्रसाद अपने भारतीय ज्योतिष के इतिहास में लिखते हैं कि "प्राचीन समय में बाबुल लोगों का खगोलशास्त्र और ज्योतिष का ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था। ये लोग टाइग्रिस और यूफ्रेटीज नदी के मध्य की तथा समीपवर्ती भूमि पर रहते थे। इन लोगों ने ग्रहणों की भविष्यवाणी करने के लिए

"सॅरॉस" नामक युग का आविष्कार किया था। यह युग २२३ चान्द्रमास या १८ वर्ष ११ दिन का होता था। ऐसे एक युग के ग्रहण आगामी युग में उसी क्रम में और प्राय: ठीक उतने ही समयों पर होते हैं। इस युग का आविष्कार कब हुआ यह ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु वहाँ के एक राजा के समय के लेखों से स्पष्ट होता है कि ईसा से ३८०० वर्ष पूर्व वहाँ पर तारा मण्डलों के नाम पड़ गये थे। यद्यपि उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन होता रहा।"

इन उद्धरणों से ऐसा अनुमान हो सकता है कि खगोल विज्ञान का पहला ज्ञान बेबिलोनियन लोगों को हुआ। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में भी खगोल विज्ञान और ज्योतिष का ज्ञान वैदिक काल से ही था।

डॉ० बरजेस सूर्य्य सिद्धान्त की भूमिका में लिखते हैं कि—

(१) चंद्रमा की गति जानने के लिये सूर्य्य मार्ग का सत्ताइस नक्षत्रों में बाँटना हिन्दू ज्योतिष पद्धति में बहुत प्राचीन काल से है। सूर्य्यमार्ग के इसी प्रकार विभाग अरब और चीनी ज्योतिष में भी कुछ हेर फेर के साथ हैं मगर यह विभाजन विशुद्ध हिन्दू मूल से उत्पन्न हुआ है।

(२) सूर्य्य की गति को जानने के लिसे सूर्य्य मार्ग को बारह राशियों के बारह भागों में विभाजित करना भी भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है और सम्भव है कि जब इस विभाजन का लेश मात्र भी दूसरे देश नहीं जानते थे उससे सदियों पहले इसको भारत के हिन्दू जानते थे।

भारत में खगोलविज्ञान का विकास

अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष के लोगों को आकाश मण्डलीय नक्षत्रों का ज्ञान हो चुका था यह बात वेदों से और ब्राह्मण ग्रन्थों से हमें स्पष्ट मालूम होजाती है। तैत्तिरीय संहिता में सत्ताइस नक्षत्रों के नाम उनके देवताओं के नामों के साथ बड़े सुन्दर ढंग से बतलाये गये हैं।

वेदांग-ज्योतिष

मगर इस संबंध का व्यवस्थित ज्ञान हमें 'वेदांग ज्योतिष' नामक एक अत्यन्त प्राचीन, लेकिन छोटी सी पुस्तक में मिलता है, जिसमें केवल ४४ श्लोक हैं। इस छोटे से ग्रंथ का रचनाकाल कुछ विद्वानों के मतानुसार ईसा से बारह सौ वर्ष पूर्व समझा जाता है। इस ग्रंथ में पंचांग बनाने की विधि, ग्रह नक्षत्रों की गति का ज्ञान इत्यादि सभी बातों का सूक्ष्म रूप में वर्णन है। जिससे यह निर्विवाद माना जा सकता है कि उस समय भारतवर्ष के लोगों का खगोल शास्त्रीय ज्ञान काफी विकसित हो चुका था।

सूर्य्य-सिद्धान्त

सूर्य्य सिद्धान्त भारतीय खगोलशास्त्र का एक अत्यन्त प्राचीन और मान्यग्रन्थ है। इसमें खगोल-विज्ञान का विश्लेषण करते हुए बतलाया गया है कि—

"वायु क्रिया भेदसे सात प्रकार का होता है। इसमें से "आवह" वायु पृथ्वी से ऊपर की ओर ४८ कोस तक व्याप्त होकर भूमण्डल का कार्य्य चलाता है। इस वायुकी गति का नियम नहीं है यह चारों दिशाओं में आड़े टेढ़े चक्कर लगाता रहता है। इस "आवह" वायु से ऊपर "प्रवह" वायु बहता है। उसका बहाव हमेशा पश्चिम दिशा की ओर होता है। उसकी चाल घटती बढ़ती नहीं, सदैव समान रहती है। आकाश मण्डल के सब नक्षत्र तारे इसी वायु में अवस्थित हैं।"

"हम जिन तारों और नक्षत्रों को देखते हैं उनको दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। उनमें एक श्रेणी का नाम ग्रह (Planet) और अपर श्रेणी का नाम नक्षत्र (Fixed star) है। सबके ऊपर राशिचक्र लगा है। उस राशि चक्र को बारह समान भागों में बाँट कर उनके बारह नामकरण कियेगये हैं यह राशिचक्र (१) मेष (Aries) (२) वृष (Taurus) (३) मिथुन (Gemini) (४) कर्क (Cancer) (५) सिंह (Leo) (६) कन्या (Virgo) (७) तुला (Libra) (८) वृश्चिक (Scorpie) (९) धन (Sagittarius) (१०) मकर (Capricornus) (११) कुम्भ (Aquarius) और (१२) मीन (Pisces) इन बारह भागों में विभक्त है।

इस राशिचक्र को फिर २७ भागों में बाँट कर उसके एक-एक भाग को नक्षत्र संज्ञा दी गई। इन सब तारों के समूह को नक्षत्र-मण्डल (Constelleations) कहते हैं। ग्रहों और नक्षत्रों की एक-एक कक्षा है। नक्षत्र कक्षा सबसे ऊपर पड़ती है। उस नक्षत्र कक्षा के नीचे क्रम से शनि'

बृहस्पति, मङ्गल, सूर्य्य, बुध, शुक्र और चन्द्र अनवरत अपनी-अपनी कक्षा में रहकर पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते हैं।"

पंच सिद्धान्तिका के अनुसार पृथ्वी, ग्रह और नक्षत्र, अपनी-अपनी आकर्षणशक्ति से ही शून्य मार्ग में अवस्थित रहते हैं (गोलाध्याय ३।२)

राशि चक्र की भाँति ग्रहों की कक्षा भी बारह भागों में विभक्त है। राशि-चक्र बराबर पश्चिम की ओर घूमा करता है और उसके आघात से ग्रह तथा नक्षत्र मण्डल भी पश्चिम की ओर गतिशील रहता है। ग्रहों की अपेक्षा नक्षत्र मण्डल की गति अधिक तेज होती है।

इस सम्पूर्ण राशिचक्र को ३६० भागो में बाँटा है। प्रत्येक भाग एक अंश कहलाता है, प्रत्येक अंश (Digree) फिर साठ भागों मे विभक्त है। इसमे के प्रत्येक भाग को 'कला' कहते हैं। कला का साठवाँ भाग 'विकला' कहलाता है। अतएव राशिचक्र के तीस अंशों से एक राशि बनती है और राशिचक्र के प्रत्येक १३ अंश और बीस कला का एक नक्षत्र बनता है। अश्विनी से नक्षत्रों की गणना प्रारम्भ होती है।"

इसी प्रकार आगे चलकर सूर्य्य सिद्धान्त में खगोल विज्ञान सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म बातो और गणना का विवेचन किया गया है। सूर्य्य सिद्धान्त की गणना के आधार पर अब भी कई पंचांग बनाये जाते हैं। परन्तु दैनिक गतियों मे त्रुटि रहने के कारण अब ग्रहों की स्थिति मे नौ दस अंश का अन्तर पड़ जाता है। प्राचीन सूर्य्यसिद्धान्त के स्थिरांक और भी अशुद्ध थे, इसलिये उस ग्रन्थ के बनने के कुछ ही सौ वर्ष पश्चात् उसके आधार पर गणना और वेध मे अन्तर पड़ने लगा। इसलिए आगे के ग्रन्थकारो ने सूर्य्यादि आकाशीय पिण्डों के लिए बीज संस्कार बनाया। अर्थात् उनकी गति में परिवर्तन किया।

भारतीय खगोल-शास्त्र के इतिहास मे किसी जैनाचार्य के द्वारा लिखी हुई 'सूर्य-प्रज्ञप्ति' नामक एक पुस्तक भी प्राप्त होती है जिसका रचना-काल ईसा से लगभग ३ सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। इस ग्रन्थ में जैन धर्म के मतानुसार विश्व की रचना का उल्लेख किया गया है।

मगर खगोल और ज्योतिषशास्त्र के ऊपर विशेष वैज्ञानिक विवेचना ईसा की ५वी शताब्दी से १२वी शताब्दी तक हुई। इस काल में आर्य भट्ट (ई० सन् ४७६) वराहमिहिर (मृत्यु सन् ५८७ ई०) ब्रह्मगुप्त (५९८ ई०) लाटदेव (ईसा की ६ठी शताब्दी) भास्कर प्रथम, श्रीवर (ई० सन् ६५० के लगभग) *महावीराचार्य* (*ई० सन् ८५०*) *आर्यभट्ट द्वितीय* (ई० सन् ९५०) इत्यादि अनेकानेक लेखक हुए, जिन्होंने खगोल-शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र और गणित-शास्त्र के ऊपर अपनी अमूल्य देनों से विश्व-साहित्य को प्रभावित किया। इनका विस्तृत वर्णन गणितशास्त्र और ज्योतिष-शास्त्र के साथ दिया जायगा।

वराह मिहिर के पहले से ही सम्भवत: आकाश-मण्डल मे स्थित नक्षत्रों की जानकारी के लिए यन्त्रों का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था। उन्होने अपने ग्रंथ के *'छन्दक यन्त्राणि'* नामक १४ वें अध्याय में कई प्रकार के साधारण यन्त्रों और उनके उपयोग की विधियों का वर्णन किया है।

उसके पश्चात् भास्कराचार्य ने भी अपने ग्रंथ 'सिद्धांत-शिरोमणि' के यन्त्राध्याय में कई प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख किया है। इन सब बातों से मालूम होता है कि यन्त्रों के द्वारा वेध लेने की प्रक्रिया का इस समय प्रारम्भ हो चुका था।

सवाई जयसिंह और वेधशालाएँ

मगर भारतवर्षमें वैज्ञानिक रूप से यांत्रिक वेध-शालाओ के निर्माण का श्रेय जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह द्वितीय को है, जिनका जन्म सन् १६८६ ई० में हुआ था।

महाराजा जयसिंह को बाल्यकाल से ही खगोल-विद्या और ज्योतिष-शास्त्र से बड़ा प्रेम था। जब उन्होंने देखा कि आकाश-मण्डल के नक्षत्रों की वेधके द्वारा प्राप्त और गणना से प्राप्त स्थितियों में अन्तर पाया जाता है, तब उन्होंने आकाशीय पिण्डों का वेध करने के लिए नवीन यन्त्र और गणना करने के लिए नवीन सारिणियाँ बनाने का विचार किया। इसके लिए उन्होंने स्वयं भी देश-विदेश के नवीन और प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन किया और कुछ विद्वानों को विदेशों मे भी इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए भेजा।

उसके बाद कुछ यूरोपीयों और कुछ देशी ज्योतिषियों को बुलाकर उन्होंने दिल्ली में एक आधुनिक वेध-शाला का निर्माण करवाया, और ७ वर्षो तक वे उस वेध-शाला मे नवीन तारों की सूची बनाने के लिए वेध करते रहे।

इसके पश्चात् उन्होंने जयपुर, उज्जैन, बनारस और मथुरा में भी वेध-शालाओं का निर्माण करवाया। दिल्ली की

वेध-शाला के लिए उन्होंने उलुगवेग द्वारा निर्मित समरकन्द की वेध-शाला के अनुकरण पर कई पीतल के यंत्र बनवाये।

मगर जब उन्होंने देखा कि पीतल के ये यंत्र छोटे होने के कारण सूक्ष्म वेध को नहीं ले सकते और धुरी के घिस जाने के पश्चात् वे लचकने लग जाते हैं और उस लचक के कारण उनका वेध भी गलत हो जाता है। सम्भव है, टाल्मी और हिपार्कस् नामक विद्वानों के वेधों में अशुद्धियाँ इन्हीं कारणों से रह गयी होंगी। तब उन्होंने इस कमी को दूर करने के लिए अपने दिमाग से जयप्रकाश यंत्र, सम्राट्-यंत्र, राम यंत्र, आदि यंत्रों का निर्माण करवाया। इन यंत्रों को उन्होंने पत्थर और चूने से बनवाया। जो पूर्णतया स्थिर रहते हैं। और उन्हें याम्योत्तर तथा स्थान के अनुसार साधा गया और नापने तथा स्थायी करने में पूरी सावधानी रखी गयी। इस प्रकार उन्होंने शुद्ध वेध-शाला बनाने में सफलता प्राप्त की।

उसके पश्चात् इन वेधों की सचाई की परीक्षा के लिए उसी प्रकार के यंत्र जयपुर, मथुरा, बनारस और उज्जैन में बनवाये और जांच करने पर इन सभी वेध शालाओं में किए हुए वेधों मे एकता पायी गयी।

इसी समय योरोप के कई स्थानो मे भी वेध शालाओं की स्थापना हो चुकी थी। महाराजा जयसिंह ने कई विद्वानों को भेज कर उन वेध-शालाओं की रिपोर्ट मँगवाई। उसकी जाँच करके वेधोकी तुलना की गई तो पता चला कि चन्द्रमाकी स्थिति में आधे अंश का अन्तर पड़ता है। इसलिए वे इस परिणाम पर पहुँचे कि योरोप की वेध-शालाओं के यंत्र छोटे होने के कारण पूर्ण विश्वसनीय नहीं होते।

इस प्रकार खगोल-विद्या के इतिहास मे महाराजा जयसिंह ने जो महत्वपूर्ण योग दिया, वह इस विद्या के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

महाराजा जयसिंह के पश्चात् वापूदेव शास्त्री, चिन्तामणि रघुनाथ आचार्य, चन्द्रशेखरसिंह सामन्त, वेंकटेश वापूजी केतकर, लोकमान्य तिलक, सुधाकर द्विवेदी, कन्नू पिल्लई, दीनानाथ शास्त्री चुलेट इत्यादि विद्वानों ने भी खगोल-विज्ञान के क्षेत्र को समृद्ध किया।

प्राचीन यूनान में खगोल-विद्या

हम ऊपर इस बात की संभावना प्रकट कर चुके हैं कि संभवतः खगोल-विद्या का सबसे प्रथम विकास वेबीलोनियाँ के अन्तर्गत ईसा से चार हजार वर्ष पूर्व हो चुका था और वही से संभवतः यह विज्ञान भारतवर्ष में और यूनान में पहुँचा। वेबीलोनियाँ से खगोल-विद्या का यह विज्ञान ईसा के करीब ७ सौ वर्ष पूर्व यूनान में पहुंचा और थेल्स नामक एक यूनानी विद्वान् ने एक वेबीलोनियन विद्वान् से इस विद्या का ज्ञान प्राप्त करके यूनान में उसका प्रचार किया।

थेल्स के पश्चात् पाइथागोरस का नाम आता है। जो ईसवी पूर्व ५३० में हुआ था। इसने कई देशों में घूम कर खगोल-विद्या, गणित और ज्योतिष अध्ययन किया। इसने तथा इसके शिष्यों ने इस मान्यता का समर्थन किया कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती रहती है।

पाइथा गोरस के पश्चात् अरिस्टार्कस् (२६४ ई० पूर्व) अपोलोनियस (ई० पूर्व २५०) अरिस्टोलस्, टिमोरिस इत्यादि कई विद्वान् हुए जिन्होंने सब ग्रहों की सूचियाँ तैयार की।

मगर प्राचीन यूनान में हिपार्कस् का नाम सब से ज्यादा प्रसिद्ध है। इसका समय ईसवी सन् से १६१ वर्ष पूर्व का माना जाता है। यह सिकन्दरिया की वेध-शाला में नक्षत्रो का वेध किया करता था।

हिपार्कस्

हिपार्कस् ने सायण और नक्षत्र-वर्षों की लंबाइयाँ, चन्द्र-मास की लंबाई, पाँचों ग्रहों के संयुति-काल, सूर्य-मार्ग का तिरछापन (भारतीय भाषा में परमक्रान्ति) चन्द्रमार्ग का तिरछापन इत्यादि सभी बातों पर अपने अनुसन्धान किये थे। हिपार्कस् एक गोले को खगोल का रूप देकर उसपर नक्षत्रों के चित्र बनाकर उनका अध्ययन करता था। तारा-मण्डलों के वर्णन में जो नवीन बातें हिपार्कस् ने बतायीं, वे सब खगोल-शास्त्र पर आधारित मालूम होती हैं।

आधुनिक वेध-शालाओं के प्रधान यंत्र याम्योत्तर-यंत्र का प्रयोग भी संभवतः हिपार्कस् ने किया। इस यंत्र से उसने जो बहुत से वेध किये, वे इतने शुद्ध थे कि आश्चर्य होता है कि कैसे वह इन यंत्रों से उतनी सूक्ष्मता प्राप्त कर

सका। उसने सूर्य और चन्द्रमा की गतियों का सच्चा सिद्धान्त बना लिया था।

हिपार्कस् ने खगोल-मंडल के तारों की एक सूची भी बनायी, जिसमें लगभग ८५० तारों का उल्लेख था और इसमें प्रत्येक तारे की स्थिति लांगीट्यूड (भोगांश) और लेटीट्यूड (शर) देकर बतायी गयी थी।

टालमी

हिपार्कस् के अधूरे कार्यको मिस्रदेश के निवासी क्लाडिअस टालमी ने पूरा किया। इसका जन्म ईसा की पहली शताब्दी में हुआ था। यह खगोल-विद्या, गणित-शास्त्र और ज्योतिष-विज्ञान का महान् पंडित था। आकाशी नक्षत्रों की गति के सम्बन्ध में इसने जिस सिद्धान्त का निरूपण किया, वह 'टालमी-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और यह सिद्धान्त लगभग १४ सौ वर्षों तक सारे योरोप के मस्तिष्क पर छाया रहा। इसका सबसे महान् और विशाल ग्रन्थ, जिसे अरबी में 'अलमजस्ती' और अंग्रेजी में 'अल्मेजेस्ट' कहते हैं खगोल और ज्योतिष शास्त्र का एक महान् ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ १३ बड़े-बड़े खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में पृथ्वी और उसके रूप का वर्णन, आकाशीय पिंडों का वृत्तों में चलना, सूर्य मार्ग का तिरछापन इत्यादि बातों का विवेचन किया गया है। दूसरे खण्ड में खगोल सम्बन्धी कई प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं। तीसरे खंड में वर्ष की लम्बाई और सूर्य-कक्षा की आकृति और गणना विधि का विवेचन है। चौथे खण्ड में चान्द्र मास की लंबाई और चंद्रमा की गति का विवेचन किया गया है। पांचवे खण्ड में ज्योतिष-यंत्रों की रचना, सूर्य तथा चंद्रमा के व्यास, छाया का नाप, सूर्य की दूरी इत्यादि पर विचार किया गया है। छठे खंड में चन्द्रमा तथा सूर्य की युतियों तथा ग्रहों पर विचार किया गया है। सातवें खण्ड में उत्तर दिशा के तारों की सूची और आठवें खण्ड में दक्षिणी ताराओं की सूची दी गयी है। दोनों सूची में करीब १०२२ तारों की सूची है। खंड ९ में आकाश-गंगा का वर्णन है। और खंड ९ से १३ तक ग्रहों सम्बन्धी बातें बतलायी गयी हैं।

इस प्रकार अल्मेजेस्ट नामक यह ग्रन्थ प्राचीन यूनान की ज्योतिष और खगोल-विद्या सम्बन्धी ज्ञान का प्रधान स्तंभ माना जाता है।

अरब में खगोल-विद्या

खगोल-विद्या का ज्ञान, अरब में ईसा की ८ वीं शताब्दी में, अब्बासी खलीफा अल-मंसूर के समय में भारतवर्ष से गया था। एक भारतीय ज्योतिषी जो अपने विषय का पारंगत विद्वान् था, खलीफा के दरबार में गया। वह अपने साथ ग्रहों की सारणियाँ भी ले गया था तथा चन्द्र और सूर्य ग्रहणों के वेध और राशियों के निर्देशांक भी उसके साथ थे।

इसी ज्योतिषी के ग्रन्थ का अनुवाद खलीफा अल मंसूर ने अरबी में करवाया। इसी अरबी ग्रन्थ के द्वारा भारतीय ज्योतिष का ज्ञान योरोप में प्रचारित हुआ।

यूनानी ग्रन्थों से भी अरब लोगों को खगोल विज्ञान का काफी ज्ञान प्राप्त हुआ।

१५ वीं शताब्दी में महान् विजेता तैमूर के पोते और सम्राट् शाहरुख के पुत्र उलूग-बेग ने खगोल-विद्या की जानकारी के लिए बहुत प्रयत्न किया। तारों और ग्रहों का ठीक ठीक वेध लेने के लिए उसने सन् १४२९ में समरकन्द के पास कोहक नदी के ऊपर एक बहुत बड़ी वेध-शाला का निर्माण करवाया। इसके दरबार में वेधशाला के विद्वान् काजी गयासुद्दीन, मोहिउद्दीन काशानी और यहूदी सलाउद्दीन रहते थे।

सन् १४३७ में यहीं पर ज्योतिष की एक महत्वपूर्ण सारिणी तैयार की गयी। यह सारिणी पूर्वी देशों में बनी हुई सभी ग्रह-सारिणियों से अधिक पूर्ण और शुद्ध थी। इसका पहला संस्करण १७ वी शताब्दी के मध्य काल में, प्रोफेसर ग्रीव्स ने आक्सफोर्ड में छपवाया था। डा० टॉमस हाइड ने सन् १६६५ ई० में इसका लैटिन अनुवाद प्रकाशित करवाया।

यूरोपीय खगोल-विद्या

यूरोप के अन्तर्गत आधुनिक ज्योतिष शास्त्र और खगोल विज्ञान की नींव डालने वाला कोपर निकस (१४७३-१५४३) माना जाता है।

उसके पश्चात् महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने (१६४७) अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रिंसिपिआ' म गुरुत्वाकर्षण के महान् सिद्धान्त और तीन गति-नियमों की घोषणा की। और इसी घोषणा के आधार पर यूरोपीय खगोल-यंत्र-कला का विकास हुआ।

१७वीं शताब्दी के प्रारंभ में जोहान् कैप्लर नामक विद्वान् ने 'कैप्लर-सिद्धान्त' नाम से तीन प्रसिद्ध इम्पीरिकल

(Empirical) नियमों का निर्माण किया। इन नियमोंने न्युटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त और गति के तीन आधारभूत नियमों का समर्थन किया।

इसके कुछ ही समय पश्चात् जे० सी० एडम्स तथा जे-लेवेरियर नामक विद्वानों ने आकाश-मण्डल में 'यूरेनस' और 'नेपच्यून' नामक नवीन ग्रहों का अनुसन्धान किया। इसी समय से खगोल-विद्या का अनुसंधान करने के लिये यूरोप में कई वेध-शालाओं का निर्माण हुआ।

कुछ समय पश्चात् ही सन् १८३९ ई० मे 'लूइस डागूरे' नामक वैज्ञानिक ने फोटोग्राफी के कैमरे का आविष्कार किया। उसके कुछ ही समय पश्चात् सन् १८४० ई० में न्यूयार्क के 'विलियम ड्रेपर' नामक व्यक्तिने चन्द्रमा का फोटो लिया।

उसके पश्चात् अमेरिका की हार्वर्ड वेधशाला ने नक्षत्रों के फोटो लेने में अपना कदम आगे बढ़ाया।

सन् १८७० ई० में कैप्टेन 'एब्नी' नासक विद्वान् ने फोटोग्राफी के एक विशेष इमल्शन Emultion) का आविष्कार किया और इस इमल्शन को एक पट्टिका पर लगा कर उन्होंने सूर्य का एक स्पष्ट चित्र प्राप्त किया।

इस आविष्कार से खगोल सम्बन्धी फोटोग्राफी के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी क्रान्ति होगयी। विलियम हिगिंस् ने आधुनिक जलेस्टाइन प्लेट्स (Gelatine Plates) का आविष्कार किया। जिससे खगोलीय फोटोग्राफी की पद्धति भी साधारण फोटोग्राफी की तरह सीधी और सरल हो गयी। जिसके परिणाम स्वरूप अनेक छोटेबड़े नक्षत्रों, धूमकेतुओं और उल्काओं के चित्र प्राप्त किये गये।

सन् १९२४ ई० में मंगल ग्रह के तथा सन् १९२७ ई० में वृहस्पति ग्रहके फोटो लिए गये। जिससे वहाँ की बहुत सी बातों का ज्ञान यहाँ के वैज्ञानिकों को प्राप्त हुआ।

रूस में खगोल-विज्ञान

रूस के अन्तर्गत खगोल विज्ञान का विशेष विकास १९ वीं और २० वीं सदी में हुआ। १९ वीं सदी मे रूसी वैज्ञानिक पेरिस और इटली जाकर वहाँ की वेध-शालाओं और विश्व-विद्यालयों में आकाशीय नक्षत्रों का वेध किया करते थे। १९ वीं शताब्दी में कई वैज्ञानिकों ने अपनी-अपनी छोटी-छोटी कई वेध-शालाएँ बना ली थीं।

१९ अगस्त सन् १८३९ ई० में रूस की सबसे प्रसिद्ध वेध-शाला का 'पुल्कोभो' नामक नगर में निर्माण हुआ। इस वेध-शाला की शताब्दी सन् १९३९ ई० में मनायी गयी जिससे मालूम होता है कि इस वेध-शाला के प्रथम संचालक श्री 'स्त्रूवे' थे जिन्होंने नक्षत्रों की प्रतिकृति विषय पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस वेध-शाला के दूसरे सञ्चालकों में श्री 'ब्रेदीखिन' थे। ये मास्को की वेधशाला के भी सञ्चालक थे। इन्हें रूस में 'नक्षत्र-भौतिकी' के संस्थापक के रूप में स्मरण किया जाता है। धूमकेतुओं के बारे में इन्होंने जो अनुसन्धान किये उससे इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली। इनके सहायक 'वेलोपोलस्की' ने तारकीय किरणों की गति के बारे में अनुसन्धान किया था।

मास्को विश्व-विद्यालय की वेधशाला भी रूस की प्रसिद्ध वेध-शाला है। इस वेधशाला में प्रसिद्ध नक्षत्रवेत्ता वितोल्द कार्लोविचरसेरास्की, अलेक्सान्द्र ग्रिगोर्येविचस्तोलेतो, स्तेर्नबर्ग, प्रक्रोवत्स्की इत्यादि वैज्ञानिक काम करते थे और कर रहे हैं।

इसी प्रकार रूस में क्रीमिया सिमीज तथा 'सेंट पीटर्स बर्ग' की वेधशालाएँ, स्मोल्नी। इंस्टीट्यूट, लेसगाफ्ट इंस्टीट्यूट, यूक्रेन की विज्ञान एकेडमी इत्यादि अनेक संस्थाएँ—खगोल विज्ञान और नक्षत्र विद्या का अध्ययन कर रही हैं।

रूस के खगोल-वैज्ञानिकों में श्री 'मेसेर' जिन्होंने नक्षत्रीय एटलास तैयार किया था श्री चेर्नोगास्की, बाकलुन्द श्री ग्रोमोत्स्की, सोकोलेव, तीरखोव इत्यादि वैज्ञानिक विशेष प्रसिद्ध हैं।

चन्द्रलोक की यात्रा

मगर आधुनिक विज्ञान का मनुष्य केवल इतने ही ज्ञान से सन्तुष्ट नहीं है। खगोल सम्बन्धी यंत्र कला और फोटोग्राफी के जरिए नक्षत्रों की गति विधि का जो ज्ञान उसने प्राप्त किया है, उन नक्षत्रों पर स्वयं पहुंचकर वह उस ज्ञान की उपलब्धि भी करना चाहता है! इसलिए संसार के वैज्ञानिकों का ध्यान अब प्रबल रूप से चन्द्रलोक की और मंगल ग्रह की यात्रा करने के लिये लगा हुआ है।

दूसरे महायुद्ध के पश्चात यह प्रवृत्ति बहुत जोर पकड़ गयी है और रूस तथा अमेरिका इन दोनों देशों के वैज्ञानिकों में इस बात के लिये होड़ लगी हुई है।
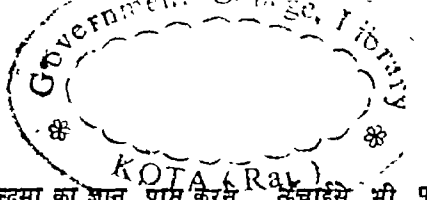
खगोल मण्डल के, विशेषतः चन्द्रमा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्तरिक्ष में उड़ने वाले जहाजों का निर्माण किया गया। ऐसे अन्तरिक्ष जहाजों पर पहले कुत्तों और बन्दरों को भेजा गया और जब वे सकुशल वापिस आ गये तब वहाँ पर मनुष्य को भेजने की तैयारी होने लगी।

इस स्पर्द्धा में रूसी वैज्ञानिक अमरीकी वैज्ञानिकों से आगे निकल गये। तारीख १२ अप्रैल सन् १९६१ के दिन संसारभर के अखबारों ने प्रधान हेडिंग के साथ रूस के द्वारा अन्तरिक्ष पर विजय प्राप्त करने की खबर छापी।

अन्तरिक्ष का पहला यात्री मेजर 'यूरी गागरिन' था। जिसने सत्ताइस वर्ष की आयु में सबसे पहले अन्तरिक्ष की यात्रा की। जिस जहाज पर गागरिन ने यात्रा की उसका नाम "वोस्टोक" था। यह साढ़े चार टन वजन का था। इस जहाज के दो मुख्य भाग थे। एक में केबिन था जिसमें गागरिन के बैठने की जगह थी। इसमें मनुष्य की जरूरत में आनेवाली सभी वस्तुएँ थीं। इसी में जहाज को वापस पृथ्वी पर लाने के यंत्र भी थे और आक्सीजन की व्यवस्था भी थी। इस यान का बाहरी भाग ऐसी धातुओं के मिश्रण से बनाया गया था कि वापसी के समय दुबारा पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में घुसते समय चाहे जितनी गर्मी हो उसमें पिघल न सके।

(२) जहाज के दूसरे हिस्से में सारी मशीनरी लगी हुई थी। इस यान में बेतार के तार की पूरी व्यवस्था थी जो पृथ्वी से उसे जोड़े हुए थी। टेलीविजन का इन्तिजाम भी था। जिसके द्वारा पृथ्वी पर से भी अन्तरिक्ष यात्री की एक-एक दशा का अध्ययन किया जा सकता था। उसकी धड़कनें, मानसिक और शारीरिक अवस्था को अङ्कित करने के यंत्र, जहाज की गति कम या अधिक करने के यंत्र, तथा तापमान को उचित और स्थिर रखने के यंत्र भी लगे हुए थे।

गागरिन ने इस जहाज पर बैठ कर पृथ्वी से ३०२ किलोमीटर की ऊँचाई तक यात्रा की और १०८ मिनिट तक वे अन्तरिक्ष में रहे।

गागरिन ने लौटकर बताया कि अन्तरिक्ष से पृथ्वी एक नीले रंग के गेंद की तरह दिखलाई पड़ती है और इतनी ऊँचाईसे भी पृथ्वीके मुख्यभागों को पहचाना जा सकता है। अन्तरिक्ष में गुरुत्वाकर्षण शक्ति नहीं रहती, इसलिए मनुष्य भार रहित अवस्था में हो जाता है अपना वजन न होने का बड़ा अनोखा अनुभव उसे होता है।

गागरिन के पश्चात् ६ अगस्त १९६१ को रूसने मेजर 'टिटोव' नामक व्यक्ति को अन्तरिक्ष की उड़ान पर भेजा। टिटोव ने पृथ्वी की १७ परिक्रमाएँ कीं।

अमेरिका पिछड़ जाने पर भी अपने उद्योग में पूरी शक्ति से लगाहुआ था। २० फरवरी १९६२ के दिन उसने "जॉन ग्लेन" नामक व्यक्ति को पहले अन्तरिक्ष यात्री की तरह "फ्रेण्डशिप" नामक ४२०० पौण्ड वजन के जहाज पर अन्तरिक्ष की उड़ान पर भेजा। इस जहाज को "एटलस" नामक राकेट के जरिये अन्तरिक्ष में पहुँचाया गया। पृथ्वी की तीन परिक्रमाएँ कर लेने के बाद फ्रेण्डशिप में वापसी के लिये लगाये गये राकेट चलाये गये। जब वह पृथ्वी से २१००० फुट ऊपर रह गया तब उसमें लगे हुए पैराशूट अपने आप खुल गये और वह जहाज धीरे-धीरे अटलाण्टिक सागर में उतर गया।

जॉन ग्लेन ने अपनी अन्तरिक्ष यात्रा के समय में बहुत से उपयोगी फोटो भी लिये।

इसके पश्चात् अमेरिका ने और भी अन्तरिक्ष-यात्रियों को अन्तरिक्ष में भेजा।

मगर खगोल विज्ञान के क्षेत्र में सबसे बड़ी आश्चर्य जनक घटना तब हुई जब ४ फरवरी १९६६ को रूस की समाचार एजन्सी तासने यह सूचना भेजकर संसार को चकित कर दिया कि रूस का अन्तरिक्ष यान "लूना-९" चन्द्र-लोक पर पहुँच गया है और वहाँ का विवरण सोविअट संघके स्टेशनों में भेजने लगा है।

लूना-९ संसार का पहला अन्तरिक्ष विमान है जो बेखटके चन्द्रलोक में सही सलामत उतर गया है और उतरने के सात घण्टे पांच मिनिट के पश्चात् उसने चन्द्रलोक के निर्जन धरातल का विश्लेषण प्रारम्भ कर दिया। साढे तीन दिन की लगातार उड़ान के पश्चात् "लूना-९" चन्द्रलोक के धरातल पर पहुँच गया। तारीख ४ फरवरी १९६६ को इस अन्तरिक्षयान और पृथ्वी के यानसंचालन केन्द्र से ३ घण्टे २४ मिनिट तक रेडियो सम्पर्क बना रहा।

तासने बतलाया कि इस यान से चन्द्रलोक के सम्बन्ध में जो खबरें आ रही हैं उसे क्रमवद्ध किया जा रहा है। सोवियट संघ के प्रमुख खगोलशास्त्री निकोलाईवारावाशोव ने बताया है कि लूनाके साथ रेडियो सम्पर्क से पता चलता है कि चन्द्रलोक का धरातल सख्त है और लूना धूल में धंसा नहीं है। अगर वह धूल में धंस जाता तो उसके साथ रेडियो सम्पर्क विच्छिन्न होजाता। लूना ने चन्द्रलोक की कई तस्वीरें लेकर पृथ्वी पर भेजी हैं। लेकिन वैज्ञानिक लोग अभी तक आश्चर्य मे हैं कि इन तस्वीरों से चन्द्रलोक के धरातल के बारे में कैसी जानकारी प्राप्त हुई है। मास्को टेली विजनने सिर्फ इतना ही बतलाया कि समय आने पर ये तस्वीरें टेलीविजन पर दिखलाई जावेंगी।

निकोलाई बारावाशोव ने कहा कि निकट भविष्य में अन्तरिक्षयानों के द्वारा मनुष्य को भी चन्द्रमा के ऊपर सही सलामत पहुंचाया जा सकेगा।

लूना की उड़ान पर टिप्पणी करते हुए गागरिन ने कहा कि—"चन्द्रमा पर वायुमण्डल के अभाव के कारण १० से १५ किलोमीटर तक की दूरी पर चन्द्रमा के चारों ओर उड़ना शायद हो सकेगा। जब कि पृथ्वी के चारों ओर गृह पाथीय उड़ान कम से कम १३० किलो मीटर की ऊँचाई पर करना पड़ती है। उन्होंने कहा कि अन्तरिक्ष उड़ान के बाद पृथ्वी पर उतरने की अपेक्षा चन्द्रमा पर मानव-युक्त यान का उतरना अत्यधिक जटिल समस्याओं की सृष्टि करता है। क्योंकि चन्द्रमा पर अन्तरिक्ष यात्रियों को पूर्णतया नयी परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा।"

इस प्रकार आधुनिक युग में खगोल-विज्ञान तथा अन्तरिक्ष का रहस्य जानने के सम्बन्ध में विज्ञान का उत्साह बढ़ गया है और मनुष्य जल्दी से जल्दी अन्तरिक्ष के सम्पूर्ण रहस्य की जानकारी प्राप्त करने के लिये तेजी से कदम बढ़ा रहा है।

[डॉ० गोरख प्रसाद—भारतीय ज्योतिषका इतिहास विज्ञान परिषद्—सूर्य्य-सिद्धान्त—वसु—विश्व—कोष।]

खजुराहो

मध्य प्रदेश के बुन्देल-खण्ड प्रान्त में छतरपुर नगर से २५ मील दूर, भारतीय मूर्ति-कलाका सुन्दर संगमस्थान, जिसका निर्माण चन्देल-राजवंश के समय में १० वीं सदी से १२ वीं सदी के बीच किसी समय हुआ, समझा जाता है।

चन्देल-वंश का प्रथम स्वतंत्र शासक 'यशोवर्मा' हुआ, जिसका समय १० वीं सदी के प्रारंभ में समझा जाता है। उस समय कन्नोज के गुर्जर प्रतीहार सम्राटका प्रताप चारों ओर फैला हुआ था और चन्देल राजवंश प्रतिहारों के सामन्त की तरह राज्य करता था। यशोवर्मा ने राष्ट्रकूटों के विरुद्ध युद्ध में प्रतिहारों का साथ देकर उनसे कालिञ्जर का किला प्राप्त किया।

यशोवर्मा के वाद इस राजकुल में धङ्ग, विद्याधर, कीर्ति वर्मन और मदन वर्मन नामक अत्यन्त प्रतापी राजा हुए। इन राजाओं के राजकाल में इस प्रान्त का शासन अत्यन्त सुव्यवस्थित रहा। न्याय, प्रतिरक्षा, वाणिज्य, व्यवसाय, कृषि आदि सभी विषयों का राजकीय प्रवन्ध बड़ा सुन्दर था।

खजुराहो इन्हीं चन्देल राजाओं की धार्मिक राजधानी थी। पहले इसका नाम खर्जुरवाटिक था। प्रसिद्ध यात्री अल्वेरूनी ने सन् १०२२ ई० में इसके सम्वन्ध में लिखा था कि—

"यह जुझेतियों की राजधानी है और खजुराहू कहलाता है, जो कन्नौज से ६० मील दूर है।"

इसी चन्देल-राजवंश के समय में 'परमार रासो' के अनुसार यहाँ पर ८५ मन्दिरों का निर्माण हुआ था। उनमें से ३० मन्दिर अभी अपनी जगह पर खड़े हैं। इन ३० मन्दिरों में भी १० मन्दिर किसी कदर सही सलामत हालत में हैं। शेष सभी भग्नावस्था में हैं। इन मन्दिरो में ६४ योगिनी, चित्र गुप्त, ब्रह्मा, वराह, कन्दारिया महादेव, जगदम्बा, विश्वनाथ, वामन, चतुर्भुज इत्यादि के मन्दिर उल्लेखनीय हैं।

हिन्दू-मन्दिरों के साथ-साथ यहाँ पर जैन-मन्दिर भी बने हुए हैं। इन जैन-मन्दिरों में 'घंटई पारसनाथ' तथा 'ऋषभदेव' के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। इससे पता

चलता है कि चन्देल-शासकों की धार्मिक भावना बहुत उदार थी और उनके शासन में सभी प्रकार के धर्मों को फूलने-फलने का अवसर था और वे सनातन तथा जैन-धर्म का समान रूप से आदर करते थे।

खजुराहोके ये सभी मन्दिर 'खजुर-सागर' नामक झील के किनारे पर ८ वर्ग मील के घेरे में बने हुए हैं। मन्दिरोंकी अनुपम भव्यता दूरसे ही दर्शकों का चित्त आकर्षित कर लेती है। कला की विपुल सम्पत्ति यहाँ पर पत्थरों की खुदाई के रूप में प्रकट हुई है। १० वीं ११ वीं सदी के मूर्ति-कला-विशेषज्ञों ने अपनी छेनी से मानों पत्थरों में प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है।

मन्दिरों में कहीं पर भगवान् विष्णु प्रतिष्ठित हैं, कहीं महादेव विराजमान हैं, कहीं जगदम्बा के दर्शन होते हैं तो कहीं जैन-धर्म के अधिष्ठाता 'पारसनाथ' और 'ऋषभदेव' की पूजा होती है। सब देवता अलग-अलग हैं, पर इस अनेकता में जो एकता पायी जाती है, वह इन मन्दिरों की कलात्मक एकता है। दो शताब्दियों के बीच निर्मित हुए इन करीब सौ मन्दिरों में लगी हुई हजारों मूर्तियों के निर्माण में कितना विशाल आयोजन, कितना मानवीय परिश्रम और कितने कलाकारों की कलात्मक योग्यता लगी होगी इसकी कल्पना भी आज करना कठिन है। यह विशाल आयोजन विश्वकर्मा का ही आयोजन जान पड़ता है।

इन मन्दिरों के आस पास सैकड़ों प्रस्तर खण्डों को सुर-सुन्दरियों, नायिकाओं और अप्सराओं का सौन्दर्य प्रदान किया गया है। तत्कालीन वेश-भूषा व आभूषण सज्जा, सूक्ष्म वस्त्रावृत्त, विविध अंगों की भंगिमा, मनोहर चिबुक, ओष्ट, नासिका, कपोल, नेत्र, भ्रूलता एवं ललाट से मण्डित मनो-भाव, उन्नत उरोज, नारी-गौरव के अनुरूप केशविन्यास—इन सबका सूक्ष्म कलारूप इन मूर्तियों में अंकित किया गया है।

गूढ़ से गूढ़ दैनिक जीवन यहाँ मूर्तियों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। कहीं सुन्दरी स्नानान्तर केशपाश को जल-मुक्त कर रही है, कहीं वह दर्पण देखकर तिलक लगा रही है, तो कहीं पाँव का काँटा निकाल रही है। केवल इतना ही नहीं मनुष्य जीवन के आनन्द की पराकाष्ठा, स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्ध, चुम्बन, आलिंगन, मैथुन इत्यादि दृश्यों की पूर्ण अभिव्यक्ति भी वहाँ की मूर्तियों में दिखलाई पड़ती है।

इन मूर्तियों की अभिव्यक्तियों के समर्थन और विरोध में बहुत से विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। कुछ लोगों ने इन मूर्तियों को अश्लील बतला कर इनका सम्बन्ध कौल, कापालिक, तांत्रिक, शाक्त इत्यादि लोगों के साथ जोड़ा है, मगर इस विचार को कोई स्पष्ट आधार नहीं है।

वास्तविक बात यह है कि अश्लीलता की परिभाषा भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न प्रकार की रही है। जगत् के एक चिरन्तन सत्य को, स्त्री और पुरुष के यौन-मिलन को, जिससे सारे जगत् की उत्पत्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, हमेशा ही अश्लील समझा गया हो—यह बात सम्भव नहीं दिखलाई देती। हिन्दू-धर्म-शास्त्रों में तो मोक्ष के कारणीभूत कारणों मे धर्म और अर्थ के बाद काम को बतलाया है। ऐसी स्थिति में किसी कलाकार के लिए और कलाकृतियों के निर्माताओं के लिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे अपनी कला-कृतियों में धर्म और अर्थ का तो चित्रण कर दें लेकिन केवल अश्लील कह कर काम-कला के चित्रण की उपेक्षा कर दें। वे तो जगत् के महान् सत्य को अपनी कला के अन्दर सजीव-रूप से चित्रित करना चाहते थे। केवल खजुराहो में ही नहीं, बल्कि पिछले २ हजार वर्षों में निर्मित अनेक मन्दिरों और गुफाओं में भी इन काम-कला के चित्रों का प्रदर्शन है। भुवनेश्वर, कोणार्क, जगन्नाथपुरी, एलोरा, बुद्धगया, तक्ष-शिला, मथुरा इत्यादि स्थानों की मूर्तियों में भी नर-नारी-संभोग का प्रदर्शन किया गया है।

योग और भोग का चरम समन्वय खजुराहो में बने हुए इन विशाल मन्दिरों और मूर्तियों में पाया जाता है। चन्देल-स्थापत्य का पूर्ण विकास कन्दारिया महादेव के मन्दिर में मिलता है। यह मन्दिर १०१ फीट ऊँचा, उतना ही लंबा और उसका दो-तिहाई चौड़ा है। प्राचीन स्थापत्य-शास्त्र की भाषा में खड़े रूप में यह सप्ताङ्ग और बैठे रूप में सप्तरथ-मन्दिर है। सम्पूर्ण मन्दिर एक सुदृढ़ शरीर के समान है और उसमें अधिष्ठित मूर्ति उसके प्राण के समान है। यह मन्दिर ६०० प्रतिमाओं से अलंकृत है।

यह एक आश्चर्य की बात है कि इतने विस्तृत मन्दिरों के होते हुए भी इन मन्दिरों में राम और कृष्ण का कोई

मन्दिर नहीं है। जबकि चतुर्भुज विष्णु, सूर्य, शिव, पार्वती, ब्रह्मा, गणेश, जगदम्बा इत्यादि देवताओं के साथ-साथ जैन तीर्थंकरों और उनके शासन-देवताओं के मन्दिर भी यहां पर बने हुए हैं।

इन सब मन्दिरों में केवल मातङ्गेश्वर महादेव और ऋषभ-देव के मन्दिरों में अब तक पूजा होती है और धर्म-भावना से प्रेरित दर्शक वहां जाते हैं। शेष सब मन्दिर केवल अपनी कलाकृतियों के कारण ही संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। मूर्तिकला के प्राचुर्य की दृष्टि से खजुराहो के देव-मन्दिर समस्त संसार में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन मूर्तियों में बतायी हुई कला और सूक्ष्म भाव-विन्यास किसी देश के लिए गर्व की बात हो सकती है।

(श्री गोपाल नेवटिया—हिन्दी नवनीत)

खटीक

हिन्दुओं की एक परिगणित जाति जो कहीं पर कसाई का काम, कही पर ऊन के कम्बल बनाने का काम और कहो पर साग-भांजी बेचने का काम करती हैं।

ये खटीक लोग अपने को काश्यप गोत्रीय बतलाते हैं।

खड्ग सिंह

महाराजा रणजीत सिंह के सबसे बड़े पुत्र, जिनका जन्म रणजीतसिंह की द्वितीय पत्नी राजकुमारी के गर्भ से सन् १८०२ ई० में और मृत्यु सन् १८४० में हुई।

खड्ग सिंह बचपन से ही बुद्धिमान और सैनिक वृत्ति के बालक थे। केवल ९ वर्ष की उम्र में सन् १८११ ई० के अन्तर्गत एक विद्रोही सामन्त का दमन करने के लिए महाराज रणजीत सिंह ने उनको एक सेना का सेनानायक बनाकर भेजा और सलाह-मशविरे के लिए उनके साथ दीवान माखनचन्द को भेजा था।

इस प्रथम अवसर में ही बालक खड्गसिंह ने बड़ी सफलता प्राप्त की थी। इसके कुछ ही समय पश्चात् खड्ग सिंह ने भीमवाड़ और राजोरी प्रदेश पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की। महाराज रणजीतसिंह ने अपने पुत्र की वीरता से प्रसन्न होकर यह सब इलाके उनको जागीरी में दे दिये। इस जागीरी की व्यवस्था का भार खड्ग सिंह की माता और दीवान रामसिंह के जिम्मे कियागया। मगर दीवान की गैर-व्यवस्था से उस जागीर की प्रजा में बड़ा असन्तोष छा गया।

तब रणजीत सिंह ने क्रुद्ध होकर दीवान रामसिंह को कारागार में डाल दिया और खड्गसिंह की माता को शेखूपुरा दुर्ग में भेज दिया।

इसी समय रणजीत सिंह की सेवा में ध्यान सिंह नामक एक व्यक्ति ने प्रवेश किया और उसने अपनी चतुराई से महाराज रणजीतसिंह पर अपना पूरा प्रभाव स्थापित कर लिया। ध्यानसिंहका पुत्र हीरासिंह महाराजा रणजीत सिंह का अत्यन्त प्रिय पात्र हो गया और ध्यान सिंह हीरासिंह को राज्य का उत्तराधिकारी बनाने के प्रलोभन में खड्गसिंह की जड़ें धीरे-धीरे काटने लगा। ध्यानसिंह ने महाराजा रणजीतसिंह के दिल पर यह बात जमानेकी कोशिश की कि खड्गसिंह अकर्मण्य और उन्माद रोग से ग्रस्त है।

ध्यान सिंह ऐसी ही लड़ाइयों में खड्गसिंह को भेजता था, जहां उनकी पराजय निश्चित होती थी। खड्गसिंह इस सारे षड्यंत्र को देखकर उदास और दुखी रहते थे।

उधर हीरा सिंह को महाराजा ने राजा की उपाधि दे दी थी और प्रतिदिन उसके तकिए के नीचे ५००) रुपये इसलिए रख दिये जाते थे कि सबेरे उठकर वह गरीब लोगों को दान करेगा। इस प्रकार यह निश्चय समझा जाने लगा था कि महाराज के पश्चात् हीरासिंह उनके राज्यासन पर बैठेंगे।

मगर ठीक मृत्यु के समय महाराजा रणजीत सिंह ने खड्गसिंह को बुलाकर ध्यानसिंह के हाथ पर उसका हाथ रख दिया और कहा कि मैंने जीवन भर आपके साथ जो व्यवहार किया है, उसके बदले में यही चाहता हूँ कि आप खड्गसिंह को राजगद्दी पर बैठावें और इनको योग्य संरक्षण दें।

सन् १८३९ ई० की २७ जून को खड्गसिंह इस प्रकार पञ्जाब की राजगद्दी पर बैठे। मगर ध्यानसिंह का षड्यंत्र उनके खिलाफ बराबर चलता रहा और उसमें खड्गसिंह के

पुत्र नौनिहाल सिंह को खड्गसिंह के विरुद्ध बागी कर दिया तथा खड्गसिंह की रानी चन्द्रकुमारी को भी उनके खिलाफ कर दिया और किसी प्रकार खड्गसिंह को पकड़ कर तथा उन्हें कारागार में बन्द कर नौनिहाल सिंह को पञ्जाब की राजगद्दी पर बैठा दिया।

सन् १८४० ई० की ५ वी नवम्बर को उसी कैदी की स्थिति में खड्गसिंह की मृत्यु हुई और उसके आठ ही दिन के पश्चात् १३ नवंबर को एक छज्जे के नीचे दब जाने से नौनिहाल सिंह की भी मृत्यु हो गयी।

(वसु-विश्वकोष)

खण्डगिरि

उड़ीसा के पुरी जिले के बीच की एक पहाड़ी, जो भुवनेश्वर से ४ मील पश्चिम में पड़ती है। इस पहाड़ी में कई आश्चर्य जनक गुफायें बनी हुई हैं। खण्डगिरि के उत्तरी भाग वाली पहाड़ी को उदयगिरि कहते हैं।

एक गुफा का नाम अनन्त गुफा है। इस गुफा को मन्दिर के रूप मे बनाने के लिये कई खंभे और छज्जे लगाए गये हैं। इसके सामने बरामदा और भीतर गृह है। बरामदे के चारों ओर वेदी बनी हुई है। सम्मुखभाग में तीन स्वतंत्र स्तम्भ हैं। इन स्तभों के ऊपर छत के नीचे कई मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। इन मूर्तियों में बोधिवृक्ष और स्वस्तिक की मूर्तियाँ भी दिखलाई पड़ती हैं।

इसी प्रकार दो अन्य गुफाओं का निर्माण भी किया गया है। एक गुफा में सूर्य चन्द्र और कई देवीं देवों की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। कुछ शिला-लेख भी लगे हुए हैं, पर उनके अक्षर घिस जाने से पढने में नहीं आते।

खण्डगिरि को देखने से यह भलीं भाँति समझ में आता है कि इस स्थान पर जैन-धर्म का बहुत काफी प्रभाव रहा। पहाड़ गुफाओं से भरा पड़ा है। यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि इन गुफाओं का निर्माण कब हुआ।

उदयगिरि के अन्तर्गत बनी हुई हाथी गुम्फा में एक विशाल और प्राचीन गुफा-मन्दिर बना हुआ है। इस गुफा मन्दिर में कलिंग-सम्राट् खार-वेल का एक विशाल शिला-लेख खुदाहुआ है, जो ८४ वर्ग फुट के पत्थर पर १७ विशाल लाइनों में खुदा हुआ है। इस शिला लेख में ईसा से दो शताब्दी पूर्व के भारत का स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है।

उदयगिरि की स्वर्गपुरी गुफा में सम्राट् खारवेल की महारानी का एक शिला लेख पाया जाता है। इसी प्रकार मंचूपुरी-गुफा के निचले भाग में स्थित पातालपुरी गुफा को खार-वेल के वंशज कलिगाधिपति महाराज 'कुदेशश्री' ने निर्माण करवाया था ऐसा लेख पाया जाता है।

खण्डदेव

एक सुप्रसिद्ध संस्कृत-ग्रन्थकार, जिनका दूसरा नाम श्रीधरेन्द्र था। यह रुद्रदेव के पुत्र और पंडितराज जगन्नाथ और शंभू भट्ट के गुरु थे। इनकी रची भट्ट-दीपिका, जैमिनी सूत्र की मीमासा-कौस्तुभ नाम्नी टीका इत्यादि ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

सन् १६६५ मे काशी मे इनकी मृत्यु हो गयी।

खण्डवा

मध्य प्रदेश के नीमाड़ प्रान्त का एक नगर, जो मध्य रेलवे की दिल्ली-बंबई लाइन पर एक बड़े जंकशन के रूप में अवस्थित है।

खंडवा एक बहुत प्राचीन नगर है। प्रसिद्ध इतिहासकार कनिंगहम के मत से टालेमी ने अपने ग्रंथ मे जिस कोगनाबण्डा (Kognabanda) का जिक्र किया है, वह यही खंडवा है।

११वीं शताब्दी के आरंभ में प्रसिद्ध इतिहासकार अल्बेरूनी ने भी इसका उल्लेख किया है। अबूरेहान की 'तवारीखे हिन्द' नाम की किताब में कंडरोहा के नाम से इसका वर्णन किया गया है। नगर के उत्तर-पश्चिम में 'पद्म-कुण्ड' नामक एक सरोवर बना हुआ है। वहाँ पर संवत् ११८६ का एक शिलालेख लगा हुआ है।

१२वीं शताब्दी में खण्डवा जैनियों की पूजा-अर्चा का एक सुप्रसिद्ध स्थान रहा है। सन् १८०२ में यशवन्त राव

होल्कर ने खंडवे को जलाया और सन् १८५८ में तांतिया टोपे ने इसका फिर से विध्वंस किया ।

सन् १८६७ में यहाँ पर म्युनिसिपैलिटी की स्थापना हुई ।

खंडवा साहित्यिक गतिविधियों का भी प्रधान केन्द्र रहा है। श्री कालूराम गंगराड़े ने बहुत समय पूर्व सन् १९१३-१४ के करीब यहाँ 'प्रभा' नाम की पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया था जो काफी उच्चकोटि की थी। उस समय समस्त हिन्दी-संसार में इनीगिनी मासिक पत्रिकाएँ निकलती थीं। श्री सिद्धनाथ माधव आगरकर ने यहाँ से स्वराज्य नामक एक राष्ट्रीय साप्ताहिकपत्र का प्रकाशन भी बहुत दिनों तक किया ।

मध्य प्रदेश के प्रसिद्ध साहित्यकार, सम्पादक और कवि पं० माखनलाल चतुर्वेदी का भी खण्डवे से गहरा सम्बन्ध रहा है ।

खंडवा व्यापार की भी बहुत अच्छी मंडी है। यहाँ पर रुई निकालने की कई फैक्टरियाँ बनी हुई हैं। रेलवे का जकशन होने के कारण भी यहाँ बड़ी चहल पहल रहती है।

खण्डेलवाल जैन

जयपुर रियासत के खण्डेला नामक स्थान से प्रादुर्भूत एक वैश्य जाति। जिसने इतिहास के किसी काल में जैन-धर्म ग्रहण कर लिया। जैनधर्म का अवलम्बन करने वाले खण्डेलवाल श्रावक होने के नाते "सरावगी" नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

खण्डेलवाल जैनों की उत्पत्ति कब हुई, इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। खण्डेला के आस-पास के क्षेत्र में इस जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो दन्तकथा प्रचलित है वह इस प्रकार है—

खण्डेला नगर मे सूर्य्यवंशी चौहान राजा खण्डेलगिरि राज्य करता था। एक समय जिनसेनाचार्य्य नामक जैन मुनि अपने पांच सौ शिष्यो सहित विहार करते हुए खण्डेला के उद्यानमे ठहरे। उस समय खण्डेला की जागीर मे चौरासी गाँव लगते थे। दैवयोग से उस समय इस सारे राज्य में हैजा बड़े जोरों से फैल रहा था। जिसमें हजारों आदमी मर चुके थे और मर रहे थे। रोग के भयंकर प्रकोप को देखकर राजा अपने ब्राह्मण गुरु के पास पहुँचा। तब गुरु ने इस व्याधि से राज्य को मुक्त करने के लिए नरमेध यज्ञ करने की सलाह दी। इस पर राजा ने अपने सैनिकों को बलिदान के लिए एक मनुष्य को पकड़ कर लाने की सलाह दी। सैनिक लोग ढूंढ़ते हुए श्मशान में पहुँचे। उस समय वहाँ एक जैन मुनि कायोत्सर्ग में खड़े थे। सैनिक उन्ही को पकड़ लाये और नहला धुलाकर वस्त्र पहना कर उनको बलि के लिए तैयार करने लगे। मुनि ने उपसर्ग समझ कर मौन धारण कर लिया और उन लोगों ने उन्हें यज्ञशाला में ला कर वेदोक्त मंत्रों का उच्चारण करते हुए बलिदान कर दिया।

मगर इससे हैजे का प्रकोप कम न हुआ। वह और ज्यादा भड़क निकला तथा उसके साथ आंधी, तूफान इत्यादि उपद्रव और पैदा हो गये। इस पर कुछ लोगों ने राजा को उद्यान में ठहरे हुए जिनें जैनाचार्य्य के पास जाकर प्रार्थना करने को कहा। राजा अपने लवाजमे के साथ उद्यान मे पहुँचा और आचार्य्य के पैर पकड़ कर नगर मे शान्ति स्थापित करने को कहा। तब आचार्य्य ने कहा कि—"राजन् तेरे राज्य में हिंसा, बलिदान, मांसभक्षण और मदिरा के पापाचरण बहुत बढ़ जाने के कारण ही यह भयंकर व्याधि फैली है। इसलिए शान्तिस्थापना के लिए तू हिंसा के पापाचरण को बन्द कर।" तब राजा ने जैनाचार्य्य की आज्ञा से अपने ८३ उमरावों के साथ सम्यक्त्व और जैन धर्म को ग्रहण किया। इन ८३ उमरावो मे ८१ गांवो के सरदार राजपूत और दो गाँवों के सुनार थे। इस प्रकार इन चौरासी व्यक्तियों के नाम से ही खण्डेलवालों के चौरासी गौत्रों की उत्पत्ति हुई। राजा का गौत्र साहा था, इससे सहा-गौत्र की और सुनार सरदार के नाम पर सोनी गौत्र की उत्पत्ति हुई।

एक किम्बदन्ती यह भी है कि खण्डेला को सभी लोग खण्डेलवाल के नाम से प्रसिद्ध हुए। जिन्होंने जैनाचार्य्य के उपदेश से जैन धर्म ग्रहण किया वे खण्डेलवाल जैन कहलाये। जिन वैश्योंने जैन धर्म नहीं ग्रहण किया वे खण्डेलवाल वैश्य कहलाये और वहाँ के ब्राह्मण खण्डेलवाल ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध हुए। जो भी हो मगर खण्डेलवाज शब्द का खण्डेला नगर से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा। क्यों कि अभी तक खण्डेलवाल जैन, खण्डेलवाल वैश्य और खण्डेलवाल ब्राह्मण

जयपूर, अजमेर और आस पास के क्षेत्रों में ज्यादा फैले हुए हैं। यहींसे निकल कर इन लोगों ने इन्दौर, कलकत्ता तथा बम्बई में जाकर अपने व्यापार को चमकाया।

खण्डेलवाल जैन विशेषकर व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में अधिक लगे हुए हैं। जयपूर, अजमेर, इन्दौर, उज्जैन और कलकत्ता में इनके बड़ी-बड़ी फर्में स्थापित हैं। इन्दौरके सर सेठहुकुमचन्द खण्डेलवाल सरावगी थे। जिनकी बनाई हुई विशाल कीर्त्तियों और कांचमन्दिर से आज भी इन्दौर नगर शोभाय मान हो रहा है। उज्जैन के रायबहादुर सेठ लालचन्द सेठी भी खण्डेलवाल जैन थे जो उज्जैन के औद्योगिक क्षेत्र ने अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित किये हुए हैं और अजमेर में मूलचन्द सुगन चन्द सोनी की सोने के काम से शोभित नसियाँ और कांच का जैनमन्दिर आज भी अजमेर की प्रधान दर्शनीय वस्तुओं में से है।

यदि खण्डेलवाल जाति को जैन धर्म की दीक्षा देने वाले जिन सेनाचार्य और आदिपुराण के रचयिता जिनसेनाचार्य एक ही हों तो उस हिसाब से खण्डेलवाल जाति की स्थापना का समय सन् ८४८ ठहरता है।

खंडेलवाल वैश्य

वैश्यों का एक जाति-भेद। राजस्थान के खंडेला नामक स्थान से उत्पन्न वैश्यों की एक जाति।

खंडेलवाल वैश्यों में ७२ गोत्र होते हैं। 'खंडेला' से उत्पन्न होने के कारण राजस्थान और जयपूर में इनकी संख्या विशेष है। आठवीं और नवीं शताब्दी के मध्य जैन मुनि जिनसेना चार्य के उपदेश से इस जाति के बहुत से परिवारों ने जैन-धर्म ग्रहण कर लिया। ऐसे लोग खंडेलवान जैन अथवा सरावगी नाम से प्रसिद्ध हुए। शेष खण्डेलवाल वैश्य कहलाये।

खंडेलवाल ब्राह्मण

गौड़ ब्राह्मणों की एक शाखा, जिसकी उत्पत्ति राजस्थान के 'खंडेला' नामक स्थान से हुई और जो अपने आपको 'खंण्डू' ऋषि के वंशज बतलाते हैं।

इनके अन्दर ८४ गोत्र होते हैं।

खजार

प्रसिद्ध आक्रमणकारी हूण जाति की एक शाखा जो ७वीं शताब्दी में मध्यएशिया में बहुत संगठित और आक्रमणकारी थी।

खजारों के खान उस समय 'वोल्गा' नदी और कास्पिअन सागर के पश्चिमी तट के शक्तिशाली शासक थे। उस समय ईरान के सम्राट् और रोम के विजेन टाइन सम्राट हेराक्लिअस के बीच बड़ी प्रतिस्पर्धा चल रही थी। सम्राट हेराक्लिअस खजारों के खगान से सांठगाँठ करके ईरान को पराजित करने की कोशिश कर रहा था। खजारों के नाम पर ही कास्पिअन समुद्र का नाम खजार-समुद्र पड़ गया था जिसे आगे जाकर मुसलमान लेखकों ने खिजिर-समुद्र के नाम से उल्लेख किया है।

खजारों की राजधानी वोल्गा नदी और कास्पियन सागर के संगम पर ओल्गा के डेल्टा में 'इतिल' नामक नगर में थी। व्यापार में सुविधा होने के कारण इतिल उस समय एक बड़ी नगरी बन गयी थी।

खजारों का शासक खाकान दैवीतत्त्वों से युक्त माना जाता था। इसका ईटो का महल एक द्वीप में था, जिसको नावों के पुल द्वारा किनारो से मिला दिया गया था। खजारों का एक नगर 'सरकेल' था, जो दोन-नदी के तट पर था। इस नगर के निर्माण में विजंतीन (रोम) इञ्जिनियरों ने सहायता की थी। इनका एक और नगर 'समन्दर' नाम का था, जिसके पास अंगूरो के बहुत से बाग थे।

९वीं शताब्दी में ये खजार अपने उत्कर्ष की चरमसीमा पर पहुँच गये थे। अजोफ समुद्र के तट तथा क्रीमिया का कुछ भाग भी खजारों के शासन मे था और उधर रहनेवाली कई स्लाव-जातियाँ इन्हें कर देती थीं।

(राहुल सांकृत्यायन—मध्य एशिया का इतिहास। चिरञ्जीलाल पाराशर विश्व-सभ्यता का विकास)

खड्ग वीर

रूस के बाल्टिक तट पर जर्मनी के ईसाई-धर्म-योद्धाओं के द्वारा स्थापित की हुई एक धर्म सेना, जिसकी स्थापना सन् १२०२ में की गई।

उस समय स्लाव लोगों की सुप्रसिद्ध नगरी "नवा गोरद" वोल्गा नदी के उद्गम के समीप इलमन सरोवर से पूर्व की ओर जाने वाले वाणिज्य पथ के ऊपर बसी हुई थी। इस नगरी में उस समय महाराजुल ब्लाडिमिर के द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने के कारण ईसाई धर्म का बड़ा जोर हो गया था और यहाँ का "सोफिया" नामक गिरजा बड़ा प्रसिद्ध था जिसमें नवो गोरद का बड़ा पादरी रहता था। यही से नवो गोरद राज्य का भी प्रारम्भ होता था।

जर्मन व्यापारी उस समय बाल्टिक तट के रास्ते व्यापार करने के लिए नवो गोरद आते थे। बारहवी शताब्दी में उन्होंने दूना नदी के मुहाने पर रूस की जमीन पर एक व्यापारिक बस्ती भी बसाली थी और ईसाई धर्म के प्रचार की आड़ लेकर उन्होंने रोम के पोप से भी सहायता प्राप्त कर ली थी।

बाल्टिक तट के लोग अपनी पुरानी परम्पराओं को छोड़ कर ईसाई-धर्म ग्रहण करने को तैयार नहीं थे। इसपर पोप ने वहाँ के लोगों के बिरुद्ध धर्मयुद्ध घोषित कर दिया। उत्तरी जर्मनी के व्यापारियों ने लिबोनिया या बाल्टिक तट की विजय का अच्छा मौका देखकर इस धर्म अभियान के लिए अपने जहाज दिये। इस धर्म युद्ध का संचालन करने के लिए बड़ा पादरी अपने धर्म-योद्धाओं के साथ आया। इस पादरी ने इन धर्म-योद्धाओं के साथ लिबोनियावालों को खूब रौंदा मगर किसी प्रकार उसका घोड़ा इन लोगों में फंस गया और यह पादरी वहीं मारा गया। नये पादरी अलबर्ट ने दूना नदी के पश्चिमी मुहाने पर "रीगा" नामक नगर सन् १२०१ में बसाया और १२०२ यों उसने "खड्गबीर" के नाम से एक धर्म सेना को संगठित कर उसे उस क्षेत्र में खुलकर खेलने का अवसर दे दिया। इस धर्म सेना के लोग उस क्षेत्र के लोगों पर मनमाना अत्याचार करते, गाँवों को जला देते, लोगों को जान से मार देते और स्त्रियों और बच्चों को पकड़ पकड़ गुलामों के रूप में बेच देते।

इसी समय "त्यूतोनिक" नाम से जर्मनी की एक दूसरी धर्म सेना भी वहाँ आकर उपस्थित हो गई। इन दोनों सेनाओं ने जो भयङ्कर अत्याचार किये उसके लिए कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि "तेरहवीं सदी के अन्त तक 'यह प्रदेश निर्जन भूमि में बदल गया। गाँव और जुते हुए खेतों की जगह जंगल बन गये, लोगों में से कितने ही मार डाले गये, कितने ही बन्दी बना लिए गये और कितनों ही को वहाँ से भाग जाना पड़ा। यह ईसाई धर्म का प्रचार करने का तरीका था।

(राहुल सांकृत्यायन म० ए० इ०)

खंडेला

राजस्थान में प्राचीन जयपुर राज्य की एक जागीर।

खण्डेला जयपुर शहर से करीब ५५ मील की दूरी पर उत्तर पश्चिम में अवस्थित है। इस समय यह स्थान एक छोटे कस्बे के रूप में है, मगर ऐसा मालूम होता है कि इतिहास के किसी युग में यह काफी वैभव-सम्पन्न रहा होगा। इसी गाँव के नाम से 'खण्डेलवाल' वैश्य, 'खंडेलवाल' जैन 'खंडेलवाल' ब्राह्मण इत्यादि कई जातियाँ अस्तित्व में आईं।

माहेश्वरी-जाति का भी मूल उद्गम स्थान इसी नगर को समझा जाता है। ऐसा कहा जाता है कि यह नगर पूर्वकाल में सूर्यवंशी चौहान जाति के राजाओं की राजधानी थी। इस वंश में एक 'खंगलसेन' राजा हुआ। खंगल सेन को चम्पावती नाम की रानी से एक पुत्र हुआ। जिसने किसी जैनाचार्य के उपदेश से जैन-धर्म ग्रहण कर लिया और वह अहिंसा का उपदेश देने लगा और यज्ञों में होने वाली हिंसा को, उसने बन्द करवा दिया। तब यज्ञ करने वाले ब्राह्मण लोग उत्तर दिशा में सूर्य कुण्ड पर जाकर यज्ञ करने लगे। वहाँ पर भी यह राज कुमार अपने ७२ उमराओं के साथ उनका यज्ञ विध्वंस करने के लिए पहुँचा। तब उन ब्राह्मणों ने शाप देकर के उसे जड़वत कर दिया।

उसके पश्चात् शंकर-पार्वती के आशीर्वाद से ये लोग वापस ठीक हुए और इन्होंने क्षत्रिय-धर्म छोड़कर वैश्य-धर्म को अंगीकार किया।

कुछ दिन बाद ये लोग खण्डेला को छोड़कर 'डीडवाना' में आ बसे और तभी से ये ७२ खापों के लोग 'डीडू माहेश्वरी' के नाम से प्रसिद्ध हुए। बाद में इस जाति की बहुत उन्नति हुई। व्यापार में इस जाति ने बहुत सफलता प्राप्त की और सारे भारतवर्ष में इनके बड़े-बड़े उद्योग और कोठियाँ स्थापित हुईं।

इस समय इस जाति के अन्दर कुल ७५० खांपें हैं।

(वसु–विश्वकोष)

खण्डेराव होल्कर

इन्दौर राज्य के संस्थापक, मल्हार राव होल्कर के पुत्र और इतिहास-प्रसिद्ध धर्म-मूर्ति रानी अहल्याबाई के पति, जो सन् १७५४ ई० में भरतपुर-राज्य के 'डीग' नामक स्थान पर सूरजमल जाट से लड़ते हुए मारे गये।

इनके पुत्र का नाम 'मालेराव' था।

खण्डेराव गायकवाड़

बड़ौदा-राज्य के राजा जो सन १८५६ ई० में राजा गणपति राव गायकवाड़ के मरने पर बड़ौदा की राजगद्दी पर बैठे। यह गणपति राव के भाई थे।

खंडेराव गायकवाड़ के गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों पश्चात् भारत में इतिहास-प्रसिद्ध 'सिपाही विद्रोह' का आरंभ हुआ। उस समय इन्होंने अंग्रेजों की काफी सहायता की। जिसके फलस्वरूप अंग्रेज सरकार ने इन्हें 'हिज-हाईनेस' की उपाधि प्रदान की।

सन् १८६३ में इनके भाई मल्हारराव ने इनके विरुद्ध कुछ षड्यंत्र किया, जिससे इन्होंने मल्हारराव को पकड़वा कर कारागार में बन्द करवा दिया। सन् १८७० में खण्डेराव की मृत्यु हो गयी।

खंडाइत

उड़ीसे की एक लड़ाकू जाति, जो अपने को क्षत्रिय-सन्तान बतलाती है। यह जाति उड़ीसा, छोटा नागपुर सिंहभूमि इत्यादि क्षेत्रों में बसती है। इस जाति के लोगों को पूर्वकाल में युद्ध करने के उपलक्ष्य में बड़ी-बड़ी जागीरें भी प्राप्त हुई थीं।

खत्री

पञ्जाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार और बंबई प्रदेश में निवास करने वाली एक जाति, जो इस समय उद्योग और व्यवसाय में लगी हुई है।

'खत्री' शब्द की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय ऐतिहासिक प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं है। फिर भी, इस शब्द की रूपरेखा से यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि 'खत्री' शब्द स्पष्टतौर से संस्कृत के क्षत्रिय शब्द का अपभ्रंश है। दूसरी बात खत्रियों के गोत्र भी प्राय: वे ही हैं, जो क्षत्रिय-समाज के अन्तर्गत पाये जाते हैं। तीसरी बात यह भी विचारणीय है कि पञ्जाब के क्षेत्र में, जहाँ से खत्रियों की उत्पत्ति मानी जाती है, क्षत्रिय शब्द को धारण करने वाली कोई दूसरी जाति नहीं है।

इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पञ्जाब में बसने वाले क्षत्रिय किसी विशेष घटना के वश खत्री नाम से प्रसिद्ध हो गये।

ऐसा समझा जाता है कि किसी विशेष घटना के वश होकर पञ्जाब के क्षत्री सैनिक वृत्ति को छोड़ कर व्यवसाय और उद्योग धन्धों के क्षेत्र में प्रविष्ट हो गये और तभी से वे खत्री नाम से प्रसिद्ध हुये।

खत्री लोग प्रधानत: पश्चिम देशी और पूर्व देशी—इन दो भागों में विभक्त हैं। इन दोनों भागों के रीति-रिवाजों और जीवन-यापन में भी काफी अन्तर है। इनमें पारस्परिक विवाह सम्बन्ध भी बहुत कम या नहीं के बराबर होते हैं। बंगाल देश में जितने खत्री निवास करते हैं, वे सब प्राय: औरंगजेब के समय में लाहौर से आकर यहाँ बसे थे। बंगाल में यह जाति एक प्रतिष्ठित जाति की तरह समझी जाती है। बर्धमान के महाराजा इसी जाति के गोष्ठीपति रहे थे।

पूर्विहा और पछैयां खत्री फिर चार उप विभागों में बँटते हैं। १—बुनियाही २—सरिन ३—बाढ़ी और ४—थोकरन। ऐसा कहा जाता है कि अलाउद्दीन खिल्जी ने खत्रियों में विधवा-विवाह चलाने की चेष्टा की थी। पछाहीं खत्रियों ने उसका प्रतिवाद करने के लिए ५२ ब्राह्मण दिल्ली भेजे थे। इसी से उन्हें बुनियाही कहते हैं। पूर्विहा उनसे अलग रहने के कारण सरिन कहे गये हैं। थकर-जाति विद्रोही होने पर उनसे मिलने वाले थोकर नाम से प्रसिद्ध हुए।

सम्राट् अकबर के समय में इस जाति में मेहरचन्द, क्षणचन्द और कपूरचन्द नामक व्यक्ति बड़े प्रभावशाली हुए। इनके वंशधरों ने परस्पर विवाह आदि करके एक स्वतंत्र श्रेणी की स्थापना की। इस श्रेणी को 'बाढ़ी' कहते हैं। मेहरचन्द के वंशज मेहरोत्रा या मेहरा, क्षणचन्द के वंशज खन्ना और कपूरचन्द के वंशजों ने कपूर उपाधि को धारण

किया। यही मेंहरोत्रा, खन्ना, कपूर और सेठी खत्री जाति में विशेष गण्यमान्य समझे जाते हैं।

खत्रियों की ये चारों श्रेणियां फिर व्यवहार-भेद से पश्चिमाञ्चल और पूर्वाञ्चल के ५ विभागों में विभक्त है।

पश्चिम में चार जाति, पाँच जाति तथा छः जाति और पूर्वाञ्चल में चार जाति, पाँच जाति, छः जाति, बारह जाति, ५२ जाति और पीरूवाल—इन विभागों में विभक्त है।

इनका चार जाति-समाज, फिर ढाईघर और चार घर इन दो भागों में विभक्त है। ढाई घर का अर्थ यह है कि उक्त समाज के लोग पित्र-वंश, मातृवंश और पितृ-मातृ-वंश में विवाह नहीं करते।

पश्चिमी खत्रियों में सोधी, वेदी, कपूर, खन्ना, मेहरा, सेठी इत्यादि कई गौत्र पाये जाते हैं।

पूर्वीय खत्रियों की ४ जाति में कपूर, खन्ना, मेहरा और सेठी, ५ जाति में बेरी, बिरज, सहगल, सरवाल और बड़े, ६ जाति में भले, भवन, सुपत, तुलवर, भुरमन, १२ जाति में चोपड़ा, धोई, मेहदीन, सोनी, टण्डन इत्यादि और ५२ जाति में वेहल, चल, अग्गो, बंकावी, गड़लपुरी, हिन्दी इत्यादि कई शाखाएँ हैं। इनके सिवाय उत्तर प्रदेश में कई और शाखा और श्रेणियां प्रचलित हैं।

बुनियाही उप विभाग में वेदी और सोधी गोत्र विशेष सम्माननीय हैं। क्योंकि वेदी गोत्र में सिक्ख-धर्म के प्रवर्तक बाबा नानक ने जन्म लिया था। और सोधी गोत्र में गुरु रामदास और गुरु हरगोविन्द दास ने जन्म लिया था।

सिक्खों के राज्यकाल में सोधी लोगों का बड़ा प्राबल्य रहा। सोधी लोग अपने आपको लाहौरपति कालराय के पुत्र सोधी राय का वंशधर बतलाते हैं और वेदी लोग अपने को लाहौरपति कालराय के भ्राता कालपत राय का वंशज बतलाते हैं।

खत्री जाति के पतली-पतली नाक, लंबी कपालिका और गौर-वर्ण से विदित होता है कि यह जाति विशुद्ध आर्य नस्ल की है, जो प्राचीन काल में किसी समय पञ्जाब के अन्दर बस गयी थी। सिकन्दर के समय में भी इस जाति का अस्तित्व था। उस समय के इतिहासकारों ने सिन्धुघाटी में 'जयराई' नामक एक जनपद का उल्लेख किया है, जो खत्रियों का था।

खत्री-जाति के गौत्र, अंगीरस, वात्स्य, भारद्वाज, हंस-ऋषि, कौशल, लोमष इत्यादि ऋषियों के नाम पर प्रसिद्ध हैं।

दक्षिण में बसने वाले खत्री भी अपने को क्षत्रिय कहते हैं और अपने को भारद्वाज, यमदग्नि, काश्यप, कात्यायन, बाल्मीकि, वशिष्ट तथा विश्वामित्र इत्यादि ऋषियों के वंशज बतलाते हैं। इनके पारिवारिक देवता गणपति और महादेव तथा कुलदेवी 'तुलजा भवानी' और 'येल्लाम्मा' हैं। सतारा जिले में तुलजापुर की अम्बादेवी का मन्दिर इनका प्रधान तीर्थ-स्थान है। ये लोग शंकराचार्य के विशेष रूप से अनुयायी हैं।

खत्री लोगों की प्रधान जीविका व्यवसाय, वाणिज्य उद्योग और ऊँचे दर्जे की सरकारी नौकरियाँ हैं। इनका व्यवसाय-वाणिज्य अखण्ड भारत के समय पञ्जाब और अफगानिस्तान सब दूर फैला हुआ था। मध्य एशिया और रूस में भी इस जाति के लोग पहुँच कर व्यापार कर रहे हैं। खत्री-जाति हिन्दू धर्म में दृढ़ विश्वासी हैं। इस जाति के नर-नारी सुन्दर, गौर-वर्ण, सुगठित और सरल स्वभाव के होते हैं।

सम्राट् अकबर के सुप्रसिद्ध अर्थमन्त्री टोडर मल, जिन्होंने सबसे पहले लगान बन्दोबस्त का आविष्कार किया था, खत्री-जाति के ही थे।

खदीजा

हजरत महम्मद पैगम्बर की पहली पत्नी जिनका जन्म सन् ५५४ ई० में और मृत्यु सन् ६१९ में हुई।

'खदीजा' अरब देश की एक सम्पत्तिशाली विधवा स्त्री थी। महम्मद पैगम्बर से विवाह होने के पूर्व उनके दो विवाह और होचुके थे। खदीजा अरबस्तान के सुप्रसिद्ध कुरेश-वंश में उत्पन्न हुई थी और अरब में शायद सबसे अधिक धनी थी। इनका व्यापार दूर-दूर तक फैला हुआ था और इनका सामान बड़े-बड़े ऊँटों के काफिलों पर लद कर सीरियाँ, तुर्कस्तान इत्यादि दूर-दूर के देशों में जाकर बिकता था।

हजरत मोहम्मद उस समय किशोर अवस्था में थे और वे उन दिनों पशु चराया करते थे। खदीजा ने उन्हें योग्य और

ईमानदार देखकर अपने व्यवसाय में एक पद पर रख लिया। थोड़े ही दिनों के पश्चात् उनकी कार्य-दक्षता से प्रसन्न होकर उन्हें अपने सारे व्यवसाय का अधिकारी बना दिया और उन्हें 'अल-आमीन' की उपाधि प्रदान कर दी।

इसके पश्चात् जिस समय खदीजा की उम्र ४० वर्ष की थी और हजरत मोहम्मद २५ वर्ष के थे, खदीजा ने उनसे विवाह कर लिया। विवाह के ११ वर्ष के बाद उनको 'फातिमा' नामक एक कन्या हुई जिसका विवाह हजरत अली के साथ हुआ।

विवाह के पश्चात् खदीजा २५ वर्ष तक जीवित रही और उसने हजरत मुहम्मद के हर एक कार्य में पूरी दिलचस्पी से हाथ बँटाया। ४० वर्ष की अवस्था में जब हजरत मुहम्मद को खुदाई इलहाम हुआ और उन्होंने अपने आपको इस्लाम का पैगम्बर घोषित किया, तब सबसे पहले खदीजा ने इस्लाम धर्म को ग्रहण कर हजरत मुहम्मद को 'रसूल' माना। जब तक खदीजा जीवित रही, हजरत मुहम्मद को मक्का में कोई कष्ट नहीं हुआ, मगर खदीजा की मृत्यु के पश्चात् उनको विवश होकर मक्का छोड़ना पड़ा और मदीने में आकर अपना धर्म प्रचार करना पड़ा।

हजरत मोहम्मद खदीजा का बहुत ही आदर करते थे। जब तक खदीजा जीवित रही तब तक उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। खदीजा की मृत्यु के पश्चात् भी वह खदीजा को बड़ी इज्जत से याद करते थे। इससे उनकी द्वितीय पत्नी 'आयशा' को कभी-कभी ईर्ष्या भी होती थी, मगर हजरत मुहम्मद ने खदीजा की प्रशंसा करने में कभी कोताही नहीं की।

खदीजा की कब्र अभी भी बनी हुई है। तीर्थयात्री उसके दर्शन करने जाया करते हैं। कब्र के एक पत्थर पर कुरान की एक आयत खुदी हुई है।

खना—वराहमिहिर

किम्वदन्तियों के अनुसार सुप्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य वराहदेव के पुत्र मिहिर की पत्नी खना।

'खना' के सम्बन्ध में बंगाल के अन्तर्गत इस प्रकार की किम्वदन्ती है कि मिहिर के पिता वराहदेव ज्योतिष-शास्त्र में अत्यन्त निपुण थे। मिहिर का जन्म होने के पश्चात् उसकी कुण्डली बना कर उन्होंने देखा कि इस बच्चे की उम्र एक वर्ष से ज्यादा नहीं है। उन्होंने अपनी आँखों के सामने अपने पुत्र की मृत्यु देखना नहीं चाहा। इसलिए उसे एक लकड़ी की पेटी में बन्द करके समुद्र में बहा दिया।

दैवयोग से यह पेटी बहती हुई लंका-द्वीप में जा पहुंची। उस समय वहाँ पर अपनी सहेलियों के साथ खना स्नान कर कर रही थी। उन लोगों ने उस पेटी को खींच कर खोला तो उसमें उन्हें एक अत्यन्त सुन्दर बालक मिला। खना स्वयं ज्योतिष-शास्त्र की पंडिता थी। उसने उस बालक का आयुर्बल निकाल कर देखा तो वह सौ वर्ष का निकला।

उसके बाद उस बालक का वहीं लालन-पालन हुआ और उस बालक के युवक होने पर खना ने उससे अपना विवाह कर लिया और सब ज्योतिष-ग्रन्थों का संग्रह करके वह मिहिर के साथ भारतवर्ष मे आयी और मिहिर की आयु के सम्बन्ध में उसके पिता के भ्रम को दूर किया।

इस किम्वदन्ती में कितना सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि खना के नाम से जितने ज्योतिष-वचन चले, सब बंगला-भाषा में हैं। यदि वह मिहिर की पत्नी होती तो उसके वचन बंगला मे न मिलकर संस्कृत मे मिलते।

जो भी हो खना की कहावतें वराह-मिहिर-खना ज्योतिष-ग्रन्थ नामक बंगला-पुस्तक में संगृहीत हैं। ये कहावतें ठीक उसी प्रकार की हैं, जिस प्रकार राजस्थान में वर्षा और खेती की फसलो के लिए 'घाघ और भड्डरी' की प्रसिद्ध हैं। इन कहावतों में अच्छी वर्षा होने के निशान, अकाल पड़ने के निशान, आंधी और तूफान के लक्षण, तरह-तरह की खेती और उनमें दिये जाने वाली खाद का वर्णन इत्यादि बातें, बड़े सुलभ ढंग से समझाई गई हैं और कई अंशों में सच्ची भी ठहरती हैं।

खनिज-विज्ञान

पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई सम्पत्ति, तरह-तरह की धातुएँ, कोयला, मेगनीज, अभ्रक, लोहा, सोना, मिट्टी का तेल इत्यादि वस्तुओं को बाहर निकाल कर उनसे मानवीय आवश्यकताओं के पूर्ण करने के विज्ञान को खनिज-विज्ञान कहते हैं।

खनिज-विज्ञान का इतिहास बहुत पुराना है। आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार जब मनुष्य पाषाणयुग, ताम्रयुग

और लोह-युग में अपना जीवन व्यतीत कर रहा था तब भी उसे लोहे और ताँबे जैसे खनिज पदार्थों का ज्ञान था।

भारतवर्ष में भी वैदिक काल से ही यहाँ के लोगों को सोना, लोहा, ताँबा इत्यादि खनिज-पदार्थों का ज्ञान था और वे भूगर्भ से इन वस्तुओं के प्राप्त करने की विधि भी जानते थे।

प्राचीन यूनान के अन्तर्गत खनिज-विज्ञान के वैज्ञानिकों में थीयोफ्रेस्टस् (Theophrastus) और 'प्लाइनी' का नाम विशेष प्रसिद्ध है। थीयोफ्रेस्टस का समय ईसा से लगभग ३१५ वर्ष पूर्व माना जाता है। इसने अपने ग्रन्थ में खनिज द्रव्यों को तीन भागों में बाँटा है। १–धातु २–पत्थर और ३–मिट्टी।

प्लाइनी का समय ईसवी सन् के आरंभ में माना जाता है। इसने अपना ग्रन्थ 'हिस्टोरिया नेचुरालिस' (Historia Naturalis) ईसवी सन् ७७ में लिखा था। इसमें उसने खनिजों को धातु, पत्थर, रत्न और अशुद्ध धातु इन चार भागों में विभक्त किया है।

फिर भी इसमें सन्देह नही कि खनिज-विज्ञान का पूर्ण विकास प्राचीन युग मे नही हो पाया था। इसका कारण यह है कि उस युग में खनिज-द्रव्यों के सम्बन्ध में लोगों की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति छोटी-छोटी खानों से ही हो जाती थी। दूसरी बात यह है कि उस समय खनिज-यंत्र-कला का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था। इससे सौ-पचास फुट गहराई में जाने के साथ ज्योंही खदान में पानी आना शुरू होता था त्योंही खनन-कार्य बन्द कर देना पड़ता था।

खनिज-विज्ञान का वैज्ञानिक रूप में अध्ययन यूरोप में 'रेनेन्सा' या पुनर्जागरण के युग के साथ ही प्रारंभ होता है।

सबसे पहले 'जॉर्ज एग्रीकोला' ने १६वीं शताब्दी में खनिज विज्ञान पर कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये। इनमें मुख्य-मुख्य अशुद्ध खनिज द्रव्यों, उनकी खुदाई और उनसे धातुप्राप्ति की विधियों का उल्लेख किया गया है।

इसके पश्चात् 'न्एसेल्म' तथा 'गैसनर' नामक विद्वानों ने इस क्षेत्र में मूल्यवान साहित्य का निर्माण किया। इसी प्रकार 'हेकेल' नामक विद्वान् का ग्रन्थ पाइरीटोलोजिया (Pyritologia) और 'कार्ललिने' के सिस्टम-नेचरल (System Natiural) नामक ग्रन्थों ने इस विज्ञान को आगे बढ़ाने में सहायता प्रदान की।

१८वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में इस विज्ञान की उन्नति में विशेष प्रगति आई। एबे-हाउई नामक विद्वान् ने लाज ऑफ सिमेट्री, लॉज ऑफ राशनल इंडिकेस (Laws of Rational Indices) इत्यादि विषयों पर मौलिक सिद्धान्तों का अन्वेषण कर खनिज-विज्ञान के क्षेत्र में एक युगान्तर उत्पन्न कर दिया। इन्हीं के बनाए हुए सिद्धान्तों के आधार पर खनिज-विज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई।

१९वी सदी के खनिज-विज्ञान के प्रमुख वैज्ञानिकों में डाना, फ्रांकेन हाइम, हैसल, ब्रे विस, फेडरोव आदि वैज्ञानिकों के नाम उल्लेखनीय हैं और अब यह विज्ञान विकास करते-करते भूगर्भ-शास्त्र (Geology) खनिज-शास्त्र (Mining) और धातुतत्वशास्त्र (Metallurgy) इन तीन विभागों में विभक्त हो गया है

खनिज विज्ञान में खदानों का पता लगाने के पूर्व, उसका पूर्वेक्षण, (Prospecting) और उसके पश्चात् उसकी गवेषणा (Exploration) ये दो वस्तुएँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

भूगर्भ-शास्त्र के आधार पर किसी स्थान पर किसी धातु के होने की सम्भावना का सूत्र मिलने पर खनिज-वैज्ञानिक उस स्थान पर जाकर पहले वहाँ का पूर्वेक्षण करना प्रारंभ करते हैं। पहले उस स्थान की मिट्टी और निकटस्थ नदी की बालू की रासायनिक और अणुवीक्षण-दृष्टि से परीक्षा की जाती है। उसके पश्चात् उसकी गवेषणा में खनिज-द्रव्य की सम्भावित मात्रा, खनन योग्य क्षेत्र का वितरण तथा खदान के विकास के लिए उपयुक्त विधि का निश्चय इत्यादि महत्वपूर्ण तथ्यों का अध्ययन किया जाता है।

खनिज-कर्म को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया गया है।

१—धरातल के ऊपर पहाड़ इत्यादि को खोदकर जो खनिज प्राप्त किये जाते हैं, उन्हें सरफेस माइनिंग या धरातलीय खनिज कहा जाता है।

२—जलीय खनिज प्राचीन नदियों में जो अवसाद

इकट्ठे हो जाते हैं, उनमें कभी-कभी सोना-चाँदी इत्यादि कई बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त हो जाती हैं।

३—भूगर्भीय खनन—इसमें पृथ्वी के अन्दर रहनेवाली खनिज-सम्पत्ति को पृथ्वी के गर्भ में घुस कर प्राप्त किया जाता है। खनिज-विज्ञान में यह कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस कार्य में सबसे पहले पूर्वेक्षण और गवेषणात्मक कार्यों को अत्यन्त सावधानी के साथ समाप्त कर लिया जाता है। खदान का काम सबसे पहले कूप बना कर प्रारम्भ किया जाता है। इन कूपों का व्यास १० से १२ फुट तक का होता है। इन कूपों के साथ भूमिगत मार्ग तथा गेलरियाँ भी बना ली जाती हैं। जिन शिलाओं से होता हुआ कूप जाता है, यदि वे सुदृढ़ नहीं हों तो उनके पीछे इस्पात, सीमेंट इत्यादि का स्तर लगाया जाता है। भूगर्भ खदानों में इन कूपों का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि कर्मचारियों का खान में आना-जाना, खनिज पदार्थों का बाहर निकालना, खदान में वायु का सञ्चालन तथा खदान में पानी को बाहर फेंकने के लिए पम्पों का सञ्चालन इन्हीं के द्वारा होता है।

भूगर्भीय खदानो मे आवश्यक प्रकाश तथा शुद्ध वायु के आवागमन का प्रबन्ध बहुत अच्छा रहता है। बहुत-सी खदानों में अब बिजली का प्रकाश उपलब्ध हो गया है। फिर भी कई खदानों मे मोमबत्तियों का प्रयोग होता है। वायु के आवागमन के लिए भी बड़े-बड़े वायु-मार्गों की आवश्यकता होती है, जो वायु का प्राकृतिक प्रवाह कर सके। इसके लिए बहुत से यंत्रों की भी आवश्यकता होती है।

भूगर्भीय खानों में दुर्घटनाएँ बड़ी भयंकर होती है। खदानों के खोदने का काम अत्यन्त खतरे का होता है। किस समय क्या विपत्ति आयेगी—किसी को इसका पता नही रहता। खान के धसक जाने से अथवा वहाँ पर पानी भर जाने से सैंकड़ों आदमी मर जाते हैं। विस्फोटक गैसों के विस्फोट हो जाने से कोयले की खदानों में आग लग जाती है। और कभी-कभी इन गैसों के विस्फोट से सारी खदानें चकनाचूर हो जाती हैं और असंख्य आदमी जीते-जी जल कर भस्म हो जाते हैं। कोयलों की खदानों में आग लग जाने पर उसका बुझाना भी बड़ा कठिन हो जाता है। कभी-कभी तो यह आग बरसों तक जलती रहती है।

इन दुर्घटनाओं को रोकने के लिए कई यन्त्रों का भी आविष्कार हो चुका है। दुर्घटना का मुकाबला करने के लिए कई बड़ी-बड़ी खदानों में आपत्कालीन खनिज-सैन्य-दल बनाया जाता है। जो इस प्रकार की दुर्घटनाओं को रोकने के लिए सुसज्जित रहता है।

भूमिगत खदानों से प्राप्त होनेवाले खनिज-द्रव्यों में लोहा, सोना, ताँबा, कोयला, अभ्रक, मेगनीज, युरेनियम, जिप्सम, टाल्क, केल्साइट, एपेराइट, फ्लोराइट, फेल्सपार, पुष्पराग, हीरा, मिट्टी का तेल इत्यादि चीजें प्रधान हैं।

खदान को कितनी गहरी करने से उसमें काम किया जा सकता है। इसका निश्चय वहाँ की परिस्थिति के अनुसार होता है। खान जितनी गहरी होती जाती है, उतनी ही उसके भीतर गरमी बढ़ती जाती है। ऐसा समझा जाता है कि कही-कहीं ५० से १०० फीट की गहराई तक और कहीं-कही २०० फीट की गहराई पर एक डिग्री गरमी बढ़ती जाती है। मगर बाहर से आक्सीजन पहुँचा कर यह गरमी कम की जाती है।

इस प्रकार हजारों फीट गहराई के नीचे भी खदानों का काम बदस्तूर चलता रहता है। 'कोलार-गोल्ड फील्ड' की सोने की खदानें भी बहुत काफी गहरी हैं।

(ना० प्र० विश्वकोष)

खमती

भारत के पूर्वी प्रदेश आसाम में बसने वाली शान-राजवंश की एक शाखा।

ऐसा कहा जाता है कि किसी समय में 'खमती' लोगों का एक विशाल राज्य था जो पोंग राज्य के नाम से प्रसिद्ध था। यह त्रिपुरा से लेकर श्याम तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी का नाम मोंगमारंग था।

१८वीं शताब्दी में बर्मा के राजा 'आलम्परा' ने इस राज्य को विध्वंस कर दिया। तब इनमें से बहुत से लोग भाग कर आसाम के सदिया-विभाग में जाकर बसे। किसी किसी इतिहासकार के मत से इरावती नदी के उद्‌गमस्थान, बड़ी खम्पती के मूल निवासी होने के कारण ये लोग खमती नाम से मशहूर हुए।

खमती लोग विशेष रूप से बौद्ध-धर्म के अनुयायी होते हैं। इनकी अपनी भाषा होती है, जिसमें श्याम देश के बहुत शब्द होते हैं। इनके बौद्ध-मठों में लकड़ी की दीवारों पर खुदाई का बड़ा सुन्दर कार्य होता है। हाथी दाँत के ऊपर बनाई हुई कारीगरी में भी ये लोग प्रवीण होते हैं।

खमती लोग आसाम की अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सभ्य और सुशिक्षित होते हैं। इनका धर्म-ग्रंथ खमती भाषा में लिखा हुआ है। ये बुद्धदेव को 'कदोमा' के नाम से सम्बोधित करते हैं और इनके मठों को 'बापूचंग' कहा जाता है।

खम्भात

गुजरात-राज्य में खम्भात की खाड़ी के उत्तर में माही नदी के मुहाने पर बसा हुआ एक प्रान्त जो 'काम्बे' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

प्राचीन युग में यह भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। प्रसिद्ध इतिहासकार और यात्री टालमी (Tolmy) ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"इस बन्दरगाह से कपास, सोने-चाँदी की चीजें, रेशम और छीटों का निर्यात प्रधान रूप से होता था।" १५वीं शताब्दी तक यह प्रान्त भारत के एक हिन्दू-राजा की राजधानी था। उसके पश्चात् १७वीं और १८वीं शताब्दी में यह कभी मराठों के अधिकार में और कभी अंग्रेजों के अधिकार में आता-जाता रहा।

सन् १८०३ ई० में यह स्थायीरूप से अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। गुजरात के राजा कुमारपाल तथा अन्य राजाओं के समय में जब गुजरात में जैन-धर्म का बोलबाला हुआ, उस समय खम्भात में भी जैन-धर्म का प्रभाव बड़ी तेजी से बढ़ा। इस नगर के दक्षिण-पश्चिम के विस्तीर्ण प्रदेश में पाये जाने वाले प्राचीन जैन-मन्दिरों के भग्नावशेष अभी भी उस प्रभाव की झाँकी दिखलाते हैं।

हाल ही मे इस क्षेत्र में मिट्टी के तेल के विशाल भंडारों का पता लगा है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस भूमि में और भी कई मिट्टी के तेल के भंडार उपलब्ध हो सकेंगे।

खरगौन

मध्य भारत के नेमाड़ जिले का एक प्रसिद्ध नगर जो विलीनीकरण के पहले इन्दौर राज्य में था।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि मुगल-साम्राज्य के युग में यह नगर बसाया गया था। रेलवे के विकास के पहले यह व्यापार की बहुत अच्छी मंडी था। अभी भी यहाँ कपास का अच्छा व्यापार होता है।

खरवार

छोटे नागपुर और बिहार में रहने वाली एक जाति।

इस जाति को कुछ लोग द्राविड़ जाति की और कुछ कोल जाति की एक शाखा मानते हैं। एक-दो पाश्चात्य इतिहासकारों ने इस जाति को तूरानी लोगों से उत्पन्न बतलाया है। स्वयं खरवार लोग अपने आपको सूर्यवंश के राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व के वंशज बतलाते हैं और रोहिताश्वगढ़ से अपनी उत्पत्ति मानते हैं। इस जाति में कुछ राजवंश भी हैं। रामगढ़ और यशपुर के राजा लोग खरवार जाति के ही थे। इस जाति के लोग विशेषकर कृषिजीवी होते हैं।

पलामू जिले में इस जाति की तीन शाखाएँ हैं। १—पाटबन्द २—देवालबन्द और ३—खैरी। खरवारों में पाटबन्दी सबसे ऊँचे माने जाते हैं। ये लोग यज्ञोपवीत धारण करते हैं।

खरवार जाति का एक विभाग लोहार-डाँगे में भी रहता है। वहाँ पर ये लोग देशवारी खरवार, भोक्ता, रावत, माँझी इत्यादि श्रेणियों में विभाजित हैं।

खरोष्ट्री-लिपि

दायीं ओर से बाईं ओर लिखी जानेवाली प्राचीन भारतीय लिपि।

खरोष्ट्री-लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसी संभावना प्रकट की जाती है कि असीरिया और बेबीलोनिया में उस समय प्रयुक्त होनेवाली 'आर्मेयिक' लिपि को ईरान के अखामनी शासकों ने अपने शासन की सुविधा के लिए ग्रहण किया। चूँकि उस समय ईरानी शासकों का शासन भारत

की उत्तरी-सीमाओं को छूता था। इसलिए उत्तर-पश्चिम भारत के कई लोगों को यह लिपि सीखनी पड़ी। परन्तु बाद में 'ब्राह्मी' लिपि के संसर्ग के कारण इस लिपि में कुछ परिवर्तन हुए और इसका नाम खरोष्ठी लिपि पड़ गया। मगर दायीं ओर से बाईं ओर लिखी जानेवाली इसकी पद्धति वदस्तूर रही।

भारत वर्ष में ईसा से पूर्व तीसरी और चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक खरोष्ट्री लिपि का काफी प्रचार था। इस लिपिमें लिखे हुए लेख पत्थर की शिलाओं, धातु सिक्कों, मिट्टी के वर्तनों तथा भोज पत्रों पर उपलब्ध हुए हैं।

ईरान से भारत आते समय इस लिपि का प्रचार मध्य एशिया में भी हो गया। खरोष्ठी लिपि के अनेकों लेख मध्य एशिया से मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि यह लिपि मनसहरा (पाकिस्तान) शाहाबाज गढ़ी, कान्धार, बैक्ट्रिया तथा सोग्द में भी चलती थी। मासीमजार, नीया इत्यादि स्थानोंसे इस लिपि में लिखेहुए काष्ट पट्टिकाओं पर कई अभिलेख मिले हैं। इन पट्टिकाओं की लंबाई ७ से १५ इञ्च और चोड़ाई १॥ से २॥ इञ्च तक होती है। किसी किसी पट्टिका में संस्कृत को खरोष्ट्री लिपि मे लिखा गया है। तरिम उपत्यका में खरोष्ट्री भाषा के लेखों से यह सिद्ध होता है कि वहाँ के निवासी शक-जाति के लोग खरोष्ट्री लिपि और उसमें लिखी जानेवाली भारतीय भाषा से परिचित थे।

खलखा-मंगोल

मध्य एशिया में वाह्य मंगोलिया की एक जाति खलखा मंगोल, जो १६ वीं शताब्दी में एक शक्तिशाली राज्य की स्वामी थी।

कल्मक-मंगोलों के वाद ज्यादा शक्तिशाली खलखा-मंगोल थे। खलखा मंगोलों के ४९ झंडे थे। अर्थात् ये छोठे-छोटे ४९ कवीलों में विभक्त थे। इनके ४ मुख्य भेद थे। पश्चिमी खलखा, उत्तरी खलखा, मध्यवर्ती खलखा और पूर्वी खलखा।

ये सव मंगोल शासक 'तायन-खान' के वंशज थे। खलखा–राजवंश तायन-खान के छोटे लड़कों का था।

खलखा-मंगोलों और कलमक मंगोलों के वीच आपस में संघर्ष होता रहता था। इसलिए खलखा मंगोलों ने चीन के तत्कालीन मंचू सम्राट् 'कांगसी' (१६६१ से १७२३) से सहायता माँगी। कागसी ने खलखों की मदद की और ओईरोद या कलमख कवीलों को आसानी से दबा दिया।

सन् १६९१ में कांगसी ने दक्षिणी मंगोलिया में खलखों की एक बड़ी परिषद् बुलाई। जहाँ पर एकत्रित होकर खलखा मंगोलों के राजुलों ने चीन की अधीनता स्वीकार करते हुए चीन से अपनी सुरक्षा का वचन लिया। तव से प्रायः मंचू वंश के अन्तिम समय या सन् १९११ ई० तक खलख-मंगोलों ने चीन की अधीनता व-दस्तूर जारी रखी और प्रति वर्ष ८ सफेद घोड़े और १ सफेद ऊँट भेंट के रूप में भेजते रहे।

सन् १६८८ में गलदन नामक कलमख-राजवंश के राजुल ने खलखों के खान 'तुशी एतू' पर चढ़ाई की। जिससे खलखों में भगदड़ मच गयी और तुशीएतु के बीबी बच्चे ३०० आदमियों के साथ अपनी जान लेकर भागे। लेकिन चीन ने उसी समय खलखों की मदद के लिए सेना भेजी। पेकिंग से ८० लीग (योजन) दूरी पर जाकर लड़ाई छिड़ी, जिसमें जीत-हार का कोई परिणाम नही निकला।

इसके वाद अप्रेल सन् १६९६ ई० में एक बहुत बड़ी चीनी सेना ने स्वयं सम्राट कांगसी के नेतृत्व में गलदन के विरुद्ध अभियान प्रारंभ किया, जिसमें गलदन को हार हुई और सन् १६९७ में उसने आत्महत्या कर ली।

(H. H. Howorth—History of Mangol और राहुल सांकृत्यायन मध्य एशिया का इतिहास)

खलील जिब्रान

मध्य एशिया में लेबनान देश के एक महाकवि, जिनका जन्म ६ जनवरी सन् १८८३ ई० को लेवनान के वशरी नामक नगर में एक सम्पन्न ईसाई परिवार में हुआ।

खलील जिब्रान की माता का नाम कलीमारहिमी था। १२ वर्ष की छोटी आयु में ही इनको अपने माता-पिता के साथ कई देशों का भ्रमण करना पड़ा।

अध्ययन के वाद यह अरवी, फ्रेंच और अंग्रेजी भाषा के वड़े पंडित हो गये। कविता करने का और कहानियां लिखने

का इनको शुरू से ही काफी शौक था। इनकी कविताएँ और कहानियाँ प्रायः दार्शनिक धरातल पर होती थीं।

लेखक और कवि होने के साथ ही खलील जिब्रान प्रथम श्रेणी के चित्रकार भी थे। इनके बनाये हुए चित्रों की प्रदर्शिनी इंगलैंड, अमेरिका और फ्रांस में कई बार हुई जिसमें इनकी बड़ी प्रशंसा हुई। अपनी रचनाओं के लिए इन्होंने चित्र भी स्वयं ही तैयार किये थे।

खलील जिब्रान वर्तमान समाज की विषम परिस्थितियों के कठोर आलोचक थे। अपनी रचनाओं में उन्होंने पद-पद पर उग्र भाषा में सामाजिक विषमताओं की आलोचना की है। इन आलोचनाओं के कारण उनको अपनी जाति और देश से बहिष्कृत होना पड़ा। फलस्वरूप सन् १९१२ ई० से इन्होंने स्थायीरूप से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के न्यूयार्क शहर में रहना प्रारम्भ कर दिया।

खलील जिब्रान ने करीब २५ पुस्तकों की रचना की जिनका संसार की प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हुआ। इसीसे इनकी लोक-प्रियता का अनुमान किया जा सकता है।

सन् १९३१ की १० अप्रैल को एक मोटर दुर्घटना हो जाने के कारण ४८ वर्ष की उम्र में इनका देहान्त हो गया। इनके शव का अन्तिम दर्शन करने के लिए दो दिनों तक हजारों व्यक्ति आते रहे। उसके बाद उनका शव उनकी जन्म-भूमि में लाकर राजसी सम्मान के साथ दफनाया गया।

खलील जिब्रान ने हमारे आधुनिक युग की नई-नई बुराइयों को अपनी कहानियों का प्रधान लक्ष्य बनाया है तथा भ्रष्टाचार, अवसरवादिता, सत्तालोलुपता तथा अनेक सामाजिक बुराइयों पर अपनी तीव्र भाषा में कड़ी चोट की हैं।

धार्मिक अन्धश्रद्धा पर चोट करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा है--

"एक दिन सन्ध्याकाल में जबकि भयंकर आँधी का तर्जन-गर्जन हो रहा था, एक पादरी अपने गिर्जाघर में प्रार्थना कर रहा था। उसी समय एक स्त्री ने प्रवेश करके उससे कहा कि हे पूज्य धर्माचार्य मैं ईसाई नहीं हूँ। ऐसी स्थिति में मुझे नरक की आग से बचने का कोई उपाय बताइये। पादरी ने उसकी तरफ बड़े अहंकार से देखा और कहा कि नहीं, जन्नत केवल उनके लिए है जो दिल से प्रभु ईसू मसीह के साथ सम्बन्ध स्थापित कर चुके हैं। जिस समय पादरी यह कह रहा था। उसी समय भयंकर कड़-कड़ाहट के साथ गिर्जे पर बिजली गिरी। शहर से लोग उनको बचाने के लिए दौड़े आये। उस स्त्री को तो किसी प्रकार लोगों ने बचा लिया, मगर पादरी जलकर राख हो चुका था।"

खलीफा और खिलाफत

इस्लाम के अन्तर्गत पैगम्बर के उत्तराधिकारी या पैगम्बर के पश्चात् इस्लामी समाज में धार्मिक निष्ठा को जागृत रखने वाले धर्मगुरु को "खलीफा" कहते हैं। और चूँकि धर्म के साथ उसे राजनैतिक और सैनिक अधिकार भी रहते हैं इसलिए उसके सम्मिलित अधिकार-क्षेत्र को "खिलाफत" कहते हैं।

खिलाफत और खलीफाओं का इतिहास बड़ा मतभेद-पूर्ण और रक्तरंजित रहा है। खिलाफत के इसी प्रश्न को लेकर इस्लाम "शिया" और "सुन्नी"—इन दो बड़े विभागों में बँट गया। ये दोनों सम्प्रदाय कई शताब्दियों तक भयङ्कर रूप से लड़ते रहे।

ऐसा कहा जाता है कि 'हजरत मुहम्मद' बिना किसी उत्तराकारी का निर्वाचन किये ही जन्नत-नशीन हो गये। तब उनके पश्चात् खलीफा की गद्दी के लिए मुसल-मानों में प्रबल रूप से मतभेद हो गये। एक वर्ग, हजरत मुहम्मद के उत्तराधिकारी के रूप में "अली" को ही पहला खलीफा बनाना चाहता था और दूसरा वर्ग इजमा-ए-उम्मत के जनमत के आधार पर खलीफा का चुनाव करना चाहता था। हजरत अली का पक्षपाती वर्ग "शिया" के नाम से और दूसरा वर्ग "सुन्नी" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस समय चूँकि दूसरे वर्ग का प्रावान्य था, इसलिए उसने हजरत मुहम्मद के विश्वासपात्र साथी "अबू-बकर" को पहला खलीफा सन् ६३२ में चुना। तभी से खलीफा और खिलाफत का सिलसिलेवार इतिहास प्रारम्भ होता है जो सन् १२५८ तक बड़े शानदार ढङ्ग से विकसित हुआ और उसके बाद भी सन् १९२४ तक किसी प्रकार अपने नाम की रक्षा करता रहा।

खिलाफत के इस सारे इतिहास को इतिहासकार पाँच भागों में विभक्त करते हैं। (१) प्रारम्भिक खिलाफत (६३२–६६१) (२) उमैया खिलाफत (६६१–७५०) (३) अब्बासी खिलाफत (७५०–१२५८) (४) काहिरा खिलाफत (१२५८–१५१७) और (५) उसमानी खिलाफत (१५१७–१९२४) तक।

प्रारम्भिक खिलाफत का प्रारम्भ खलीफा अबू-बकर से प्रारम्भ होता है जो सन् ६३२ में निर्वाचित किये गये। चूँकि इस खिलाफत का हजरत मुहम्मद के तुरन्त बाद ही निर्माण हुआ था और इसके खलीफा हजरत के चुने हुए साथी थे इसलिए इस खिलाफत के खलीफों में सादा जीवन और धार्मिक अनुशासन की भावनाएँ ही प्रधान रहीं। इस खिलाफत में चार खलीफा हुए (१) अबूबकर (२) ऊमर (३) उसमान और (४) अली—इन चारों खलीफाओं ने अभाव और दरिद्रता में ही अपना जीवन बिताया। इनके रहने के लिए न तो बड़े बड़े महल थे, न शरीर-रक्षक थे और न इनके बड़े-बड़े दरबार ही लगते थे। इनके जीवन का प्रधान लक्ष्य इस्लाम के अनुयायियों में इस्लाम की धार्मिक भावनाओं को ज्वलन्तरूप से जागृतरखना था। इनके द्वारा बनाये हुए धार्मिक विधानों और कुरान की व्याख्याओं को सुन्नी लोग ईश्वर-वाक्य की तरह मानते थे। खलीफा अबूबकर के समय में मक्का और मदीना को छोड़कर सारे अरब में जो विद्रोह जागृत हो गया था। उसका उन्होंने दमन किया। खलीफा अबूबकर अपने पश्चात् ऊमर को खलीफा पद के लिए मनोनीत कर गये थे।

खलीफा ऊमर दूसरे खलीफा थे। इनका समय सन् ६३४ से ६४४ तक रहा। इनके समय में मुसलमानों के अन्तर्गत किसी रूप में राजनैतिक महत्वाकांक्षा जागृत हो गई थी, और इन्ही के समय में इनकी सेनाओं ने ईराक, ईरान, सीरिया और मिस्र को जीत कर वहां पर इस्लाम का झण्डा गाड़ दिया और खिलाफत धीरे २ एक साम्राज्य का रूप ग्रहण करने लगी। खलीफा ऊमर के समय में अरबी मुसलमानों का रहन-सहन भी काफी ऊँचा हो गया था और उनमें साम्राज्य-विस्तार की भावनाएं और प्रतिशोध की भावनाएं जोर पकड़ रही थीं और इसी प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर एक ईरानी गुलाम ने खलीफा ऊमर की हत्या कर दी।

अभी तक खिलाफत के लिए उत्तराधिकारी चुनने के सम्बन्धमें कोई योजनाबद्ध विधान की रचना नहीं हुई थी। महमूद साहब के बाद मदीना की एक अनुशासनहीन सभा ने मतभेद की परवाह किये बिना अबूबकर को खलीफा चुना था और ऊमर को अबूबकर ने अपनी इच्छा से मनोनीत कर दिया था। खलीफा ऊमर ने अपनी मृत्यु के पहले ६ व्यक्तियों की एक समिति खलीफा का चुनाव करने के लिए बना दी थी।

इसी छः व्यक्तियों की समिति ने तीसरे खलीफा के स्थान पर उसमान को चुना। उसमान का राज्य-काल सन् ६४४ से ६५६ तक रहा। इनके शासन-काल में अरब के मुसलमानों की काफी उन्नति हुई। मगर भीतरी रागद्वेष भीतर ही भीतर बढ़ता गया जिसके कारण उस्मान का भी उनके घर में ही विद्रोहियों द्वारा कत्ल कर दिया गया।

खलीफा उस्मान के पश्चात् 'अली' खलीफा के पद पर आये।

खलीफा अली, मुहम्मद साहब के सच्चे अनुयायी थे और वे अभाव व दरिद्रता के जीवन को विशेष रूप से पसन्द करते थे। इस कारण दमिश्क का राज्यपाल म्वाविया जो शाही और वैभवपूर्ण जिन्दगी पसन्द करता था, अली का कट्टर विरोधी हो गया। अली का सारा समय म्वाविया के विरोध में ही बीता और उसी के षड्यंत्र से उनके बड़े लड़के हसन को विष खाकर मरना पड़ा और उनके दूसरे लड़के हुसैन को म्वाविया के पुत्र 'यजीद' ने 'कर्बला' के मैदान में पानी बिना तड़फा-तड़फा कर मार डाला। कर्बला के मैदान में हुसेन और उनके ६९ साथियों की मौत इस्लाम के इतिहास में बड़ी दर्दनाक घटना है। इसने इस्लाम की फूट को सदा के लिए स्थायी बना दिया।

खलीफा अली की भी सन् ६६१ में एसे समय में हत्या कर दी गयी, जब वे मस्जिद में लोगों को नमाज पढ़ा रहे थे।

उम्मैया खिलाफत

खलीफा अली की हत्या के पश्चात् खिलाफत ने दूसरा

मोड़ ग्रहण किया। सन् ६६१ में अली की हत्या के पश्चात् 'म्वाविया' खलीफा की गद्दी पर बैठा। इसने खिलाफत के अन्दर वंशानुगत उत्तराधिकार की प्रथा को चालू कर दिया। सबसे पहले उसने अपने पुत्र 'यजीद' को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर सब नागरिकों को उसके प्रति राज-भक्ति की शपथ दिलवाई।

उम्मैया खलीफाओं का शासनकाल सन् ६६१ से सन् ७५० तक करीब एक शताब्दी तक रहा। इस वंश में सब १३ खलीफा हुए। जिनके नाम १—म्वाविया प्रथम (६६१ से ६८०) २—यजीद प्रथम (६८० से ६८३) ३—म्वाविया द्वितीय (६८३) ४—अब्दुल मल्लिक (६८३ से ७०५) ५—वलीद प्रथम (७०५ से ७१४) ६—सुलेमान (७१४ से ७१७) ७—ऊमर द्वितीय (७१७ से ७२०) ८—यजीद द्वितीय (७२० से ७२३) ९—हिशाम (७२३ से ७४२) १०—वलीद द्वितीय (७४२) ११—यजीद तृतीय १२—इब्राहिम और १३—मेरवान द्वितीय (७४२—७५०)।

उम्मैया खिलाफत का इतिहास बड़ा ही संघर्षपूर्ण रहा। मगर इस खिलाफत के समय में मुस्लिम-साम्राज्य का बहुत विस्तार हुआ।

तीसरे खलीफा म्वाविया द्वितीय के समय में उसकी कमजोरी से खिलाफत दो टुकड़ों में विभक्त हो गयी। एक भाग का मालिक म्वाविया द्वितीय का पुत्र अब्दुल मल्लिक और दूसरी खिलाफत का खलीफा जुबेर का पुत्र अब्दुल्ला बना। अब्दुल्ला ने यमन, सीरिया और मिस्र पर कब्जा किया। और अब्दुल मल्लिक ने राजधानी दमिश्क को अपने हाथ मे करके शीघ्र ही अब्दुल्ला से मिस्र और सीरिया भी छीन लिया। उसने अपने दूसरे प्रतिद्वन्दी मुहम्मद को, जो मक्का और मदीना का खलीफा बन बैठा था, मार भगाया और इस प्रकार सारे साम्राज्य में शान्ति स्थापित की।

अब्दुल मल्लिक का पुत्र खलीफा वलीद हुआ। इसने सन् ७०५ से ७१४ तक राज्य किया। इसके समय में इस्लामी सेना में तीन सेनापति ऐसे जबर्दस्त हुए जिन्होंने बड़ी तेजी से संसार के विभिन्न देशों में इस्लाम का झंडा फहरा दिया। पहला सेनापति महम्मद-बिन-कासिम, भारत मे सिन्ध प्रान्त को जीत कर रावी तट पर पहुँच गया था। दूसरे सेना-पति कुतैब ने मध्य एशिया के तुर्की इलाकों को चीन तक जीत लिया। तीसरे सेनापति मूसा ने अपने अधीनस्थ सेनाध्यक्ष तारीक की सहायता से पश्चिमी अफ्रिका से स्पेन तक में इस्लाम की विजय का झंडा गाड़ा।

खलीफा वलीद के शासन-काल में इस्लामी सल्तनत का बाहरी दुनियां में जितना विस्तार हुआ, उतना किसी दूसरे युग में नहीं हुआ।

मगर इतना सब होने पर भी भीतर ही भीतर उम्मैया खलीफाओं के खिलाफ विद्रोह की भावनाएँ बढ़ती जा रही थीं और अली के अनुयायी धीरे-धीरे चारों ओर बढ़ते जा रहे थे। इन अनुयायियों का नेतृत्व "अबू मुस्लिम" नामक एक तरुण व्यक्ति ने किया। उसकी सहायता से अब्बासियों के अबुल अब्बास ने 'कूफा' को विजय करके वहाँ पर अपनी स्थायी राजधानी स्थापित की और यहां से उसने उम्मैया-वंश का खातमा करना शुरू किया।

अब्बासी खिलाफत

सन् ७५० ई० में उम्मैया खिलाफत का खातमा करके अबुल अब्बास ने अब्बासी खिलाफत की स्थापना की और उसी वर्ष उसने अपने आप को पहला खलीफा घोषित किया।

खलीफा घोषित होते ही उसने सबसे पहले पहला काम उम्मैया-वंशके उच्छेद करने का किया। अली के पक्षपाती 'कर्बला' के शहीदों को भूल नही सकते थे। भयंकर प्रतिहिंसा की आग में चारों ओर खून ही खून का नारा लग रहा था। अबुल अब्बास के चचा दाऊद ने मक्का में और अब्दुल्ला ने फिलस्तीन में उम्मैया वंश के लोगों को चुन-चुन कर मौत के घाट उतारा। उधर खुरासान में अबू-मुस्लिम ने उम्मैया वंश के बीज को भी नष्ट कर डालने की प्रतिज्ञा ले रखी थी।

हाशिमी खानदान ने उम्मैया खानदान को नष्ट करके ही सन्तोष नहीं किया, बल्कि उम्मैया खलीफों की कब्रों को भी खुदवा कर उनके मुर्दों के कंकालों की हड्डियों का चूर्ण कर हवा में उड़ा दिया।

कहते हैं कि अबू-मुस्लिम ने युद्ध में मारे गये लोगों के अतिरिक्त ६ लाख मुसलमानों की निर्दयता पूर्वक हत्या करवा दी। फिर भी उम्मैयावंश का एक शाहजादा खलीफा हिशाम का पुत्र 'अब्दुर्रहमान' निकल भागा और उसने स्पेन के 'कारडोबा' नगर में सन् ७५६ में उम्मैया खिलाफत की पुनः स्थापना की।

अब्बासी खिलाफत, खिलाफत के इतिहास का तीसरा मोड़ है। यह खिलाफत सन् ७५० से सन् १२५८ तक किसी प्रकार चलती रही और इसमें ३७ खलीफा हुए मगर इस खिलाफत की सबसे अधिक जाहो जलाली सन् ७५० से ८४२ तक रही। इस काल में ८ खलीफा बड़े प्रतापी हुए। इस युग को मुस्लिम-इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है जब कि मुस्लिम जाति की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। इन ८ खलीफाओं के नाम १--सफ्फाह अबुल-अब्बास (७४९ से ७५५) २—अल्-मंसूर (७५५ से ७७५) ३—अल्-मेंहदी (७७५ से ७८३) ४--हादी (७८३ से ७८६) ५--हारूँ-अल्-रशीद (७८६ से ८०९) ६—अल् अमीन (८०९ से ८१३) ७—अल-मामून (८१३ से ८३३) और अलमौतसीम (८३३ से ८४२)।

अब्बासी खिलाफत के शासन-काल में साहित्यिक, वैज्ञानिक, कानून इत्यादि क्षेत्रो मे बहुत उन्नति हुई। कानून के क्षेत्र में सुन्नियों के अन्दर मतभेद हो जाने से ४ सम्प्रदायों की स्थापना हुई। कानून का पहला सम्प्रदाय 'हनफी' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी रचना कूफा के निवासी अबू-हनीफ ने की। इस कानून को माननेवालों की संख्या भारत और पाकिस्तान में अधिक हैं। कानून की दूसरी शाखा का नाम मलीकी, है, जिसकी स्थापना मदीना के निवासी ईमाम मल्लिक ने सन् ७१५ से ७९५ के बीच की। तीसरी शाखा का नाम 'शाफई' है। इसकी रचना ईमाम शाफई ने सन् ७६७ से ८२० तक के बीच की और चौथी शाखा 'हम्बली' है जिसकी रचना अहमद इब्न-हम्बल ने की। इसी युग में पैगम्बर के वचनों अथवा 'हदीस' का बड़ा भारी संकलन हुआ। इसी युग में ग्रीक-दर्शन-शास्त्र और 'प्लेटो' तथा 'अरिस्टाटल' के ग्रन्थों के अनुवाद भी अरबी-भाषा में किये गये।

खलीफा अल्-मामून ने 'बैतुल-अल्-हिक्मा' नाम की एक प्रसिद्ध ज्ञान-संस्था की स्थापना की जिसमें ज्योतिष-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, राजनीति, प्राणी-शास्त्र, मनोविज्ञान, तर्क-शास्त्र इत्यादि अनेक विषयोंपर संस्कृत, पहलवी, ग्रीक और अनेक भाषाओं से अनुवाद किये गये।

इस प्रकार अब्बासी शासन-काल में साहित्यिक और वैज्ञानिक उन्नति अधिक हुई और विद्रोह तथा रक्तपात की घटनाएँ अपेक्षाकृत कम हुईं।

सन् ८४२ से अब्बासी खिलाफत में शिथिलता आने लगी। प्रान्तीय शासकों ने केन्द्रीय शक्ति की रीढ़ को तोड़ दिया। यद्यपि इस गिरे हुए समय में भी चार सौ वर्ष तक यह जर्जर खिलाफत किसी रूप में जीवित रही। इन चार सौ वर्षों में करीब २९ खलीफा हुए। इनमें ८ की हत्या कर दी गयी। २ को अन्धा कर दिया गया और १ को गद्दी से उतार दिया गया। फिर भी खिलाफत नाम के प्रति, मुस्लिम-जगत् का आदरभाव किसी न किसीरूप में बना रहा और हर एक खलीफा को मुस्लिम-जगत् 'अमीरुल-मोमिनीन' की पदवी से अलंकृत करता रहा।

काहिरा खिलाफत

सन् १२५८ में 'चंगेज खाँ' के पोते 'हलाकू' ने बगदाद नगर को घेर कर सारे अब्बासी-वंश का कत्ले-आम कर दिया। मगर किसी प्रकार खलीफा 'नासिर' का लड़का शाहजादा 'अबुल-कासिम मुहम्मद' अपने प्राण बचा कर मिस्र भाग गया। मिस्र के 'मामलूक' शासक ने उसको शरण दी और उसको वंशानुगत खिलाफत का मालिक बना कर वहाँ पर खिलाफत की स्थापना की। यह खिलाफत काहिरा की खिलाफत के नाम से प्रसिद्ध है।

इन खलीफों के अधिकार नहीं के बराबर थे। सुल्तान जिस प्रकार चाहता, अपने स्वार्थ के लिए उनका उपयोग कर सकता था। यह खिलाफत सन् १५१७ तक रही।

उस्मानी खिलाफत

सन् १५१७ में उस्मानी सुल्तान 'सलीम प्रथम, ने मिस्र को विजय किया और उसी समय उसने काहिरा के खलीफा से अपने लिए खिलाफत का पद हस्तान्तरित करवा लिया। उस समय से तुर्की का सुल्तान ही खलीफा भी हो गया और उसकी खिलाफत उस्मानी-खिलाफत के नाम से प्रसिद्ध हुई।

यह उस्मानी खिलापत सन् १९२४ तक चली। सन् १९२४ की टर्की की वृहत् राष्ट्रीय-सभा ने इस खिलाफत को तोड़ डाला।

खलील-उल्ला खाँ

मुगल सम्राट् शाहजहाँ के शासन में सेना-विभाग का अध्यक्ष, जिसकी मृत्यु सन् १६६२ ई० में हुई।

सम्राट् जहांगीर के समय में महावत खाँ ने जब विद्रोह

किया था, उस समय खलील-उल्ला भी उस विद्रोह में सम्मिलित था और उसी विद्रोह में वह पकड़ा गया था।

पर शाहजहाँ के राजत्व काल में सम्राट् शाहजहाँ की इस पर बड़ी कृपा रही। जिसके कारण यह मंजिल पर मंजिल चढ़ता हुआ सेना के एक खास विभाग का सेनापति बना दिया गया।

कहमर्द और गौरी के किलों की लड़ाई में बड़ी वीरता का परिचय देकर उनपर खलील-उल्ला ने विजय प्राप्त की। सम्राट् शाहजहाँ ने इसको औरङ्गजेब के साथ काबुल पर आक्रमण करने के लिए भेजा था। उसके बाद यह काबुल का राज्यपाल बना दिया गया।

खलील-उल्ला खाँ अत्यन्त वीर, चतुर और अपनी धुन का पक्का था। शाहजहाँ के शासन का अन्त होने पर शुरू में तो यह दारा-शिकोह के पक्ष में रहा, दारा-शिकोह का यह अत्यन्त विश्वास पात्र था। मगर जब परिस्थितियाँ दारा के विपरीत हो गयीं तब यह औरंगजेब की ओर जा मिला। औरंगजेब ने इसे ६ हजार सवार देकर दारा-शिकोह का पीछा करने को भेजा। मुल्तान तक इसने दारा-शिकोह का पीछा किया। उसके बाद यह पञ्जाब का गवर्नर बना दिया गया।

सन् १६६२ में इसकी मृत्यु हो गयी।

खलील-सुलतान

सुप्रसिद्ध आक्रमणकारी तैमूरलंग का दूसरा पुत्र जिसने सन् १४०५ से १४०६ तक अर्थात् सिर्फ एक वर्ष राज्य किया।

तैमूरलंग ने मध्य-एशिया में अपने साम्राज्य की राजधानी समरकन्द में स्थापित की थी। सन् १४०५ में मरते समय उसने अपने राज्य का उत्तराधिकारी अपने बड़े पुत्र जहांगीर के लड़के पीरमुहम्मद को घोषित कर दिया। मगर तैमूर की मृत्यु के समय वह कन्दहार में था। उसके राजधानी में आने के पहले ही तैमूर के दूसरे पुत्र खलील सुलतान ने अपने आप को अमीर घोषित कर दिया। तैमूर का तीसरा पुत्र शाहरुख उस समय हिरात (खुरासान) का शासक था। उसका भी सिंहासन पर दावा था। शाहरुख के अधिकार मे उस समय खुरासान, सीस्तान और माजन्दरान के प्रान्त थे, मगर इससे उसे सन्तोष नहीं था। खलील सुलतान की राजगद्दी की घोषणा सुनकर शाहरुख भी अपने एक सेनापति को हिरात में छोड़कर वक्षु नदी की ओर चला।

मगर इसतरफ खलीलसुलतान ने पीर मुहम्मद से समझौता करके उसे अपने राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। जिससे दोनों काका भतीजा एक हो गये और शाहरुख इनका कुछ न विगाड़ सका। खलील सुलतान तैमूर की गद्दी पर बैठ गया। खलील सुलतान बड़ा शाह खर्च और आशिक मिजाज आदमी था। वह अपनी स्त्री "शाद मुल्क" का गुलाम था। उसकी फिजूल खर्चीसे उसका खजाना खाली होगया। इन कारणों से उसके बहुत से समर्थक उसके विरोधी होगये। सन् १४०६ में उसके दरबारी खुदादाद और शेख नुरुद्दीन ने उससे विद्रोह करके समरकन्द पर आक्रमण कर दिया। इस बार तो किसी प्रकार वह बच गया मगर दूसरी बार फिर खुदादाद ने इसके अमीरों के साथ मिलकर समरकन्द पर आक्रमण किया और बातचीत के बहाने उसे बुलाकर कैद कर लिया।

यह खबर जब शाहरुख को मालूम हुई तो उसने अपने सेनापति शाद-मुल्क को खुदादाद को दण्ड देने के लिए भेजा। खुदादाद समरकन्द छोड़कर भागगया। शादमुल्क खुले दरवाजे से समरकन्द में घुसा। उसने खलील की रानी "शाद-मुल्क" के साथ बड़ा घृणाजनक दुर्व्यवहार किया। खलील सुलतान शाद मुल्क के वियोग मे अधीर हो गया और उसने हिरात जाकर अपने भाई के सामने आत्म समर्पण कर दिया। शाहरुख ने उसे बड़े आदर से रक्खा और हिरात का गवर्नर बना दिया। जहां वह एक साल बाद मर गया।

खबार-वस्क

रूस देश के खबार वस्क राज्य की राजधानी और सुदूर पूर्व की सबसे बड़ी औद्योगिक नगरी जो आमूर नदी के दाहिने किनारे पर बसी हुई है।

इस नदी का नामकरण प्रसिद्ध रूसी व्यापारी और अनुसन्धानकर्ता खबार वस्क के नाम पर १७वीं सदी में किया गया। इसी स्थान से फ्रांस, साइबेरियन रेलवे आमूर नदी को पार करती है।

यह नगरी रेल, नदी, सड़क और यातायात का एक प्रसिद्ध केन्द्र है। इस नगरी में पादरियों का एक विशाल गिर्जाघर, काउण्ट मूरावी एव का स्मारक और एक म्युजियम बना हुआ है। यह नगरी मछली-उद्योग, समूर-उद्योग, लकड़ी उद्योग और वायुयान बनाने के उद्योग के लिए प्रसिद्ध है। यहां की जन-संख्या २८०००० है।

खबारोफ (येरोफेयी खबारोफ)

रूस का एक सुप्रसिद्ध व्यापारी और अनुसन्धानकर्त्ता, जो १७वीं शताब्दी के मध्य में हुआ।

जून सन् १६४६ ई० में साइबेरिया की ओर आगे बढ़ते हुए रूसी लोगों ने 'आमूर-नदी' के क्षेत्र का पता लगाया। यह देख कर सन् १६४९ ई० में खबारोफ नामक एक व्यापारी ने अपना धन और समय एक अभियान के संगठन में लगाया। फ्रांस-ब्रेकोफ नाम के एक और व्यापारी ने पैसे और सहानुभूति से उसका उत्साह बढ़ाया। डेढ़ सौ स्वयंसेवक तैयार किए गये, जिनके लिए हथियार और भोजन सामग्री की व्यवस्था खबारोफ ने की।

यह दल आगे बढ़ते हुए अल्बाजीन पहुंचा। खबारोफ ने अल्बाजीन को अपना केन्द्र बना कर उस स्थान की मजबूत किलेबन्दी की और वहां के आस पास के क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया।

खबारोफ साइबेरिया में रूस के प्रसार का सबसे बड़ा वाहक था। आमूर नदी के दाहिने किनारे पर इसने 'खबारवस्क' नामक एक औद्योगिक नगर की स्थापना की जो आज भी सोवियट रूस का एक प्रसिद्ध औद्योगिक नगर है।

खश

गढ़वाल, तिब्बत और नेपाल में रहनेवाली एक जाति, जो शक जाति से उद्भूत मानी जाती है।

ई० पू० तीसरी शताब्दी से प्रथम शताब्दी के बीच मध्य एशियाके सप्तनद और आल्ताई प्रदेश में शक जाति की कई शाखाएँ रहती थीं। इन जातियों में (१) सकरौका (२) दाहे (३) खस (४) वू-सून और (५) यूची ये जातियां प्रधान थीं।

इनमें से खस जाति के लोग तरिम उपत्यका, सिकियांग तिब्बत और काश्मीर में बसते थे। यह जाति गिलगिट और चित्राल में कसकर, कश्मीर में कश, काशगर में खशगिरि और कश्मीर तथा नेपाल में खस या खसिया के नाम से प्रसिद्ध है। इसी जाति के नाम पर नेपाली भाषा का दूसरा नाम खसकुरा भी कहा जाता है। इतिहास के "पीतल-युग" में तरिम उपत्यका में इनका निवास था, हूणों के द्वारा भगाये जाने के पहले सारी तरिम-उपत्यका खश भूमि के रूप में थी।

भारतीय पुराणों में भी इस जाति का वर्णन पाया जाता है। हरिवंश पुराण के अनुसार महाराजा सगरने खश जाति के लोगों को पराजित किया था। मनु के मत से खश जाति की उत्पत्ति व्रात्य-क्षत्रियों से हुई है। राज तरंगिणी के अनुसार मिहिर कुल के समय में कश्मीर के नरकुल नामक स्थान में खश जाति के लोग रहते थे। राजा क्षेम गुप्त ने इन्हें ३६ गाँव जागीर में दिये थे।

काश्मीर की रानी "दिद्दा" भी खश वंश के अन्दर पैदा हुई थी ऐसा समझा जाता है। आजकल यह जाति नेपाल मे विशेष रूप से रहती है। इस जाति के लोग सैनिक वृत्ति के होते हैं और सनातन धर्म का पालन करते है।

खांडेराय-रासो

नरवर राज्य के मंत्री और वीर योद्धा, खाण्डेराय के पराक्रम का वर्णन करनेवाला ग्रन्थ, जिसकी रचना ईसवी सन् १७४९ में यदुनाथ नामक कवि ने की।

इस ग्रन्थ में सन् १७०४ से लेकर सन् १७४४ तक के मालवा के सम्पूर्ण इतिहास का वृत्तान्त दिया हुआ है।

मालवा की उत्तरी सीमा पर शिवपुरी का राज्य स्थित था। यहां पर कछवाह राजवंश के राजाओं का शासन था। यहां का राजा अनूप सिंह था और खाण्डेराय उसका प्रधान सेनापति था।

खाण्डेराय का इस राज्य की वृद्धि में बहुत बड़ा हाथ था। इसी खाण्डेराय की प्रशंसा मे खाण्डेराय-रासो लिखा गया है।

खाडिलकर कृष्णाजी प्रभाकर

मराठी-साहित्य के एक सुप्रसिद्ध नाटककार और सम्पादक जिनका जन्म सन् १८७२ में और मृत्यु सन् १९४८ मे हुई।

खाडिलकर उन व्यक्तियों में से है, जिन्होंने अपनी उत्कृष्ट कृतियों से मराठी-साहित्य को बहुत समृद्ध किया। जिन लोगों के दिलों में प्रारंभ से ही स्वाधीनता की अलख-ज्योति जागृत हो जाती है, खाडिलकर ऐसे ही विशिष्ट पुरुषों में से एक थे। यह लोकमान्य तिलक के सहकारी थे और उनके साथ देशकी स्वाधीनताके लिए सतत प्रयत्न करते रहे।

देश भक्ति के साथ-साथ साहित्यिक प्रतिभा भी इनमें कूट कूट कर भरी हुई थी। इनकी साहित्यिक प्रतिभा का विशेष विकास नाटकीय क्षेत्र में हुआ और शेक्सपियर का अध्ययन करके उसी की शैली पर इन्होंने करीब १५ नाटकों की रचना की थी।

इनका 'कीचक-वध' नामक नाटक बहुत ही लोकप्रिय हुआ। इस नाटकमे उस समय की राजनैतिक परिस्थिति और अंग्रेजी शासन पर बड़े मार्मिक और चुभते हुए व्यंग्य किये गये थे। जिसके कारण ब्रिटिश सरकार ने उसे जप्त कर लिया था। इन्हीं नाटकों की वजह से ये 'मराठी के शेक्सपियर' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे।

इन्होंने बम्बई मे 'नवाकाल' नामक एक मराठी दैनिक पत्र का १६ वर्ष तक सफल सम्पादन किया।

सन् १९११ से सन् १९३६ ई० तक इन्होंने कुछ संगीत नाटकों की भी रचना की। इन संगीत-नाटकों में 'संगीत-सीता स्वयंवर" संगीत द्रोपदी' इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

उत्कृष्ट नाटकों में आवश्यक कथा वस्तु, चरित्र चित्रण, कवित्व, भाषा, नाटकत्व इत्यादि सभी दृष्टियों से खाडिलकर के नाटक मराठी-साहित्य में अपना उत्कृष्ट स्थान रखते हैं।

खातिक

भारत के दक्षिण प्रदेश में बसने वाली एक जाति। महाराष्ट्र प्रान्त के बीजापुर, शोलापुर इत्यादि जिलों में इन खातिकों का विशेषरूप से वास है। इनकी मातृभाषा मराठी है।

खातिकों की सूर्य-वंशी लाड़ और सुल्तानी ये दो शाखाएँ होती हैं। इन दोनों में परस्पर खाना पीना और शादी-ब्याह नहीं होते।

खातिक जाति के लोग अक्सर खेती-बाड़ी और पशुपालन का धन्धा करते हैं। आश्विन मास की काल नवमी इस जाति का सबसे बड़ा वार्षिक त्योहार होता है। इनकी कुल देवियों में दुर्गा, मारुति, श्यामा, सिद्धराय इत्यादि उल्लेखनीय हैं। ये लोग सूर्य की उपासना भी करते हैं। मद्य और मांस का सेवन भी इस जाति में बुरा नहीं समझा जाता।

खाती

लकड़ी पर काम करने वाली एक जाति, जिसे उत्तर प्रदेश में बढ़ई और दक्षिण में सुतार कहते हैं।

इस खाती-जाति के लोग लकड़ी के दरवाजे, फर्नीचर तथा और भी बहुत सी चीजें बनाने का काम करते हैं। इस जाति के लिये खाती नाम विशेष कर राजस्थान तथा मध्य प्रदेश में प्रयुक्त होता है। इस जाति में विसोत्तर, मेवाड़ी, पूर्विया, दिल्लीवाल, जागड़ी, बढ़ई आदि कई श्रेणियाँ होती हैं। फिर इन श्रेणियों के अन्दर सैकड़ों उप श्रेणियाँ दिखलाई देती हैं।

खातून

प्राचीन युग में मध्यएशिया में कबीले के सरदार या राजा की स्त्री का नाम।

हूणों के राज्य काल में अर्थात् ईसवी सन् से कुछ पूर्व सरदार की पत्नी या रानी को 'येंग-ची' नाम से सम्बोधित किया जाता था, मगर ईसवी सन् ५४६ के आस पास तुर्क कबोले के सरदार इलि-खान तूमिन ने रानी की उपाधि 'खो-हो तुन' बनादी। यही आगे जाकर 'खातून' के नाम से प्रसिद्ध हो गयी।

आज-कल भारतवर्ष तथा बाहर के मुसलमानों की कुलीन महिलाओं के साथ खातून की उपाधि लगाई जाती है, मगर यह उपाधि इस्लाम से पहले ही मध्य एशिया में प्रचलित हो चुकी थी। मगर जब मध्य एशिया के लोगों ने

इस्लाम ग्रहण कर लिया, तब इस उपाधि का भी इस्लामीकरण हो गया।

खान (खागान)

प्राचीन युग में मध्य-एशिया के कबीलों के सरदार की पदवी। यह पदवी ई० सन् के आरम्भ से पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी।

ई० सन् से १८३ वर्ष पूर्व मध्य एशिया की हूण जाति के अन्तर्गत 'माउदन' नामक एक प्रबल विजेता पुरुष हुआ। इसने अपना राज्य पूर्व में कोरिया से लेकर बल्काश तक और उत्तर मे बैकाल से लेकर दक्षिण में क्विन्तल पर्वतमाला तक फैला दिया था। इतने बड़े राज्य का शासन विना पूर्ण व्यवस्था के नहीं हो सकता था। इसलिए माउदून को अपने शासन की व्यवस्था के लिए एक शासन-यंत्र का निर्माण करना पड़ा।

इस शासन-यन्त्र का प्रधान शान्-यू कहलाता था। शान्-यू राजा या सरदार का वाचक शब्द है। यह शब्द चीनी भाषा से लिया गया था। इसी शब्द से आगे जाकर हूणों की एक शाखा तुर्क-साम्राज्य के समय में खाकान, खगान या खान शब्द की उत्पत्ति हुई। सबसे पहले अवार अथवा ज्वान-ज्वान कबीले ने खान या खाकान की उपाधि धारण की। बाद में तो तुर्क कबीलों में राजा के लिए यह शब्द बहु प्रचलित हो गया। मगोलवंश ने भी राजा के लिए इसी उपाधि को अपनाया और उन्ही के अनुकरण पर मध्य एशिया में सन् १९१७ ई० तक खान की उपाधि राजा के लिए ही सुरक्षित थी।

लेकिन भारतवर्ष में मुगलों के समय से यह पदवी टके सेर हो गयी और हरेक मुसलमान अपने आगे खान शब्द का इस्तेमाल करने लगा।

खान और तुर्क शब्द अक्सर भारतवर्ष में मुसलमानो के ही साथ लगाये जाते हैं। मगर वास्तव में ये शब्द मुसलमान होने के सूचक नहीं हैं।

इतिहास के वहुत प्राचीन समय में जब कि पैगम्बर और इस्लाम का उदय भी नहीं हुआ था, तब भी तुर्क-जाति और दूसरे कबीलों में खान शब्द का प्रयोग होता था।

तुर्क जाति हूण-जाति की ही एक शाखा समझी जाती थी और इस शाखा का पुराना नाम असम्सेना था। इस जाति के लोग इस्लाम के उदय से पूर्व तथा उसके उदय के कुछ पश्चात तक बौद्ध धर्म का पालन करते थे। इसी प्रकार खान शब्द भी बहुत पुराने समय से प्रचलित था। चंगेज खाँ, हलाकू खाँ, इल-खान, तोबा-खान इत्यादि अनेकों खान ऐसे हुए, जो मुसलमान नहीं थे,—अधिकांश बौद्ध-धर्म का पालन करते थे।

खान-जमा-अलीकुली

खान-जमा उजवेक वंशीय हैदर सुल्तान का पुत्र था। जो सम्राट् हुमायूँ और अकबर का समकालीन था।

खान-जमा-अलीकुली ने 'कन्दहार' को विजय करने में हुमायूँ की वड़ी मदद की थीं। इससे उसे हुमायूँ ने 'अमीर' की पदवी प्रदान की थी।

सम्राट् अकबर के राज्य पर आसीन होने के वाद शेर-शाह के सेनापति और मंत्री 'हेमू' ने जब दिल्ली पर आक्रमण किया, उस समय भी खान-जमा ने ऐसी वोरता वतलाई कि हेमू घायल हो गया और उसकी सारी सेना भाग गयी।

इस बहादुरी से प्रसन्न होकर सम्राट् अकबर ने उसे 'खान-जहान्' की पदवी प्रदान की।

मगर कुछ समय पश्चात् अफगानों के साथ साठ-गांठ करने के सन्देह में सम्राट अकबर की इनके प्रति नाराजी हो गयी। और इन्हें अफगानों का षड्यन्त्र दबाने के लिए जौनपुर में सूवेदार नियुक्त किया।

इधर खान जमा के हृदयमें भी साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की भावनाएँ पैदा होगयीं और उसने सन् १५६६ ई० में कुछ उजवेक सरदारों को साथ लेकर सम्राट के खिलाफ विद्रोह कर दिया। इस पर अकबर बादशाह ने सन् १५६७ ई० मे सकरावल के मैदान में खान-जमा से युद्ध कर उसको मार डाला।

खान-जहान-अली

सुन्दर वन को आवाद करनेवाले एक मुसलमान सरदार जिनकी मृत्यु सन् १४५९ ई० में हुई।

खान-जहान अली बंगाल के सूवेदार महम्मद शाह सुलतान के समकालीन थे। ऐसा कहा जाता है कि उस

समय गौड़ के शासन-कर्ता ने इनको सुन्दर वन आबाद करने को भेजा। उस स्थान पर इन्होंने अपनी कई धार्मिक कृतियाँ स्थापित कीं।

साठ गुंबज नामक एक विशाल मस्जिद का वहाँ पर इन्होंने निर्माण करवाया। इस मस्जिद का भीतरी दालान १४४ फीट लंबा और ९६ फीट चौड़ा है। मस्जिद का मुँह पूरब की ओर है और उसमें ११ दरवाजे लगे हुँए हैं। वहीं पर खान-जहान अली की बनवाई हुई एक दूसरी मस्जिद भी है। वह ४७ फीट ऊँची है और उसका गुंबज बहुत बड़ा है। यहीं पर खान-जहान अली की कब्र भी बनी हुई है। इस कब्र पर चार अरबी के और एक फारसी का शिला लेख खुदा हुआ है। उसमे लिखा हुआ है कि १४५९ ई० में खान-जहान अली ने दुनिया को छोड़ा।

यशोहर के लोग इन्हें पीर के जैसा समझते हैं। प्रति वर्ष यहाँ बहुत से मुसलमान उनकी कब्रको देखने के लिए जाते हैं।

इसके सिवाय 'कपोनाक्ष नदी' के तीर पर भी इनकी बनवाई हुई एक मस्जिद है। इन्होंने वागेरहाट नदी के किनारे से साठ गुंबज तक और सुन्दर वन से चटगाँव तक एक सड़क बनवा दी थी।

(वसु विश्व-कोष)

खान-देश

भारतवर्ष के महाराष्ट्र प्रान्त में बंबई से लगभग २०० मील उत्तरपश्चिममें बसा हुआ एक प्रान्त जिसका क्षेत्रफल ९९१८ वर्ग मील है और जिसकी जन-संख्या २३ लाख से अधिक है।

यह प्रदेश पूर्वी और पश्चिमी ऐसे दो विभागों में बँटा हुआ है। पश्चिमी खान देश के नगरों में धूलिया, नन्दुरबार, शिरपुर, शाहदा इत्यादि नगर प्रसिद्ध हैं और पूर्वी खान देश के नगरों में जलगाँव अमलनेर, चालीस गाँव, भुसावल इत्यादि नगर विशेष प्रसिद्ध हैं।

खान देश का इतिहास बहुत प्राचीन काल से प्रारंभ होता है। महाभारत के अन्दर तूमाल और असीरगढ़ नामक पर्वतीय दुर्गों का उल्लेख पाया जाता है। तूर्णमाल के राजा पाण्डवों से लड़े थे और असीरगढ़ अश्वत्यामा के पूज्यपीठ की तरह माना जाता है।

ऐसा कहा जाता है कि ईसवी सन् से बहुत पहले वहाँ पर अवध से गये हुए राजपूत राजा राज्य करते थे। आंध्र-सातवाहन राजवंश को इन्हीं राजपूतों का वंशधर समझा जाता है। ईसा की ५ वीं शताब्दी में यह प्रांत चालुक्य वंश के अधिकार में आया। और उसके बाद कई छोटे बड़े स्थानीय राजा यहाँ पर राज्य करते रहे।

सन् १२९५ ई० में एकाएक प्रसिद्ध विजेता अलाउद्दीन खिलजी का यहां पर आक्रमण हुआ। उस समय असीरगढ़ में कोई चौहान राजा राज्य करता था। उसके पश्चात् यह प्रदेश मुसलमानों के अधिकारमें रहा। यहां का शासन करने के लिए दिल्ली से सूबेदार नियुक्त होकर आते थे। सन् १३२५ से १३४६ ई० तक मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में एलिचपुर के सूबेदार इस पर शासन करते थे।

सन् १३७० से १६०० ई० तक फारूखी बंश के अरबों ने इस प्रान्त का शासन किया। वे नाममात्र के लिए गुजरात की अधीनता को मानते थे, मगर वास्तव में पूर्ण स्वतन्त्र थे। सन् १५९९ ई० में सम्राट् अकबर ने अपनी फ़ौज के साथ खानदेश पर आक्रमण किया। उन्हों ने असीरगढ़ पर अधिकार करके वहाँ के शासक राजा बहादुर खाँ को कैद कर ग्वालिअर भेज दिया।

सन् १६७० ई० से खान देश पर मराठों के आक्रमण शुरू हुए और लगभग सौ वर्ष तक इस प्रान्त पर भीतरी-बाहरी अनेक प्रकार की विपत्तियाँ आईं। शिवाजी ने दूसरी बार सूरत को तहस-नहस करके 'चौथ' वसूल करने के लिए अपना एक अफसर खानदेश भेजा था। मराठों के एक दल ने 'साल्हेर' का किला जीत कर अपने कब्जे मे कर लिया था और खंडेराव दामाड़े ने पश्चिमी पहाड़ी में अपना अड्डा जमाया। इस प्रदेश को मराठों और मुसलमानों ने बारी-बारी से खूब लूटा-खसोटा।

सन् १७२० ई० में निजाम-उल-मुल्क ने खान देश को अपने राज्य में मिला लिया। परन्तु सन् १७६० ई० में मराठों ने निजाम के युवराज को वहां से निकाल बाहर कर दिया और पेशबा ने इसका कुछ भाग होल्कर को और कुछ भाग सिन्धिया को बाँट दिया।

सन् १८०२ ई० में होल्कर की सेना ने इस प्रदेश का तहस नहस किया। इस बरबादी से वहाँ पर भयंकर दुर्भिक्षकी

भारी आ गयी। फिर पेशवा की बद इन्तजामी से यहाँ की दरिद्रता और भी बढ़ गयी, जिससे लोगों ने अपना काम धन्धा छोड़कर दल बाँध कर लूट-मार करना शुरू किया।

सन् १८१८ ई० में यह प्रान्त इसी हालत में अंग्रेजों के हाथ आया। कई वर्षों तक बलवाई भील अंग्रेजों को तंग करते रहे। सन् १८२५ ई० जेंनरल 'आउटर्म' ने भीलों की फौज खड़ी करके इस उपद्रव को दबाया।

सन् १८५२ ई० में यहाँ पर फिर भयंकर बलवा हुआ और सन् १८५७ ई० में 'मागोजी' और काजर सिंह के नेतृत्व में भील लोगों ने फिर उपद्रव जारी किया। मगर यह उपद्रव दबा दिया गया।

खान देश में कई पत्थर के मन्दिर, कुण्ड और कूएँ बने हुए हैं। ये सब अधिकांश १२वी और १३ वीं शताब्दी के बने हुए हैं। ये सब इमारतें पहाड़ों को काट-काट कर बनाई गयी हैं। मुसलमानी इमारतों में 'एरंडील' की मस्जिद बहुत प्रसिद्ध है। चालीस गाँव ताल्लुका की पीतलखोरा उपत्यका में एक टूटा-फूटा बौद्ध विहार है जो सम्भवत: ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व का माना जाता है। दर्रे के नीचे पाटन का उजाड़नगर है जिसमें पुरानी कारीगरी के मन्दिर और शिला लेख लगे हुए हैं। फिर सामने की ओर पहाड़ पर गुफाएँ भी बनी हुई हैं।

खान देश की भूमि बड़ी उपजाऊ और लहलहाती हुई है। इस क्षेत्र में 'ताप्तीनदी' अपनी १३ सहायक नदियों के साथ १८० मील तक बहती है और उसने इस धरती को सुजलां-सुफलां बना रखा है। यहाँ की मुख्य पैदावार कपास और मूंगफली है।

इस जिले के अमलनेर स्थान में प्रताप सेठ के द्वारा बनाया हुआ तत्वज्ञान-मन्दिर, तत्व चिन्तन के लिए एक सुन्दर संस्था है। प्रताप सेठ इस प्रान्त के एक अच्छे उद्योग पति थे। जिनकी बनाई हुई २-३ कपड़ा मिलें इस प्रान्त में अभी भी चल रही हैं।

खान-जहान लोदी

सम्राट् जहाँगीर के दरबार का एक प्रतिष्ठित मुसाहिब, जो दौलत खाँ लोदी का पुत्र था।

खान-जहान लोदी २० वर्ष की अवस्था में जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुआ। सम्राट् ने इसको तीन हजारी मनसब और सलावत खान की उपाधि प्रदान की। कुछ समय के बाद इसकी बहादुरी और ईमानदारी से प्रसन्न होकर बादशाह ने इसको खान-जहान की पदवी प्रदान की।

हिजरी सन् १०१८ में बादशाह ने इसे बारहहजार सैनिकों के साथ दक्षिण में मलिक-अंबर से युद्ध करने को भेजा मगर उस युद्ध में उसकी पराजय हुई।

उसके पश्चात् यह मुल्तान का सूबेदार और उसके पश्चात गुजरात का सूबेदार बना दिया गया।

सम्राट् जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ ने इसे मालवे का सूबेदार बनाया, मगर चूँकि सम्राट् जहाँगीर के समय में यह शाहजादा खुर्रम अर्थात् शाहजहाँ का विरोधी रह चुका था, इस लिए शाहजहाँ से यह हमेशा शंकित रहा करता था।

फल स्वरूप सन् १०३९ हिजरी में यह आगरे से निकल भागा। शाहजहाँ के सरदारों ने इसका पीछा किया, तब यह निजाम की शरण में चला गया, मगर निजाम भी इसकी पूरी सहायता न कर सका। शाही-सेना बराबर इसका पीछा करती रही और अन्त में यह उससे लड़ता हुआ मारा गया।

खान-जहान कोकल्तास

सम्राट् औरंगजेब के एक अमीर, जिनका दूसरा नाम मीर मल्लिक हुसेन था।

सन् १६७० ई० में आलमगीर ने इन्हें दक्षिण का सूबेदार बनाया। सन् १६७४ ई० में बादशाह ने इन्हे सात हजारी ओहदा और खान-जहान-बहादुर-कोकल्तास-जाफर-जंग का खिताब दिया।

सन् १६९७ ई० में इनकी मृत्यु हो गयी। इन्होंने 'तारीख-आसाम' नामक आसाम का इतिहास लिखा है।

खान दौरान (१)

मुगल सम्राट् अकबर के दरबार के एक अमीर जिनका जन्म सन् १५३० ई० के करीब हुआ।

सम्राट् अकबर की मृत्यु के पश्चात् सम्राट् जहांगीर ने

सन् १६०७ ई० में इनको 'शाहबेगम खाँ काबुली' का खिताब दिया और उन्हें काबुल का सूबेदार बनाया।

सन् १६२० ई० में नब्बे वर्ष की उम्र में लाहौर में इनकी मृत्यु हो गयी।

खान दौरान-नसरतगंज (२)

मुगल-सम्राट् शाहजहां के कृपापात्र एक अमीर, जो ख्वाजा हिसारी नक्शबन्दी के लड़के थे।

सबसे पहले सम्राट् जहांगीर ने इन्हें दक्षिणप्रदेश में नियुक्त किया था। उसके बाद ये निजाम की सेवा में तथा मलिक अम्बर के पास भी रहे।

जब मुगल साम्राज्य की राजगद्दी पर शाहजहाँ आसीन हुए, तब यह उनकी सेवा में वापस आ गये। शाहजहाँ ने इन्हें तीन हजारी मनसब और 'नसीरो खाँ की पदवी प्रदान की।

खान-जहान लोदी को दबाने के लिए शाहजहाँ ने इनको राजा गजसिंह के साथ बुरहानपुर भेजा। इसके पश्चात् अफगानिस्तान में कन्दहार दुर्ग विजय करने में इन्होंने अपनी प्रगाढ़ वीरता का परिचय दिया।

उसके बाद यह मालवे का सूबेदार बनाये गये। बाद में इन्होंने महावत खाँ के साथ दौलताबाद के दुर्ग पर विजय प्राप्त की। उसके पश्चात् परिन्दह दुर्ग पर इन्होंने बड़ी चालाकी से विजय प्राप्त की।

इसके कुछ समय पश्चात् मालवे में जुझार सिंह बुन्देला और उसके पुत्र विक्रमाजीत ने विद्रोह करदिया। इस विद्रोह को दबाने के लिए शाहजहाँ ने इन्हें मालवे का सूबेदार बनाया। वहाँ पहुँच कर इसने जुझार सिंह और विक्रमाजीत सिंह के सिर कटवा कर बादशाह के पास भिजवा दिये। इसी प्रकार इसने कई और लड़ाइयों में भी विजय प्राप्त की। जिससे खुश होकर बादशाह शाहजहां ने इसे 'नसरत जंग' की उपाधि और सात हजारी मनसब प्रदान किया।

अपने अन्तिम समय में यह लाहौर में नियुक्त किया गया। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ पर एक ब्राह्मण युवक को इसने जबर्दस्ती मुसलमान बनाया। तब उस ब्राह्मण युवक ने एक दिन रात को उसके पेट में छुरी भोंक दी, जिससे उसकी सन् १६४५ ई० मृत्यु हो गयी। इसकी लाश ग्वालियर में ले लाकर गाड़ी गयी।।

खान दौरान (३)

खान-दौरान 'नसरत-जंग' के लड़के। बादशाह औरंगजेब के शासन में इन्हें पंच हजारी मनसब प्राप्त हुआ था। जिन्दगी के आखिरी वक्त सम्राट् ने इन्हें उड़ीसा का सूबेदार बनाया। जहाँ सन् १६६७ में इनकी मृत्यु हो गयी।

खानदौरान (४)

बादशाह फर्रुखशीयर के दरबार के एक अमीर।

बादशाह मुहम्मद शाह के शासन में सैयद हुसेनअली खाँ का कतल और उनके भाई कुतुब उल-मुल्क की गिरफ्तारी हो जाने पर खान दौरान को सन् १७२१ में अमीर-उल-उमरा की पदवी दी गयी। उसके पश्चात् बादशाह ने उन्हें 'शम्स-उद्-दौला' का भी खिताब प्रदान किया।

सन् १७३९ में यह नादिर शाह से लड़ते हुए लड़ाई में मारे गये। इनका असलीनाम ख्वाजा महम्मद आसीन था।

खार-वेल (सम्राट्)

कलिंग देश के सुप्रसिद्ध राजा 'खार-वेल'। जिनका जन्म ईसवी सन् पूर्व १९० में हुआ।

सम्राट् खार-वेल का वंश एल-वंश के नाम से प्रसिद्ध है और यह एल-वंश चेदि-राजवंश की एक शाखा था जिसमें 'शिशुपाल' हुआ था।

सम्राट् अशोक ने चक्रवर्ती-पद पाने के लिए कलिंग-देश पर आक्रमण किया था। जिसमें करीब एक लाख आदमी मारे गये थे। उस समय कलिंग मौर्य-साम्राज्य का अंग हो गया था।

अशोक के पश्चात् मौर्य साम्राज्य की गद्दी पर सम्राट् सम्प्रति आये। सम्प्रतिके शासन-काल के अन्तिम वर्षों में कलिंग फिर स्वतंत्र हो गया। और वहाँ पर एक नये राजवंश का उदय हुआ। इस नये राजवंश की स्थापना सम्भवत

'क्षेमराज' नामक व्यक्ति ने की थी और उसीने कलिंग को पुनः स्वतंत्र किया था।

सम्राट् खारवेल इसी क्षेमराज के पौत्र थे। उनका जन्म ईसा से पूर्व १९० वर्ष के लगभग हुआ। १५ वर्ष की आयु में उन्हें युवराज पद प्राप्त हुआ और २४ वर्ष की आयु में ईसवी पूर्व १६६ में उनका राज्याभिषेक हुआ।

सम्राट् खारवेल ने अपने राज्यकाल का सारा हाल एक विशाल शिलालेखमें खुदवादिया था। यह शिलालेख उड़ीसा प्रदेश के पुरी जिले में स्थित भुवनेश्वर से तीन मील की दूरी पर विद्यमान खण्डगिरि के उत्तरीभाग पर हाथी गुम्फा-नामक गुफा-मन्दिर की छतपर खुदाहुआ है। १७ पंक्तियों का यह महत्व पूर्ण लेख ८४ वर्गफीट क्षेत्र में लिखा हुआ है। लेख की भाषा अर्ध मागधी तथा जैन-प्राकृत मिश्रित अपभ्रंश है। इस लेख का हिन्दी-अनुवाद हम डा० ज्योति प्रसाद जैन लिखित भारतीय इतिहास नामक ग्रन्थ से यहाँ पर उद्धृत करते हैं।

"अर्हन्तों एवं सर्व सिद्धों को नमस्कार करके, चेदि-राजवंश की प्रतिष्ठा के प्रसारक, प्रशस्त एवं शुभ लक्षणों से युक्त, चारों दिशाओं के आधार-स्तंभ, अनेक गुणों से विभूषित, कलिंग-देश के अधिपति, एलवंशी महाराज, महामेघवाहन–श्री खार-वेल द्वारा यह लेख खुदवाया गया······अपनी आयु का चौबीसवाँ वर्ष समाप्त होने पर पूरे यौवन-काल में उस उत्तरोत्तर वृद्धिमान महान् विजेता का कलिंग के तृतीय राजवंश में आजीवन के लिए महा-राज्याभिषेक हुआ।

अभिषेक होने के पहले वर्ष में ही उसने आंधी-तूफान आदि दैवी प्रकोपों से नष्ट हुए कलिंग नगर की राजधानी के गोपुर, प्रकार, प्रासादों आदि का जीर्णोद्धार करवाया। शीतल जल के सरोवरों एवं झरनों आदि के बाँध बनवाए, उद्यानों का पुनर्निर्माण करवाया और अपने ३५ लाख प्रजाजनों को सुखी किया।

अपने शासन के दूसरे वर्ष में उसने शातकर्णी राजा की परवाह न करके घुड़सवार, हाथी, पैदल और रथोंकी विशाल सेनाको पश्चिम दिशा में भेजा तथा काश्यप क्षत्रियों के सहायतार्थ मूषिकों की राजधानी का विध्वंस करवाया।

अपने शासन के तीसरे वर्ष में इस गन्धर्वविद्या विशा-रद नरपति ने नृत्य-संगीत. वादित्र के प्रदर्शनों तथा अनेक उत्सवों एवं समाओं के आयोजन द्वारा अपने राज्य के नागरिकों का मनोरञ्जन किया।

अपने शासन के चौथे वर्ष में उसने अपने पूर्ववर्ती कलिंग युवराजों के निवास के लिए निर्मित 'विद्याधर-निवास' में निवास करते हुए उन 'रट्ठिक' और 'भोजक' राजाओं से, जिनके राजमुकुट और राजछत्र नष्ट कर दिये गये थे, रत्नों की भेंट लेकर अपने चरणों में नमस्कार करवाया।

अपने राज्यके पाँचवेंवर्ष में राजा उस-नहर को अपनी राजधानी तक लिवा लाया, जिसे महावीर-सम्वत् १०३ में नन्दराजा ने सबसे पहले खुदवाया था।

अपने राज्य के छठे वर्ष में उसने राजसूय यज्ञ किया। प्रजाजनों के करादि माफ किये। दीन-दुखियों पर कृपा दिखायी।

राज्य के सातवें वर्ष में उसको वंगदेशीय रानी से एक पुत्र की प्राप्ति हुई।

अपने राज्य के आठवें वर्ष में खारवेलने विशाल सेना के साथ उत्तरापथ की विजय-यात्रा की, मगध पर आक्रमण किया, गोरथ-गिरि पर भीषण युद्ध करके राज गिरि-नरेश को त्रस्त किया। उसके भयसे यवन-राज 'दिमित्र' भी अपनी समस्त सेना, वाहन, आदि को यत्र-तत्र छोड़कर मथुरा से भाग गया।

अपने शासन के नौवें वर्ष में कल्पवृक्ष के समान उस राजा ने याचकों को चालक युक्त घोड़े, हाथी, रथ, मकान, शरण-गृह आदि दान किये। ब्राह्मणों को भरपेट भोजन कराया और अर्हन्तों को पूजा की। उसने प्राचीन नदी के दोनों तटों पर ३८ लाख मुद्रा व्यय करके महाविजय प्रसाद नामक सुन्दर और विशाल राज महल बनवाया।

अपने राज्य के दसवें वर्ष में उसने अपनी सेनाओं को विजय-यात्रा के लिये फिर से उत्तरापथ की ओर भेजा। फल स्वरूप उसके सब मनोरथ पूरे हुए।

ग्यारहवें वर्ष में उसने दक्षिण देश को विजय किया। 'पिथुण्ड नगर' का उसने विध्वंस किया और ११३ वर्ष से संगठित चले आये 'तामील'-राज्यों के संगठन को छिन्न-भिन्न किया। (पाठान्तर—श्री केतुभद्र की तेरहसौ

वर्ष प्राचीन निम्ब काष्ठ निर्मित प्रतिमा का जलूस निकाला, जिसकी स्थापना पूर्ववर्ती राजाओं ने पिथुण्ड नगर में की थी।)

बारहवें वर्ष में उसने उतरापथ के राजाओं में अपने आक्रमणों द्वारा आतंक पैदा किया। उन्हें अस्तव्यस्त कर दिया। मगध की जनता में भारी भय का संचार किया। अपने हाथियों को 'गांगेय' नामक राज-प्रासाद में प्रविष्ट किया और मगध राज बृहस्पति से अपने चरणों में प्रणाम करवाया। पूर्व काल में नन्द राजा के द्वारा अपहृत 'कलिंग-जिन' की प्रतिमा को तथा अंगराज के बहुमूल्य रत्नों एवं धन सम्पत्ति को विजित सम्पत्ति के रूप में अपने घर वापस लाया। इस सम्पत्ति से उसने अनेक मन्दिरों पर ऐसे शिखर बनवाए जिनमें रत्नों के द्वारा बहुमूल्य पच्चीकारी की गयी थी। इसी वर्ष उसने दक्षिण के पाण्डय राजा से अभूतपूर्व एवं आश्चर्य जनक जल पोतो से भरे हुए उपायन, घोड़े, हाथी, मणि-माणिक्य, मुक्ता आदि, कर और भेंट के रूप में प्राप्त किया।

अन्त में अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में इस राजा ने सुपर्वत-विजय-चक्र में स्थित कुमारी पर्वतपर अपने राजभक्त प्रजा जनों द्वारा पूजे जाने के लिए उन अर्हन्तों की स्मृति में निषद्य काएँ निर्माण कराई, जो निर्वाण लाभ कर चुके थे।

तपस्वी मुनियों के निवास करने के लिए गुफाएँ बनवाई। स्वयं उपासक के व्रत ग्रहण किये और अर्हन्त् मन्दिर के निकट उसने एक सुन्दर तथा विशाल सभा-मण्डप बनवाया। जिसके मध्य में एक बहुमूल्य रत्न-जटित मान-स्तम्भ स्थापित किया गया। उक्त सभा मण्डप में उसने उन समस्त जैन-मुनियोंका सम्मेलन किया जो चारोंदिशाओं से उसमें सम्मिलित होने के लिए आये थे।

इस मुनि सम्मेलन में राजा ने भगवान की दिव्य ध्वनि में उच्चारित उन शान्तिदायी द्वादशांग श्रुत का पाठ कराया जो कि महावीर-संवत् १६९ से निरन्तर ह्रास को प्राप्त होते चले आ रहे थे।

इस प्रकार उस क्षेमराज, वृद्धिराज, भिक्षुराज, धर्मराज नरेश ने भगवान् की उक्त कल्याणकारी वाणी के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए उसका श्रवण और चिन्तवन करते हुए अपना समय बिताया।

विशिष्ट गुणों के कारण दक्ष, समस्त धर्मों का आदर करने वाला, धर्म संस्थाओं का उद्धार, सुधार एवं संस्कार करने वाला, अप्रतिहत चक्रवाहन, साम्राज्यों का सतत विजयी एवं साम्राज्य-संचालक और संरक्षक, राजर्षियों-के वंश में उत्पन्न, महा विजयी राजचक्री ऐसा राजा खार वेल था।"

भारतीय इतिहास के विश्लेषण की दृष्टि से यह शिला-लेख अत्यन्त महत्व पूर्ण है। प्राचीनता की दृष्टि से सम्राट् अशोक की धर्म लिपियों के बाद इसी शिला लेख का नंबर आता है। प्राचीनयुग के जितने भी शिलालेख मिलते हैं उन सब शिला लेखों में यह शिलालेख सर्वाङ्गपूर्ण है। इस लेख में तत्कालीन परिस्थिति, जन-संख्या, वंश, देश और जाति इत्यादि अनेक प्रकार के महत्व-पूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख मिलता है। इस देशके लिए भारतवर्ष का नाम, इसी शिलालेख में सबसे पहले खुदा हुआ मिलता है।

इस शिला लेख से यह बात भी स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती है कि सम्राट खार-वेल जैन धर्म के अनुयायी थे। जैन-धर्म के प्रति उनकी बहुत श्रद्धा थी और उस समय जैन धर्म के आगम-ज्ञान का जो ह्रास हो रहा था, उसके लिए उन्हें दुःख था। उसी के उद्धार के लिए उन्होंने मुनियों का सम्मेलन और सरस्वती आन्दोलन का प्रारंभ किया था।

इस शिला लेख का अन्वेषण सन् १८२५ ई० में सर्व प्रथम 'स्टर्लिङ्ग' नामक एक अंग्रेज विद्वान् ने किया था। तब से आज तक अनेक पश्चिमी और भारतीय विद्वानों ने इस लेख के ऐतिहासिक महत्व का अध्ययन किया है। खार-वेल के द्वारा निर्मित गुफा-मन्दिरों की कला पर भी लोगो ने बड़ा आदर प्रदर्शित किया है।

खार-वेल के पश्चात् लगभग दो सौ वर्षों तक उसके वंशजों ने कलिंग देश पर शासन किया। पातालपुरी नामक गुफा को उनके वंशज महाराज 'कुदेपश्री' ने निर्मित करवाया था।

खार-वेल के एक वंशज वक्र देव के पुत्र महेन्द्रादित्य गन्धर्व सेन गर्द भिल्ल ने मालवे के अन्तर्गत उज्जयिनी नगरी में ईसवी सन् पूर्व ७४ में राज्य स्थापित कर 'गर्द-भिल्ल' वंश

की स्थापना की थी। गर्द-भिल्ल ने राज्य के मद में मदोन्मत्त हो जैन मुनि, कालिकाचार्य की बहिन 'सरस्वती' का अपहरण करलिया था। तब कालिकाचार्य ने प्रयासकरके शक-राजाओं के द्वारा उज्जैन पर आक्रमण करवाके ईसवी सन् ६१ में गर्द भिल्ल को राज्यसे हटवा दिया। लेकिन उसके पराक्रमी पुत्र विक्रमादित्य ने ईस्वी पूर्व ५७ में शकों को मार भगाया और मालव-राज्य को स्वतंत्र कर काफी समय तक राज्य किया।

ईसाकी पहली शताब्दी में खार-वेल वंश में फूट पड़ जाने के कारण दक्षिण के सात वाहन राजा ने कलिंग देशको विजय कर लिया।

(डा० ज्योतिप्रसाद जैन : भारतीय इतिहास)

खादी

चरखे पर हाथ से कते हुए तथा हाथ से बुने हुए वस्त्रों को भारतीय भाषाओं में 'खादी' या 'खद्दर' कहा जाता है। इसी वस्त्र ने भारतीय राजनीति के इतिहास मे बड़ा महत्व ग्रहण कर लिया था। जिसके कारण भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में खादीका नामभी अमर होगया। सन् १९२० से लेकर सन् १९४८ तक के 'गाधी-युग' मे खादी, स्वाधीनता, त्याग और गांधीवाद के प्रतीकरूप में इतिहास के पृष्ठों पर अङ्कित है।

चरखे पर या तकली पर सूत का कातना इतिहास के किस युग में मनुष्य ने सीखा, इस बात के कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, पर मोहन-जोदड़ो, क्रीट और वेबिलोनियन सभ्यता के युग में भी मनुष्य वस्त्र-निर्माण-कला का ज्ञान रखता था—ऐसे प्रमाण वहां की खुदाइयों में मिले हैं।

कपड़ा बनाने की मशीनों और इञ्जिन का आविष्कार होने के पहले हाथ की कताई और बुनाई से ही सारे वस्त्र बनाये जाते थे। इस हस्तकला में मनुष्य ने इतनी अधिक उन्नति करली थी कि ढाके की मलमल के एक थान से जो बांस की नली में रक्खा हुआ था, अम्बाड़ी सहित हाथी ढक गया था।

मगर वस्त्र-उद्योग की ये सब महीन हस्त-कारीगरियाँ राजा, महाराजा और धनिक लोगों के उपयोग में आनेवाली थी। समाज का बहुसंख्यक समाज तो मोटे सूत और कम परिश्रम से बनी हुई मजबूत खादी को पहन कर ही अपना जीवन-यापन करता था।

इस खादी के द्वारा जहाँ लाखों मनुष्य अपना तन ढकते थे। वहाँ लाखों गरीब स्त्री-पुरुषों की इससे जीविका भी चलती थी, और इस प्रकार के तत्कालीन सामाजिक ढांचे में खादी एक मजबूत आर्थिक स्तम्भ की तरह बनी हुई थी।

मशीन-युग के आविष्कार के पश्चात्, कम दाम में ऊँचे दर्जे के वस्त्र उपलब्ध होने लगे। ऊँचे दर्जे के वस्त्रों को देखकर लोगों में वस्त्रों के सम्बन्ध में शौकीनी की भावनाएँ भी जागृत होने लगी और सारा जनसमाज खादी की तरफ से हट कर इस नवीन वस्त्र-उद्योग की तरफ आकर्षित होने लगा।

इस प्रकार खादी उद्योग मौत के मुँह में जाने लगा और सन् १८६४ से (जब पहली कपड़ा-मिल भारत में लगी) लेकर सन् १९२० तक तो यह बहुत ही कम हो गया।

सन् १९१९ में महात्मा गांधी अखिल भारतीय नेता के रूप मे अंग्रेजी सल्तनत के खिलाफ सत्याग्रह का अभियान लेकर प्रकट हुए। इस आन्दोलन का नेतृत्व उन्होने केवल अंग्रेजी-सल्तनत को हटा कर राष्ट्रीय आजादी प्राप्त करने तक ही सीमित न रक्खा, बल्कि नैतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में एक अभूतपूर्व क्रांति पैदा कर देने की विशाल योजना के सिद्धान्त पर प्रारम्भ किया। वे बार-बार कहते थे कि राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त होने पर भी अगर मनुष्य के नैतिक, आर्थिक और सामाजिक धरातल का संतुलन कायम न रहा तो इतिहास ऐसी आजादी का गुणगान नहीं करेगा और वह आजादी शायद टिकाऊ भी न रहे।

इसलिए मनुष्य के नैतिक और आर्थिक धरातल का संतुलन बनाये रखने के लिए उन्होने चर्खा चलाने और खादी पहनने का अनिवार्य कार्यक्रम रक्खा।

खादी के आर्थिक और नैतिक पहलू पर महात्मा गांधी ने बड़ी निष्ठा के साथ मनन किया और उस मनन के पश्चात् इस खादी-आन्दोलन को सफल बनाने के लिए वे पूरी शक्ति से जुट गये।

उन्होंने बतलाया कि—

(१) खादी किसी भी देश के आर्थिक अङ्ग की रीढ बन सकती है। देहातों में लाखों आदमी ऐसे हैं जो खेती बाड़ी

के कामों से बचनेवाले समय को व्यर्थ बरबाद करते हैं। अगर ऐसे लोग फुरसत के समय में चरखा कात कर सूत तैय्यार करें और उस सूत के वस्त्र बनावें तो उससे वे अपनी वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरी कर सकते हैं जिससे वस्त्रों में खर्च होनेवाला उनका पैसा बचेगा। बचे हुए कपड़े को वे हाट में बेच कर उससे पैसा उपार्जन करेंगे और उनके बचे हुए समय का भी उपयोग होगा।

(२) इस आर्थिक पहलू से भी खादी का नैतिक पहलू विशेष महत्वपूर्ण है। खादीसस्ती होने से ऊंचे से लेकर नीचे तक समाज के सब लोग आसानी से पहन सकते हैं। इसलिए समाज के अन्दर कीमती और ऊंचे दर्जे के कपड़ों को पहनने से जो एक विषमता की भावनाएं पैदा होती हैं और मनुष्य के अन्दर अपने कपड़ों की वजह से अपने आपको दूसरों से ऊंचा और दूसरों से अलग समझने की जो हीन भावना पैदा हो जाती है उससे मनुष्य बच जायेगा। और वह (Simple Leaving & High Thinking) सादा जीवन और ऊंचे विचार की आदत का अभ्यस्त हो जावेगा।

(३) आर्थिक और नैतिक पहलू की तरह इसका वैज्ञानिक पहलू भी महत्त्वपूर्ण है। खादी मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए बहुत उपयोगी है। यह गर्मी मे ठण्डी और सरदी मे गर्म रहती है। इसके पहनने से मनुष्य पसीने से होने वाले चर्म-रोगों से भी बच जाता है।

इस सारी विवेचना के साथ महात्मा गांधी ने अपनी धीर गम्भीर आवाज में सारे देश के अन्दर इस उद्योग को तेजी के साथ बढ़ाने की अपील की। कांग्रेस जनों के लिए तो यह अनिवार्य कर दी गई।

खादी आदोलन के संचालन में महात्मा गांधी को जिन लोगों ने अन्तरात्मा की आवाज के साथ योग दिया उनमे डा० राजेन्द्र प्रसाद, सेठ जमनालाल बजाज, श्रीकृष्णदास जाजू, विनोवा भावे, इत्यादि लोग विशेष उल्लेखनीय हैं।

देखते ही देखते सारे देश में खादी-आन्दोलन की बाढ़ आ गई। देहातों से लेकर शहरो तक चरखों और तकलियों की धूम मच गई। जमनालाल बजाज की संगठित योजना से सारे देश के शहरो और कसबों मे छोटे-छोटे खादी-भण्डार खुल गये। ये खादी भण्डार देहात मे कते हुए सूत को खरीदते और उस सूत का कपड़ा बना कर थोड़े मुनाफे पर बेचते थे इस प्रकार सारे देश में खद्दर ही खद्दर दिखाई पड़ने लगा। खद्दर की टोपी और खद्दर का थैला मानों सभ्यता के तापमापक यंत्र की तरह हो गया।

इस आन्दोलन से एक दूसरा अप्रत्यक्ष लाभ यह हुआ कि महात्मा गांधी ने सतोगुण का धरातल देकर जिस अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रारम्भ किया था, खादी-आन्दोलन अप्रत्यक्ष रूप से उस सतोगुणीय धरातल को बनाने में मदद कर रहा था। खादी पहनते ही, मनुष्य के अन्दर एक उन्नत और नैतिक विचारधारा का जन्म होता था। वह समझने लगता था कि अगर मेरे से कोई गलत या हिंसात्मक काम हो जावेगा तो लोग मुझे और मेरी इस पोशाक को क्या कहेंगे!

इन बातों के बावजूद भी देश में हिंसात्मक आन्दोलन हुए और गांधजी को अपने आन्दोलन भी वापस लेने पड़े। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि खादी ने अपना काम किया और कई बार परिस्थिति को नियंत्रण में रखा।

इस प्रकार सन् १९१९ से १९४८ तक खादी भारत के इतिहास में एक प्रमुख अध्याय के रूप में जीवित रही। उसने सारे स्वाधीनता के युग में सेनिकों के अन्दर त्याग, नैतिकता, और बलिदान की भावनाओं को जागृत रक्खा। गांधीजी के तरकस का यह सब से प्रभावशाली तीर था।

१५ अगस्त सन् १९४७ को भारत स्वाधीन हुआ और ३० जनवरी सन् १९४८ को महात्मा गांधी शहीद हो गये। उनके साथ ही एक प्रकार से गांधी-युग समाप्त हो गया।

अब भारत के इतिहास में एक दूसरे युग का प्रारम्भ हुआ जिसे "स्वाधीनता-युग" कहा जाता है। कुछ लोग इसे "नेहरू-युग" भी कहते हैं।

इस युग में मनुष्य की भावनाओं ने एक दूसरा रूप ग्रहण किया। अभी तक आजादी के जिस पौधे को लोगों ने अपने त्याग से और शहीदों ने अपने रक्त से सींच कर बड़ा किया था, वह अब फल देने लग गया था। अब सबकी भावनाएं उस पौधे को सींचने की अपेक्षा जल्दीसे जल्दी इसके फल लूटने को बलवती हो रही थी। स्वाधीनता के एक ही मीठे झोंके ने सारे देश की त्याग की भावनाओं को ग्रहण की भावनाओं में बदल दिया।

मनुष्य वे ही थें, समाज वही था, मगर भावनाएं बदल गई थीं, सोचने का तरीका बदल गया था। त्याग की जगह ग्रहण, सादगी की जगह वैभव और सेवा की जगह स्वार्थ की मानव पूजा करने लगा।

इन सारी भावनाओं का असर "खादी" और "खादी आन्दोलन पर भी पड़ा। खादी अब गरीबी और सादगी की जगह वैभव की प्रतीक हो गई। शुद्ध खादी के दर्शन करना हो तो वह अब सड़कों पर चलती-फिरती नहीं मिलेगी। अब उसके दर्शन पचास-पचास हजार की मोटरों के अन्दर वैठे हुए मिनिस्टरों और सम्भ्रान्त कांग्रेसियों के शरीर पर ही होवेंगी। अब खादी गरीब की झोपड़ियों में नही बगीचों के वीच बने हुए विशाल बंगलों के एअरकण्डीशन कमरों मे ही दिखाई देगी या बड़े-बड़े नाच और संगीत के सांस्कृतिक प्रोग्रामों में आगे की कुरसियों पर बैठे हुए विशिष्ट पुरुषों के शरीर पर ही उसके दर्शन होंगे। अब वह पीछे की कुरसियों पर बैठना पसन्द नहीं करती।

गरीबों की इस खादी को बेचनेवाले खादी-भण्डार भी अब छोटी-छोटी दुकानों पर गरीब दुकानदारों के अधीन नहीं चलते। अब शहर या टाऊन के सबसे महत्वपूर्ण मोर्चों पर बड़े-बड़े विशाल हालों में सजे हुए खादी भण्डार आपको दिखाई देंगे। जिनमें ऊँची २ तनखा पाने वाले ऊँचे-ऊँचे कर्मचारी आपको खादी वेचते हुए दिखाई देंगे। खादी भण्डारों का मासिक व्यय हजारों रुपयों की संख्या में होता है। इस खादी का निर्माण करने वाले कारीगर अभी भी चाहे भूखों मरते हो, मगर इन कर्मचारियों के वैभव और खादी भण्डारों के वैभव में कोई कमी नहीं है। अब इन खादी भण्डारों की दुकानदारों में खरीददार भी गरीब लोग नहीं जाते। बड़े-बड़े मिनिस्टिर और कांग्रेसी पूँजीपति ही इनके खरीददार रहते हैं।

इतिहास का जैसा विचित्र परिवर्तन इस खादी के इतिहास में देखने को मिलता है वह शायद दूसरी जगह देखने को नहीं मिलेगा। नैतिकता और त्याग यह शुभ्र प्रतीक अब वैभव और विलास का प्रतीक बन गया है। भारतवर्ष के मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की स्पष्ट उपलब्धि खादी के इतिहास में देखने को मिल जाती है।

खानाबदोश

कबीले के रूप में घूमने वाली जातियों को 'खानाबदोश' कहते हैं।

खानाबदोशों का इतिहास बहुत प्राचीन काल से प्रारंभ होता है। ऐसा समझा जाता है कि जब तक मनुष्य को कृषि कर्म और मकान बनाने की कला का ज्ञान नहीं हुआ था, तब तक वह खानाबदोश के रूप में समूह बाँध कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहता था।

संसार के प्रायः सभी देशों में खानाबदोश जातियाँ छोटे-बड़े रूपों में रही, मगर मध्य एशिया के अन्दर इन जातियों ने जितना जोर पकड़ा, उतना शायद अन्यत्र देखने को नही मिलेगा। इन जातियों ने धीरे-धीरे स्थायित्व प्राप्त-कर बड़े-बड़े साम्राज्यों की भी स्थापना की।

बहुत सी खानाबदोश कौमें मध्य एशिया में पैदा हुई, जिनमें से कई पश्चिम की ओर योरोप में चली गयी। कुछ कौमों ने पूरब में चीन के अन्दर जाकर उपद्रव मचाए और कुछ दक्षिण मे भारत के अन्दर उतर आई। हूण, शक, तुर्क, उजबक, सुनहरी कबीला, सफेद कबीला—और इस तरह की बहुत सी कौमे लहरो की तरह एक के बाद एक आती रही। सफेद हूणो ने भारत मे आकर लूटपाट मचाई और 'एटीला' के हूणों ने योरोप में जाकर बर्बादी का ताण्डव मचाया। सेलजुक तुर्कों ने मध्य एशिया से आकर बगदाद के साम्राज्य पर कब्जा किया। तुर्कों की एक दूसरी शाखा उस्मानी तुर्क ने 'कुस्तुतुनियाँ' पर कब्जा कर योरोप में वीएना के दरवाजे तक पहुंच गये। मंगोलिया से मंगोल आक्रमणकारियों ने आकर संसार में तहलका मचा दिया। वे लोग योरोप के मध्य तक पहुंच गये और चीन को भी अपने शासन मे ले लिया।

इस प्रकार मध्य एशिया के खानाबदोशों ने अपनी विशाल शक्ति से संसार की राजनीति में बहुत बड़े-बड़े उलट-फेर किए।

मगर दूसरे देशों की खानाबदोश जातियाँ इतनी उग्र और बर्बर नहीं हुई। वे लोग छोटे-छोटे कबीचों में रहकर किसी प्रकार अपना जीवन-यापन करते हैं। उत्तरी ध्रुव प्रदेश में रहने वाली 'एस्कीमो जाति' मध्य आस्ट्रेलिया की 'अरून्टा जाति' अफ्रीका की 'बुशमेन' लंकी की 'वेद्दा' उत्तरी

अमेरिका की 'एलगोफिन' अफ्रीका की 'तूरम' और 'मसाई'–ये सभी खानाबदोश जातियाँ अपने छोटे-छोटे समूह बनाकर घूमती रहती हैं और शिकार तथा पशुपालन के द्वारा अपना गुजारा करती हैं।

भारतवर्ष में भी बहुत से खानाबदोश कबीले हैं, जिनमें 'कंजर' 'भाँट' 'साँसी' 'बंजारे' 'बागड़ी' 'कारवेलिए' 'गाड़ोदिया लुहार' इत्यादि जातियाँ उल्लेखनीय हैं। कंजर, साँसी इत्यादि जातियाँ चोरी का काम करने के लिए प्रसिद्ध हैं और शेष जातियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के धन्धे करके अपना गुजारा करती हैं।

खालसा

सिक्ख-सम्प्रदाय के १० वें गुरु गोविन्द सिंह के द्वारा स्थापित एक सिक्ख-सम्प्रदाय। जिसकी स्थापना उन्होंने सन् १६९९ ई० में की।

'खालसा' शब्द की व्युत्पत्ति अरबी-शब्द खालिस से हुई है जिसका अर्थ शुद्ध और पवित्र होता है।

सिक्ख-सम्प्रदाय मुगल-सम्राटों की दृष्टि मे हमेशा काँटे की तरह खटकता रहता था। यह एक साहसी और बहादुर लोगों का संगठन था। जिसकी शक्ति को बढ़ती हुई मुगल-सम्राट नहीं देखना चाहते थे। इसी प्रवृत्ति को लेकर सम्राट् जहाँगीर ने गुरु 'अर्जुन देव' को और 'औरंगजेब' ने गुरु 'तेग बहादुर' को प्राणदण्ड की सजा दी। औरंगजेब ने वीर बालक 'हकीकत राय' को भी जीतेजी दीवार में चुनवा दिया था।

ये सारी घटनाएँ ऐसी थीं जो किसी भी जाति को अपनी आत्मरक्षा के लिए सावधान कर सकती थी।

गुरु 'गोविन्द सिंह' ने इन सारी घटनाओं पर पूरी तरह से अध्ययन कर आत्मरक्षा के लिए एक नवीन संगठन की नीव डाली। उन्होंने सन् १६९९ ई० में वैशाखी मेले के दिन एक सार्वजनिक सभा में म्यान से तलवार निकालकर एक ऐसे वीर को ललकारा जो अपना मस्तक देने को तैयार हो। जो व्यक्ति इस बलिदान के लिए खड़ा हुआ, उसको लेकर वह डेरे में गये और खून से लथ-पथ तलवार लेकर वापस आये। फिर उन्होंने दूसरे व्यक्ति को ललकारा। इस प्रकार ५ व्यक्तियों को लेकर उन्होंने ऐसे बहादुर व्यक्तियों को चुन लिया, जो अपना मस्तक देने में जरा भी नहीं हिचकते थे।

वास्तव में गुरु गोविन्द सिंह ने उन लोगों को मारा नहीं था। उनको भीतर ले जाकर वे एक बकरे को काटते और उसके खून से सनी तलवार को लेकर बाहर निकलते थे। मगर लोग यही समझते थे कि वे उस मनुष्य को मार कर बाहर आ रहे हैं।

फिर उन्होंने उन पांचों व्यक्तियों को बाहर लाकर उन पर अभिमंत्रित जल का छिड़काव करके उनको 'पञ्चप्यारा' की उपाधि से अलंकृत किया और उन्हीं को गुरु के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और स्वयं भी उनके पास से दीक्षा ग्रहण की।

इसके बाद खालसा-सम्प्रदाय का उद्घाटन हुआ। खालसा-धर्म में दीक्षित प्रत्येक व्यक्ति के नाम के साथ सिंह शब्द लगाना अनिवार्य कर दिया गया और प्रत्येक खालसा-सम्प्रदायी के लिए केश, कंघा, कच्छ, कड़ा और कृपाण—ये पाँच 'ककार' धारण करना अनिवार्य कर दिया।

इस प्रकार एक ही दिन में गुरु गोविन्द सिंह ने 'वाह गुरु का खालसा' और 'वाह गुरु की फतह' का नारा लगा कर सिक्ख-सम्प्रदाय को सैनिक-सम्प्रदाय के रूप में बदल दिया। जिसने अन्त तक मुगल साम्राज्य से कठोर संघर्ष करके अन्त में 'रणजीत सिंह' के नेतृत्व में विशाल खालसा राज्यको स्थापित किया।

गोविन्द सिंह की मृत्यु के बाद 'बन्दा वैरागी' ने एक सेनापति के रूप में खालसा-सम्प्रदाय का नेतृत्व सँभाला। उसने मुगल-साम्राज्य के साथ संघर्ष में अपूर्व बहादुरी का परिचय दिया, मगर अन्त में पकड़ा गया और मारा गया। उसके बाद भी मुसलमान शासकों द्वारा खालसा-सम्प्रदाय पर भयंकर अत्याचार हुए। जिसके परिणामस्वरूप सन् १७४८ की २९ मार्च को अमृतसर में खालसा-दल की स्थापना हुई। इस अवसर पर खालसा को ११ दलों में विभाजित किया गया। प्रत्येक दल ने अपना-अपना एक नेता चुना और 'सरदार सिंह' अहलू वालिया' सबसे प्रधान नेता चुने गये।

सन् १७६२ में अहमद शाह ने खालसा दल पर एक और करारी चोट की, मगर अन्त में १३ मिसलों के रूप में यह दल अपना राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ। और

रणजीत सिंह के समय में इस खालसा शक्तिका चरमोत्कर्ष हुआ। आज भी यह खालसा-सम्प्रदाय पञ्जाब के अन्दर अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

खावन्द मीर

फारसी और अरबी-भाषा के एक लेखक और विद्वान, जिनका जन्म अनुमानतः सन् १४७५ के आसपास हिरात नगर में हुआ था।

सन् १४९८ में इन्होंने फारसी के प्रसिद्ध ग्रन्थ रोजत्-उल-शफा नामक ग्रन्थ के आधार पर 'खुलासत-उल अखबार' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ का निर्माण किया।

सन् १५२७ में जब हिरातनगर के अन्तर्गत बहुत उत्पात हुआ तब ये हिरात छोड़कर मौलाना साहबउद्दीन और मौलाना इब्राहीम कानूनी नामक दो विद्वानों के साथ भारत चले आये। सन् १५२८ में आगरा आकर इन्होंने सम्राट बाबर से मुलाकात की। बाबर ने इन्हें उचित सम्मान प्रदान किया।

बाबर की मृत्यु के पश्चात् ये हुमायूँ के साथ रहे और 'कानून-हुमायूँ' नामक एक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का उद्धरण अबुल फजल ने "अकबरनामा" में दिया है।

इन ग्रन्थों के अलावा इनकी और भी कई रचनाएँ हैं। जिनमें 'मसीर-उल-मुलुक' 'अखबार-उल-अखबार' 'दस्तूर-उल-वजरा' 'मुन्तखिब तारीख' इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

सन् १५३५ में इनकी मृत्यु हो गयी।

खाल्दिया

प्राचीन युग में मध्य एशिया में 'दजला' और 'फरात' नदी के बीच में बसा हुआ एक भूभाग, जो प्राचीन सुमेरियन और वेबीलोनियन संस्कृतियों का केन्द्र स्थान था।

दजला और फरात नदी की हरी-भरी घाटी में कई सभ्यताओंका जन्म और विकास हुआ। बाइबिल में इस स्थान को 'ईडन गार्डन' के नाम से सम्बोधित किया गया है और बतलाया गया है कि स्वर्ग से पतित होकर 'हजरत आदम' सबसे पहले इसी घाटी में अवतीर्ण हुए थे।

इस क्षेत्र में सबसे पहले, यहाँ के मूल-निवासियों की सभ्यता का प्रसार हुआ। इस सभ्यता को 'ईलम सभ्यता' कहते हैं।

दजला नदी के पूर्वी भाग के ऊँचे पठारों पर यह राज्य फैला हुआ था और इसकी राजधानी 'सूसा' थी। इस सभ्यता का समय ईसा से ४५०० वर्ष पहले कूता जाता है।

सुमेरियन सभ्यता

इसके पश्चात् यहाँ की सभ्यता में दूसरी सभ्यताओं के रक्त का मिश्रण होतागया। इन सभ्यताओं में पहली सभ्यता सुमेरियन सभ्यता मानी जाती है। सुमेरियन-सभ्यता के संस्थापक लोग कौन थे? किस मार्ग से उन लोगों ने यहाँ पर प्रवेश किया— इस बारे में विवाद अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। सुमेरियन शब्द का प्रयोग सबसे पहले प्रसिद्ध इतिहासकार 'ओपार्ट' ने किया था। उसका अर्थ होता है— कालेसिर वाले लोग। दजला-फरात की इस सुमेरियन-सभ्यता का समय इतिहासकार ऊली (Wolley) ईसवी सन् ४५०० से पूर्व मानते हैं। सुमेरियन सभ्यता के लोग लेखन-कला से परिचित थे। इनकी प्राचीन लिपि पत्थरों पर लिखी हुई पायी गयी है। 'रोजेस्टा' का पत्थर इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। यह लिपि ईसा से ३२०० वर्ष पहले की कूती गई है।

सुमेरियन-सभ्यता का प्रामाणिक इतिहास तेलोनगर से पुरातत्ववेत्ता 'डी० सर-जक' को व्यवस्थित रूपसे प्राप्त हुआ था। यह मिट्टी की तीस हजार ईंटों पर खुदा हुआ है। इसे संसार का प्रथम पुस्तकालय कहा जा सकता है। इस साहित्य से सुमेरियन-संस्कृति के राजाओं की व्यवस्थित वंशावलियों का पता चलता है।

वेबीलोनियन सभ्यता

जिस समय सुमेरियन सभ्यता शिथिल हो रही थी, उसी समय 'सेमेटिक' जाति के एक समुदाय ने उस पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर दिया। ये लोग 'अनातोलिया' की ओर से आकर फिलिस्तीन और मेसोपोटेमिया में आकर बस गये थे। इन्होंने अपनी राजधानी 'अक्काद नगर' में स्थापित की थी। वेबीलोनियन सभ्यता के अन्तर्गत दर्शन-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, खगोल-शास्त्र, व्यापार, चिकित्सा, स्थापत्य-कला, चित्रकला इत्यादि सभी प्रकार के ज्ञान की सर्वतोमुखी उन्नति हुई थी। इसी सभ्यता के अन्तर्गत सम्राट् 'हम्मूरबी'

नामक एक प्रतापी सम्राट् हुआ, जिसने ईसवी पूर्व २१२३ से २०८१ तक—४२ वर्ष राज्य किया। यही पहला सम्राट् था, जिसने कानून के महत्त्व को समझ कर अपने राज्य-शासन का सारा विधान मिट्टी की शिलाओं पर खुदवा दिया। यह विधान संसार का सबसे पहला लिखित विधान माना जाता है।

इसके अतिरिक्त इस सम्राट ने अपने शासनकाल में बड़ी-बड़ी नहरें सड़कें, किले और भव्य मन्दिरों का निर्माण करवाया।

आसुरी सभ्यता

इसके बाद बाबुली-साम्राज्य को ध्वंस करके दजला-फरात के ऊपर वाले दोआबे में बेबीलोन से करीब तीन सौ मील उत्तर बसने वाली 'असुर-जाति' ने इस क्षेत्र पर अधिकार किया। इस जाति ने समूचे मेसोपोटेमिया पर अधिकार करके एक नयी आसुरी सभ्यता का विकास किया। यह सभ्यता ईसवी पूर्व ७२७ से लेकर ६२६ तक चलती रही। इसका सबसे प्रतापी और अन्तिम सम्राट असुर वनिपाल था। इसका शासनकाल ईसवी सन् पूर्व ६६९ से लेकर ईसवी सन् पूर्व ६२६ तक रहा।

यह शासक असीरियन संस्कृति का सबसे पराक्रमी और क्रूर शासक था। यहूदियों का तो इसने कत्ले-आम करवा दिया तभी से यहूदी उसकी राजधानी 'निनवे' को 'रक्तपात नगर' के नाम से स्मरण करते हैं।

सबसे पहले इसने मिस्र में जाकर वहाँ की अराजकता का दमन किया और वहाँ के समृद्ध नगर 'थीबीज' को लूट लिया। इसके बाद उसने 'ऐलाम' राज्य पर आक्रमण करके वहाँ की राजधानी 'सूसा' को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। वहाँ की भूमि में नमक डाल कर और उनमे काँटेदार झाड़ियाँ लगा कर उसे कृषि के अयोग्य बना दिया और वहाँ के राजा का शिर काट कर राजधानी निनवे के •सिंह द्वार पर लगा दिया। वहाँ के सेनापति 'दिनानूं'की खाल अपने सामने खिचवाई। इसके बाद उसने राजधानी में भारी विजयोत्सव मनवाया और इस जलूस में अपने रथ मे घोड़ों की जगह चार राजाओं को जोता। जलूस में आगे बल्लम पर एलाम के राजा और उसके सेनापति के सिर टँगे हुए थे।

मगर इतना अत्याचारी और क्रूर होते हुए भी वह साहित्य का बड़ा प्रेमी था। बेबीलोन से प्राप्त सभी साहित्य का अनुवाद करवा कर उसे तीस हजार ईंटों पर खुदवाकर उसने अपने राजकीय भंडार में सुरक्षित रखवा दिया। उसी साहित्य के सहारे आज वहाँ के इतिहास पर पूरा प्रकाश पड़ता है।

असुर वनिपाल के मरते ही सारे साम्राज्य में अराजकता फैल गयी। इस अराजकता का लाभ उठा कर 'खाल्दिया' में पुन: राज्य-सत्ता की प्रतिष्ठा हुई और 'नेवोपोलेसर' नामक एक सरदार के नेतृत्व में खाल्दिया ने फिर अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और ईरान, इसराइल तथा मिस्र तक पर भी अपना अधिकार कर लिया।

नेवोपोलेसर के पुत्र 'नेवूचडरेजर' ने खाल्दिया की शक्ति को चोटी तक पहुँचा दिया। उसने 'जेरूसलेम' का भयंकर विध्वंस किया। मगर उसके बाद ईरानी-साम्राज्य की शक्ति ने खाल्दिया पर आक्रमण करके हमेशा के लिए उसे समाप्त कर दिया।

खासिया

भारत के आसाम-राज्य में ब्रह्मपुत्र और सुरमा नदी के बीच में पड़ने वाली पहाड़ियाँ। जिनकी तलहटी में बहुत सी आबादी भी बसी हुई है और यह प्रान्त खासिया-जयन्तिया जिले के नाम से प्रसिद्ध है। इस जिले में संसार में सबसे अधिक वृष्टि होती है। चेरापूँजी में वार्षिक वर्षा का औसत ४५८ इंच है। आसाम का सुप्रसिद्ध हिल स्टेशन शिलांग भी इसी जिले में पड़ता है। इस जिले का क्षेत्रफल ५५४६ वर्गमील और जन-संख्या ४६२१५५ है।

खासिया जिले के उत्तर में कामरूप और नवगाँव, पूर्व में नवगाँव और कछार, दक्षिण में सिलहट और पश्चिम मे गोरा पहाड़ है।

अंग्रेजी राज्य के समय में यह जिला तीन विभागों में बँटा हुआ था जिसमें एक भाग 'स्वाधीन खासिया' था। अंग्रेजों के अधिकृत खासिया में २४ परगने और जयन्ती जिले में २५ परगने पड़ते थे।

सन् १७६५ ई० में बंगाल की दीवानी मिलने पर 'ईस्ट-इण्डिया कम्पनी' की दृष्टि सिलहट की ओर गयी।

उस समय इस क्षेत्र में जंगली लोग रहते थे। उनका आचार-विचार और धार्मिक विश्वास भारत के दूसरे लोगों से नहीं मिलता था। यहाँ पर नारंगी और चूना बहुत अच्छा पैदा होता था। इसी लालच में कुछ अंग्रेज चूना और नारंगी का व्यवसाय करने यहाँ बस गये।

सन् १८२६ में नौङ्ग-खालोंग नामक परगने के शासक ने उत्तरी आसाम और सुरमाउपत्यका के बीच सड़क बनाने के लिए कई अंग्रेजों को ठीका दिया था। उसी समय कुछ अंग्रेज नौङ्ग-खालोंग मे जाकर रहने लगे थे। खासिया लोगों के साथ उनका व्यवहार अच्छा न था। इसलिए सन् १८२९ ई० की चौथी अप्रैल को खसिया लोगों ने अंग्रेजों पर आक्रमण करके उनके कई अधिकारियों और सिपाहियों को मार डाला। तब खासियों को दबाने के लिए ब्रिटिश-सेना को भेजा गया।

इस ब्रिटिश-सेना का भी खासियों ने बहुत लम्बे समय तक धनुष-बाणों से मुकाबला किया और सैकड़ों अंग्रेजों को मार डाला, मगर अन्त में सन् १८३३ ई० मे उनको अंग्रेजों का अधिकार स्वीकार करना पड़ा।

खासिया-जाति

आसाम-राज्य के खासिया-जयन्तिया क्षेत्र में बसनेवाली एक जाति जिसे कुछ लोग मंगोल रक्त से और कुछ प्राचीन खस जाति के रक्त से उत्पन्न मानते हैं।

इस ग्रन्थ में पहले हम "खश" जाति का वर्णन कर आये हैं। कई इतिहासकारों के अनुसार "खासिया" उसी खश जाति के वंशज है। खश जाति पूर्वकाल में मध्य-एशिया, तरिम उपत्यका में व्यापक शासन करती थी वहीं से यह जाति नेपाल और आसाम की पहाड़ियों मे आकर बस गई।

खासियाजाति की सभ्यता अभी तक मातृमूलक प्रणाली पर ही चल रही है। इस सभ्यता में माता के वंश के ऊपर ही परिवार चलता है। पिता का वंश इस सभ्यता में अत्यन्त गौण माना जाता है। विवाह होने के साथ ही वर कन्या के घर चला जाता है और जीवन भर उसी परिवार का सदस्य बन कर रहता है। विवाह के उपरान्त उसकी मिहनत और कमाई का अधिकार पत्नी-परिवार को होता है। वंशावली नारी के नाम से चलती है और सम्पत्ति की स्वामिनी भी नारी ही होती है।

इस सभ्यता में विवाह के पश्चात् 'तलाक' भी जायज माना जाता हैं। स्त्री यदि बाँझ हो या पुरुष नपुंसक अथवा किसी और व्याधि से ग्रस्त हो तो वे माँ-बाप या सरदार के सामने जाकर कारण बताकर विवाह बन्धन तोड़ देते हैं। इस अवसर पर स्त्री और पुरुष को ५-५ कौड़ियाँ अदल-बदल करने को दी जाती हैं। फिर उनसे पूछ कर वे कौड़ियाँ फेंक दी जाती हैं। कौड़ियां फेंक देने पर विवाह का बन्धन सदा के लिए टूट जाता है। एक बार विवाह-बन्धन टूट जाने पर फिर उनका दूसरे के साथ विवाह नही हो सकता। मगर दूसरे परिवार में विवाह करने का अधिकार दोनों को होता है। इस जाति में विधवा-विवाह को जायज माना जाता है, किन्तु बहु विवाह इसमें निषिद्ध माना जाता है।

खासिया-जाति के लोग ईश्वर और पुनर्जन्म को मानते हैं, पर हिन्दू-धर्म या ब्राह्मणो पर उनकी कोई श्रद्धा नही है। इस जाति के लोग उपदेवता की पूजा कियाकरते हैं। बीमार होने पर ये किसी प्रकार की औषधि नहीं करते, मगर जिस देवता के कोप से वह रोग पैदा होता है, उसकी शान्ति के लिए बलि प्रदान करते हैं। मृत्यु के पश्चात् ये शव का दाह करते हैं। दाह करने के बाद उसकी भस्म को जमीन में गाड़कर उस स्थान पर एक चबूतरा बना देते हैं।

खासिया-जाति में खासी, सनतेंग, वार और लिंगम्—ये चार शाखाएँ प्रधान हैं। खासियों के प्रत्येक कबीले में राजा, मंत्री, पुरोहित और जन-समाज—ये चार श्रेणियाँ होती हैं। हर एक कबीले में स्त्री ही सर्वोच्च शासक होती है और वह अपने पुत्र अथवा भांजे को लिंगडोह (मुख्य मंत्री) बना कर उसके द्वारा शासन करती है।

ख्वारेजम

मध्य एशिया का एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक भूभाग। जिसमें कई सभ्यताओं और साम्राज्यों का उत्थान-पतन हुआ है।

ख्वारेज्म के उत्तर की तरफ सिरदरिया (यक्सर्तनदी) और अराल समुद्र की प्राकृतिक सीमा बनी हुई है। उसके

पूरब में किजिल कुम की विस्तृत लाल मरुभूमि है। जो शत्रुके लिए किसी दुरूह पर्वत श्रेणी से कम नहीं है। ख्वारेज्म के दक्षिण में कराकुल की काली मरुभूमि उसे मेर्व से अलग करती है। दक्षिण की ओर से वक्षु नदी ख्वारेज्म में प्रवेश करती है और यही इस प्रदेश को समृद्ध बनाने का प्रधान कारण है मगर एक स्थान पर नदी के दोनों किनारों पर पहाड़ और रेगिस्तान के कारण मार्ग इतना तंग होजाता है कि वहाँ शत्रु को आसानी से रोका जा सकता है। इस प्रकार ख्वारेज्म सिर्फ राजनैतिक दृष्टि से ही नहीं प्राकृतिक दृष्टि से भी एक स्वतंत्र इकाई हैं। बहुत कम अपवादों के साथ यह सोवियत क्रान्ति के समयतक अपनी सत्ता को अलग कायम रखे रहा। ख्वारेज्म की भूमि पश्चिम में कास्पियन समुद्र और दक्षिण में ख़ुरासान से अलग करने वाले रेगिस्तान कराकुलम और पूर्व में बुखारा से अलग करने वाले रेगिस्तान से घिरी हुई वालुका-समुद्र में द्वीप की तरह है। उत्तर में अराल समुद्र के दोनो तरफ भी मरुभूमि है। इस अपार बालुका-राशि के भीतर रहते भी ख्वारेजम हमेशा ही बड़ा उर्बर और समृद्ध रहा। योरोप के साथ होने वाले व्यापार का भी यह केन्द्र रहा।

ख्वारेजम का इतिहास अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। इस भूमि में कई संस्कृतियों ने जन्म लिया और उनका पतन हुआ। ईसवी पूर्व चौथी से तीसरी सहस्राब्दी तक इस क्षेत्र में 'केल्त मीनार' संस्कृति के अवशेष मिलते हैं।

केल्त मीनार वक्षुनदी से निकलकर उत्तर की ओर जाने वाली पुरानी नहरों मे से एक है। इसी नहर के नाम पर सोवियत इतिहासकारों ने इस संस्कृति का नाम केल्त-मीनार दिया है। यह संस्कृति 'मुंडा द्रविड़' संस्कृति की परम्परा में थी।

द्रविड़-केल्त-मीनार संस्कृति के पश्चात् ख्वारेजम में ईसवी पूर्व २री सहस्राब्दी के अन्तर्गत 'ताजाबगयाब' संस्कृति का उदय होता है। यह ताम्रयुग की संस्कृति थी।

ईसवी पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के पश्चात् इतिहास के दूसरे चरण में जब हम आगे बढ़ते हैं तो ख्वारेजम की भूमि में हमें नहरों का एक जाल बिछा हुआ दिखाई देता है। यह नहरों का युग था और इस प्रकार की नहरें बिना किसी स्थायी शासन के बनना संभव नहीं थी। इससे पता लगता है कि ख्वारेजम में ईरान में अखामनी साम्राज्य के कायम होने के पूर्व ही किसी स्थिर शासन का उदय हो चुका था। और यह स्थिर शासन सम्भवतः 'मसागत' जाति का रहा होगा।

ईसवी पूर्व ७ वीं सदी मे उनका केन्द्रीय शासन स्थापित हो चुका था। नहरों के उस युग में कई नगर भी बस चुके थे जिनके अवशेष अभी भी मरुभूमि में दबे हुए मिलते हैं।

ईसवी पूर्व ५५० में ईरान के महान् शासक 'साइरस' ने ख्वारेजम को अपने विशाल साम्राज्य में विलीन कर लिया, मगर ख्वारेजम की भौगोलिक स्थिति प्रतिकूल होने के कारण यह प्रान्त स्थायीरूप से उसके अन्तर्गत नही रहा और ईसवी पूर्व ४ थी सदी के आरंभ में 'कंग-जाति' ने वहाँ पर अपना राज्य कायम किया। उसके बाद जब 'सिकन्दर महान्' ने अखामनी-साम्राज्य को ध्वस्त करके मध्य एशिया में विशाल 'यवन-राज्य' की स्थापना की, उसके बाद भी कंग-जाति का संघर्ष ग्रीक लोगों के साथ चलता रहा।

ईसा की पहली से तीसरी सदी तक 'कुषाण-साम्राज्य' का एशिया में विस्तार हुआ। कुषाणों का साम्राज्य पूर्वी भारत से लेकर पश्चिम में अराल समुद्र तक पहुंच गया था। कुषाणों का साम्राज्य एक सभ्य साम्राज्य था और उसके अन्दर, जिस प्रकार भारत की सर्वतोमुखी उन्नति हुई, उसी प्रकार ख्वारेजम की भूमि भी उस युग में सभ्यता के ऊँचे शिखर पर पहुंच गयी।

ईसा की तीसरी से पाँचवीं शताब्दी तक की ख्वारेजम की संस्कृति को 'कुशाण-अफ़ीग' संस्कृति कहा जाता है। यह संस्कृति प्राचीन और अर्वाचींन ख्वारेजम के इतिहास का सन्धिकाल थी। इस युग में ख्वारेजम के नगरों को वहाँ का रेगिस्तान निगलने लग गया था। और नहरें भी नष्ट-भ्रष्ट होने लग गयी थीं। इस मरुभूमि में हाल ही में जो खुदाई हुई है, उसमें कई प्रकार की कलाओं के ध्वंसावशेष, सिक्के, मूर्तियाँ और चमड़े के पट्टों पर लिखे हुए 'कंग-भाषा' के अभिलेख मिले हैं, जिनसे उस समय की—नगर-निर्माण-कला और भवन-निर्माण-कला पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

ख्वारेज्म-शाह

इसके पश्चात् ख्वारेजम के इतिहास में एक नया मोड़ आता हैं और यह प्रदेश ख्वारेजम-शाह 'मामून' के अधिकार में गया। 'मामून' सुप्रसिद्ध आक्रमणकारी महमूद गजनवी का

बहनोई था। अपने साले मुहंम्मद गजनवी का 'खुतबा' उसने ख्वारेजम में फिराया। इससे नाराज होकर वहाँ की जनता ने ख्वारेजम-शाह मामून को कैद करके मार डाला।

इससे क्रुद्ध होकर मुहम्मद गजनबी ने ख्वारेजम पर आक्रमण करने के लिए सेना के साथ प्रस्थान किया। और ३ जुलाई सन् १०१७ को उसने ख्वारेजम की राजधानी 'कात' पर कब्जा कर लिया। वहीं पर उसने मामून को मारनेवाले तीनों विद्रोहियों को हाथी के पाँव के तले कुचलवा कर मरवा डाला, और मामून के ७वर्ष के भतीजे'अबुल-हारिश' को, जिसको विद्रोहियों ने गद्दी पर बैठाया था—पैरों में वेड़ी डालकर गजनी ले गया।

इस प्रकार ख्वारेजम-शाह का पुराना वंश खत्म हो गया। उसकी जगह पर महमूद गजनवी ने अपने प्रधान हाजिब अल्तूनताश को ख्वारेजमशाह बनाकर एक नये वंश की स्थापना की।

अल्तून ताश के बाद उसका पुत्र हारून ख्वारेजम की गद्दी पर बैठा। यह एक प्रभावशाली शासक था। इसने सलजुकी तुर्कों से मित्रता करके अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। इस वंश का अन्तिम ख्वारेजम-शाह 'इस्माइल' था।

इस वंश के खतम हो जाने के पश्चात् सल-जुकी तुर्कों ने तीसरे ख्वारेजम वंश की स्थापना की। इस तीसरे वंश का स्थापक 'अनोस्तगीन' नामक एक गुलाम था जिसको 'सल्-जुकी' अमीर विल्गतगीन ने 'गर्जिस्तान' के एक आदमी से खरीदा था। अनोस्तगीन ने अपनी योग्यता से बहुत तरक्की की। तरक्की करते-करते वह ख्वारेजम का राज्यपाल भी बन गया।

अनोस्तगीन की मृत्यु सन् १०९७ ई० में हुई। उसके बाद उसका पुत्र कुतुबुद्दीन मुहम्मद ख्वारेजम की गद्दी पर बैठा और उसने ख्वारेजम-शाह की उपाधि धारण की। इसने कराखिताई आक्रमणकारियों को हराकर उन्हें वार्षिक कर देने के लिए मजबूर कर दिया।

सन् ११२७ ई० में कुतुबुद्दीन की मृत्यु हो गयी और उसकी जगह उसका पुत्र अतसिज ख्वारेजम की गद्दी पर बैठा। अभीतक ख्वारेजम के शासक सल्-जुकी तुर्कों के इशारों पर नाचते थे, मगर अतसिज ने इस बोझ को उतार फेंका और स्वतंत्र रूप से अपने राज्य का विस्तार करने लगा। इससे नाराज होकर सल-जुकी सुल्तान ने आक्रमण करके सन् ११३८ ई० में अतसिज को ख्वारेजम से भगा दिया। मगर सन् ११४० में वापस आकर अतसिज ने ख्वारेजम के राज्यपाल 'सुलेमान' को भगा कर वहाँ पर पुनः अधिकार कर लिया।

सन् ११५६ में अतसिज की मृत्यु हो गयी और उसकी जगह उसका पुत्र 'इल्-अर्सलन' ख्वारेजम की गद्दी पर बैठा। इल्-अर्सलन के समय में सन् ११५७ ई० सलजुकी सम्राट् 'सिंजर' का ७५ साल की उम्र में देहान्त हो गया। उसके साथ ही तत्कालीन एशिया की सबसे बड़ी सल्तनत का अन्त हो गया और इस सल्तनत को किरमानी, सीरियन, ईराकी और रूमी सल्जुकी शासकों ने आपस में बाँट कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

इस कारण अब एशिया में ख्वारेजम-शाह इल्-अर्सलन ही एशिया का सबसे शक्तिशाली मुसलमान सुल्तान हो गया। फिर भी खुरासन के कराखिताई शासक अभी भी बलवान् थे। और ख्वारेजम-शाह को उन्हें वार्षिक कर देना पड़ता था। सन् ११७१ मे वार्षिक कर न चुकाने के कारण करा-खिताई शासक 'गुरखान' की सेना ने ख्वारेजम पर आक्रमण किया। मार्च सन् ११७२ ई० में इल्-अर्सलन मारा गया।

इल्-अर्सलन के पश्चात् उसका पुत्र 'तकाश' कराखिताइयों की मदद से सन् ११७२ के दिसम्बर में ख्वारेजम की गद्दी पर बैठा। तकाश ने सन् १२०० तक ख्वारेजम का शासन किया। इसके शासन-काल में ख्वारेजम-साम्राज्य की और भी वृद्धि हुई। सन् ११८२ ई० में उसने बुखारा पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। और वहाँ हिदायत दी कि 'खुतबे में खलीफा के नाम के साथ उसका नाम भी पढ़ा जाय।'

जिस समय शहाबुद्दीन गोरी काबुल और भारत में 'कुफ्र' का चिराग बुझाकर इस्लाम का झंडा फहराने में लगे हुए थे, उस समय तकाश, किपचक भूमि को काफिरों से रहित करने में लगा हुआ था।

सन् ११८७ ई० में तकाश ने नेशापोर पर अधिकार कर लिया और खुरासान के शासक सिंजरशाह को पकड़कर अन्धा कर दिया। और 'मेर्व' पर भी अधिकार कर लिया।

इसके बाद उसने 'सिरदरिया' के उत्तर में गैर-इस्लामी तुर्कों पर आक्रमण किया। तुर्कों का सरदार 'तूकू खान' था। इस लड़ाई में एक सेनापति के विश्वासघात से तकाश की बहुत बड़ी पराजय हुई। मगर उसके बाद एक लड़ाई में उसने तूकूखान को बन्दी बना लिया।

इसके बाद तकाश ने खलीफा की सेना पर भी आक्रमण कर उसको भी हराया। मगर इसके बाद अब्बासी खलीफाओं के साथ जो झगड़ा उत्पन्न हुआ, उसमें ख्वारेजमी सेना की बड़ी मिट्टी पलीद हुई।

सन् १२०० ई० में तकाश की मृत्यु हुई। तकाश की मृत्यु हो जाने पर उसका दूसरा लड़का मुहम्मद, कुतुबुद्दीन और अलाउद्दीन उपाधि के साथ ख्वारेजम की गद्दी पर आसीन हुआ। उसके भतीजे हिन्दू-खान ने उसके खिलाफ विद्रोह करके खुरासान के कई शहरों पर अधिकार कर लिया। मगर महमूद ने सन् १२०३ ई० तक खुरासान के सारे राज्य को वापस ले लिया और हिरात नगर पर भी भारी कर लगा दिया। इससे नाराज होकर भारत-विजेता शहाबुद्दीन गोरी ने ख्वारेजम पर आक्रमण कर दिया। मगर कराखताइयों की मदद से मुहम्मद ने गोरी को 'अन्वखुद' नामक स्थानपर भारी पराजय दी और शहाबुद्दीन को गजनी भागना पड़ा।

अब मुहम्मद ख्वारेजम शाह का सितारा पूरी बुलन्दी पर आ गया। सारे खुरासान पर उसका कब्जा हो गया और इस्लाम का सुल्तान भी अब गोरी की जगह ख्वारेजम शाह हो गया।

१३ मार्च सन् १२०६ ई० को जातीय बदला लेने के लिए जब हिन्दुओं ने शहाबुद्दीन को मार डाला तो इस्लामी दुनिया में मुहम्मद ख्वारेजम-शाह का कोई प्रतिद्वन्दी नहीं रहा। गोरी-साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया और उसका फायदा उठाकर दिसम्बर सन् १२०६ में ख्वारेजम-शाह ने 'हिरात नगर' में विजयोत्सव के साथ प्रवेश किया।

सन् १२०९ ई० में उसने कराखिताई-राज्य पर भी चढ़ाई की और उतरार और तराज तक का प्रदेश उनसे छीन लिया।

दूसरा अभियान उसने सन् १२१० ई० में किया। बुखारा पर अधिकार करके वह समरकन्द की ओर बढ़ा, मगर समरकन्द के करा-खिताई शासक उसमान ने उसका स्वागत किया। मगर इसके कुछ समय बाद 'उसमान' से उसका झगड़ा हो गया और उसने समरकन्द पर आक्रमण करके उस पर कब्जा कर लिया।

अभी तक ख्वारेजम की राजधानी 'गुरगांज' थी जो एक कोने में पड़ती थी। इसलिए वहाँ से इतने बड़े विस्तृत साम्राज्य का संचालन होना कठिन था। क्योंकि अब ख्वारेजम का साम्राज्य अफगानिस्तान और ईरान तक फैल गया था। इसलिए अब 'समरकन्द' को ही मुहम्मद ने अपनी राजधानी बनाया। वहाँ पर उसने एक जामा मस्जिद और एक विशाल महल बनवाना प्रारंभ किया।

सन् १२१५ ई० में उसने अपने पुत्र 'जलालुद्दीन' को गोरियों के राज्य का शासक बनाया। उसके बाद बगदाद के अब्बासी खलीफा 'नासिर' के साथ उसका बड़ा झगड़ा हो गया। खलीफा ने षड़यन्त्र के द्वारा मुहम्मद की हत्या करवाने की कोशिश की। उसके कुछ पत्र मुहम्मद के हाथ पड़ गये। जिससे क्रुद्ध होकर ख्वारेजन-शाह ने अपने यहाँ के ईमामों से एक फतवा निकलवा कर नासिर को खलीफा की गद्दी से हटवा दिया और सैयद अलाउलमुल्क 'तेरमिजी' को खलीफा बनाकर इसके नाम से 'खुतवा' पढ़वाया।

सन् १२१७ में उसने सारे ईरान पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया, किन्तु इसी समय 'बगदाद' में भेजी गयी एक फौज 'कुर्दिस्तान' के बर्फीले तूफान में पड़ कर नष्ट हो गयी।

इसके बाद ख्वारेजम-शाह के दिन पलट गये। सुप्रसिद्ध मंगोल आक्रमणकारी 'चंगेज खाँ' ने पहले तो ख्वारेजम-शाह की विशाल शक्ति को देख करके उससे सुलह करने का प्रयत्न किया, मगर ख्वारेजम-शाह अपनी शक्ति के मद में इतना मतवाला हो रहा था कि उसने चंगेज खाँ की परवाह नही की और धीरे धीरे इन दोनों के सम्बन्ध आपस में बिगड़ने लगे। सन् १२१९ ई० में चंगेज खाँ का अभियान प्रारम्भ हो गया। चंगेजखाँ की सेना ख्वारेजम-शाह की सेना से कम थी। मगर वह सुव्यवस्थित और अनुशासन पूर्ण थी। ख्वारेजम-शाह की सेना बहुत विशाल थी, मगर उसमें हिम्मत और साहस की कमी थी, उसने कहीं भी चंगेज खाँ की सेना से जमकर लड़ाई नहीं की। चंगेजखाँ की सेना के सामने वह एक जगह से दूसरी जगह बराबर भागता रहा। अन्त में एक

द्वीप में जाकर दिसम्बर सन् १२२० ई० में वह मर गया। उसके पास 'कफन' का कपड़ा भी नहीं था, जिसके लिए एक अनुचर ने अपना एक चोंगा दिया।

एक रूसी इतिहासकार ने लिखा है कि—"यह था अन्त एक ऐसे बादशाह का जिसने विशाल सलजुकी-साम्राज्य के अधिकांश भाग को एक छत्रछाया के नीचे ला दिया था। मङ्गोल-आक्रमण के समय उसने भयङ्कर कायरता दिखलाई।"

इसके बाद चङ्गेज खाँ के भयङ्कर आक्रमण से सारा ख्वारेजम-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

ख्वारेजम की सभ्यता और शिक्षा

ख्वारेजम बड़ा स्मृद्ध प्रदेश था। स्मृद्ध के साथ-साथ शिक्षा और सभ्यता में भी यह प्रदेश बहुत आगे बढ़ा हुआ था। इस क्षेत्र मे कई बड़े-बड़े विचारक और लेखक हुए। सन् ११११६ में 'शहरिस्तानी' ख्वारेजम का बहुत अच्छा विचारक हुआ। वह एक बहुत बुद्धिमान विचारक था। उसके ज्ञान और गंभीर विचार-शक्ति को देख कर लोग आश्चर्य करते थे। मगर गम्भीर दार्शनिक होने के कारण वह धर्म-शास्त्रों पर अन्धविश्वास न करके उन पर आलोचनात्मक विचार करता था। इसी लिए लोग उसे नास्तिक कहते थे। राजवंश के अन्तिम समय में कवि 'फखरुद्दीन राजी' भी ख्वारेजम दरबार में रहा।

इसी तरह गुरगांज में वकील शहाबुद्दीन खीबगी ने एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना की थीं जो शायद मध्यएशिया का सबसे बड़ा पुस्तकालय था।

मङ्गोलों के आक्रमण के समय जब उसे वहाँ से भागना पड़ा तो अपनी पुस्तकें छोड़ते समय उसे बड़ा दुःख हुआ। भागते-भागते भी उसने कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें साथ लेलीं, मगर वह अन्त में मङ्गोलों के हाथ मारा गया।

उसके मरने के बाद इतिहासकार नसावी ने उन किताबों को फिर से संग्रह किया, मगर उसे भी अन्त में वहां से भागने को मजबूर होना पड़ा और अन्त में मङ्गोलों के आक्रमण में वह सुन्दर पुस्तकालय नष्ट हो गया।

खीवा-साम्राज्य

सन् १५१० ई० में सुप्रसिद्ध उजवेक-विजेता 'महम्मद शेवानी' को हराकर ईरान के सफ्फावी बादशाह 'शाहा-इस्माइल' ने ख्वारेजम को तीन हिस्सों में बाँट कर वहाँ अपने तीन गवर्नर नियुक्त किये। (१) खीवा-हजारास्प (२) उरगंज और (३) वेसिर।

चूँकि ईरान के शाही खानदान ने मुसलमानों के शीया धर्मको राज्य-धर्म घोषित किया था और ख्वारेजम में सुन्नी-धर्म की प्रधानता थी। इसलिए राज्य के विरुद्ध वहाँ विद्रोह होते रहते थे। इसी विद्रोह के फलस्वरूप सन् १५१२ 'हुशामुद्दीन कतल नामक एक धर्म-नेता ने उजबक बकाखान के पुत्र 'इल्वर्स' को लाकर वेसिर की गद्दी पर बैठा दिया।

उसके बाद यह राजवंश 'खीवा-खान' के नाम से पूरी दो शताब्दी तक चला। इस समय में १९ शासकों ने इस प्रदेश पर शासन किया।

इस राजवंश में "अवानेक" "हाजीमुहम्मद" (१५५६-१६०२) इस्फन्दयार, (१६२२–१६४२) और अब्दुल गाजी नामक खानों के नाम विशेष उल्लेखनीय है। अब्दुल गाजी (१६४३–१६६३) बड़ा क्रूर और अत्याचारी शासक था। इसने अपने राज्य में तुर्कमान जाति को जड़मूल से समाप्त करने का प्रयास किया। सन् १६४४ मे अराल-तट से आकर इसने खीवा पर अधिकार कर लिया और सार्वजनिक क्षमादान की घोषणा करके भगे हुए तुर्कमान परिवारों को लौटने के लिए कहा। मगर ये लौटे हुए तुर्कमान सरदार जब जियाफत में खाने पर बैठे उसी समय इन सबको एक सिरे से कत्ल करवा दिया। इसी प्रकार जहाँ पर भी उसने तुर्कमानों को देखा सबको कत्ल करवा दिया।

इतना क्रूर और हत्यारा होने पर भी अबुल गाजी इतिहास और साहित्य का बड़ा प्रेमी था। उसने एक ऐसे इतिहास ग्रंथ का निर्माण किया जो आज भी इतिहासकारों के लिए प्रकाश का काम देता है।

सन् १७१४ में यादगार खान के साथ ही इस खान वंश का शासन ख्वारेजम में समाप्त हो गया और इनकी जगह पर बाहर से नये-नये लोगों ने यहाँ आकर शासन किया।

सन् १९१७ की रूसी क्रान्ति के बाद यह सारा प्रदेश सोवियट शासन के उजबेकिस्तान गणराज्य में विलीन हो गया। (म० ए० इतिहास)

—

खिजर खाँ

सैयद-वंश में उत्पन्न पंजाब का सूबेदार 'खिजर खाँ' जिसने सन् १४१४ ई० में दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

खिजर खाँ अपने को 'तैमूर लंग' का प्रतिनिधि घोषित करता था। सन् १४१४ में उसने दिल्ली पर कब्जा कर लिया दिल्ली के आसपास के थोड़े से प्रदेश पर उसका राज्य था। उसके बाद उसके तीन उत्तराधिकारियों ने दिल्ली पर राज्य किया। सन् १४५० ई० मे इस वंश के अन्तिम शासक 'अलाउद्दीन' को 'बहलोल खाँ' लोदी ने दिल्ली के सिंहासन से हटा कर स्वयं दिल्ली का सुल्तान बन बैठा। तब अलाउद्दीन दिल्ली का परित्याग करके बदायूँ में जाकर एक साधारण सामन्त की तरह रहने लगा।

खिताई

मध्य एशिया में ७वी सदी के अन्तर्गत 'सिरामुरेन' नदी के दक्षिण भाग में स्थापित खिताई-राज्य।

खिताई, तुर्क राज-वंश से एक भिन्न जाति थी और इस जाति का स्वतन्त्र राज्य था। इन्हीं खिताइयों ने आगे चल कर भविष्य में चीन के बहुत से भाग को विजय कर लिया था। इसीलिए चीन का एक नाम 'खिताई' भी पड़ गया था।

इसी खिताई के नाम से 'नान खिताई' चीनी रोटी का नाम करण हुआ। हमारे देश में बिकने वाली 'नान खताई' भी उसी रोटी की याद दिलाती है।

सन् ६९६ ई० में खिताई-शासक ने चीन की अधीनता के विरुद्ध विद्रोह करके अपने को सबसे बड़ा 'खगान' घोषित कर दिया। उसको दबाने के लिए चीनी सेनाएँ भेजी गयीं, मगर खिताई-शासक ने उन सेनाओं को हराकर भगा दिया। तब पूर्वी तुर्क के खगान 'मो-चो' ने खिताई-लोगोंपर आक्रमण करके उनको भारी पराजय दी।

इसके बाद भी खिताइयों के उपद्रव चलते रहे और ये चीन की उत्तरी सीमा से चीन पर बराबर आक्रमण करते रहे।

१०वीं और ११वीं सदी में शुंग-राजवंश के शासन-काल में उत्तरी चीन पर खिताई लोगों के आक्रमण बहुत बढ़ गये थे। और शुंग-राजवंश ने इनको दबाने के लिए सुनहरे तातारियों के 'किन' नामक कबीले से मदद माँगी। किन लोगों ने आकर खिताई-आक्रमणकारियों को तो भगा दिया, मगर उनकी जगह वे खुद उत्तरी चीन के मालिक बन बैठे और शुंग-राजवंश को दक्षिणी भाग में चला जाना पड़ा।

खिलअत

राजा या सम्राटों के द्वारा बुद्धिमानी पूर्ण और वीरता-पूर्ण कामों को करने वाले लोगों का सम्मान करने के लिए पुरस्कार के रूप में जो पोशाक, प्रदान की जाती है उसे 'खिलअत' कहा जाता है।

खिलअत देने का रिवाज विशेष करके मुसलमानी शासकों के जमाने में विशेषरूप से रहा। वैसे इस्लाम के पूर्व-वर्ती संसार के राज्यों में भी बुद्धिमानी पूर्ण या वीरतापूर्ण कार्यों के लिए पोशाकें या जागीरें देने की प्रथा थी, मगर खिलअत के रूप में लोगों का सम्मान करने की प्रथा सम्भवत: मुसलमानी काल से ही प्रारम्भ हुई।

खिलअत की पोशाक बढ़िया रेशमी या मखमली वस्त्रों से तैयार की जाती थी और इस पर सलमे-सितारे से या बढ़िया कलवत्तू से उत्तम डिजाइन तैयार किये जाते थे। इन डिजाइनों में कई प्रकार की चित्रकारी भी की जाती थी। ऊमैया-खिलाफत और अब्बासी-खिलाफत के समय इस प्रकार की खिल-अत को प्राप्त करना बड़े सम्मान की वस्तु मानी जाती थी।

भारतवर्ष के अन्तर्गत भी मुसलमानी काल में इन खिल-अतों के देने का बड़ा भारी रिवाज था। इन खिलअतों के बनाने के लिए राज-महलों में कारखाने बने हुए रहते थे जिन्हें 'दारुत्तिराज' कहा जाता था। इन कारखानों में खिल-अत बनाने का काम ही होता था।

राजस्थान के राजाओं ने भी मुसलमानी शासकों के अनुकरण पर अपने दरबारियों को खिलअत देने की प्रथा को स्वीकार किया। राजस्थान की भाषा में खिल अत को 'शिरोपाव' कहते हैं। राजस्थान में शिरोपाव के साथ-साथ राजभक्त दरबारियों को पैर में सोना पहनने का सम्मान भी दिया जाता था। यह भी खिलअत के बराबर ही सम्मान समझा जाता था।

खिलचीपुर

मध्य प्रदेश का एक नगर, जो अंग्रेजी राज्य के समय भूपाल एजेंसी का एक देशी राज्य था।

इसके पूर्व में राजगढ़, पश्चिम में इन्दौर, दक्षिण में और नरसिंहगढ़ पड़ता है। इसका पुराना नाम 'खीचीपुर-पाटन' था।

खिलचीपुर के राजा खीची-चौहान थे। सन् १५४४ में खीची-वंश के उग्रसेन ने इस राज्य की स्थापना की थी। गागरोनकी खीची राजधानी से उन्हें घरेलू झगड़े के कारण चला आना पड़ा था। दिल्ली सम्राट् ने पीछे से उनको जो सनद दी उसमें इनको जीरापुर तथा माचलपुर का परगना (जो बाद में इन्दौर राज्य के अधीन हो गये) और ग्वालियर का सुजालपुर भी दियागया था। सन् १७७० ई० में यह प्रान्त खीचियों के हाथ से निकल गया। क्योंकि राजा अभय सिंहको सेंधियासे सन्धि करना पड़ा था।

सन् १८७३ ई० में खिलचीपुर के राजा अमरसिंह को राव बहादुर का पुश्तैनी खिताब प्राप्त हुआ। सन् १८६६ ई० में राजा भवानी सिंह यहाँ की गद्दी पर बैठे। बाद में राव बहादुर दुर्जनसालसिंह यहाँ की राजगद्दी के अधिकारी हुए।

खिलजी-राजवंश

मध्य-एशिया के पश्चिमी तुर्कों से सम्बन्धित एक राजवंश। जिसने भारत में सन् १२६० से १३२० तक शासन किया।

पश्चिमी तुर्कों के राजवंश ने मध्य-एशिया में काफी समय तक एक विस्तृत भूभाग पर शासन किया। यह तुर्क राजवंश २४ विभागों में बँट गया था। इनमें से तुगलक, खिलजी और गुलाम राजवंशों ने भारत में आकर राज्य किया था।

सन् ६३४ में पश्चिमी तुर्क साम्राज्य में शे-गुई के उत्तराधिकारियों में तु-न-वोशे शबोलो नामक व्यक्ति "खिलीश-खान" के नाम से गद्दी पर बैठा था। ऐसा समझा जाता है कि खिलजी शब्द की उत्पत्ति इसी "खिलिश" शब्द से हुई।

मध्य-एशिया के पश्चात् इस वंश के लोग अफगानिस्तान में आकर बस गये और काफी समय तक अफगानिस्तान में रहने के कारण इनका रहन सहन भी अफगानों की तरह हो गया था।

बारहवी सदी में जब मुहम्मद गोरी के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ हुए, उस समय खिलजी वंश के भी कई लोग मुसलमानी सेना के अच्छे-अच्छे पदों पर नियुक्त होकर आये। सन् ११६३ मे मुहम्मद गोरी के सेनापति कुतुबुद्दीन ने मेरठ और दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

बिहार का खिलजी वंश

कुतुबुद्दीन की सेना में मुहम्मद-बिन बाख्तियार खिलजी नामक एक उप सेनापति था। उसने सन् ११६७ में बिहार प्रान्त की राजधानी बिहार-दुर्ग पर कब्जा कर लिया। यह स्थान उस समय बौद्धधर्म का प्रधान केन्द्र था। थोड़े ही परिश्रम से खिलजी का यहाँ पर अधिकार हो गया। उसने अनेकों बौद्ध बिहार, पुस्तकालय, मन्दिर और मूर्तियाँ नष्ट कर दीं और बौद्ध भिक्षुओं को तलवार के घाट उतार दिया। सन् ११६६ में इसी सेनापति ने बंगाल पर भी आक्रमण करके केवल १८ सवारों के साथ उस पर विजय प्राप्त की। बूढ़ा राजा लक्ष्मण सेन बिना लड़े योंही डरके मारे भाग गया। नदिया को तहस नहस करके खलजी ने लखनौती या गौड़ को अपनी राजधानी बनाया। बिहार और बंगाल की विजय के बाद सन् १२०६ में उसने आसाम पर आक्रमण किया और वहीं उसका अन्त हो गया।

दिल्ली का खिलजी वंश

सन् १२४६ से १२६६ तक दिल्ली के तख्त पर अल्तमश का छोटा लड़का नासिरुद्दीन बैठा। इसका प्रधान मंत्री बलबन था। नासिरुद्दीन की मृत्यु बाद सन् १२६६ में बलबन गद्दी पर बैठा। यह बड़ा क्रूर और जालिम शासक था। गद्दी पर बैठते ही इसने अल्तमश द्वारा संगठित चालीस शम्सी गुलाम सरदारों के दलका दमन किया जो इसका भीषण प्रतिद्वन्दी बना हुआ था। हिन्दुओं पर भी इसने निर्मम अत्याचार किये। इसके इन बर्तावों के कारण इसके शासन की जड़ें कमजोर हो गई थी। फल स्वरूप जब सन् १२८६ मे इसकी मृत्यु हुई तो चारों ओर अराजकता छा

गई। इसके बाद इसका पोता कैंकुवाद गद्दी पर बैठा जो बड़ा दुराचारी और निकम्मा था।

कैंकुवाद की अयोग्यता से तङ्ग आकर सन् १२९० में सरदार लोगों ने उसका कत्ल करवा दिया और उसकी जगह राज्य की उत्तर पश्चिमी सीमा के रक्षक जलालुद्दीन खिलजी को दिल्ली का सुलतान बना दिया।

जलालुद्दीन वृद्ध, अनुभवी और नम्र प्रकृति का होते हुए भी एक कमजोर शासक था। इसके शासन में दिल्ली के आस पास भयङ्कर अकाल पड़ा, जिससे त्रस्त होकर अनेक लोगों ने जमना में डूब कर प्राण दे दिये। इसके समय मे मंगोलों का भी आक्रमण होनेवाला था। मगर उसने उनको रिश्वत देकर, किसी प्रकार समझा बुझाकर वापस किया और अपनी जान बचाई। इसकी कमजोरी से राज्य में ठगों और लुटेरों का जोर बहुत बढ़ गया था।

सन् १२९४ मे उसने अपने भतीजे एवं दामाद अलाउद्दीन खिलजी को मालवा-विजय करने के लिए भेजा। जब वह मालवा तथा देवगिरि के यादव राजा रामचन्द्रराय को पराजित कर लूट के माल के साथ वापस आया तो जलालुद्दीन ने बड़े प्रेम से उसका स्वागत किया। जब ये चचा भतीजा गले मिल रहे थे उसी समय अलाउद्दीन के इशारे से उसके एक नौकर ने जलालुद्दीन को मार डाला। और सन् १२९६ में अलाउद्दीन खिलजी अपने चाचा की जगह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

सन् १२९६ में गद्दीपर बैठते ही उसने जलालुद्दीन के सब पक्षपातियों को मरवा डाला।

सन् १२९७ से १३०५ तक अलाउद्दीन खिलजी ने ने अपने विश्वसनीय सेनापति मालिक काफूर की सहायता से रणथंभोर, चित्तौड़, मालवा, गुजरात, देवगिरि, और द्वार समुद्र को रौंदते हुए मदुरा तक अपनी विजय का झण्डा गाड़ दिया। इस प्रकार कुछ कमोबेश हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक उसकी ध्वजा फहराने लगी। और अबतक के मुसलमानी शासकों में उसका साम्राज्य सबसे अधिक विशाल और विस्तीर्ण हो गया। (अलाउद्दीन खिलजी का विशेष परिचय इस ग्रंथ के प्रथम खण्ड में देखें।)

अलाउद्दीन खिलची अत्यन्त क्रूर, अत्याचारी था। मगर पढ़ा लिखा न होने पर भी वह विद्वानों का आदर करता था। फारसी का प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो उसका दरबारी था। "राघो" और "चेतन" नामक दो ब्राह्मण पण्डितो का भी उस पर काफी प्रभाव था। दिल्ली के नगरसेठ पूरनचन्द्र अग्रवाल का भी वह बड़ा आदर करता था। इसी प्रकार जैनाचार्य्य माधवसेन, रामचन्द्र सूरि और जिनचन्द्र सूरि का भी उसने बड़ा सम्मान किया था।

सन् १३१६ में अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु हो गई तब उसके परमविश्वासपात्र सेनापति मलिक काफूर ने अलाउद्दीन के बड़े लड़के को जेल में डाल कर उसके छोटे शिशु को गद्दी पर बैठाकर राज्य की सारी बागडोर अपने हाथ में लेली। मगर वह पूरे पैंतीस दिन भी राज्य नही कर पाया था कि अलाउद्दीन के तीसरे पुत्र मुबारक खाँ के षड्यंत्र से सेना ने मलिक काफूर का वधकर डाला। और उस बालक-राजा को अन्धा कर, मुबारक खाँ, कुतुबुद्दीन मुबारक के नाम से गद्दी पर बैठ गया। मगर वह भी चार बरस राज करके सन् १३२० में अपने मित्र खुसरो बखारी के द्वारा मार डाला गया। इस प्रकार दिल्ली के खिलजीवंश का अन्त हो गया।

मालवे का खिलजी वंश

१४वीं सदी के अन्त में जब सन् १३९८ में फीरोजशाह की मृत्यु हो गयी तो उसके मरते ही सारे साम्राज्य में अराजकता और अव्यवस्था हो गयी। बहुत से सूबेदार स्वतंत्र बन बैठे। इसी अवसर पर मालवे के सूबेदार ने भी एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की।

सन् १४३५ में इस वंश के सुल्तान 'होशंग शाह' की मृत्यु हो गयी तब उसकी जगह महम्मद खिलजी ने सन् १४३६ में इस राज्य पर अधिकार कर लिया। इस वंश में ४ सुल्तान हुए जिन्होंने सन् १५३१ ई० तक राज्य किया। अन्तिम सुल्तान महम्मद खिलजी द्वितीय को गुजरात के बहादुर शाह ने परास्त कर उस वंश का अन्त कर दिया।

खीची चौहान-राजवंश

राजपूत जाति के चौहान-राजवंश की एक शाखा, जिसका इतिहास १२वी या १३वी शताब्दी से प्रारंभ होता है।

राजपूतों में ४ राजवंश ऐसे हैं जो अग्निवंश के माने

जाते है और जिनकी उत्पत्ति अग्नि से बताई जाती है। ये चारों राजवंश (१) परमार, (२) परिहार, (३) सोलंकी और (४) चौहान हैं।

चौहानों की कुल २४ शाखाएँ हैं। उन शाखाओं में चौहान, हाड़ा, खीची और सोनगरा अपनी वीरता के लिए बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। इनमे हाड़ा राजवंश कोटा और बूंदी में, खीची-राजवंश गागरोन, राघोगढ़ और खिलचीपुर में और सोनगरा राजवंश जालोर में अपनी वीरता के लिए बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। चौहान-वंश के राजपुरुषों ने अपनी जन्मभूमि के सम्मान के लिए समय समय पर बड़ी वीरता का प्रदर्शन किया है।

खीची-राजवंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे ऐसी किम्वदन्ती है कि किसी समय इस वंश के किसी पुरुष ने देवी भगवती को एक पात्र खिचड़ी का भोग लगाया था। तब देवी ने सन्तुष्ट होकर इनको अच्छा वरदान दिया। तभी से इस वंश के लोग खिचड़ी नहीं खाते हैं और इसी खिचड़ी से इनका नाम 'खीची' पड़ा।

कुछ लोगों के मत से 'खीच' नामक स्थान पर रहने के कारण इनका नाम खीची पड़ा और इनका प्रान्त खीचीवाड़ा के नाम से विख्यात हुआ।

खीची-बंश का पूर्व पुरुप 'अजय-राव' नामक व्यक्ति समझा जाता है। अजयराव की १६वीं पुश्त में गया सिंह नामक व्यक्ति हुए। उनके दो पुत्र प्रसङ्ग राय और पिलपञ्ज राय थे। ये दोनों खीचीपुर पाटन में रहते थे, और दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान के समसामयिक थे। पृथ्वीराज ने इन दोनों को मालवाप्रान्त में 'गागरोन' का परगना जागीर में दिया।

इसके बाद इस परिवार मे 'जैतपाल' नामक एक बड़ा प्रतापी पुरुष हुआ। इसके सम्बन्ध में अबुल फजल ने 'आइने-अकबरी' में लिखा है कि–'जैतपाल ने सन् १३२४ ई० में कमालुद्दीन को पराजित कर मालवा के राज्य पर अधिकार किया था।'

जैतपाल के छोटे भाई के लड़के का नाम 'धारूजी' था। ये बड़े बहादुर और भाग्यशाली थे। इन्हे खीचीराज-वंश मे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता हैं। राजपूतों के भाट आज तक भी उनका कीर्तिगान करते हैं। भाटो के ग्रन्थों मे लिखा कि प्रधान प्रधान राजपूत राजागण सुल्तान अलाउद्दीन के साथ अपनी लड़कियों के सम्बन्ध करते हैं, मगर धारूजी ने कभी इस आदेश को नहीं माना। धारूजी के लड़कों में अरिसिंह सबसे बड़ा था। इसके शासनकाल में खींचीवाड़ा-राज्य दक्षिण मे सारङ्गपुर और शुजालपुर तक और पूर्व में भेलसा तक फैला हुआ था। राजपूतों के भाटों के अनुसार 'अरिसिंह ६० लाख हिन्दू और १८ लाख मुसलमानों के ऊपर शासन करते थे।''

इसी परिवार में आगे चलकर 'लाल सिंह' नामक व्यक्ति ने सन् १६७७ मे राघोगढ़ नामक नगर की स्थापना की। इसी वंश में आगे चल कर 'जयसिंह' नामक राजा हुआ। इसके राज्यकाल में मराठों ने कई बार खीची बाड़े पर आक्रमण किया। बहुत समय तक जयसिंह ने बड़ी वीरता के साथ उनका मुकाबला किया, मगर अन्त में सन् १८१६ ई० में पराजित होकर उसे राज्य छोड़ कर भागना पड़ा और उसी स्थिति में उसकी मृत्यु हुई।

उसके पश्चात् सन् १८२० ई० में ब्रिटिश सरकार ने जय सिंह के पुत्र 'दुकूल सिंह' को राघोगढ़ और बालभट्ट का जिला दिला दिया।

खीची-राजवंश के उग्रसेन नामक एक व्यक्ति ने सन् १५४४ ई० में खिलचीपुर-राज्य की स्थापना की, जिसका वर्णन हम खिलचीपुर नाम के साथ हम इसी खण्ड में पीछे दे चुके है। —(मुहनोत नेणसी की ख्यात, वसु विश्व-कोष)

खुत्तु शिलिश

अत्यन्त प्राचीन-युग मे एशिया माइनर के हित्ती राजवंश का एक राजा। जिसका समय ईसा से पूर्व तेरहवी शताब्दी मे माना जाता है।

अभी कुछ समय पहले तक हित्ती राजवंश की सभ्यता था इतिहास की इतिहास कारों को कोई जानकारी न थी। पर जर्मन विद्वान ह्यूगो विक्लर ने प्राचीन हित्ती साम्राज्य की राजधानी "बोगज कोई" के आस पास खुदाई करके वहाँ से क्यूनी फार्म लिपि में खुदी हुई २०००० ईंटों के विशाल भण्डारको बरामद किया। इन ईंटों से हित्ती साम्राज्य के सारे इतिहास के परदे उठ गये। इन ईंटों से पता

लगता है कि ईसासे पूर्व सत्रहवी सदीसे लेकर ई० पूर्व बारहवी सदी तक के पूरे पाँच सौ वर्ष मध्य पूर्व के राज्यो मे मिश्र और वेबिलोन साम्राज्य के पश्चात् तीसरा नम्बर हित्ती साम्राज्य का था। इन्ही मेसे मिली हुई एक पट्टिका पर इन्द्र, वरुण, मित्र आदि देवताओं का ऊल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि इस सभ्यता पर भारतीय सभ्यता का काफी प्रभाव पड़ा था।

इसी हित्ती राजवंश में ईसा से तेरह सौ वर्ष पूर्व मुत्तालिश नामक राजा हुआ। जिसने ईसा से १२८८ वर्ष पूर्व कदेश के युद्ध मे मिस्री सम्राट् रामसेज द्वितीय की सेनाओ को बुरी तरहसे पराजितकर दिया। उसके बाद मुत्तालिशके उत्तराधिकारी साम्राट् खुत्तुशिलिश के साथ रामसेज द्वितीय की एक संधि हुई। यह सन्धि ई० पू० १२७२ मे एक चांदी की पट्टिका पर खोदी गई। इसमें १८ पैरेग्राफ हैं। इस संधि मे दोनों साम्राज्य भविष्य मे कभी एक दूसरे पर आक्रमण नही करेंगे और वाहरी आक्रमण के समय एक दूसरे की सहावता करेंगे। इस तरह की शर्त्तें दी गई है।

इस संधि के वाद हित्ती नरेश की कन्या का विवाह राम सेज द्वितीय के साथ हुआ।

खु–पू (खीओप्स)

प्राचीन मिस्र के चौथे राजवंश का पहला फराऊन् सम्राट्। जिसने मिस्र की राजधानी मैम्फिस के 'गीजे' नामक स्थान पर सबले पहला 'पिरामिड बनवाया। इसका राज्य-काल ईसा से ३ हजार बर्ष पूर्व था।

खु–पू वड़ा अभिमानी और धर्मविरोधी स्वभाव का राजा था। इसने एक लाख से भी अधिक मजदूरों को लगा कर 'गीजे' में सब से पहला पिरामिड बनवाया।

गीजे का यह विशिष्ट त्रिकोण पिरामिड ४८१ फीट ऊँची १३ एकड़ जमीन पर बनाया गया है। इसकी लंबाई और चौड़ाई ७५५ फीट है। इसके बनाने मे ७०-७० मन के करीब २५ लाख पत्थर लगे हैं। इनमे से किसी-किसी पत्थर का वजन ४२०० मन से भी ज्यादा है।

यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता हैं कि उस युग मे जबकि क्रेन मशीनें और दूसरे किसी प्रकार के मैशीनरी साधन उपलब्ध नही थे। इतने भारी वजन के लाखों पत्थर किस प्रकार ५ सौ फीट ऊँची पहाड़ी पर चढ़ाये गये होंगे।

इस पिरामिड के आसपास राज-महल, कचहरियाँ, पार्क आदि बनने से मेम्फीस नगरने एक सुन्दर राजधानी का रूप ग्रहण कर लिया था। उस समय कला-कौशल और दस्तकारी में मिस्र की यह प्राचीन राजधानी उन्नति के शिखर पर पहुँच गयी थी।

खु–पू का उत्तराधिकारी खेफरे नामक फराऊन हुआ, जिसने ५६ वर्ष तक मिस्र का शासन सुचारू ढंग से किया। इसने मिस्र के 'गीजा' नामक स्थान के विशाल पिरामिड नं० २ की रचना की। यह सम्राट् बड़ा लोक-प्रिय था। इसकी एक आदमकद मूर्ति काहिरा के म्युजियम में रखी हुई है।

खुमान राणा

मेवाड़ के एक सुप्रसिद्ध राणा, जिन्होंने सन् ८१२ ई० से सन् ८३६ ई० तक शासन किया।

'वापा रावल' के चित्तौड़ से चले जाने के पश्चात् मेवाड़ में एक नये युग का प्रारम्भ होता हैं और मेवाड़ का इतिहास एक दूसरी करवट लेता है। मेवाड़ के इतिहास में राजा खुमान का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इन्ही के शासन काल में चित्तौड़ पर सवसे पहला मुसलमानीं आक्रमण हुआ और आक्रमणकारियों ने चित्तौड़ को घेर लिया। चित्तौड़ की रक्षा करने के लिये राणा खुमान ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया। जिससे मुसलिम सेना की पराजय हुई और राणा की सेना ने मुसलमानी सेना के सेनापति 'महमूद' को गिरफ्तार कर लिया।

यह सेनापति महमूद गजनवी नहीं था, बल्कि उसके दो शताब्दी पहले खलीफा अल-मामून के द्वारा भारत-विजय के लिए भेजी गयी सेना का सेनापति था। ऐसा अनुमान किया जाता है।

राणा खुमान को २४ बार शत्रुओं से युद्ध करना पड़ा था। उन युद्धो में राणा खुमान ने अपनी बहादुरी का जो परिचय दिया था, वह रोम के सम्राट सीजर की तरह राजपूतों के लिए आत्म गौरवपूर्ण है।

खुमान का प्रताप उसके जीवनकाल में ही बहुत बढ़ गया था। उसका प्रभाव अब तक यह है कि जब उदयपुर में

किसी पर कोई विपत्ति आती है या कोई ठोकर खाकर गिर जाता है तो लोगों के मुँह से निकल पड़ता है कि 'खुमान तुम्हारी रक्षा करें।'

राणा खुमान ने अपने जीवनकाल में ही अपने राज्य की गद्दी पर अपने छोटे पुत्र 'जगराज' को बैठा दिया था। मगर कुछ दिनों के बाद उसका विचार बदल गया और वह फिर अपने लड़के को गद्दी से हटा कर पुनः गद्दी पर बैठ गया।

इस घटना से पुत्रों के साथ उसका झगड़ा बहुत बढ़ गया और एक दिन उसके मङ्गल नामक लड़के ने उसकी हत्या कर डाली और स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया। मगर मेवाड़ के सरदारों ने इस बात को पसन्द नही किया। सबने मिलकर मङ्गल को राज्य से निकाल दिया। तब मङ्गल ने वहाँ से उत्तर की ओर मरुभूमि में जाकर 'जैसलमेर' के समीप 'लोद्रवा' नामक नगर बसाया और मङ्गली गोत्र की स्थापना की।

ऐसा समझा जाता है कि मेवाड़ के सुप्रसिद्ध 'एकलिंग' मन्दिर की स्थापना इन्ही राणा खुमान ने हारीत ऋषि के तपस्या-स्थल पर की थी।

खुदाई-खिदमतगार

सीमाप्रान्त में खान 'अब्दुल गफ्फार' खाँ द्वारा संगठित एक शांतिप्रिय संगठन। इस संगठन के सदस्य लाल कुर्त्ती पहनते थे। इसलिए इसको 'लाल कुर्त्ती' दल भी कहते।

सन् १९३० के अप्रैल मास में उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त में राजनैतिक आन्दोलन को दबाने के लिए ब्रिटिश-सरकार ने पेशावर में शान्तिपूर्ण भीड़ पर भयङ्कर गोली-वर्षा की। साल भर तक वहाँ की जनता ने अंग्रेज शासन के भयङ्कर अत्याचारो को शान्तिपूर्वक सहन किया।

मगर इन अत्याचारो के कारण सीमाप्रान्त मे जबर्दस्त राजनैतिक जागृति हो गई थी। इसी राजनैतिक जागृति के कारण खान अब्दुलगफ्फार खाँ के नेतृत्व मे एक विशाल अनुशासनपूर्ण और शान्तिप्रिय संगठन जोर पकड़ रहा था। इस संगठन के लोग लाल कुर्त्ती पहनते थे और इसने एक शान्तिपूर्ण सैनिक-संगठन का रूप ग्रहण कर लिया था। ब्रिटिश सरकार इस संगठन से बहुत चिढ़ती थी।

खुदीराम बोस

बङ्गाल के एक सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी नवयुवक, जिनको सन् १९०८ की ११वीं अगस्त को फांसी की सजा दी गयी।

यह वह जमाना था, जब लार्ड 'कर्जन' ने बङ्गाल के दो टुकड़े कर दिये थे और उससे सारे बंङ्गाल मे एक भीषण क्रांति का प्रारम्भ हो गया था। इस क्रान्ति का नेतृत्व 'वारीन्द्रकुमार घोष' कर रहे थे। इसके लिए इन्होंने कलकत्ते में मानिकतल्ला बागान मे किराये पर एक मकान लिया और प्रचार के लिए 'युगान्तर' नामक पत्र निकाला। इस पत्र के सम्पादक स्वामी विवेकानन्द के भाई 'भूपेन्द्रनाथ दत्त' हुए।

यह पत्र बहुत लोकप्रिय हुआ और सन् १९०८ में इसकी बिक्री २० हजार प्रतियों की हो गयी।

आन्दोलन बड़ी तेजी से चल रहा था और सरकार का दमनचक्र भी बड़ी तेजी पर था। इस दमनचक्र के अन्तर्गत 'किंग्सफोर्ड' नामक एक अंग्रेज बहुत बदनाम हो चुका था। क्रान्तिकारी इस ताक में थे कि किसी तरह किंग्सफोर्ड साहब का खातमा किया जाय।

इस कार्य के लिए क्रान्तिकारी दल ने खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी नामक दो युवकों को नियुक्त किया। इसी बीच किंग्सफोर्ड का तबादला मुजफ्फरपुर हो गया। इसलिए अब ये दोनों युवक बम और रिवाल्वर लेकर मुजफ्फरपुर पहुँचे और एक दिन, जिस गाड़ी मे बैठ कर किंग्सफोर्ड निकला करता था, उस गाड़ी पर बम फेंक दिया, मगर दैवयोग से उस दिन उस गाड़ी मे किंग्सफोर्ड नही था, उसकी जगह 'कैनेडी' परिवार की दो महिलाएँ थी, वे दोनो ही उस विस्फोट मे मारी गयी, मगर यह बात मालूम हो गयी कि युवक किसे मारना चाहते थे।

बम फेंक करके दोनो नवयुवक भागे। प्रफुल्ल चाकी ने तो दुश्मनों से घिर जाने के कारण रिवाल्वर से आत्महत्या कर ली, मगर खुदीराम बोस भागते-भागते सन् १९०८ की पहली मई को गिरफ्तार हो गये। कई महीनों तक उन पर मुकदमा चला और ११ अगस्त सन् १९०८ ई० को उनको फाँसी दे दी गयी।

खुदीराम बोस ने अपने बयान में बतलाया कि कैनेडी परिवार की महिलाओं के मरने का मुझे बहुत दुख है। मैं

किंग्सफोर्ड को मारना चाहता था। खुदीराम ने हाथ में गीता लेकर बड़ी प्रसन्नता के साथ फाँसी की रस्सी को ग्रहण किया। उनकी लाश उनके वकील कालिदास मुकुरजी को दे दी गयी। उन्होंने ही उसका दाह-संकार किया। उस समय हजारों लोग वहाँ पर उपस्थित थे। उनकी भस्म उसी समय हजारों परिवारों में बट गयी। खुदीराम की शहादत ने एक बार सारे बङ्गाल को झकझोर डाला। उनकी मृत्यु पर हजारों कविताएँ लिखी गयी, जिनमें से कुछ कविताएँ कितने ही बङ्गालियों की जवान पर हो गयीं।

खुरजा

दिल्ली से कलकत्ता जाने वाली लाइन पर गाजियावाद और अलीगढ़ के बीच में स्थित एक व्यापारिक मण्डी और रेलवे का जंकशन।

खुरजा कपास, गल्ला और तिलहन की एक सुप्रसिद्ध व्यापारिक मण्डी है। यहाँ का घी अपनी शुद्धता के लिए सारे उत्तर प्रदेश में प्रसिद्ध है।

जैन-समाज के द्वारा बनाया हुआ यहाँ का विशाल जैन मन्दिर अपने शिल्प-नैपुण्य और सोने से की हुई कारीगरी के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। इस मन्दिर के दर्शन करने वाहर से भी जैनी लोग आते रहते हैं। इस नगर के बीच मे एक सुन्दर सरोवर भी बना हुआ है।

खुरदा

उड़ीसा-राज्य के अन्तर्गत पुरी जिले का एक उपविभाग जो अक्षांस १९°-४१ एवं २०°-२६ और देशान्तर ८४°५६ और ८५°३३ के मध्य में बसा हुआ है।

उड़ीसा के प्रतापी हिन्दू राजाओं का अन्त होने के पश्चात बचे खुचे राजा लोग इस उपविभाग में आकर कुछ वर्षों तक अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सके थे। इस क्षेत्र में जङ्गल और दुर्गम पर्वत होने से मराठा-आक्रमणकारी एकाएक प्रवेश नही कर पाते थे। इसी से यह क्षेत्र सन् १७९८ तक स्वाधीन रहा।

सन् १५२४ में सूर्य्यवंश के राजा 'प्रताप रुद्रदेव' का स्वर्गवास हो जाने पर सूर्य्यवंश का सितारा करीब-करीब अस्त हीहो गया। उनका मंत्री 'गोविन्द विद्याधर'ने क्रमसे उनके सब लड़कों को मारकर सन् १५३३ में वह 'राजा गोविन्ददेव'के नाम से यहाँ की गद्दी पर बैठा।

गोविन्ददेव के गद्दी पर बैठने के कुछ समय पश्चात् ही गोलकुण्डा के मुसलमान शासकने उड़ीसापर आक्रमण किया। उस समय राजा गोविन्ददेव वहाँ से भाग कर आठ महीने तक मालिकण्डा नामक स्थान पर रहे।

इसी बीच गोविन्ददेव के दो भतीजे रघुभञ्ज छोठरा और श्रीचन्दनने कटक पर आक्रमण करके वहाँ के शासक गोविन्द-देव के मन्त्री 'मुकुंद हरिचन्दन' को वहाँ से भगा दिया और वहाँ के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। इस पर राजा गोविंददेव ने गंगा के मैदान मे युद्ध कर भतीजों को हरा दिया, मगर उनकी भी यहाँ पर मृत्यु हो गई।

गोविंददेव की मृत्यु के पश्चात् उनके मंत्री दनाई विद्या-धर ने एक व्यक्ति को प्रतापरुद्रदेव द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठाया। आठ वर्ष राज्य करने पर यह राजा भी मर गया।

अन्त में राजा गोविन्ददेव के प्रिय पात्र और उनके समय में कटक के शासक मुकुन्द हरिचन्दनने सन् १५५० में तैलंगी मुकुन्ददेव के नाम से शासन-भार ग्रहण किया। इन्हीं के समय मे सन् १५५८ में बंगाल के सुप्रसिद्ध आक्रमणकारी "काला पहाड़" का आक्रमण हुआ, जिसने राजा को मारकर इस राज्य को अपने अधिकार में कर लिया।

इसके पश्चात् सन् १५८० तक इस प्रदेश मे अराजकता का दौर-दौरा रहा। बाद में वहाँ के सब सरदारों ने मिल कर दनाई विद्यांधर के पुत्र रणाई रामचन्द्रदेव को गद्दी पर विठाया। इनका बंश "गजपति वंश" के नाम से प्रसिद्ध था। राजा रामचन्द्रदेव ने काला-पहाड़ के द्वारा ध्वंस किये गये देव मन्दिरों का निर्माण, संस्कार और देव-मूर्तियों का उद्धार किया। जगन्नाथदेव की मूर्ति भी इसी समय नूतन प्रस्तुत की गई। सन् १५९२ में दिल्ली-सम्राट् की ओर से राजा मानसिंह यहां के शासनकर्त्ता होकर आये। इस समय तैलङ्ग मुकुन्ददेव के दो लड़के और रामचन्द्र देव के बीच राज्य के लिए झगड़ा प्रारम्भ हो गया था। राजा मानसिंह ने मध्यस्थ बन कर राज्य का बंटवारा करके

खुरदा प्रदेश और पुरुषोत्तम-क्षेत्र रामचंद्रदेव को दिलवा कर महाराजा की पदवी उन्हीं के लिए सुरक्षित रक्खी।

रामचन्द्र देव के बाद इस वंश मे वारह शासक और हुए, जिन्हों ने सन् १८०४ अर्थात् ढाई शताब्दी तक राज्य किया।

अन्तिम शासक मुकुन्ददेव द्वितीय ने सन् १८०४ मे अंग्रेजी-राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जिसके परिणाम-स्वरूप अंग्रेजों ने इनका राज्य छीनकर उड़ीसा-प्रान्त मे मिला लिया।

यह राजवंश प्रसिद्धि के तौर पर 'जगन्नाथ के राजा' के नाम से जाना जाता था, मगर वैसे यह वंश बड़े जागीरदारों की तरह ही था।

खुरासान

मध्य एशिया मे ईरानी साम्राज्य का एक पूर्वी प्रान्त जिसका क्षेत्रफल १,२५००० वर्गमील और जनसंख्या करीव तेरह लाख (१९५६) है।

'खुरासान' का इतिहास बहुत प्राचीन है। मध्य-एशिया के अन्तर्गत निरन्तर होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव इस क्षेत्र पर भी पड़ता रहा।

ऐसा कहा जाता है कि ई० सन् से पूर्व छठी या सातवी शताब्दी में ईरान के प्रसिद्ध पैगम्बर 'जरथोस्ट' अवतीर्ण हुए थे। उनकी जन्मभूमि 'अजरवेजान' में थी। वही से उन्हों ने अपने नवीन जरथोस्टी-मत का प्रचार प्रारम्भ किया था। मगर जब अजरवेजान में उनको अपने मत के प्रचार मे सफलता नहीं मिली तो वे खुरासान में आकर अपने मत का प्रचार करने लगे और इस क्षेत्र मे उन्हें काफी सफलता मिली।

'साइरस' महान् ने जब मध्य एशिया और ईरान में सुप्रसिद्ध अखामनी-साम्राज्य की स्थापना की, तब खुरासान भी इस विस्तृत साम्राज्य का एक अङ्ग रहा।

सिकन्दर महान् ने ईस्वी सन् पूर्व ३३३ ई० में ईरानी-साम्राज्य को विध्वस्त करके वहाँ पर ग्रीक-बैक्टीरियन-साम्राज्य की स्थापना की, तब खुरासान उस साम्राज्य का एक अंग हो गया।

उसके पश्चात् यह पार्थियन और सासानी साम्राज्य का अंग बन कर रहा। उसके बाद जब ईरान मे 'इस्माइल सामनी' ने सामानी साम्राज्य की नींव डाली। उसके वाद सामानी-साम्राज्य के शासक 'नूह' ने १०वीं सदी के मध्य में 'अलपतगीन' नामक एक गुलाम को 'खुरासान' का शासक बनाया।

अल्पतगीन ने करीब ५० साल तक खुरासान मे एक वादशाह की तरह सर्वेसर्वा बनकर शासन किया। उसके बाद जब नूह की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र मंसूर गद्दी पर बैठा तो उसकी अल्पतगीन से खटक गयी। तब मंसूर को उसके साथियों ने सलाह दी कि वह अल्पतगीन को राजधानी में बुलवा कर मरवा डाले। तब मंसूर ने अल्पतगीन को दरवार में बुलाया, मगर अल्पतगीन के गुप्तचर ने मंसूर के षड्यन्त्र की सारी खबर अल्पतगीन को दे दी।

अल्पतगीन ३० हजार घुड़सवारों को लेकर राजधानी की ओर चला, जब राजधानी तीन रोज के रास्ते पर रह गयी तब एक दिन उसने अपने सब सरदारों को बुला कर बादशाह के सारे षड्यन्त्र की बात वतलायी। तब खुरासान के सरदारोने तब उसे विद्रोह करने को कहा। मगर अल्पदगीन ने कहा कि जिस साम्राज्य को मैंने ६० वर्ष से संभाल कर रखा है, इस ८० वर्ष की उम्र मे उसके साथ क्या विद्रोह करूँ।

ऐसा कह कर उसने सारी सेना तथा खुरासान और ख्वारेजम के उन सरदारों को वादशाह मंसूर के पास भेज कर वह उस साम्राज्य से निकल गया और कुछ गुलाम सवारो के साथ हिन्दुस्तान की ओर 'जिहाद' के लिए निकल गया।

सन् ९९७ में सामानी-साम्राज्य समाप्त की स्थिति में आ गया। उसके बाद यह प्रान्त महम्मद गजनवी के अधिकार में चला गया। महमूद ने खुरासान के अन्दर अपने 'खुतवे' में खलीफा कादिर का भी नाम पढ़वाया और अपने को खलीफा का खुरासानी-राज्यपाल घोषित किया। महम्मद गजनवी ने ही इस्लासमें सवसे पहले सुल्तान की उपाधि धारण की थी।

सन् १००६ ई० में जब महम्मद गजनवी हिन्दुस्तान के अभियान में, मुल्तान में ठहरा हुआ था, उस समय कराखानी सेनाओं ने खुरासान पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया।

जब महमूद गजनवी को यह खबर मिली तो वह मुल्तान से तुरन्त वापस आया। वहाँ से लौट कर उसने कराखानियों को बहुत बुरी तरह से पराजित किया और खुरासान पर फिर से अधिकार कर लिया।

उसके बाद खुरासान का भाग्य भी ईरान के साथ चलता रहा और इसमें कई उत्थान-पतन हुए और आज भी यह प्रांत ईरान का एक प्रसिद्ध और खुशनुमा प्रान्त है।

खुर्रम शाहजादा

सम्राट् जहाँगीर का द्वितीय पुत्र, शाहजादा खुर्रम, जिसका जन्म सन् १५९३ ई० मे हुआ और जो आगे जाकर बादशाह शाहजहाँ के नाम से मुगल साम्राज्य की गद्दी पर बैठा।

इसका पूरा विवरण शाहजहाँ के प्रकरण में अगले भागों में देखिए।

खुलना

पूर्वी पाकिस्तान के दक्षिणी-पश्चिमी भाग का एक जिला और नगर। जिले की जनसंख्या २०,७९,६१३ और शहर की जनसंख्या ७०१५२ है।

खुलना जिला के 'बेगरहाट' स्थान में पहले गौड़-राजाओं की राजधानी थी। उसके भग्नावशेष अब भी पाये जाते हैं।

उसके बाद १२वी सदी तक यहाँ पर स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य रहा और उसकी राजधानी ईश्वरीपुर में थी। सन् १५७६ में सम्राट् अकबर ने इसे जीत कर मुगल-साम्राज्य में मिला लिया।

उसके बाद सन् १९४७ में भारतवर्ष के बँटवारे के समय यह पूर्वी पाकिस्तान में चला गया।

खुलना सुन्दर वन में सवदूर नदियों से घिरा हुआ जलमय सुन्दर प्रदेश है, मधुमती, भैरवी, कपोताक्षी, भद्रा, इच्छामती, शिरसा इत्यादि यहाँ की प्रधान नदियाँ हैं।

सन् १८८२ के पहले खुलना स्वतंत्र जिला नही था। वह जैसोर जिले का एक उपभाग था, मगर इसी वर्ष २४ परगने से सातक्षीरा-उपविभाग और जैसोर से बाघेरहाट उप-विभाग लेकर उन्हें खुलना के साथ मिलाकर एक नये जिले की रचना की गयी। खुलना के आस पास खजूर का बड़ा भारी जङ्गल है। इस खजूर से गुड़ बनागा जाता है।

इसके अतिरिक्त यहाँ पर चावल, जूट, नारियल और सुपारी की काफी पैदावार होती है।

इस जिले के बाघेरहाट नामक स्थान में खान जहान अली की बनाई हुई 'साठ गुंबज' नामक विशाल मस्जिद के भग्नावशेष दृष्टि गोचर होते हैं। 'सातक्षीरा' नामक स्थान पर बहुत से हिन्दू-मन्दिर भी बने हुए दिखाई देते हैं।

खुसरू शाहजादा

मुगल-साम्राज्य के सुप्रसिद्ध सम्राट् 'जहाँगीर' का सबसे बड़ा पुत्र, जिसका जन्म ६ अगस्त सन् १५८७ ई० को लाहोर में आमेर की राजकुमारी शाहबेगम मानबाई के गर्भ से हुआ था।

जिस समय खुसरू का जन्म हुआ था, उस समय उसके पिता 'शाहजादा सलीम' की उम्र सिर्फ १८ वर्ष की थी। इस छोटी सी उम्र में ही शाहजादा सलीम की ऐय्याशी और शराब पीने की आदत का पता सम्राट् अकबर को लग गया था। उस समय अकबर का स्वास्थ्य भी धीरे-धीरे कमजोर होने लग गया था। इसलिए प्रमुख सामन्तों ने, जिनमें राजा मानसिह और मिर्जा अजीज कोका, प्रमुख थे बादशाह को सलाह दी कि अकबर के पश्चात् गद्दी का मालिक सलीभ की जगह खुसरू को बनाया जाय, क्यों कि यह एक चरित्रवान, तेजस्वी और बहादुर लड़का है।

उसके बाद खुसरू जब सत्रह साल का हुआ तब अकबर ने राजा मानसिंह को उसका संरक्षक नियुक्त किया और उसकी शिक्षा के लिए सुप्रसिद्ध विद्वान् अबुलफजल और उसके भाई अबुल खैर को नियुक्त किया।

जब खुसरू को यह मालूम हुआ कि अकबर के बाद उसकी गद्दी का अधिकारी वह होने वाला है तो वह अपने पिता सलीम के प्रति अपमान और अनुचित व्यवहार करने लगा।

पिता के प्रति खुसरू की ऐसी भावनाएँ देखकर उसकी माँ शाह बेगम बड़ी दुखी रहती थी और पिता का विरोध न करने के लिए अपने बेटे खुसरू को समझाती रहती थी। मगर

अन्त में खुसरू के व्यवहार से दुखी हो सन् १६०४ ई० में उसने आत्महत्या कर ली।

अब सम्राट् अकबर मौतके दरवाजेपर पहुँच चुका था ऐसे समयमें खुसरूके मामा राजा मानसिंह और उसके ससुर मिर्जा अजीज कोका ने खुसरू को राजसिंहासन दिलाने के लिए सरदारों की बैठक बुलाई, मगर इस बैठक में सैय्यद खाँ बारह ने अपने कई सहयोगियों के साथ खुसरूके राजसिंहासन पर बैठाने का विरोध किया। जिससे यह सारी योजना असफल हो गयी और १७ अक्तूबर सन् १६०५ ई० को अकबर की मृत्यु के पश्चात् शाहजादा सलीम जहाँगीर की उपाधि धारण कर गद्दी पर बैठा।

गद्दी पर बैठने के साथ ही सम्राट् जहाँगीर ने खुसरू के साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया। मगर खुसरू के दिल मे निराशा और घृणा के जो बीज जम गये थे, वे बराबर बढ़ते गये। ६ अप्रैल सन् १६०६ ई० को वह ३५० घुडसवारों के साथ पञ्जाब की ओर भाग निकला। लाहौर पहुँचते-पहुँचते उसके पास १२००० सैनिक हो गये। जहाँगीर ने भी उसका मुकाबला करने के लिए मुगल-सेना को भेज दी। लाहौर के पास 'भेरावल' नामक स्थान पर दोनों सेनाओं की टक्कर हुई, जिसमें खुसरू हार गया और वह काबुल जाने के लिए वहाँ से भाग निकला। मगर चिनाव नदी पार करते-करते पकड़ लिया गया और हथकड़ी बेड़ी पहना कर लाहौर लाया गया, जहाँ जहांगीर उसका इन्तजार कर रहा था।

जहाँगीर ने खुसरू के साथियों को सड़क के दोनों तरफ सूलियाँ लगाकर सूलियों पर लटकाया और उन सूलियों के बीच में खुसरू को निकाला।

सन् १६०७ ई० में जहाँगीर काबुल गया और साथ में खुसरूको भी ले गया। यहाँ पर भी खुसरू ने जेलमें अपने जेलर 'एतबार खाँ और आसफ खाँ के भतीजे नुरुद्दीन' को मिला कर जहाँगीर की हत्या का षड्यंत्र रचा, मगर इसकी खबर भी जहाँगीर को लग गयी और उसने एतबारखाँ और नुरुद्दीन को मौत की सजा देकर, खुसरू को दोनों आँखों से अन्धा कर दिया, मगर उसके बाद फारसके एक हकीम 'सुदरा' की चिकित्सा से सन् १६१० तक उसकी एक आँख की ज्योति वापस आगयी। सन् १६११ में जहाँगीर ने 'शेर अफगान की विधवा 'मेहरुन्निसा से ब्याह किया और उसे 'नूरजहाँ' का पद देकर 'मल्का' बनाया।

इसी समय से मुगल-राजनीति ने एक नया मोड़ लिया। नूरजहाँ ने अपनी आँखों के नशे से जहाँगीर को मदहोश कर शासन की सारी सत्ता को अपने हाथों में ले लिया और अपनी कुटिलता और षड़यंत्र पूर्ण राजनीति के चक्कर में मुगल-साम्राज्य को लपेट लिया। दरबार में उसके समर्थकों का एक दल था। शुरू-शुरू में वह खुसरू के विरोध में शाहजादा खुर्रम' को युवराज बनाने के पक्ष में हुई। मगर कुछ समय बाद वह खुर्रम से भी नाराज हो गयी और अपने पहले पति 'शेर अफगान' से उत्पन्न अपनी लड़की लाड़ली बेगम के पति 'शहरयार' को युवराज बनाने के पक्षमें होगयी। वह खुसरू और खुर्रम दोनों का अस्तित्व मिटा देना चाहती थी।

सन् १६२० ई० में दक्षिण के इतिहास प्रसिद्ध सेनापति 'मलिक अम्बर'ने बीजापुर और गोलकुंडा की रियासतों का एक संघ बना कर मराठों की सहायता से अहमद नगर और बरार पर कब्जा कर लिया। जिससे दक्षिण में मुगल साम्राज्य की नीव कमजोर पड़ गयी। इस स्थिति पर नियंत्रण करने के लिए एक विशाल मुगल-सेना का वहां भेजा जाना अत्यन्त आवश्यक था। जहांगीर ने शाहजादा खुर्रम के सेनापतित्व में वहाँ सेना भेजना चाहा, मगर शाहजादा खुर्रम ने इसी शर्त पर वहाँ जाना कबूल किया कि शाहजादा खुसरू को भी उसके साथ भेजा जाय। जहाँगीर खुसरू को उसके प्रतिद्वन्दी भाई खुर्रम के साथ भेजें जाने से होने वाले दुष्परिणामों को जानता था। इसलिए वह खुसरू को खुर्रम के साथ नहीं भेजना चाहता था। मगर नूरजहाँ एक ही ढेले में दोनों शिकार करके अपने दामाद शहरयार का रास्ता साफ कर देना चाहती थी। इसलिए उसने जोर देकर दोनों शाहजादों को दक्षिण के अभियान पर भेज दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि खुर्रम ने दक्षिण में विद्रोहियों पर विजय प्राप्त कर सन् १६२१ ई० के अन्त में खुसरूको बुरहानपुर में मरवा डाला। सन् १६२२ ई० को उसकी लाशको बुरहानपुर से खुदवाकर इलाहाबाद ले जाया गया और वहाँ 'खुसरू बाग में उसकी माँ की कब्र के पास दफनाया गया।

खुसरूबाग

इलाहाबाद रेलवे स्टेशन के पास चहार दीवारी से घिरा हुआ एक सुन्दर बाग, जिसका निर्माण सन् १६२२ ई० के आस-पास हुआ।

इस सुन्दर बगीचे में सम्राट् जहांगीर के पुत्र खुसरू और उसकी माँ शाह बेगम तथा शाही परिवार के और कई कुमार और कुमारियों की कब्रें बनी हुई हैं। इस बाग का इतिहास ऐसी क्रूर और अमानुषिक घटनाओं से भरा हुआ है, जिन्हें पढ़ कर हृदय दहल जाता है।

मुगल-साम्राज्य के इतिहास का एक खूनी अध्याय इन खूनी कब्रों के अन्दर सो रहा है।

मुसलमानी-इतिहास की यह परम्परा, जिसमें राजगद्दी के उत्तराधिकार के लिए विद्रोह, षड़यन्त्र और हत्याएँ होती रहीं हैं बराबर शुरू से दिखलाई पड़ती है। बाबर की गद्दी के लिए हुमायूँ के विरुद्ध उसके भाई कामरान का विद्रोह, अकबर के खिलाफ सलीम का विद्रोह, सलीम के खिलाफ खुसरू का विद्रोह, दारा और शाहजहां के खिलाफ औरङ्गजेब का विद्रोह—एक के बाद एक, ऐसी कड़ियां है जो इस परम्परा को कायम रखे हुए है।

खुसरू बाग भी इसी खूनी परम्परा की एक ज्वलन्त यादगार है।

(डा० किशोरी शरण लाल-कादम्बिनी)

खुशरोज

सम्राट् अकबर के द्वारा स्थापित किया हुआ एक उत्सव, जिसे 'नौरोज' का या नव वर्ष का उत्सव भी कहते हैं।

जिस दिन सूर्य मेष-राशि में जाता है, उस दिन ईरान में नौरोज का उत्सव मनाया जाता है। उसी के अनुकरण पर सम्राट् अकबर ने भी इस मेले का प्रारम्भ किया था। इस मेले में और-और उत्सवों के साथ सम्राट् के महल के विशाल आंगन में 'मीना बाजार' नाम से एक बाजार लगाया जाता था। इस बाजार में बेचनेवाली और खरीद ने वाली सभी उच्च कुलों की स्त्रियाँ होती थीं। जिसमें बादशाह की बेगमें भी होती थीं।

ऐसा कहा जाता है कि इस बहाने सम्राट् अकबर नव युवती स्त्रियों के रूप को देखकर अपनी रसिक वृत्ति को चरितार्थ करते थे और यदि किसी पर निगाह जमगयी तो उसको हर कौशल से अपने यहाँ महल में बुलाकर अपनी मनोकामना पूर्ण करते थे।

कहा जाता है कि संयोगवश एकबार उनके सामन्त राजा पृथ्वीराज की स्त्री पर अकबर बादशाह की निगाह जम गयी और वे उससे प्रेम-भिक्षा का निवेदन कर बैठे। अकबर की इस हरकत को देखकर उस तेजस्विनी सतीका खून खौल उठा और वह कमर से छुरी निकाल कर अकबर की छाती पर चढ़ बैठी। यह देखकर सम्राट् अकबर ने उस तेजस्विनी नारी से बार-बार क्षमा मांगी और प्रतिज्ञा की कि आगे से किसी भी सती स्त्री के साथ वे ऐसी हरकत न करेंगे। तब जाकर उस सती ने उनको छोड़ा।

आजतक भी राजपूतोंके भाट उस महान सती की प्रशंसा के गीत गाते हैं।

खुशहाल खां खटक

सत्रहवीं सदी में अफगानिस्तान में पश्तो भाषा का एक सुप्रसिद्ध कवि। जो सम्राट् औरङ्गजेब का समकालीन था। अफगान लोग अभी तक उसको राष्ट्रीय नायक की भांति ही महत्व देते और सत्कार करते है।

वह कवि होने के साथ ही एक सिपाही भी था। उसके जीवन का अधिकांश भाग मुगलों के साथ युद्ध करते ही बीता था। उसकी कविताएँ देश प्रेम, जाति प्रेम और दार्शनिक विचारों से सम्बन्धित होती थी। उसकी रचनाओं में कुली-आत, तवारीखे पश्तो, बाजनामा, हादिया आदि उल्लेखनीय है। उसकी एक कविता एक नमूना जो श्रीमती प्रभजीत कौर ने अनुवादित किया है इस प्रकार है—

ऐ मौत !

आज जल्दी न कर, कुछ अवकाश दे, कुछ ठहर जा,
कुछ सुन लूँ, कुछ बता लूं, और कहलूं, इस धरती को
मैं अलविदा.

कुछ छूलूं, कुछ पालूं, यह पवन मेरे देश की,
श्वासों में तनिक रचा लूं

घोर निद्रा में सोये वीर जो, नींद से तनिक उठा लूं
कुछ बोल है ललकार के, कुछ वार हैं तलवार के
धार पाकर खहू की, इस लौ को भड़का लूं
कसम अल्लाह पाक की, और कसम है इस खाक की
बैरी का लहू उँडेल कर, धरती को मेहन्दी रचा लूं
(धर्मयुग ६-७-६४)

खुसरू मल्लिक (१)

भारत वर्ष के अन्तिम खिलजी-नरेश कुतुबुद्दीन-मुबारक का एक मुँह लगा गुलाम। जो धीरे-धीरे उसका वजीर हो गया और बाद में दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेज दिया गया। मगर अन्त में इसने अपने मालिक के साथ विश्वासघात किया और सन् १३२० ई० के अन्त में अपने मालिक 'कुतुबुद्दीन-मुबारक' को मार कर 'नसीर-उद्दीन' के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठ गया।

मगर उसकी इस हरकत को देख कर दरबारी लोगों ने 'गाजीवेग तुगलक' के नेतृत्व में विद्रोह करके इसे मार डाला। और स्वयं गाजीवेग 'गयासुद्दीन' तुगलक के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

खुसरू मल्लिक (२)

दिल्ली के बादशाह मुहम्मद तुगलक का भांजा, जिसको सन् १३३७ ई० में मुहम्मद तुगलक ने एक विशाल सेना के साथ नैपाल-विजय के लिए भेजा था। बड़ी कठिनाई से पहाड़ को पार करके यह सेना जब चीन की सरहद पर पहुंची तो एक तरफ से चीनी सेना ने और दूसरी तरफ से नैपाली सेना ने आक्रमण करके इनके सारे सामान को लूट लिया। दूसरी ओर भयंकर बरसात शुरू हुई और ये उसी जगह पर बहुत से लोगों के साथ मौत के मेहमान हुए।

खुसरू-परवेज

ईरान के सासानी राजवंश का बादशाह जिसका समय सन् ५९१ ई० से सन् ६२५ ई० तक रहा।

खुसरू-परवेज ईरान के सासानी- राजवंश के बादशाह 'हरमूज तृतीय' के लड़के थे। सम्राट् हरमूज की मृत्यु के पश्चात् उनके सेनापति 'बहराम' ने ईरान पर अपना कब्जा कर लिया था। मगर रोम के सम्राट् की सहायता से बहराम को पराजित कर खुसरू ईरान के तख्त पर बैठे। रोमन सम्राट की मदद से बैठने के कारण खुसरो उनको अपने धर्म पिता की तरह समझते थे।

सन् ६०३ ई० में जब रोमन सम्राट 'मारिस' का कत्ल हो गया, तब उसका बदला चुकाने के लिये खुसरू ने रोम-साम्राज्य पर चढ़ाई कर दी और सीरिया तथा पेलिस्टाइन को लूट कर तहस-नहस कर डाला। 'जेरूसलेम' को जीतकर वहाँ से सोने का असली 'क्रास' मिट्टी में से निकाल कर विजय की निशानी के तौर पर अपनी राजधानी में ले आये।

मगर इसका बदला रोम के सम्राट हेराक्लियस ने ईरान पर हमला करके लिया और कास्पियन सागर से लेकर 'इस्फहान' शहर तक सारे प्रदेश को ध्वस्त कर दिया। सरकारी खजाने को लूटा और अच्छे-अच्छे महलों को तहस-नहस कर डाला।

देश की ऐसी बरबादी देखकर ईरानी जनता ने खुसरू-परवेज के बड़े लड़के 'कवाद' के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। कवाद ने अपने पिता को हथकड़ी-बेड़ियों से कस दिया और उनके सामने उनके १८ लड़कों की हत्या की गयी। इसके बाद उनको भी कत्ल कर दिया गया।

इस प्रकार सन् ६२८ ई० में ईरान के जगतप्रसिद्ध 'नौशेरवां' के खानदान के गौरव का अन्त हो गया। हालांकि उसके बाद भी ५ वर्ष के बीच में ११ सम्राट् एक दूसरे की हत्या करके ईरान के तख्त पर बैठे।

इस वंश का अन्तिम राजा 'यज्दगिर्द' तृतीय था, जो अरबों के द्वारा पराजित कर दिया गया।

ख्रुश्चेव (निकिता ख्रुश्चेव)

रूसी सोवियट संघ के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री। उसके पहले सोवियट संघ के प्रधान सचिव। जिनका जन्म १७ जनवरी १८९४ को रूस के कुर्स्की प्रान्त के कालीनोवोक नामक स्थान में हुआ था।

निकिता ख्रुश्चेव अपने समय के एक महान् राजनीतिज्ञ,

विचारक और विश्व-शान्ति के अन्तर्गत विश्वास रखने वाले महान् व्यक्तियों में से एक रहे। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जब सारे संसार में एक अभूतपूर्व उथल पुथल हो रही थी और शस्त्र-निर्माण में भयङ्कर प्रतिस्पर्द्धा चल रही थी। उस समय जिन लोगों ने विश्वशांति और युद्ध को रोकने के दिशा में अथक परिश्रम किया, उसमें भारत के पं० जवाहरलाल नेहरू, अमेरिका के प्रेसिडेण्ट कैनेडी और सोवियट संघ के निकिता ख्रुश्चेव इन तीन व्यक्तियों के नाम सर्वोपरि है। यह भी इतिहास की एक विचित्र घटना है कि जगन्नियन्ता ने एक दो वर्ष की कमोवेश अवधि मे ही तीनों महान् व्यक्तियों को विश्व के मंच पर से हटा दिया। दो को मौत ले गई और तीसरे ख्रुश्चेव को राजनैतिक दलबन्दी पर अपने व्यक्तित्व को बलि करना पड़ा।

निकिता ख्रुश्चेव सन् १९१८ मे साम्यवादी दल के सदस्य बने। दो वर्ष तक इन्हो ने गृहयुद्ध के समय रूस के दक्षिण मोर्चे पर सक्रिय भाग लिया। सन् १९२९ में ये दलीय समिति के सदस्य चुने गये। सन् १९३५ से १९३८ तक मास्को क्षेत्र तथा नगर दल समिति के प्रथम सचिव चुने गये।

द्वितीय महायुद्ध के समय निकिता ख्रुश्चेव स्टालिनग्रेड, और यूक्रेन के मुख्य मोरचे के लिए गठित युद्ध-परिषद् के प्रभावशाली सदस्य बनाये गये। उस समय इन्होने चारो ओर जर्मन सेनाओ से घिरे हुए सोवियट यूक्रेन क्षेत्र मे गुरिल्ला युद्ध का सञ्चालन किया। उस समय इन्हों ने जर्मन सेनाओं से यूक्रेन को मुक्त करवाने में बड़े साहस का परिचय दिया।

सितम्बर सन् १९५३ मे निकिता ख्रुश्चेव सोवियट संघ की कम्यूनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के प्रधानसचिव चुने गये। उसके पश्चात् इन्हो ने सोवियट संघ के तत्कालीन प्रधान मंत्री बुलगानिन के साथ भारतवर्षकी यात्रा की। इसी यात्रा मे कश्मीर जाकर उन्हो ने यह घोषणा की थी कि "काश्मीर भारत का अविभाज्य अङ्ग है"। तब से अपनी गद्दी छोड़ने तक वे अपने इन वाक्यों पर दृढ़ रहे। और संयुक्त राष्ट्रसंघ में जब भी कभी इङ्गलैण्ड, अमेरिका इत्यादि देशो ने कश्मीर के मामले मे भारत विरोधी प्रस्ताव पास करवाने का प्रयत्न किया; रूसी प्रतिनिधि ने 'वीटो' लगा कर उसे समाप्त कर दिया। इससे उनके दृढ़ निश्चयी स्वभाव का पता लगता है।

सन् १९५८ में ख्रुश्चेव बुलगानिन की जगह सोवियट संघ के प्रधान मंत्री बनाये गये। प्रधान बनने के पश्चात् इन्हों ने रूस के भूतपूर्व सर्वेसर्वा स्टालिन की रीतिनीति और उसने अपने विरोधियों पर जो भयङ्कर अत्याचार किये थे उनका भण्डा फोड़ करना प्रारंभ किया। उस समय उन्होंने सारे रूस में और संसार में स्टालिन के विरुद्ध एक हवा बहा दी। और लेनिन के आदर्श पर सोवियट संघ की नीति का निर्माण करने पर बल दिया।

स्टालिन के विरुद्ध किये गये इस प्रचार से दो धीमे-धीमे किन्तु गम्भीर परिणाम हुए। एक तो रूस में तथा अन्य देशों में जो स्टालिनवादी लोग थे वे भीतर ही भीतर ख्रुश्चेव के विरुद्ध हो गये। दूसरे दुनिया का सबसे बड़ा स्टालिनवादी देश चीन ख्रुश्चेव की नीति से चौंक पड़ा और उस देश ने धीरे-धीरे ख्रुश्चेव की समझौतावादी नीति पर कीचड़ उछालना शुरू किया। इस प्रकार संसारका साम्यवादी दल दो भागों में विभक्त हो गया। एक दल ख्रुश्चेव की नरम नीति का समर्थक हो गया और एक दल माओत्से-तुङ्ग की उग्र नीति के पीछे हो गया।

मगर ख्रुश्चेव एक दृढ़ निश्चय के साथ रूस का नवनिर्माण करने में जुटे रहे। उनके समय में, उनके प्रोत्साहन से रूसने वैज्ञानिक क्षेत्रमे सर्वतोमुखो उन्नति की। आणविक-निर्माण में, अन्तरिक्ष की खोज में, चिकित्सा के क्षेत्र में आदि सभी क्षेत्रों में उन्हो ने अपने महान् प्रतिद्वन्दी अमेरिका को पीछे रख दिया। रूस की इस विद्युत्वेग से होनेवाली वैज्ञानिक उन्नति को अमेरिका समेत सारा संसार बड़े आश्चर्य्य की दृष्टि से देख रहा था। रूसकी वैज्ञानिक सफलता को सारे संसारने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया। सैनिक दृष्टि से भी रूस संसार की सर्वोपरि शक्तियों में हो गया था।

मगर इन सब बातों के बावजूद भी ख्रुश्चेव विश्व-शांति और युद्ध-वर्जन के आन्दोलन में किसी से पीछे नही रहे। इस समस्या को निपटाने के लिए उन्होंने पण्डित जवाहरलाल और प्रेसीडेण्ड कैनेडी का बराबर साथ दिया। हालांकि कुछ मतभेद ऐसे थे जिनका निपटना बहुत कठिन था।

इतनी भारी सफलताओं के बीच में भी ख्रुश्चेव के काल में कुछ घटनाएं ऐसी हुईं जिनमें उनकी विफलता ने संसार के अन्दर रूसी सोवियट संघ को बहुत बदनाम किया।

इनमें से पहली घटना हङ्गरी मे हुई। जहां पर कम्युनिस्टों द्वारा किये गये अत्याचारों से सारा जगत् क्षुब्ध हो उठा।

दूसरी घटना क्यूबा में हुई। सन् १६६० में जनरेल कास्ट्रो को सत्ता प्राप्त हुई। और उन्होंने क्यूबाका नवीनीकरण करना प्रारम्भ किया। इससे अमेरिका के साथ उनका भयङ्कर मतभेद हो गया।

इन मतभेदों में अमेरिका को नीचा दिखानेके लिए क्यूबा ने रूस के साथ सांठ-गांठ करना शुरू कर दी। रूस ने अमेरिका के निकट ऐसे सुविधाजनक अड्डे प्राप्तकरने के अवसर को छोड़ना उचित नहीं समझा। उसने अपने जहाजों और पनडुब्बियों को क्यूबा तट पर भेजना प्रारम्भ किया और अमेरिका को धमकी दी कि वह स्वतन्त्र क्यूबा के मामले में हस्तक्षेप न करे। वरना रूसी राकेट क्यूबा की रक्षा करने को तैयार हैं। मगर अमेरिका ने इस नाजुक प्रसङ्ग पर बड़ी दृढ़ता से काम लिया और रूस को चेतावनी दी कि अमुक-अमुक समुद्री सीमा के भीतर रूसी जहाज और पनडुब्बियां प्रवेश न करें, वरना उन्हें डुबो दिया जावेगा। साथ ही अमेरिका ने अपनी बहुत-सी जलशक्ति को भी उन सीमाओं पर जाने का आदेश दे दिया।

अमेरिका के इस दृढ़ रुख को देख कर ख्रुश्चेव स्तम्भित रह गये और उन्होंने इस मामले को प्रतिष्ठा का विषय न बना कर क्यूबा में बढ़ाये हुए कदमों को वापस खींच लिया।

ख्रुश्चेव की इस कमजोरी की सारे संसार में विशेष कर कम्यूनिस्ट देशों में बड़ी कटु आलोचना हुई और इस घटना से उनकी प्रतिष्ठा को भी बहुत धक्का लगा। मगर उन्होंने अपनी आन के पीछे एक बड़े युद्ध को प्रारम्भ करने का खतरा उठाना उचित नहीं समझा।

ख्रुश्चेव की स्टालिन विरोधि नीति, चीन के साथ उन का बढ़ता हुआ विरोध तथा आर्थिक दृष्टि से रूस की सम्भाव्य उन्नति न होने तथा इसी प्रकार की और भी कई छोटी-बड़ी बातों के कारण, सोविएट संघ में गुप्तरूप से ख्रुश्चेव के विरोधियों की संख्या बढ़ती जा रही थी।

औ जैसा कि कम्युनिस्ट देशों में अक्सर होता है एक दिन ऐसा आया जब बिना किसी विशेष हलचल के सर्वोच्च सोवियट ने अचानक सन् १६६४ में ख्रुश्चेव का पत्ता काट दिया और वे अपने सभी पदों से पदच्युत कर दिये गये। उनके स्थान पर कोसिजिन सोवियट संघ के प्रधान मंत्री बना दिये गये जो इस समय काम कर रहे हैं।

ख्रुश्चेव के विरोधी पक्ष का उन पर यह आरोप है कि उन्हों ने मार्क्स की क्रांतिकारी नीति के विरुद्ध संशोधनवादी नीति को अपनाया, जो कि कम्युनिजम के मौलिक सिद्धांतों के विरुद्ध है।

पद भार से मुक्त होने पर ख्रुश्चेव की क्या स्थिति हैं, वे कहां रहते हैं, क्या करते हैं, आदि सभी बातों से संसार अनभिज्ञ है। जो व्यक्ति किसी समय संसार के आङ्गन में एक प्रकाशमान नक्षत्र की तरह चमकता था वह जीवित होते हुए भी आज अन्धेरे के किस कोने में पड़ा हुआ है कोई नही जानता। कम्युनिस्ट व्यवस्था में सभी व्यक्तियों का इसी प्रकार अन्त होता है। मोलोटोव, मालेनकोव, बुलगानिन बेरिया आदि सभी इसी उदाहरण को पुष्ट करते हैं।

खूनी रविवार

९ जनवरी सन् १६०५ ई० रविवार के दिन रूस के अन्तर्गत जो भारी हत्याकाण्ड हुआ, उसके उपलक्ष्य में यह रविवार वहाँ पर 'खूनी रविवार' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

रूस-जापान युद्ध के कारण उस समय रूस की आर्थिक अवस्था बहुत खराब होगयी थी। जीवनोपयोगी सब चीजों की महँगाई सीमा से बाहर हो गयी थी। कारखानों के मजदूरो की मजदूरियां कम कर दी गयी थी। तब इसके विरोध में 'बाल्शेविक' लोगों ने वहाँ सड़कों पर जलूस संगठन संगठित किये। 'ट्रोटस्की' पीटर्स वर्ग की 'सोवियट' का नेता बन गया। इस आन्दोलन से जार की सरकार हकबका गयी। वह किसी हद तक झुक भी गयी और उसने 'डूमा' के रूप में एक वैधानिक परिषद् बनाने का आश्वासन दिया।

सरकार के इस वादे से नरमदल के कुछ लोग सन्तुष्ट हो गये। मगर क्रांतिकारी लोग इससे सन्तुष्ट नहीं हुए और ९ जनवरी सन् १६०५ ई० को रविवार के दिन १४०००० मजदूर जार के चित्र, झंडे और ईसाई मूर्तियाँ लिए हुए प्रार्थना के गीत गाते हुए हेमन्त प्रासाद की ओर चले। चारों तरफ पोलिस का संगीन पहरा लगा हुआ था, फिर भी इस जलूस का बहुत सा अंश राज-प्रसाद के मैदान में पहुँचने में सफल हुआ।

पुलिस ने इस जलूस पर धुआँधार गोलीवर्षा करना

प्रारम्भ किया, जिससे एक हजार मजदूर मारे गये और दो हजार से अधिक घायल हुए। जिसके परिणाम-स्वरूप यह खूनी रविवार भारत के 'जलियानवाला बाग' की तरह रूस के मजदूरों के लिए शहीदों का स्मारक-पर्व दिन बन गया।

मगर इस क्रान्ति में साधारण जनता और किसान विशेष रूपसे सम्मिलित नहीं थे। इस लिए सरकारने और पुलिस ने इस भूखी जनता को कुछ क्रान्तिकारी दलों के विरुद्ध भड़का दिया। जिसके परिणाम स्वरूप रूसियों ने यहूदियों की और तातरियों ने आरमेनियन लोगों की हत्याएँ की। क्रान्तिकारी विद्यार्थियों और गरीब मजदूरों में भी झगड़े हो गये। देश के भिन्न २ स्थानोंमें इस क्रांतिकी कमर तोड़ देने के बाद, सरकार ने क्रान्ति के दो तूफानी केन्द्र 'पीटर्सबर्ग' और 'मास्को' पर हमला किया। पीटर्सबर्ग की सोवियट आसानी से कुचल दी गयी, मगर मास्को में फौज ने क्रान्तिकारियों की मदद की और पाँच दिन की लड़ाई के बाद ही 'सोवियट' पूरी तरह कुचली जा सकी।

इसके बाद सरकार ने बिना मुकदमा चलाए एक हजार आदमियों को फाँसी दे दी। सत्तर हजार को जेल भेज दिया। सारे देश में इस क्रांति के फलस्वरूप प्रायः चौदह हजार लोग मारे गये। इस प्रकार पराजय और विनाश के साथ सन् १९०५ की रूसी क्रांति का अन्त हुआ, मगर इसने जनता के अन्दर जो जागृति पैदा कर दी, वही जागृति सन् १९१७ ई० में सफल क्रांति के रूप में प्रकट हुई।

खेड़ ब्रह्म

हिन्दुओं का एक प्राचीन तीर्थ स्थान। जो गुजरात के माहीकांठा नामक क्षेत्र में ईडर से ३० मील उत्तर की ओर हरनाई नदी के दक्षिण तट पर अवस्थित है।

ब्रह्म पुराण की परम्परा के अनुसार ब्रह्माने अपने पापों से छुटकारा पाने के लिए विष्णु से उपाय पूछा तो उन्होने उन्हें भरत खण्ड के किसी पवित्रस्थान पर यज्ञानुष्ठान करने की सम्मिति दी।

तब ब्रह्माने विश्वकर्मा को आदेश देकर आबूपहाड़ से दक्षिण साबरमती के दाहिने तटपर ४ कोस के घेरे का एक नगर बनवाया। यह नगर स्वर्ण प्राचीर से घिरा हुआ था तथा इसमें चौबीस दरवाजे थे। हिरण्याक्ष नदी उसमें बहती थी। फिर उन्होंने यज्ञ कर्म करने के लिये नौ हजार ब्राह्मणों की सृष्टि की। यज्ञ पूर्ण होने पर ब्रह्माने उन ब्राह्मणों की रक्षाके लिए १८००० वैश्यों को पैदा किया और ब्राह्मणों से कहाकि तुम यहा मेरा एक मन्दिर बनाओ और उसमें चतुर्भुज मूर्ति स्थापित करो।

ब्रह्मा के पश्चात् उनके पुत्र 'भृगु'' ने एक बार यह जानने के लिए कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन देवों में सब से बड़ा कौन है। सब के पास जाकर उनकी निन्दा करना प्रारम्भ किया। अपनी निन्दा को सुनकर ब्रह्मा और शिव बहुत बिगड़े और वे भृगु को दण्ड देनेको तैयार हुए। तब भृगु विष्णु के पास गये और उन्होंने उनकी छाती में लात मार दी। मगर विष्णु तनिक भी नाराज नहीं हुए। उलटे उन्होंने भृगुकी लातको सहलाते हुए कहाकि आपको बड़ी चोट आई होगी क्षमा करें। तब भृगु ने विष्णु को ही सबसे बड़ा देवता माना।

इन देवताओं के अपमान से जो पाप हुआ उसे छुड़ाने के लिए भृगु खेड़ब्रह्म गये और हिरण्याक्ष में स्नान कर अपने आश्रममें शिवजी की स्थापनाकर कठिन तपश्चर्या में लग गये।

यहीं पर भृगुऋषि का आश्रम भी था ऐसा कहा जाता है। यहां पर बहुत से प्राचीन मन्दिरों के ध्वंसावशेष दिखाई पड़ते हैं। नगर के उत्तर की ओर जंगल में जो ध्वंसावशेष हैं। उनमें कईयों की शिल्प कला बहुत उत्तम है।

यहां पर माघ शुक्ल १४ को मेला लगता है।

खे-ली-खान

मध्य एशिया के पूर्वी-तुर्की कबीले का एक प्रसिद्ध खाकान। जिसका समय सन् ६१८ से सन् ६२८ तक रहा।

खेली खान, उसके पूर्ववर्ती खान दा-तु-बुगाखान का छोटा भाई था। इस समय तुर्क साम्राज्य अल्लाईसे लेकर काला सागर तक और पश्चिम में सतनद तक पहुँच गया था।

दा-तु-बुगा खान की पटरानी चीन की राजकुमारी थी। खान की मृत्यु के बाद अपने पुत्रको अयोग्य पाकर इसने अपने देवर खेली-खान को गद्दी पर बिठाया और स्वयं उसकी पटरानी बन गई।

जिस समय खे-ली खान राजगद्दी पर आया उस समय उसका राज्य किसी रूप में चीन के मातहत था। खे-ली खान को चीन का यह हस्तक्षेप पसन्द नहीं था। उसने चीन के एक दूसरे प्रतिद्वन्दी से ६००० सेना लेकर अपनी दस हजार सेना के साथ चीन के शान्-शी प्रदेश में लूटमार मचाना प्रारम्भ की। मगर चीनी सेनाने उसे बुरी तरह हराया। खे-ली खान ने तब चीन के पास मित्रता जोड़ने का सन्देश भेजा। मगर चीन ने उसका विश्वास नहीं किया। सन् ६२२ में जब तुर्की साम्राज्य में अकाल पड़ा हुआ था तब चीनी सेनाने उस पर आक्रमण किया। मगर इस आक्रमण में उसे सफलता नहीं मिली।

इसका प्रति शोध लेने के लिए खेली-खान और तु-ली खानने मिलकर कई वर्षों तक चीन की सीमाओं पर लूटमार मचाई।

इस समय थाऊ–राजवंश की गद्दी पर राजकुमार ताईसङ्ग सम्राट् बनकर आ चुका था। खे-ली खान के उपद्रवों से तङ्ग आकर एक दिन चीनी राजकुमार अपने थोड़े से शरीर रक्षकों को साथ लेकर खे-ली की सेना के सामने चला गया। राजकुमार की इस हिम्मत को देखकर खे-ली खान इतना प्रभावित हुआ कि उसने घोड़े से उतरकर राजकुमार का अभिवादन किया। इसी समय सन् ६२६ मे खे-ली खान और चीन के बीच एक संधि हुई जिसके परिणामस्वरूप खे ली की सेना लौट गई।

सन् ६२७ में उत्तर दिशामें बैंकाल और उइगुर कबीलों ने खे-ली के अत्याचारोंसे तङ्ग आकर वहांके तुर्क अफसरों को मार भगाया। उक्त कबीलोंके विद्रोह को दबाने के लिए खे-लीने अपने ऊप खाकान तू-ली को भेजा। मगर तू ली की सेना बुरी तरह पराजित हुई और तू-ली ने घोड़े पर भाग कर जान बचाई। तू-ली की इस हार से खे-ली बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने उसे गिरफ्तार कर लिया। तू-ली ने तुरन्त चीन-सम्राट् को खबर भेजकर अपनी मदद के लिए चीनी सेना बुलाली।

इसके बाद खे-ली खान का पतन शुरू हो गया। चीन सरकार ने उसको पकड़ कर उसे अपने यहाँ सम्मान पूर्वक रक्खा। मगर वहां वह शीघ्र ही मर गया।

खे-ली खान के बाद उसका साम्राज्य बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गया।

खैबर-दर्रा

भारतवर्ष के उत्तर पश्चिम में, उसे मध्यएशिया से मिलाने वाला एक विशाल पहाड़ी दर्रा। जो दो पहाड़ों के बीच में ३३ मील लम्बा चला गया है। यही दर्रा भारत पर विदेशी आक्रमण का सबसे महत्वपूर्ण मार्ग रहा है।

अपनी प्राकृतिक सीमाओं में भारतवर्ष तीन तरफ सागरों की विशाल जल राशि से और उत्तर की तरफ विशाल हिमालय की चोटियों से घिरा हुआ है। इस लिए प्राचीन काल में इन दिशाओं से बाहरी आक्रमण कारियों के आने का खतरा बहुत कम था। सिर्फ खैबर का यह दर्रा ही एक ऐसा मार्ग था जहां से बाहरी आक्रमणकारियों ने प्रवेश कर इस देश पर विपत्तियों के पहाड़ ढहाये।

मकदूनिया के सिकन्दर महान् ने ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में इसी राह से भारतवर्ष में प्रवेशकर राजा पोरस को हरा कर अपने साम्राज्य की स्थापना की थी। इसी मार्ग से ८वीं सदी में मुहम्मद बिन-कासिम ने आकर यहां के राजा दाहिर को पराजित कर यहां पर भयङ्कर लूट मार की थी। इसी मार्ग से मुहम्मद गजनवी ने कई बार प्रवेश कर यहाँ के राजा जयपाल और आनन्दपाल को हरा कर सारे भारतवर्ष में विनाश का ताण्डव नृत्य मचाया था। मतलब यह कि पुर्तगाल फ्रेंच और अंग्रेजों के पहले जितने भी आक्रमणकारी इस देश पर आये वे सब इसी मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए थे।

मुगल बादशाहों ने इस दर्रे पर स्थायी अधिकार रखने के लिए कई बार प्रयत्न किये मगर अफरीदी लोगों ने उनके अधिकार को स्थायी नहीं रहने दिया। सम्राट् अकबर ने इस दर्रे में जानेवाली सड़क का काफी सुधार किया। जिससे वहाँ गाड़ियाँ मजे में आती जाती रहीं। मगर उस समय भी खैबर पर रोशानिया लोगों का दबदबा था। सन् १५८६ में अपने भाई मिर्जा मोहम्मद हकीम के मरने पर अकबर ने काबुल पर अधिकार करने के लिए राजा मानसिंह के नेतृत्व में जो सेना भेजी थी उसे भी रोशानियों से लड़कर आगे बढना पड़ा था। सन् १६७२ में औरङ्गजेब के सेनापति मुहम्मद अमीन खां को इन लोगों ने खैबर की राह में भटका दिया और उस सेना को मार काट कर खजाना और स्त्री बच्चों को लूट लिया।

अंग्रेजी राज्य के समय में भी अफगानिस्तान की राज-

नीति में उलझे रहने के कारण अंग्रेजी सेना को इस क्षेत्र में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। एक बार तो सारी अंग्रेजी सेना को काट दिया गया था।

अंग्रेजी शासन काल में इस क्षेत्र में सड़कों वगैरह की अच्छी व्यवस्था हो गयी और लण्डीकोतल तक तो रेल मार्ग भी चला गया है।

खैरपुर

सिन्ध प्रदेश के उत्तरी भाग में बसा हुआ एक नगर जो पहले एक देशी राज्य के रूप में था और अब पाकिस्तान के अधिकार में है।

खैरपुर का इतिहास विशेष कर सिन्ध-प्रदेश के इतिहास से जुड़ा हुआ है। सन् १७८६ में बलूच वंशीय मीर फतेह अली खां तलपुर सिन्ध के राजा हुए। उनके पश्चात् उनके भांनजे शोराब खां तलपुर ने अपने दो लड़कों मीररुस्तम और अली मुराद के साथ खैरपुर में अपने राज्य की स्थापना की। उस समय यहां का राज्य अफगानिस्तान के अमीर को कर दिया करता था। मगर सन् १८१३ मे मीर रुस्तम ने अफगानिस्तान की अधीनता छोड़ दी। कुछ समय पश्चात् मीररुस्तम और अली मुराद दोनों भाइयोंके बीचमें झगड़ा पड़ जाने से अंगरेजों ने बीच में पड़ कर उस झगड़े को निपटाया और सन् १८३२ में उसके बदले मे सिन्धु प्रदेश के रास्ते से अंग्रेजी सेना को बेरोकटोक आने जाने का अधिकार ले लिया।

अलीमुराद ने खैरपुर में अपना प्रभुत्व स्थापन कर अंग्रेजों को काफी सहायता दी। उसका परिणाम यह हुआ कि मियानो और दोदर की लड़ाई के बाद जब सारा सिन्ध प्रदेश अंगरेजों के अधिकार में आ गया तब सन् १८६६ में अंगरेज गवर्नमेट ने यहां के राजा को एक सनद दी। जिसमें तलपुर मीरों को मुसलमानी कानून के अनुसार खैरपुर पर शासन करने का अधिकार दिया।

सन् १८९४ में अलीमुराद की मृत्यु हो गयी और उनके पुत्र मीर फैज महम्मदखां को राजगद्दी मिली उनके बाद मीर सर इमाम बक्श खां यहां के शासक हुए।

अंग्रेजी राज्य के समय यहां के राजा को १५ तोपों की सलामी और ले० क० हिजहाइनेसका खिताब दिया गया था।

खैर-बाल गङ्गाधर (बाला साहेब)

भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध के एक प्रसिद्ध कार्य कर्त्ता और बादमें बम्बई प्रान्त के मुख्यमन्त्री, जिनका जन्म सन् १८८८ में रत्नागिरी जिले में और मृत्यु सन् १९५७ में हुई।

बाला साहब खैर के पिता एक पोस्टमैन का काम करते थे और उन्हें चार रुपया मासिक वेतन मिलता था। बड़ी कठिनाई से उन्होंने सन् १९०३ में मैट्रिक की और सन् १९०८ में बी. ए. की परीक्षा पास की। इसके बाद वकालत की परीक्षा पासकर वकालत प्रारम्भ की, मगर इनकी वकालत ज्यादा नहीं चली और इन्हें बड़ी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

इसी समय संयोगसे हाईकोर्टके जज फ्रेंक बीमन ने इनकी इण्टरव्यू से खुश हो कर इन्हें १००) मासिक वेतन पर रख लिया। इसके बाद सन् १९१२ से १९१८ तक उन्होंने फ्रेंक बीमन के साथ वकालत का काम किया।

सन् १९१९-२० में जब महात्मा गांधी का अहिंसात्मक आंदोलन इस देश मे प्रारम्भ हुआ तो बालासाहब खैर भी उसमें पूरे उत्साह और आत्म विश्वास के साथ अग्रसर हुए। उस समय ये बम्बई वकालत करते थे।

सन् १९३७ में जब ब्रिटिश सरकार के अन्तर्गत कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाने का निश्चय किया तो बालासाहब खैर को मुख्यमन्त्री बनाया गया। यह उनके जीवन की आश्चर्यजनक घटना थी। उस समय बम्बई कांग्रेस के अध्यक्ष श्री नरीमान थे। मगर सरदार पटेल से मतभेद हो जाने के कारण उन्हें उस पद से त्यागपत्र देना पड़ा था। श्री शङ्कर राव देव की सिफारिश पर सरदार पटेल ने पहले दिन बाला साहब खैर को विधान सभा अध्यक्ष पद के लिए और दूसरे ही दिन मुख्यमन्त्री पदके लिए चुन लिया। बाला साहब खैर के लिए यह एक नाटकीय घटना थी।

बम्बई राज्य में सात गवर्नरों के साथ बाला साहब को काम करना पड़ा। इन गवर्नरों के साथ मौलिक नीति में पूर्ण मतभेद रहते हुए भी बालासाहब के सम्बन्ध बहुत अच्छे रहे। ये गवर्नर इङ्गलैंड जाकर भारत मन्त्री के समक्ष बाला साहब खैर की प्रशंसा करते थे। इसी से एक बार भारत मन्त्री लार्ड जैट लैण्ड ने ब्रिटिश पार्लमेंट में श्रीखैर की प्रशंसा करते हुए कहा था कि—"श्री खैर वास्तव में एक

दिव्य पुरुष हैं। प्राचीन काल में भारत अपने जिन दिव्य गुणों के लिए प्रसिद्ध रहा है वे सभी गुण श्री खेर में पाये जाते हैं।"

डांडीमार्च और नमक-सत्याग्रह के समय में आर्थिक स्थिति कमजोर होने पर भी श्री खेर ने बड़े उत्साह से भाग लिया और सन् १९३० में उन्होंने चार बार जेल यात्रा की थी।

सन् १९४७ में श्री खेर स्वाधीन सरकार के अन्तर्गत फिर से बम्बई के मुख्य मंत्री बनाये गये। पांच वर्ष तक योग्यता पूर्वक शासन करने के बाद सन् १९५२ में जब उन्हें फिर से चुनाव लड़ने को कहा गया तो उन्होंने इन्कार करदिया। वे चाहते थे कि मन्त्रिपद किसी की ठेकेदारी नही है, दूसरे व्यक्तियों को भी इसके लिए 'अनुकूल अवसर मिलना चाहिये। तब उन्हें इंगलैंड में भारत का हाई कमिश्नर बना कर भेजा गया। दो वर्ष वहां काम करके सन् १९५४ में अपनी पत्नी की बीमारी के कारण वे वापस आगये।

सन् १९५६ में श्री मावलङ्कर की मृत्यु के बाद एक बार उन्हें फिर बम्बई का मुख्य मन्त्री बनना पड़ा।

८ मार्च सन् १९५७ को श्री खेर का देहान्त हुआ। उनकी मृत्यु पर श्रद्धांजलि देते हुए श्री नेहरू ने कहा था कि —"बाला साहब खेर का व्यक्तित्व असाधारण था। उनकी देशभक्ति, विद्वत्ता और चारित्रिक शुद्धता आदि महान गुण सबके लिए अनुकरणीय रहेंगे।"

खोकन्द

मध्य एशिया के आधुनिक उजबेकिस्तान गणराज्य के फरगाना जिले का एक शहर, जिसका इतिहास बहुत पुराना है।

वैसे यह नगर प्राचीनकाल में हूण, उइगर, ईरान इत्यादि कई शक्तियों के आधीन रहा, मगर इसको स्वतंत्र और विशिष्ट रूप तब मिला, जब सन् १७४७ ई० से सन् १८७६ तक यह एक स्वतंत्र इकाई के रूप में प्रकट हुआ।

खोकन्द के इस नये राजवंश का प्रारंभ 'यादगार खोजा' नामक व्यक्ति ने किया। उसके बाद इस वंश में १४ खान और हुए। जिसमें से पहला खान यादगार खोजा का दामाद 'शहारुख बेक' था, जिसने अपने श्वसुर को मारकर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया।

इसके बाद इस वंश का पांचवां खान 'नरबुते' नामक व्यक्ति हुआ। जिसने सन् १७७० से सन् १८०० ई० तक शासन किया। इस खान ने चीन-सम्राट् के साथ अपने सम्बन्धों को बहुत बढ़ाया। चीन-सम्राट् ने उसे पुत्र को उपाधि प्रदान की। नरबुते ने खोजिन्द को छोड़ कर सारे फर्गाना प्रान्त को जीत लिया था। और अन्दीजान, नमगान्, ओश आदि नगर उसके हाथ में थे।

सन् १८०० ई० में खलीफा अबूबकर के वंशज 'यूनस खोजा' ने नरबूते को पकड़ कर मार डाला।

नरबूते के मारे जाने के बाद उसका बड़ा लड़का 'आलम बेग अपने भाई 'रुस्तम बेग' और दूसरे सम्बन्धियों को मार कर गद्दी पर बैठा। खोकन्द के खानों में सबसे पहले इसी ने खान की पदवी धारण की। इसने अपने नामका खुतबा पढ़वाया और सिक्का चलवाया। आलम खान बड़ा दुराचारी और अत्याचारी था, इसलिए उसके सरदारों ने उसे मरवाकर सन् १८०९ ई० में 'उमर खान' को गद्दी पर बैठाया।

उमर खान के शासन काल में खोकन्द व्यापार का एक बहुत बड़ा केन्द्र बन गया था। क्योंकि उसने रूस को यह आश्वासन दिया था कि अगर मेरी हदमें तुम्हारा कारवां लुट गया तो उसका सारा हरजाना मैं दूंगा। इससे खोकन्द के साथ रूस का व्यापार खुल गया था।

सन् १८२२ ई० में उमरखान के मरजाने पर 'मदली खान' खोकन्द की गद्दी पर बैठा। इसके समय में खोकन्द का झंडा 'यारकन्द' अक्सू और खोतन पर भी फहराने लगा था। मगर उसके बाद ये स्थान चीन के अधिकार में चले गये।

सन् १८३१ ई० में खोकन्दकी चीनके साथ एक सन्धि हुई। जिसके अनुसार खोकन्द को अक्सू, ओश, तुर्फान, काशगर, यारकन्द और खोतन से आनेवाले माल पर कर लगाने का अधिकार मिल गया।

सन् १८४० ई० से मदली खान शराब और साकी के चक्कर में पड़ गया। इससे वहाँ के सरदारों ने बुखारा के शासक अमीर 'नसरुल्ला' की सहायता से मदलीखान और उसके सारे परिवार को कत्ल करवा दिया।

मदली खान की मृत्यु के पश्चात् 'शेरअली' और उसके बाद 'मुराद' खोकन्द की गद्दी पर बैठे। इस समय खोकन्द के

अन्दर तीन राजनैतिक दल थे। जो सत्ता हथियाने के लिए एक दूसरे के विरुद्ध षड़यन्त्र कर रहे थे। दो दल 'किपचक' मुसलमानों के थे और तीसरा दल 'सर्त' जाति का था।

सर्त-जाति के षड्यन्त्र से बहुत से किपचक-नेता मारे गये। 'खुदायार' नामक शासक ने 'अकमस्जिद' में किपचकों का कत्ले-आम करने का हुक्म दे दिया। सन् १८५३ ई० २० हजार किपचक तलवार के घाट उतारे गये। किप्चकों के मुख्य सेनापति 'सफरत्री' को बड़ी यन्त्रणा देकर मारा गया। पहले उसके हाथ-पैर तोड़ डाले गये, फिर उसके शिर पर शीशे का इतना भारी भार रखा गया कि आँखें अपने गोलक से बाहर निकल आईं। फिर उसके सारे शरीर पर रूई लपेटी गयी और ऊपर से खूब कड़कड़ाता हुआ तेल डाला गया, फिर उसकी बोटी बोटी काटी गयी। इस प्रकार उसकी मृत्यु हुई।

इसके पश्चात् खोकन्द-राज्य में मल्ला खान, शाह मुराद, खुदायार दूसरी बार, सैय्यद सुल्तान, खुदायार तीसरी बार और नासिर-उद्दीन इतने खान और हुए। उसके बाद २ मार्च सन् १८७६ को एक राजादेश के द्वारा खोकन्द के राज्य को 'फर्गाना प्रदेश' के नाम से रूसी साम्राज्य में मिला लिया गया।

रूसी क्रान्ति के समय सन् १९१७ ई० में खोकन्द फिर एक बार मैदान में आया। नवम्बर सन् १९१७ ई० में अंग्रेजों की शहसे अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करके उसने अपनी स्वतंत्र सरकार कायम कर ली। इस आन्दोलन का आस-पास के सभी क्षेत्रों के मध्यवर्गियों ने समर्थन किया। समरकन्द में इस आन्दोलन का समर्थन करने के लिए 'इत्तिफाक' के नाम से एक संगठन कायम किया गया।

तब रूस के सोवियट-कमाण्डर ने इस आन्दोलन को समाप्त करने के लिए १९ फरवरी सन् १९१८ ई० के दिन एक 'आल्टीमेटम' दिया जिसे विरोधी दल ने मानने से इनकार कर दिया।

परिणामस्वरूप २० फरवरी को सवेरे 'लाल सैनिकों' ने पुराने नगर पर धावा बोल दिया। २१-२२ फरवरी सन् १९१८ को खोकन्द की सरकार ने सोवियट-सेनापति के आगे आत्मसमर्पण कर दिया और खोकन्द सोवियट-संघ के उजबेकिस्तान गणराज्य का एक अंग हो गया।

खोजन्द (लेनिनाबाद)

मध्य-एशिया का एक ऐतिहासिक नगर, जो सिर नदी के तट पर बसा हुआ है। इस समय यह नगर सोवियट संघ के उजबेकिस्तान गणराज्य में है।

खोजन्द का इतिहास भी खोकन्द की तरह बहुत प्राचीन है। ग्रीक-विजेता सिकन्दर महान् ने इस प्रदेश को विजय कर सिरदरिया के किनारे खोजन्द के समीप 'अलेक्झेण्ड्रिया' नामक एक शहर बसाने का निश्चय किया था। मगर वहाँ के लोगों के विद्रोह कर देने के कारण उसे यह नगर नदी के बायें तट पर बसाना पड़ा।

सन् ७१२ के आसपास यह नगर बगदाद के खलीफा अब्दुल मलिक की खिलाफत में आया। सन् ८०९ के करीब यह तुर्क जाति की शाखा उईगरों के अधिकार में था। उसके बाद कभी यह ख्वारेज्म शाह के अधिकार में, कभी खोकन्द खानों के और कभी बुखारा के खानों के हाथ में आता जाता रहा।

उसके बाद सन् १९१८ में रूसी क्रांति के पश्चात यह शहर सोवियट संघ के उजबेकिस्तान-गणराज्य का एक अङ्ग हो गया और इसका नाम 'खोजन्द' से बदल कर 'लेनिनाबाद' कर दिया गया।

खोजेनिया जामिमोर्या

रूस के सुप्रसिद्ध यात्री अफनासी के द्वारा सन् १४६६ से १४७२ तक की हुई भारत यात्रा का रूसी भाषा में वर्णित प्रसिद्ध ग्रन्थ।

अफनासी जिस समय भारतवर्ष में आया था उस समय दक्षिणी भारत में बहमनी सुलतान महम्मद शाह तृतीय का शासन था। अफनासी ने अपने इस यात्रा विवरण में तत्कालीन भारत का मनोरंजक वर्णन किया है। यह हस्तलिपि कारामजिन के सुप्रसिद्ध रूसी इतिहास के छठे खण्ड मे छपी हैं और इससे पन्द्रहवीं सदी के रूसी गद्य की रूप रेखा दृष्टिगोचर होती है। अफनासी का विशेष परिचय इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में देखें।

खोजा (१)

बम्बई की एक प्रसिद्ध व्यापारी कौम जो विशेष कर किराने और मेवे का व्यापार करती है। खोजा जाति बड़ी व्यापारिक सूझ वाली जाति है। बम्बई में इनकी कई बड़ी-बड़ी व्यापारिक फर्में स्थापित हैं। यह जाति विशेषकर मुसलमान धर्म के इस्माइलिया या आगाखानी सम्प्रदाय को माननेवाली होती है।

खोजा (२)

मुसलमानी राज्यकाल में हरमखाने (अन्तःपुर) में पहरा देने वाले और बेगमों की नौकरी बजाने वाले, लोगों को खोजा कहते थे। खोजा अकसर हिंजड़े होते थे। मुगल इतिहास में पढ़ने को मिलता है कि कई बार ये खोजा लोग भी बड़े प्रभावशाली और शक्तिशाली होते थे। बादशाह और बेगमों पर इनका प्रभाव रहता था।

खोजा उबैदुल्ला अहरार

पन्द्रहवी सदी में समरकन्द का एक प्रसिद्ध सूफी सन्त, जो तुर्की और फारसी के सुप्रसिद्ध कवि और लेखक अली-शेर-नवाई का समकालीन था।

समरकन्द में रहते हुए अली-शेर-नवाई को जिन लोगों से मुख्य प्रेरणा मिली उनमे खोजा अहरार सब से मुख्य था। खोजा अहरार एक सूफी सन्त होते हुए भी विशाल जमीदारी का मालिक था। ऐसा कहा जाता है कि एक आदमी एक बार गधे पर चढ़ कर अन्तर्वेद में उत्तर से दक्षिण की यात्रा कर रहा था। वह कई मील तक चलता गया लेकिन जहाँ भी किसी हरे, भरे लहलहाते खेत को देख कर पूछता कि "यह किसका खेत है?" तो यही उत्तर मिलता कि खोजा अहरार का है। जब वह सुनते-सुनते थक गया तो एक जगह उसने गधे को भी यह कह कर हंकाल दिया कि जा तू भी खोजा अहरार का होजा।

खोजा अहरार की सब से अधिक महिमा इसी बात में थी कि उसकी सारी सम्पत्ति परोपकार के कामों में खर्च होवा था।

खोजा यादगार

मध्य एशियामें खोकन्द के राजवंश को प्रारम्भ करने वाला खोजा यादगार। जिसका समय सन् १७४० के आस-पास है।

अस्त्राखानी राजवंश की सत्ता निर्बल पड़जाने पर फरगाना और ताशकन्द में एक नये राजवंश की स्थापना खोजा यादगार ने की। इसने अपनी लड़की की शादी शाहरुख बेग नामक एक व्यक्ति से की। जो वोल्गानदी के किनारे पर बसे किसीं कबीले का अमीर था। इसी शाहरुख ने सन् १७४७ में अपने ससुर खोजा यादगार की हत्या कर अपने आप को खान के स्थान पर प्रतिष्ठित किया। यह राजवंश सन् १८७६ तक खोकन्द पर शासन करता रहा।

खोतन

मध्य-एशिया के उत्तरापथ में तरिम-उपत्यका का एक प्रधान नगर।

खोतन, तरिमउपत्यका में बसे हुए आठ नगरों में से एक हैं। तरिमउपत्यका के वे सब नगर पहले शक जाति की शाखाओं के अधीन थे। सन् २१५ मे यहाँ के राजा का नाम 'विजय सम्भव' था। राजा विजय सम्भव बौद्ध धर्म को मानने वाला था। इसके समय में सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य, 'वैरोचन' ने भारतवर्ष की ब्राह्मी जिपि के आधार पर 'खोतानी' लिपि का आविष्कार किया था।

राजा विजयसम्भव की आठवीं पुश्त में विजय-वीर्य्य नामक राजा हुआ। इसकी रानी चीन की राजकुमारी ने इसके सहयोग से गोश्रृङ्ग पर एक बौद्ध-विहार का निर्माण करवाया था। इसी चीनी राजकुमारी ने खोतन में चीन के बने रेशमी वस्त्रों का प्रचार भी किया था।

राजा विजयवीर्य्य के पश्चात उसका एक पुत्र विजय-धर्म राजगद्दी पर बैठा। इसके समय में 'समन्त-सिद्धि' नामक एक बौद्ध-आचार्य ने भारत से आकर खोतन में बौद्ध धर्म के 'सर्वास्तिवाद' मत का प्रचार किया। बिजयधर्म के पश्चात् विजय सिंह और विजयकीर्तिनामक राजा हुए।

सन् ६१२ में खोतनमें विजय-संग्रामक नामक एक प्रतापी नरेश हुआ। इसने बौद्ध धर्म की ज्योति को एक बार फिर से

प्रज्वलित किया। इसी के राजत्व-काल में चीनी यात्री हुएन-सङ्ग भारत से लौटता हुआ 'खोतन' में ठहरा था। विजय-संग्रामक के पश्चात् विजयधर्म और विजय वाहन नामक राजा हुए। विजय धर्म ने खोतन में अर्हत देवेन्द्र के लिए 'मैत्र' नामक एक विहार को बनवाया था। राजा विजय वाहन के कई लेख खोतन में मिले है।

इसके पश्चात् सन् ६६२ में तरिमउपत्यका का यह सारा प्रदेश तिब्बत राजवंश के अधिकार में चला गया। उस समय काशगर और अक्सू से लेकर नैपाल और काश्मीर तक तिब्बत की विजय पताका लहरा रही थी।

खोतन के वैभव और वहां पर बौद्ध धर्म की स्थिति का वर्णन करते हुए सुप्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान ने लिखा है—

"गोमती विहार में ३००० बौद्ध भिक्षुओं के ठहरने की जगह है। यह विहार बौद्ध भिक्षुओं से प्रायः भरा रहता है। प्रति वर्ष वसन्त ऋतु में यहाँ भगवान बुद्ध की मूर्ति का जलूस निकलता है। इस जुलूस में राजा नंगे पैर धूप जलाकर जुलूस में रथ के आगे चलता है और रानी द्वार के ऊपर से फूलों की वर्षा करती है। यह उत्सव १५ दिन तक चलता है।"

इससे मालूम होता है कि उन दिनों 'खोतन' बौद्ध धर्म का एक बड़ा केन्द्र बना हुआ था। खोतन के विहारों में 'संस्कृत' और 'खोतनी' भाषा के ग्रन्थों का विशाल संग्रह रहता था। बौद्ध धर्म के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ खोतननगर से प्राप्त हुए हैं।

[ग]

गक्खड़

भारत के उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त में बसनेवाली एक असभ्य और लड़ाकू जाति। इस जाति ने सन् १००८ में महमूद गजनवी के साथ होने वाले संयुक्त हिन्दुओ के युद्ध में बड़ी बहादुरी दिखलाई थी। आजकल यह जाति मुसलमान है।

मुहम्मद गजनवी के आक्रमणों को रोकने के लिए भारत वर्ष के प्रायः सभी हिन्दू-राजाओं ने सम्राट् आनन्दपाल के नेतृत्व में एक संयुक्त प्रयत्न सन् १००८ मे किया था। इतिहासकार फरिश्ता ने इस युद्ध का वर्णन बड़े ही विस्तार रूप से किया है। इस युद्ध में गक्खर जाति के भी करीब ३०००० सैनिक शामिल हुए थे।

अटक के निकट छाछा के मैदान में दोनों सेनाएँ खाइयां खोदकर ४० दिन तक योग्य अवसर की प्रतीक्षा करती रही परन्तु असभ्य और उघाड़े सिर वाले गक्खड़ों ने हिन्दुओं की ओर से एक दम मुसलमानी सेना पर आक्रमण कर दिया और थोड़े ही समय में दस पांच हजार मुसलमानों को काट डाला।

गक्खरों का जोश देख कर उस दिन युद्ध बन्द कराने की इच्छासे सुलतान मुहम्मद बाहर निकल आया। मगर उसी समय खुदाई इच्छा से आनन्दपाल का हाथी बाणों और गोलों की वर्षा से घबरा कर पीछे भागने लगा। इस घटना को भागने के लिए सेनापति की सूचना समझ कर हिन्दू सेना भी भाग निकली और सुलतान की हार जीत में बदल गई।

इसके पश्चात् शाहबुद्दीन गोरी के समय में भी इस गक्खर जाति ने बड़ा विद्रोह किया था। इस विद्रोह का दमन करने के लिए सुलतान फिर भारत में आया। कुतुबुद्दीन भी उससे जा मिला। दोनो ने मिलकर उपद्रव तो दबा दिया। मगर अवसर देखकर इन्हीं गक्खरों ने सिंधु नदी के तीर पर सुलतान के डेरे में घुसकर सन् १२०५ में उसे मार डाला।

गङ्ग-राजवंश

प्राचीन भारत में दक्षिण प्रदेश का एक सुप्रसिद्ध राजवंश। जिसका शासनकाल ई०सन् १८६से सन् १०२४तक चला। दक्षिण प्रदेश का यह सब से दीर्घजीवी राजवंश था।

गंग-वंश के लोग अपने को राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र-भरत की पत्नी विजय-महादेवी के पुत्र गांगेय का वंशज मानते थे। ऐसा उनके शिला-लेखों और किम्वदन्तियों से ज्ञात होता है।

गङ्गवंश की कलिंग-शाखा के एक शिलालेख में इस वंश की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है कि—'गङ्गोंका यह राजवंश चन्द्रवंशी था और इसका गोत्र आत्रेय था। इस वंश में यताति का पुत्र तुर्वस्तु हुआ। तुर्वस्तु को कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए उसने गंगा की आराधना करके एक पुत्र प्राप्त किया। उसका नाम 'गांगेय' रखा गया। इसी गांगेय की सन्तानें गङ्गवंश के नाम से प्रसिद्ध हुई।—चोल, पाण्डय,

केरल इत्यादि दक्षिण के राजवंश भी अपने को तुर्वस्तु के वंशज बतलाते हैं और यह भी कहते हैं कि 'ययाति' ने पृथ्वी का बंटवारा करते समय उनको आग्नेय-दिशा प्रदान की थी। चोल, पाण्डय, गङ्ग इत्यादि राजवंश बहुत प्राचीन हैं, मगर वे अपनी उत्पत्ति यादवों से नहीं मानते। इससे मालूम होता है कि वे महाराष्ट्रीय आर्यों से भिन्न हैं। ये वंश दक्षिण की मिश्र आर्य्य-शाखा के हैं।

इस बंश में महाभारत-काल में विष्णुगुप्त नामक व्यक्ति अहिच्छत्र का राजा था। इसी अहिच्छत्र-वंश में आगे चलकर पद्मनाभ नामक राजा हुआ। जिस पर उज्जायिनी के राजा ने आक्रमण कर पराजित कर दिया। ऐसे सङ्कट-काल में उसने अपने दद्दिग और माधव नामक दो बालक पुत्रों को राजचिन्हों के साथ दक्षिण देश में भेज दिया।

ये राजकुमार कुछ बड़े होने पर कर्नाटक प्रदेश के 'पेरूर' नामक स्थान पर पहुँचे। उस समय वहाँ पर जैनाचार्य्य सिंहनन्दि अपने शिष्य समुदाय के साथ ठहरे हुए थे। ये दोनों युवक अकस्मात् उन आचार्य्य के पास पहुँच गये। आचार्य्य सिंहनन्दी ने कुछ समय अपने पास रख कर इन्हें राज-विद्या का अध्ययन करवाया। बाद मे एक दिन उन्होंने उनके सिर पर कार्णिकार पुष्पों का मुकुट पहना कर उनका राज्याभिषेक किया और अन्त में धर्म और न्याय के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक चेतावनियां देकर उनका राजचिन्ह 'मत्त-गयन्द' निश्चित कर वहाँ से राज्य स्थापना के रवाना किया।

इन दोनों राजकुमारों ने बड़े उत्साह के साथ अपना सैनिक संगठन कर उस समय के बाण राजवंश पर विजय प्राप्त कर गंगवाड़ी ९६००० की नींव डाली।

गंग-राजवंश के कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं। एक शिला लेख से मालूम होता है कि दद्दिग और माधव ने नन्दिगिरि में अपने दुर्ग का निर्माण करवाया, कोलाल को अपनी राजधानी बनाया और अपने राज्य को ९६००० की संज्ञा दी। दद्दिग की मृत्यु शीघ्र ही हो गई। उसके भाई माधव कोंगुणिवर्म प्रथम ने सन् १८५ से सन् २५० तक शासन किया।

माधव कोंगुणिवर्म का पुत्र किरीयमाधव हुआ। यह बड़ा विद्वान् और नीतिज्ञ था, इसने वैशेषिक सूत्रों पर टीका की रचना की थी। इसके हरिवर्मन, आर्य्यवर्मन और कृष्णवर्मन नामक तीन पुत्र हुए। हरिवर्मन मुख्य राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने अपनी राजधानी 'कोलाल' से हटाकर तालबनपुर नगर में स्थापित की।

आर्य्यवर्मन को पेरूर का शासक बनाया गया। इसी से गंगवंश की दूसरी पेरूर-शाखा का उद्भव हुआ। कृष्णवर्मन को 'कँवार' का शासक बनाया गया। इसी से गंगवंश की तीसरी कंवार-शाखा का प्रारम्भ हुआ।

हरिवर्मन की चौथी पुश्त में माधव तृतीय नामक एक प्रतापी राजा हुआ। इसके राज्यकाल का एक विशाल लेख प्राप्त हुआ है। उससे मालूम होता है कि इसका विवाह कदम्ब नरेश कुरन्दवर्मन की पुत्री के साथ हुआ। इस राजा के कुछ दानपत्र भी मिले हैं जो सन् ३५७ और सन् ३७९ के बीच में लिखे गये थे।

इस वंश में आगे चल कर दुर्विनीत कोंगुणि नामक एक बड़ा प्रतापी शासक हुआ। इसने सन् ४८२ से ५२२ तक राज्य किया। इसने पल्लव-नरेश त्रिलोचन को परास्त किया और पूर्व तथा पश्चिम दोनों दिशाओं मे उसने अपने साम्राज्य का काफी विस्तार किया। दुर्विनीत कोंगुणि अपने समय में दक्षिण प्रदेश का सबसे बड़ा शासक था। शासक होने के साथ ही यह बड़ा विद्वान् भी था। महाकवि भारवि भी कुछ समय तक इसके दरबार में रहे थे। और उनके किरातार्जुनीय काव्य के पन्द्रहवें सर्ग पर उसने एक टीका भी लिखी थी उसने अपने गुरु आचार्य्य पूज्यपाद द्वारा रचित पाणिनी व्याकरण की शब्दावतार टीका का कन्नड़ अनुवाद भी किया था। कन्नड़ भाषा के प्रारम्भिक लेखकों मे इसका नाम भी प्रमुख है।

दुर्विनीति कोंगुणि के समय के कई ताम्रपत्र भी मिले हैं। उसके शासन के अन्तिम वर्ष का ताम्रपत्र गुम्मरेड्डिपुर में मिला है।

दुर्विनीति के पश्चात् गंगवंश के शासन में शिथिलता आ गई। इसलिये कोलाल से कुछ राजवंशीय पुरुष कलिंग चले गये और कलिंग में जाकर उन्हों ने गंग राजवंशका राज्य स्थापित किया और अपने नाम से गंग-सम्वत् का प्रारम्भ किया। इन्हीं दिनों अर्थात् ई० सन् ६३० के आस पास गंग वंश की पेरूर और कँवार शाखाओं का भी अन्त हो गया।

गंगवंश की प्रधान शाखा में दुर्विनीत के पश्चात् मुष्कर, श्रीविक्रम और भूविक्रम राजा हुए। इनके समय में दक्षिण प्रदेश में चालुक्य राजवंश बड़ा वैभवशाली होगया था और गंगवंश के राजा चालुक्य राजवंश के एक प्रकार अधीनस्थ हो गये थे।

ई० सन् ७२६ में गंगवंश की गद्दी पर श्रीपुरुष मुत्तरस अधिष्ठित हुआ। इसके राज्य काल में गंगवंश अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच गया था। श्रीपुरुष को चालुक्यों, पल्लवों और राष्ट्रकूटों से कई युद्ध करना पड़े। एक युद्ध में उसने पल्लव नरेश को मार कर उसके छात्र पर अधिकार कर लिया। नेक्कुण्डि के युद्ध में उसने महान् पराक्रमी बाणराय को परास्त किया। पाण्डय नरेशों के साथ विवाहसम्बन्ध स्थापित कर उसने उनके साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिये। पल्लवों पर विजय करके इस राजा ने 'परमादि' तथा 'राजकेसरी' इत्यादि विरुद धारण किये थे। राजा श्री पुरुष जैन धर्म का बड़ा आदर करता था। इसके समय के मिले हुए दानपत्रो से पता चलता है कि इसने कई जैन मन्दिरों को कई गांव जागीर में दिये थे। प्रसिद्ध तर्कशास्त्री स्वामी विद्यानन्द ने अपना आश्रम इसकी राजधानी में ही बनाया था। क्योंकि इसी समय के लगभग जगद्गुरु शङ्कराचार्य ने शृङ्गेरी मे अपने मठ की स्थापना की थी। स्वामी विद्यानन्द का शङ्कराचार्य्य के साथ बड़ा सौहार्द था। सन् ७७७ में ५० वर्ष से अधिक राज्य करके राजा श्रीपुरुष अपने पुत्र शिवमार द्वितीय को राज्य देकर बानप्रस्थ हो गया। सन् ७८८ मे उसकी मृत्यु हुई।

राजा शिवमार के सिंहासन पर बैठने के कुछ समय पश्चात् राष्ट्र कूट राजा ध्रुव ने गंगराज्य पर आक्रमण करके शिवमार को कैद कर लिया। सन् ७९४में वह जेल से छूटा और छूटते ही इस पराक्रमी राजा ने वल्लभेन्द्र, राष्ट्रकूट, चालुक्य और हैहय राजवंश के मित्र संघ को पराजित कर पल्लवो से मित्रता कर ली। पर कुछ समय पश्चात् राष्ट्रकूटों ने उसे फिर वन्दी बना लिया जहां से सन् ८१० मे उसे मुक्ति मिली।

सन् ८१५ ई० में 'राचमल सत्य वाक्य' गंगराज्य की गद्दी पर आया। इस समय गंगराज्य चारों ओर शत्रुओं से घिरा हुआ था। एक ओर राष्ट्रकूटों की महान् शक्ति थी दूसरी ओर बाण राजवंश और नोलम्ब के सामन्त उसे तङ्ग कर रहे थे। फिर भी किसी प्रकार बाण राजाओं को पराजित कर और नोलम्ब राज्य के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर उसने अपने राज्य की समृद्धि को बनाये रखा।

राचमल सत्यवाक्य के पश्चात् ऐरगंग नीति मार्ग राजा हुआ। इसने अपने पुत्र भुतगेन्द्र का विवाह राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष की कन्या चन्द्रवेलब्बा के साथ करके राष्ट्रकूटों से मैत्री स्थापित करली। कुडलूर में पाए हुए एक शिला लेख से मालूम होता है कि अपने अन्तिम समय में इस राजा ने जैन धर्म में वर्णित पद्धति से समाधिमरण के द्वारा शरीर का त्याग किया था।

ऐरगंग नीति मार्ग की मृत्यु सन् ८७० में हुई थी। इसके पश्चात् इसका दूसरा पुत्र राचमल सत्यमार्ग द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा। इसने चालुक्य, पाण्डय और पल्लव राजाओं के साथ कई लड़ाइयां लड़ी। इसकी मृत्यु सन् ९०७ में हुई।

इसके पश्चात् ऐरगंग नीति मार्ग द्वितीय राजा हुआ। इसका विवाह चालुक्य राजकुमारी जाकम्बा के साथ हुआ था। पल्लवो को हरा कर उनके कई दुर्गो पर इसने अधिकार कर लिया था।

नीतिमार्ग द्वितीय के बाद गंगवंश की गद्दी पर राचमल-सत्यवाक तृतीय और उसके पश्चात् बुलुङ्ग द्वितीय बैठा। बुलुङ्ग द्वितीय ने सन् ९३८ से ९५३ तक राज्य किया। बुलुङ्ग का विवाह राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय की बहन रेवा से हुआ था। इस प्रकार राष्ट्रकूटों साथ गंगवंश के सम्बन्ध क्रमशः दृढ़ होते जा रहे थे। और इससे गंगवंश शक्ति प्राप्त करता जाता था।

बुलुङ्ग के पश्चात् उसका पुत्र और कृष्ण तृतीय का भानजा मरुलदेव गद्दी पर बैठा। इसने ९५३ से ९६१ तक राज्य किया। इसकी बहन 'सोमा' का विवाह राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय के पुत्र के साथ हुआ था।

मरुल के पश्चात् उसका सौतेला भाई मारसिंह गंगवंश का अन्तिम महान् प्रतापी नरेश था। इसकी एक प्रशस्ती श्रवणबेल गोला के ब्रह्मदेव स्तम्भ पर खुदी हुई है। उसके अनुसार मारसिंह गंग को गंग-कन्दर्प, गंग-विद्याधर इत्यादि कई विरुद प्राप्त थे।

इस प्रशस्ति में लिखा है कि "उसने मालवे पर आक्रमण करके वहां के परमार राजा को पराजित किया। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के लिए उसने गुर्जर देश को

विजय किया। कृष्ण के शत्रु अल्ला का दमन किया। विंध्य प्रदेश के किरातों को छिन्न भिन्न किया। शिलाहार राजा विज्जलासे युद्ध किया। वनवासी के राजाओं को करारी पराजय दी, मानुरों का दमन किया। उच्चङ्गी के सुदृढ़ दुर्गों को जीत लिया। सवर राजकुमार नरङ्ग का नाश किया। चेर, चोल पाण्डय और पल्लवों का दमन किया और चालुक्य विजयादित्य का अन्त किया। उसने कई स्थानों पर दर्शनीय जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया।"

सन् ६७४ में मारसिंह ने राजत्याग किया और सन् ६७५ में समाधिन्मरण के द्वारा उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु होते ही गङ्ग राज्य में अराजकता फैल गयी। और यह राज्य चोल राजवंश और लोमसाल राजवंश के एक सामान्त राज के रूप में विजय नगर साम्राज्य तक जीवित रहा।

गङ्ग राजवंश के साथ एक ऐसे व्यक्ति का भी नाम जुड़ा हुआ है जिसने अपने समय में राजनैतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों में ऐसी स्मृतियाँ कायम की, जो आज भी उसके नाम को अमर कर रही हैं। यह व्यक्ति मन्त्री "चामुण्ड राय" था। यह मार सिंह के अन्तिम समय से लेकर उसके पौत्र राकस गङ्गा के शासनकाल तक गङ्ग-साम्राज्य का प्रधान मन्त्री रहा। इस समय गङ्गवंशके तेजी से होते हुए पतन को इसने अपने व्यक्तित्व के बल से किसी प्रकार रोका। कई युद्धों में उत्कृष्ट वीरता का प्रदर्शन करके इसने वीर-मार्तण्ड, समर केसरी आदि कई उपाधियां प्राप्त कीं।

मगर चामुंडराय की सबसे अमर कीर्ति श्रवण वेल गोला में उसके द्वारा सन् ६७८ में बनाई गई गोमेटेश्वर की सत्तर फीट ऊंची बिना सहारे की खड़ी हुई वह अद्‌भुत मूर्ति है जो रूप शिल्प और मूर्तिविज्ञान की संसार में अद्वितीय कलाकृति है। चामुण्डाय के ही समकालीन सुप्रसिद्ध जैनाचार्य नेमीचन्द्र सिद्धाचक्रवर्ती थ। जिन्होंने "गोम्मटसार" के समान महान ग्रन्थों की रचना की।

गङ्गवंश की दूसरी शाखा जिसने पांचवी सदी में कलिंग पर अपना शासन प्रारम्भ किया था "गजपति" वंश के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस राजवंश ने गंग सम्वत के नाम से अपना एक संवत् भी चलाया।

ऐसा समझा जाता है कि ग्यारवीं सदी से पहले यह राजवंश दक्षिण के चालुक्य राजवंश का सामन्ती राज्य था। पर जब चोल राजवंश ने दक्षिण में चालुक्य राजवंश को श्री हीन कर दिया तब उसका लाभ उठा कर तत्कालीन गंग-नरेश वजूहस द्वितीय भी स्वतन्त्र होगया। वजूहस्ते द्वितीय का राज्याभिषेक सन् १०३८ में हुआ था।

वज्रहस्तं का पुत्र राजवाज वेंगीका नाश करनेवाले प्रसिद्ध राजेन्द्रचोल की पुत्री रूप सुन्दरी का पति था। राजराज का पुत्र अनन्त वर्मन को गंग और चोल वंश में उत्पन्न होने के कारण चोल-गंग कहाते थे। इस राजवंश में यह राजा अत्यन्त प्रतापी हुआ और इसने बहुत दमय तक राज्य भी किया। इस राजा के चार लेखों को इतिहासकार कीलहार्न ने उद्‌धृत किया है। जिसमें ई० सन् १०८१ का लेख सबसे विस्तीर्ण है। बंगाल ज० रा० ए० सो० जिल्द ६५ भाग १ के पृष्ठ २४० पर इसका एक लम्बा चौड़ा ताम्र लेख और छपा है। इस लेख में उड़ीसा पर उसकी विजय का वर्णन लिखा हुआ हैं। लिखा है कि 'इस उत्कल रूपी समुद्र का मन्थन करने पर उसे भूमि, द्रव्य, एक हजार हाथी और दस हजार घोड़े प्राप्त हुए।' इससे ऐसा मालूम होता है कि उड़ीसा के सुप्रसिद्ध केसरी वंश का विनाश इसी के द्वारा हुआ था। इस लेख मे यह भी लिखा है कि जगन्नाथ का सुप्रसिद्ध इसी चोड़-गंग ने बनवाया जिसमें समस्त संसार का उत्पत्ति कर्त्ता इस मन्दिर मे आकर रहने लगा और लक्ष्मी भी रानाकर को छोड़ कर यहाँ आनन्द पूर्वक रहने लगी।

इस राजा ने करीब ७० वर्ष राज्य किया। इसके बाद सन् ११४२ मे इसके पुत्र कामार्णव का राज्या भिषेक हुआ। इसने केवल दस वर्ष राज्य किया। इसके बाद राधव ने १५ वर्ष, राजराज द्वितीय ने २५ वर्ष राज्य किया। इसके बाद करीब सोलहवीं सदी तक यह राजवंश किसी प्रकार चलता रहा और अन्त में मुसलमानी आक्रमण से इसका विध्वंस हुआ।

गंग राजवंश कौन से धर्म का अनुयायी रहा इस विषय मे मतभेद है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार चिन्तामणि वैद्य ने गंग वंश को प्रारम्भ से शैव धर्म का अनुयायी और बाद में वैष्णव बतलाया हैं। राजा द्वितीय वजूहस्त (सन् १०५८) के एक लेख को उद्‌धृत करते हुए उन्हों ने बतलाया है कि यह कुल कलिंग में आकर गोकर्ण महादेव के प्रसाद से शक्ति शाली हुआ। इस महादेव का मन्दिर महेन्द्र पर्वत पर है।' एक स्थान पर उन्हों ने लिखा है कि गंग-राजवंश दक्षिण की

मिश्रित आर्य शाखा का है। पहले ये लोग शिवपूजक थे। आन्ध्र में उन्हों ने शैव मत का बहुत प्रचार किया मगर बाद के राजा अवश्य वैष्णव हो गये' मगर जैन मत के साथ इस वंश का कोई सम्बन्ध था इसका उन्हों ने कहीं उल्लेख नहीं किया।

इसके विपरीत डॉ० ज्योति प्रसाद जैन ने अपने 'भारतीय इतिहास' नामक ग्रन्थ में कई दानपत्रों और लेखों के उद्धरण देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया हैं कि गंगवंश के मूल संस्थापक "दद्दिग" और "माधव" ने जैनाचार्य्य सिहनन्दी के आशीर्वाद से ही वाण राजवंश को जीतकर गंग राजवंश की स्थापना की और जैन धर्म को ग्रहण किया इसके बाद दक्षिण गंग राज्य में जितने भी राजा हुए उनमें से अधिकांश के गुरु जैनाचार्य्य थे और उन आचार्यों के उपदेश से उन्हों ने कई जैन मन्दिरों का निर्माण करवाया और उन जैन मन्दिरों की व्यवस्था के लिए कई ग्राम दान में दिये। जिनके दानपत्र इस समय प्राप्त हैं। इनमे से एक दो राजाओं ने समाधि-मरण की जैन विधि से प्राण त्याग भी किये। गंग राजवंश के अन्तिम समय में इस राज्य का प्रधान मंत्री चामुण्डराय तो प्रत्यक्ष जैन ही था जिसने श्रवणबेल गोला में 'गोम्मटेश्वर' की विशाल मूर्तिका निर्माण करवा कर उसकी स्थापना की।

यह भी सम्भव हो सकता है कि वैद्य महाशय ने कलिंग के गंगवंश को शैव धर्म का अनुयायी बताया हो और जैन महाशय ने दक्षिण देश के गंगवंश को जैन बतलाया हो। जो भी हो, मगर इसमें संदेह नहीं कि गंगवंश के राज्य-काल में दक्षिण देश में जैन धर्म का बड़ा प्रभाव था। कई बड़े-बड़े जैनाचार्य्य उस समय दक्षिण देश में आविर्भूत हुए। उन्होंने संस्कृत और कन्नड़ भाषा में बड़े बड़े जैन ग्रंथों की रचना कर दोनों प्रकार के साहित्य को समृद्ध किया। राज्य की ओर से इन आचर्य्यों को पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। और जैन मंदिरों और जैन संस्थाओं को इन राजाओं ने बड़े-बड़े दान और जागीरियाँ प्रदान की।

(चिन्तामणि वैद्य-मध्य युगीन भारत
डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—भारतीय इतिहास।)

—

गंगटोक—सिक्किम

भारत के उत्तर हिमालय पहाड़ के अन्दर बसे हुए छोटे से सिक्किम-राज्य की राजधानी।

गंगटोक दार्जिलिंग से उत्तर पूर्व २८ मील की दूरी पर भारत और तिब्बत के व्यापारिक मार्ग पर बसा हुआ एक छोटा सा नगर है जिसकी जनसंख्या केवल ६८४८ है। और जो सिक्किम प्रदेश की राजधानी है।

इतना छोटा राज्य होने पर भी भारत की उत्तर पूर्वी सीमा पर पहाड़ी क्षेत्र में बसा होने के कारण इस राज्य का बड़ा महत्व है।

सिक्किम राज्य की स्थापना सोलहवीं सदी के पहले दशक में हुई ऐसा समझा जाता है। लामग्याल राजवंश का इतिहास ही वास्तव में सिक्किम का इतिहास है। यह राजवंश मैनाक (पूर्वी तिब्बत) से सिक्किम में आया और अपने आप को राजा इन्द्रबोधि का वंशज बतलाता है। राजा इन्द्रबोधि हिमाचल प्रदेश के थे। उनके वंशज तिब्बत गये और वहीं पर बस गये।

९वीं शताब्दी में इसी घराने के एक व्यक्ति ने मैनाक-राज्य की स्थापना की थी। इसी मैनाक-घराने का एक राजकुमार १५वी शताब्दी के पूर्वार्ध में अपने परिवार सहित पश्चिम की तीर्थ-यात्रा पर गया। रास्ते में उसका एक पुत्र रविवंश साक्या के सरदार की पुत्री से शादी करके 'चुम्बी-घाटी' में बस गया। इसी राजकुमार ने १६वीं शताब्दी के प्रथम दशक में 'सिक्किम-राज्य' की स्थापना की।

हिमालय की पूरी प्रतिरक्षा और व्यवस्था की श्रृङ्खला में सिक्किम का विशेष महत्व है। चीन और भारत के बीच का यह राज्य बंगाल और उत्तर प्रदेश के जिलों से भी छोटा है। इसका क्षेत्रफल लगभग २८ सौ वर्गमील है और यह अपने से बड़े चार पड़ोसी राष्ट्रों—भारत, नेपाल, तिब्बत और भूटान से घिरा हुआ है। नयनाभिराम नैसर्गिक सुखमा से परिवेष्टित सुन्दर पहाड़ों कीं छाया में आबाद और सदैव धवल हिम से मण्डित शिखरों से शोभायमान इस राज्य में बहुत से घने जङ्गल हैं, हरी उपजाऊ घाटियाँ हैं, गरजती हुई जल-धाराएं हैं, झर्झर करते हुए निर्झर हैं, अपूर्व प्राकृतिक

सुखमा से सम्पन्न इस अञ्चल का कण-कण, दर्शकों के हृदय में आनन्द की अलख ज्योति को जगा देता है ।

सन् १९५० ई० की भारत-सिक्किम, सन्धि के अनुसार इस लघु राज्य की रक्षा की जिम्मेदारी भारत पर है । इसी लिये नाकुला, खांगराला, सिसला, डंकीला, नाथूला जैसे दर्रो पर भारत की सेनाएँ तैनात हैं ।

गंग कवि

सम्राट् अकबर के समकालीन हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि, जिनके जन्म का और कुल का निश्चित वृत्तान्त ज्ञात नही है। पर सम्भवत: यह ब्रह्मभट्ट-जाति के थे और अकबर के समकालीन होने से इनका समय १६वीं सदी के अन्दर ही किसी समय हो सकता है ।

गंग अपने समय के सुप्रसिद्ध कवि थे । यद्यपि इनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है, पर पुराने संग्रह ग्रंथों में इनके जो उद्धरण पाये जाते हैं, उनसे इनकी मार्मिक कवित्व शक्ति का पता चलता है। वीर और शृङ्गाररस तथा अन्योक्ति और हास्यरस पर इन्हों ने बड़ी सुंदर कविताओं की रचना की है । इनकी कविताओं का सुप्रसिद्ध मुसलमान कवि 'रहीम' खानखाना बड़ा आदर करते थे । ऐसा कहा जाता है कि एक बार रहीम खानखाना ने इनको एक छप्पय पर ३६ लाख रुपये इनाम दिये थे । इस किम्बदन्ती में कहां तक सत्य है यह नही कहा जा सकता । यह छप्पय इस प्रकार है—

कचित भँवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमल-वन ।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन बन ॥
हंस मानसर तज्यो , चक चकी न मिले अति ।
बहु सुन्दरि पद्मिनी , पुरुष न चहे न करे रति ॥
खल भलित शेष 'कविगंग' मन—
अमित तेज रवि-रथ खस्यो !
खानानखान बैरम-सुवन—
जबहि क्रोध कर तंग कस्यो ॥

एक अन्य कवि ने कवि गंग की प्रशंसा मे एक सवैया इस प्रकार लिखा था—

सब देवन को दरबार जुरयो, तहँ पिंगल छंद बनायके गायो ।
जब काहुते अर्थं कह्यो न गयो, तब नारद एक प्रसंग चलायो॥
मृतलोक में है नर एक गुनी,कवि गंग को नाम सभामें बतायो
सुनि चाह भई परमेश्वर को, तब गंगको लेन गनेश पठायो॥

इससे पता चलता है कि गंग कवि अपने समय के एक सुप्रसिद्ध कवि थे ।

एक ऐसी जनश्रुति है कि इनकी स्पष्टवादिता से नाराज होकर किसी नबाब ने इनको हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा दिया था । उस समय मरने के पहले गंगकवि ने यह दोहा कहा था—

कबहुँ न भँडुवा रन चढ़े, कबहुँ न बाजी बम्ब ।
सकल सभाहिं प्रणाम करि. बिदा होत कविगंग ॥

मगर इस जनश्रुति को कोई भी ऐतिहासिक आधार नही है ।

गंग कवि की कविता के नमूने—

बैठी थी सखिन संग, पिय को गमन सुन्यो,
सुख के समूह में वियोग-आगि भरकी ।
गंग कहै त्रिविध सुगन्ध के पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई बिथा जर की ।
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर कहँ,
लागत ही और गति भई मान-सर की ।
जलचर जरे और सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो, पंक सूख्यो भूमि दर की ।
झुक्कत कृपाण मयदान ज्यों उदोत भान,
एकन ते एक, मानो सुखमा जरद की ।
कहे 'कविगंग' तेरे बल को बयारि लगे,
फूटी गज-दटा, घनघटा ज्यों सरद की ॥
ऐते मान सोनित की नदियाँ उमड़ चलीं,
रहो न निशानी कहूँ मही में गरद की ।
गौरी गह्यो गिरिपति, गनपति गह्यो गौरी,
गौरीपति गही पूँछ लपकि बरद की ॥

(रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास)

गङ्गाधर कविराज

बंगाल-राज्य के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् वैयाकरणी और चिकित्सक । जिनका जन्म सन् १७९९ ई० में जैसोर जिले के 'मागुरा' नामक ग्राम में हुआ था । और मृत्यु सन् १८८५ में हुई इनके पिता का नाम भवानी प्रसाद राय था ।

गङ्गाधर कविराज छोटी उम्र से ही सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। व्याकरण, अलङ्कार, चिकित्सा इत्यादि सभी विषयों में योग्यता प्राप्तकर २१ वर्ष की अवस्था में ये मुर्शिदाबाद जाकर चिकित्सा करने लगे। चिकित्सा में सफलता मिलने के कारण उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। बंगाल में आधुनिक आयुर्वेद परम्परा के ये जनक माने जाते हैं। इनकी शिष्या परम्परा बहुत विस्तृत है। इन्होंने आयुर्वेद के कई ग्रन्थों का निर्माण किया है।

इन्होंने 'मुग्ध बोध' व्याकरण की एक विशाल संस्कृत टीका की रचना की थी। इस टीका में दश हजार श्लोक थे। इसके पश्चात् वोपदेव गोस्वामी मुग्धबोध व्याकरण के जितने अंश को अपूर्ण छोड़ गये थे, उसको उन्होंने पूर्ण किया और फिर सम्पूर्ण मुग्धबोध की टीका की। जिससे इनकी कीर्ति बहुत अधिक बढ़ गयी।

गङ्गा बाई

पेशवा नारायण राव की पत्नी और एक प्रसिद्ध महाराष्ट्रियन महिला।

सन् १७७३ ई० की ३० अगस्त को वेतन न मिलने के कारण, बहुत से सिपाहियों ने मिल कर १८ वर्षीय पेशवा नारायणराव की हत्या कर डाली।

नारायणराव के पश्चात् रघुनाथ राव पेशवा हुए, मगर नाना फड़नवीस, हरीपंत फड़के इत्यादि मराठा सरदार रघुनाथ राव के खिलाफ थे। इसी समय पता लगा कि नारायण राव के मरने के कुछ पहले उसकी पत्नी गङ्गाबाई को गर्भ रह गया था। यह जानकर मराठा सरदारोंने गर्भ की सुरक्षा के लिये सन् १७७४ की ३० जनवरी को उन्हें 'पुरंदर'के सुरक्षित किले में भेज दिया।

सन् १७७४ ई० की १८ अप्रैल को गङ्गाबाई को एक पुत्र हुआ। गङ्गाबाई का वही पुत्र ४० दिन का होने पर माधव राव पेशवा के नाम से गद्दी पर बिठाया गया। रघुनाथ राव उस समय कर्नाटक में थे। जब उन्होंने यह समाचार सुना तो वे वहाँ से उत्तर दिशा की ओर चल दिये।

उस समय हैदराबाद और बरार में 'रामोसी' नामक डाकुओं के उपद्रव बहुत बढ़ गये थे। इन रामोसियों के पास घुड़सवार सेना भी थी। जेजरी के दादाजी उनके दल के नेता थे। ऐसा कहा जाता है कि इन दादाजी ने जबर्दस्ती एक ब्राह्मण-कन्या का सतीत्व नष्ट किया था। उस ब्राह्मण कन्या ने पुरंदर के किले में जाकर गङ्गाबाई के सामने अपना सारा दुखड़ा रोया और उसके बाद उस ब्राह्मणी ने जोर से अपनी जीभ को खींच कर उखाड़ डाला।

इस घटना से गङ्गाबाई इतनी प्रभावित हुईं कि उन्हों ने मंत्रियों को बुला कर उनके सामने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक रामोसी दादा जी जीवित हैं तब तक मैं जल न ग्रहण करूँगी। तब मंत्रियों ने दादा जी को मार डालने का निश्चय किया और धोखे से किसी प्रकार उन्हें बुलवा कर मरवा डाला।

कुछ ही समय के पश्चात् गङ्गाबाई का नाना फड़नवीस के प्रति विशेष पक्षपात देख कर मराठा सरदारों में फूट पड़ गयी और नाना फड़नवीस के विरोधियों ने नाना फड़नवीस पर यह आरोप लगाया कि गंगाबाई को जो गर्भ था, वह नारायणराव का नहीं, बल्कि नानाफड़नवीस का था।

इस बात के प्रचार से दुखी होकर गंगाबाई ने सन् १७७० ई० के सितम्बर महीने में जहर खाकर आत्महत्या कर ली। —(वसु विश्वकोष)

गङ्गा गोविन्द सिंह

बङ्गाल-राज्य के 'पाइक पाड़ा' राजवंश में उत्पन्न एक प्रसिद्ध व्यक्ति, जो आगे जा कर वारन हेस्टिङ्ग्स के दीवान बन गये।

गङ्गा गोविंद उत्तर राढ़ीय कायस्थ समाज के कुलीन लक्ष्मीधर के वंशध थे। सन् १७६६ ई० में वे बङ्गाल के नायब सूबेदार महम्मद रजा खां के अधीन कानूनगो का काम करते थे। मगर जब महम्मद रजा खां पदच्युत हो गये तो इनकी भी नौकरी छूट गयी। मगर उसके कुछ ही समय पश्चात् किसी प्रभावशाली व्यक्ति के द्वारा वे लार्ड हेस्टिङ्ग्स के पास पहुंच गये।

थोड़े ही दिनों में उनकी कार्य दक्षता से प्रसन्न होकर हेस्टिंग्स ने उन्हें अपना दीवान बनालिया और राजस्व-विभाग के सभी कार्यों का भार उन्हें सौंप दिया। इतनी बड़ी सत्ता हाथ में आजाने पर उन्होंने खुले हाथों से रिश्वत खाना आरम्भ कर दिया और उस रिश्वत का बड़ा भाग लार्ड हेस्टिंग की जेबों में पहुंचने लगा।

सन् १७७५ ई० में रिश्वत लेने के आरोप मे ये पद-च्युत कर दिये गये। लेकिन फिर शीघ्र ही उनका भाग्य चमका और अंग्रेज अधिकारी मानसून की मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु के बाद अब हेस्टिंग्ज सर्वेसर्वा हो गया और सन् १७७६ ई० में उसने पुनः गङ्गागोविंद को अपना दीवान बना लिया।

अब गङ्गागोविंद का भाग्य-सूर्य मध्य आकाशमें आ गया था। बड़े-बड़े जमींदार, ताल्लुकेदार और बड़े-बड़े जमींदारों के गुमाश्ते बड़ी-बड़ी भेटें ले कर उनकी सेवा मे हमेशा खड़े रहते थे। उस समय बङ्गाल में जमीन का बंदोबस्त पांच सालाना ही था। पांच साल पूरे हो जाने पर गङ्गा गोविंद के पास जिसकी भेंट अधिक पहुंच जाती उसी के नाम पर नया बंदोबस्त हो जाता था।

गङ्गा गोविंद का प्रभाव इतना बढ़ गया कि राजा कृष्ण चंद्र भी उनसे भयभीत रहते थे।

सन् १७८१ ई० में 'कमेटी आफ रेवेन्यू' की स्थापना हुई। इस कमेटी मे भी गङ्गा गोविंद सिंह की प्रधानता थी। लार्ड हेस्टिंग्स गङ्गागोविंदसे पूछे बिना कोई काम नही करते थे।

इस प्रकार अन्याय के द्वारा उन्होंने लाखों रुपये की दौलत कमाई। मगर हेस्टिंग्स के चले जाने के बाद गङ्गा गोविंद भी पद-च्युत कर दिये गये और जब लंदन की पार्लियामेंट में हेस्टिंग्स के खिलाफ मुकद्दमा चला और 'एडमण्ड बर्क' नामक प्रसिद्ध विद्वान ने हेस्टिंग्स के खिलाफ प्रभावशाली वक्तृताएं दी। उन वक्तृताओ में उन्होने गङ्गा गोविंद की भी बड़ी कड़ी आलोचना की थी।

गङ्गा नगर

नवीन राजस्थान प्रदेश की उत्तरी सीमा का एक सुप्रसिद्ध नगर और जिला जो पहले बीकानेर रियासत में था। इस जिले का क्षेत्रफल ८ हजार वर्गमील और जनसंख्या १० लाख ३७ हजार ४२३ है।

यह नगर और जिला बीकानेर नरेश महाराजा गंगासिंह द्वारा आबाद किये जाने के कारण इसका नामकरण उन्हीं के नाम पर किया गया है। यह राजस्थान की सबसे अधिक रेतीली भूमि मे स्थित है। पहले यहां पर मरुभूमि होने के कारण कोई भी पैदावार का साधन नही था। महाराजा गङ्गा सिंह ने जब यहां की जनता की कठिनाइयों को देखा तो उन्होंने जल की सुविधा के लिए इस जिले में 'श्री गङ्गा-नहर के नाम से एक नहर योजना बनाई। इस गङ्गा-नहर के आने से इस जिले की बहुत-सी भूमि हरी-भरी हो गयी और बीकानेर रियासत के अन्दर यह जिला सबसे अधिक उपजाऊ माना जाने लगा। उपजाऊ होने के कारण यहां बहुत से लोग आकर बसने लगे। महाराजा गङ्गासिंह की इस जिले के ऊपर बहुत निगाह थी और उन्होने इसकी उन्नति के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये।

उसके पश्चात् वृहत् राजस्थान में इस जिले का विलीनीकरण हो जाने के पश्चात् राजस्थान सरकार का ध्यान भी इस जिले के विकास की ओर विशेष रूप से गया है। मुख्य मंत्री मोहनलाल सुखाड़िया के मंत्रित्व में 'राजस्थान-नहर-परियोजना' का आरम्भ हुआ। यह नहर विश्व में शायद सबसे अधिक लम्बी नहर है। इसकी लम्बाई ४३० मील है और यह सारी नहर सीमेंट से बनाई गयी है।

इस नहर के चालू होजाने पर केवल गंगानगर जिले का ही नही, बल्कि राजस्थान के काफी हिस्से का सिंचाईकरण हो जायगा। भाखड़ा-नांगल योजना के जल द्वारा भी इस जिले की लाखों एकड़ भूमि की सिंचाई हो रही है।

सिंचाई की वृद्धि के साथ-साथ इस क्षेत्र मे कृषि के विकास के लिए यांत्रिक साधनों का भी बहुत अधिक उपयोग किया जा रहा है। राज्य की ओर से सूरतगढ़ क्षेत्र में ३०,६७० एकड़ भूमि में एक सुनियोजित कृषि योजना-फार्म की स्थापना की गयी है जो शायद एशिया में सब से बड़ा कृषि का फार्म है। यह फार्म कृषि-प्रयोग-शाला की तरह है जिसमे मरुभूमि के अन्दर कृषि का विकास करने, उत्तम बीज पैदा करने और पशुओं की नस्ल सुधारने के प्रयोग किये जा रहे हैं।

कृषि की उन्नति के साथ साथ औद्योगिक क्षेत्र मे भी यह जिला आगे बढ़ रहा है। कई उद्योगपति यहां पर भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योगों की स्थापना की योजना बना रहे हैं।

इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी यह स्थान काफी आगे बढ़ा हुआ है। इस जिले में तीन डिग्री कालेज और कई हायर सेकेण्डरी स्कूल और कई दूसरे सांस्कृतिक स्थान बने हुए हैं।

गङ्गासिंह (महाराजा)

बीकानेर के सुप्रसिद्ध महाराजा गंगासिंह, जिनका जन्म सन् १८८० ई० की तीसरी अक्तूबर को हुआ था।

सन् १८८७ई० की ३१ अगस्तको अपने बड़े भाई महाराजा डूंगरसिंह की मृत्यु हो जाने पर केवल ७ वर्ष की उम्र में इनका राज्याभिषेक हुआ। सन् १८९८ मे बालिग होने पर इनको पूरे राज्याधिकार प्राप्त हुए। इसी वर्ष बीकानेर राज्य में बड़ा भारी अकाल पड़ा। इस अकाल से प्रजा की रक्षा करने के लिए महाराजा गङ्गासिंह ने बड़ा प्रयत्न किया। इसके उपलक्ष में भारत सरकार ने इनको 'कैसरे-हिंद' का खिताब प्रदान किया।

सन् १९०२ ई० में महाराजा गङ्गा सिंह 'इण्डियन-आर्मी' के आनरेरी मेजर के पद पर नियुक्त किये गये। सन् १९०४ ई० मे इनको के० सी० आई० ई० की और सन् १९०७ ई० मे जी० सी० आई० की उपाधियां प्राप्त हुईं।

सन् १९१४ ई० में पहला महायुद्ध प्रारम्भ होने पर महाराजा गङ्गासिंह ने युद्ध के मोर्चे पर जाने की अनुमति मांगी और अपनी सेना-सहित फ्रांस और इजिप्ट के मोर्चे पर युद्ध में सम्मिलित हुए। सन् १९१८ ई० मे युद्ध बंद होने पर ये वर्साई के संधि सम्मेलन मे शामिल हुए। सन् १९१९ ई० मे सरकार ने इनको जी० सी० वी० और सन् १९२१ में जी० सी० वी० ई० की फौजी उपाधियां प्रदान की।

सन् १९२१ ई० मे ही ये 'नरेंद्र-मण्डल' के प्रथम चांसलर के पद पर चुने गये।

महाराजा सर गङ्गा सिंह का राज्य के उत्थान और जनता की जाहोजलाली पर भी पूरा ध्यान था। जब इन्हो ने देखा कि बीकानेर के उत्तर मे पञ्जाबकी सीमाओ से मिलता हुआ क्षेत्र, विशाल मरुभूमि और जल के अभाव के कारण वीरान अवस्था मे पड़ा हुआ है तो उन्हों ने उस वीरान क्षेत्र में अपनी सूझ बूझ और इञ्जिनियरो की सलाह से 'श्री-गङ्गानगर' के नाम से एक नया शहर बसाया। और इस सूखे हुए क्षेत्र को सरसब्ज करने के लिए 'श्रीगङ्गानहर' के नाम से एक विशाल नहर का निर्माण करवाया। इस नहर के इस क्षेत्र में आते ही हजारों वर्गमील मे स्थित यह बञ्जर भूमि हरीभरी होकर लहलहाने लगी और थोड़े ही समय मे यह जिला बीकानेर रियासत का सब से हरा भरा और उपजाऊ जिला बन गया। बीकानेर से गंगानगर तक रेलें भी दौड़ने लगीं। बाहर से आकर हजारों लोग इस जिले में बसने लगे, जिससे यहाँ की जनसंख्या भी बढ़ गयी।

श्रीगंगानगर का जिला और गंगानहर की परियोजना महाराजा गंगासिंह की अमर-स्मृतियां हैं, जिन्हें बीकानेर की जनता कभी भूल न सकेगी।

गंगानाथ झा (डाक्टर महामहोपाध्याय)

इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के भूतपूर्व उप-कुलपति, भारतीय दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित, डा० गङ्गा नाथ झा, जिनका जन्म सन् १८७१ ई० मे बिहार प्रान्त के गन्धवारि नामक ग्राम में हुआ और मृत्यु सन् १९४१ में हुई।

डा० गङ्गानाथ झा के पिता का नाम तीर्थनाथ झा था। डा० गङ्गानाथ बचपन से ही बड़ी तीव्र बुद्धि के थे। इनके ऊपर दरभङ्गा नरेश महाराजा लक्ष्मीश्वरसिंह की प्रारंभ से ही बड़ी कृपा रही।

साधारण शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह ने इनको अंग्रेजी शिक्षा के लिए दरभङ्गा बुला लिया। जहां से इन्होंने सन् १८८६ ई० में मैट्रिक की परीक्षा तीसरी श्रेणी में उत्तीर्ण की।

उसके पश्चात् आगे की शिक्षा के लिए महाराजा ने इन्हें काशी भेज दिया। काशी जाने पर इनकी प्रतिभा और भी चमक उठी और इन्होंने 'क्वीस कालेज' से सन् १८९० ई० में पाश्चात्य-दर्शन के अन्तर्गत बी० ए० की परीक्षा 'आनर्स' के साथ पास की और सारी युनिवर्सिटी में प्रथम आये। सन् १८९२ ई० में इन्होंने एम० ए० की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की।

सन् १८९४ ई० में दरभङ्गा-नरेश ने इनको अपने राज-पुस्तकालय का अध्यक्ष बना दिया। पुस्तकालय के निर्माण में डाक्टर गंगानाथ झा ने बड़े उत्साह के साथ काम किया और लाखों रुपये की देश-विदेश की पुस्तकों से इसे सजा कर इसको बिहार प्रान्त का नामी पुस्तकालय बना दिया। सन् १९०२ ई० तक जितने गवेशषणात्मक पत्र-पत्रिकाएं पाश्चात्य देशों में प्रकाशित हुए—वे सभी दरभंगा के राज-पुस्तकालय में मंगाये

गये जो वहां आज भी विद्यमान हैं। फारसी और संस्कृत के अनेकों अलभ्य और सचित्र ग्रन्थों का वहां संग्रह किया गया।

डा० गंगानाथ झा के द्वारा निर्मित किया हुआ दरभंगा का राजपुस्तकालय आज भी बिहार की एक अमूल्य निधि है। इस पुस्तकालय में अध्ययन करने का भी गंगानाथ झा को काफी अवसर मिला।

सन् १८९६ ई० में डा० गंगानाथ झा ने कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक और श्लोकवार्तिक नामक कठिन ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवाद कर लिया था। ये दोनों अनुवाद महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री की प्रेरणा से 'बिब्लो ओथेका इण्डिका' की पुस्तक-माला से प्रकाशित हुए। इन अनुवादों से डा० गंगानाथ की काफी कीर्ति हो गयी।

इन दिनों इलाहाबाद में म्योर-कालेज के प्रिंसिपल डा० जॉर्ज थीबो संस्कृत के बड़े अच्छे विद्वान थे। इन्होने डाक्टर झा के संस्कृत ज्ञान से प्रभावित हो कर सन् १९०२ ई० में इनकी नियुक्ति म्योर सेण्ट्रल कालेज में कर दी।

यहां पर डा० थीबो के सहयोग से इन्होंने बहुत से दर्शन-ग्रंथों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कर डाला। इसके साथ ही इन्होंने 'डाक्टर आफ लेटर्स की' उपाधि प्राप्त करने के लिए प्रभाकर मिश्र के मीमांसक-मत पर एक ग्रन्थ लिखकर समर्पित किया। इस ग्रंथ पर सन् १९०९ ई० मे प्रयाग विश्वविद्यालय ने इन्हें संस्कृत में 'डाक्टर आफ लेटर्स' की पदवी प्रदान की। संस्कृत भाषा में इस पदवी को प्राप्त करने वाले ये पहले व्यक्ति थे। सन् १९१० ई० भारत सरकार ने इनको महा-महोपाध्याय की और सन् १९४१ ई० में 'सर नाइट' की सम्मानपूर्ण उपाधियां प्रदान की।

सन् १९१८ में ये काशी-संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल बनाये गये, और सन् १९२३ ई० में इलाहाबाद युनिवर्सिटी के उप-कुलपति (वाइस चांसलर) नियुक्त हुए। उप-कुलपति होने के पश्चात् इन्होंने प्रयाग-विश्वविद्यालय का आधुनिक ढंग से संगठन करना प्रारम्भ किया। और पूरे परिश्रम के साथ अच्छे-अच्छे अनुभवी विद्वानों को बुलाकर विश्वविद्यालय में नियुक्त किया। अभी तक अच्छे-अच्छे पदोंपर विशेषकर यूरोपियन विद्वान ही रखे जाते थे और यूरोप की डिग्रियों को भारतीय डिग्रियों से ज्यादा प्रायमिकता दी जाती थी, मगर डाक्टर गंगानाथ झा ने इस प्रथा को बन्द कर के भारतीय विद्वानों और भारतीय डिग्रियों को अधिक महत्व देना प्रारम्भ किया।

डा० झा स्त्रियों और पुरुषों की सह-शिक्षा के बड़े विरोधी थे और उनका विश्वास था कि महिला-छात्राओं का पुरुष छात्रों के साथ अध्ययन करना सर्वथा अनुचित है। उस समय बहुत से अध्यापक सह शिक्षा के पक्ष में थे, मगर डा० झा अपने सिद्धान्त पर इतने दृढ़ थे कि इसके लिए वे अपना पद त्याग करने के लिए भी प्रस्तुत रहते थे। अन्त में कुलपति को इनका मत मानने के लिए विवश होना पड़ा और प्रयाग विश्व-विद्यालय में महिलाओं के अध्ययन के लिए अलग व्यवस्था हुई।

प्रयाग-विश्व-विद्यालय में डा० गंगानाथ झा इतने लोक-प्रिय थे कि वे लगातार तीन बार विश्वविद्यालय के उप-कुलपति निर्वाचित हुए। प्रयाग विश्वविद्यालय की नीव को सुदृढ़ बनाने का श्रेय डा० गंगानाथ झा को है।

ग्रन्थ-रचना

डा० गंगानाथ झा संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी और मैथिल-भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन सभी भाषाओं में इन्होंने स्वतन्त्र रचनाएं और अनुवाद किये हैं। इनके अंग्रेजी मौलिक ग्रन्थों में (१) प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्व मीमासा (२) हिन्दू लॉ इन इट्स सोरसेज (दो भाग) (३) शङ्कराचार्य (४) पूर्व मीमांसा इन इट्स सोरसेज, इत्यादि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त विज्ञान-भिक्षु-कृत योग सार संग्रह, मम्मट कृत काव्य-प्रकाश, वाचस्पति मिश्र कृत सांख्य-तत्व कौमुदी और शंकराचार्यकृत छान्दोग्योपनिषद् भाष्य इत्यादि संस्कृत-ग्रन्थों के इन्होने सुन्दर अंग्रेजी अनुवाद किये। संस्कृत की इनकी रचनाओं में मीमांसा मण्डनम्, प्रभाकर-प्रदीप, भाव-बोधिनी इत्यादि कई रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

इनकी हिंदी-रचनाओं में वैशेषिक दर्पण, न्याय-प्रकाश, कवि-रहस्य, भारतीय धर्म-शास्त्र इत्यादि और मैथिली भाषा की रचनाओं में वेदान्त-दीपिका नामक रचना उल्लेखनीय है। ऊपर जितने नाम दिये गये हैं—उनके सिवाय भी इनकी कई रचनाएं और हैं, जिनकी कुलसंख्या ५१ तक पहुंचती है।

डा० गंगानाथ झा की इन रचनाओं को देख कर स्पष्ट मालूम पड़ता है कि दर्शन-शास्त्र उनका सबसे ज्यादा

प्रिय विषय था और इस विषय में उन्होंने प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। इनका 'इंडियन थाट्स' नामक ग्रन्थ ११ खण्डों में समाप्त हुआ है।

सन् १९४१ ई० की १७ नवम्बर को इस महामनीषी, प्रकाण्ड विद्वान और उद्भट दार्शनिक डा० गंगानाथ झा का देहान्त हो गया।

गंगाराम ट्रस्ट

पंजाब के सुप्रसिद्ध इञ्जीनियर, आर्य्य समाजी, समाज सुधारक, सर गंगाराम के द्वारा स्थापित विधवा विवाह के प्रचार का ट्रस्ट।

सर गंगाराम पंजाब के एक प्रतिष्ठित और गण्यमान्य इञ्जीनियर थे। इनका जन्म सन् १८५१ ई० मे हुआ था। थामसन कालेज में शिक्षा पाकर इन्होंने सन् १८७३ ई० में पी० डब्ल्यू० डी० के अन्तर्गत पहले पहल सर्विस शुरू की। सन् १८८३ ई० में ये एक्जीक्युटिव इंजीनियर हो गये।

सन् १९०३ ई० में ये कारोनेशन दरबार दिल्ली के सुपरिटेंडेन्ट हुए। उसके पश्चात् उसी सन् में ये पटियाला स्टेट के सुपरटेंडिंग इंजिनियर बनाये गये।

सन् १९११ ई० में होने वाले दिल्ली दरबार के निर्माण कार्य में ये कन्सल्टिंग इंजिनियर बनाए गये।

राय बहादुर गंगाराम की सेवाओं से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने इनको सी० आई० ई०, एम० बी० ओ०, राय बहादुर, एम० आई० सी० ई० इत्यादि कई सम्मानीय उपाधियाँ प्रदान कीं।

राय बहादुर गंगाराम सरकारी क्षेत्र की तरह समाज-सुधार के क्षेत्र में भी बहुत अग्रगण्य रहे। यह आर्य समाजी विचार-धारा के थे, और हिन्दू-समाज में युवती-विधवाओं की करुण अवस्था को देखकर इनको बड़ा दर्द होता था। इस लिए उन्होने अपने उतर जीवन में, अपने जीवन में उपार्जित की हुई सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग विधवा-विवाह के प्रचार के लिए दान दे दिया और उससे 'गंगाराम ट्रस्ट' नामक एक बहुत बड़े ट्रस्ट की स्थापना की।

सर गंगाराम से महामना मालवीय जी का भी गहरा स्नेह सम्बन्ध था। उन्होंने हिन्दू युनिवर्सिटी के निर्माण-कार्य में अपनी आनरेरी-सेवाएँ अर्पित की थीं।

गंगोत्री

हिन्दुओं का एक सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थान। जहाँ से गंगाजी का निकास हुआ है। यह स्थान प्राचीन टेहरी राज्य के अन्तर्गत बद्री नारायण से कुछ दूरी पर अवस्थित है।

इस स्थान में पहाड़ के ऊपर गंगा के दक्षिणी तट पर गंगा देवी का मन्दिर बना हुआ है। जहाँ पर देश के हजारों यात्री भागीरथी की मूर्ति के दर्शन करने को जाते हैं। हिन्दुओं का विश्वास है कि गंगा यहीं से गोमुखी होकर भारतवर्ष में प्रविष्ट हुई हैं।

गंगेश्वर

बंगाल के एक सुप्रसिद्ध नैय्यायिक। जिन्होंने न्यायदर्शन पर 'तत्व चिन्तामणि-नामक विशाल ग्रन्थ की रचना की। न्याय विषय का यह महान् ग्रन्थप्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द खण्ड—इन चार भागों मे विभक्त है। यह न्याय-दर्शन का एक विस्तृत और महान ग्रन्थ है।

गजपन्था

जैन मतावलम्बियों का एक प्रसिद्ध सिद्ध क्षेत्र। जो नासिक शहर से ४ मील दूरी पर स्थित है। यहाँ एक पहाड़ी पर दो गुफाएँ, दो कुंड और कई मन्दिर बने हुए हैं जिनमें पहाड़ के पत्थरों से बनी हुई तीर्थंकरों की अनेक मूर्तियाँ विराजमान हैं। पर्वत पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ भी बनी हुई है। जैन परम्परा के अनुसार बलभद्र इत्यादि अनेकानेक जैन मुनि यहां से मोक्ष गये हैं।

गजट

समाचार-पत्र और अखबारों का पुराना नाम, जिसका प्रारम्भ सन् १५६३ ई० में हुआ।

गजट पत्रकार-कला का प्रारम्भिक रूप था। इसमें संक्षेप में सम सामयिक घटनाओं का वर्णन और राज्यों के द्वारा बनाये हुए कानून तथा राज्य में होने वाले परिवर्तनों की सूचना संक्षेप-रूप में जनता को दी जाती थी।

ऐसा समझा जाता है कि सब से पहले इटली में 'वेनिस' की सरकार के द्वारा सन् १५६३ ई० मे 'गजट' के नामकरण से पहला राजकीय पत्र प्रकाशित हुआ।

सन् १६६५ ई० मे इंग्लैंड से 'आक्सफर्ड गजट' निकलने लगा जो दूसरे वर्ष 'लन्दन गजट' के रूप में बदल गया। उसके बाद वहाँ से 'सेंट जेम्स गजट' 'वेस्ट मिनिस्टर गजट' इत्यादि और भी कई गजट प्रकाशित होने लगे।

भारतवर्ष में सन् १७८० ई० में 'बंगाल गजट' और इण्डियन गजट प्रकाशित होने लगे। उसके बाद देश के सभी प्रान्तों और रियासतों ने इस प्रकार के गजट प्रकाशित करना शुरू किये। इन गजटों में राज्य मे बनने वाले कानून विभागीय सूचनाएँ, ट्रांसफर्स (तबादले) तथा अन्य आवश्यक राजकीय सूचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

इस प्रकार गजट का क्षेत्र पत्रकार-कला से अलग होकर राजकीय सूचताओं के प्रकाशन तक सीमित हो गया।

(ना० प्र० वि०)

गजनी

अफगानिस्तान का एक प्राचीन नगर जिसका इतिहास ईसा की दसवीं सदी से प्रारम्भ होता है।

ईसा की दसवीं शताब्दी तक अफगानिस्तान के बहुत से भाग पर भारतीय राजा शासन करते थे। भारतवर्ष के इस सिन्धु-पश्चिम प्रान्त के उस समय दो भाग थे। एक को काबुलिस्तान और दूसरे को जाबुलिस्तान कहते थे। उत्तर के काबुलिस्तान में लाल्लीय नामक राजपुरुष के द्वारा स्थापित किया हुआ शाही ब्राह्मणवंश शासन करता था और दक्षिण के जाबुलिस्तान में भाटी राजपूतों का शासन था।

ई० सन् ८२१ में, जब ईरान में सामानी सम्राट नस्र का का शासन था, याकूब इलेका नामक एक साहसी कसेरा जाति के मुसलमान ने एक बर्बर सेना की सहाता से भारत पर आक्रमण करके, काबुल और जाबुल दोनों प्रान्तों पर अधिकार कर लिया।

याकूब-ई-लेस ने विजय प्राप्त कर "गजनी" नाम के छोटे से ग्राम के पास किला बना कर उसे एक वैभव सम्पन्न राजधानी का रूप दे दिया और उसके आसपास के सब प्रदेश जीत कर वहां के राजपूत राजाओं को भगा दिया।

याकूब के पश्चात् यह नगर सामानी सम्राट अब्दुल मलिक के हाजिब (गुलाम) अल्पतगीन के हाथ में आया। अल्पतगीन 'सामानी' सम्राटों की छत्रछाया में गजनी का गवर्नर बनादिया गया और उसने करीब साठ वर्षों तक यहां का शासन किया।

अल्पतगीन के पश्चात् उसका दामाद सुबुक्तगीन गजनी की गद्दीपर बैठा। इसने काशगर के राजा इलेक खाँ के साथ हुए सामानियों के भयङ्कर युद्ध में सामानी सम्राट की भारी मदद की और इलेक खां को बुरी तरह पराजित किया।

सुबुक्तगीन ने सन् ६७७ से ६६७ तक यहां शासन किया। इसके पश्चात् प्रसिद्ध आक्रमणकारी मुहम्मद गजनी का शासक हुआ, उस समय सामानी साम्राज्य एक प्रकार से छिन्न-भिन्न हो चुका था। मुहम्मद ने सबसे पहले गजनी के सुल्तान की उपाधि धारण की।

सुबुक्तगीन के समय से ही गजनी के राज्य का विस्तार होने लग गया था। मगर इस राज्य का चरम विकास महमूद गजनवी के शासन काल में हुआ। मुहम्मद गजनवी ने पहले तो ईरान के सामानी साम्राज्य से स्वतन्त्र हो अपने को खुरासान और गजनी का स्वतन्त्र सुल्तान घोषित कर दिया। ये सब घटनाएं सन् ६६७ से सन् १००० के बीच में हुईं।

अब उसका ध्यान भारतवर्ष की तरफ गया। उस समय अफगानिस्तान और भारत के बीच सीमान्त पर राजा 'जयपाल' राज्य करता था। मुहम्मद गजनवी ने १५ हजार घुड़सवारो के साथ जयपाल पर आक्रमण कर के बुरी तरह से उसे पराजित किया और उसे परिवार सहित कैद कर लिया। मगर बाद मे दण्डस्वरूप ५० हाथी लेकर उसने जयपाल को छोड़ दिया। मगर जयपाल से यह अपमान बर्दाश्त नही हुआ और उसने चिता में जल कर आत्म-हत्या कर ली। इ के पश्चात् मुहम्मद ने सन् १००८ में 'आनन्दपाल' के नेतृत्व मे संयुक्त किये गये हिन्दुओं के आक्रमण को विफल किया।

इसके बाद उसने भारतवर्ष पर बारह से अधिक बार भयङ्कर आक्रमण कर सारे देश को बुरी तरह लूटा, सोमनाथ

और मथुरा के मन्दिरों का विध्वंस कर के सारे देश में तबाही मचायी।

इस प्रकार महमूद गजनवी के शासनकाल में गजनी का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत हो गया था। मुहम्मद गजनवी के मरने के बाद यह साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

गंजी मोना गोतारी

जापानी भाषा का सबसे पहला उपन्यास। जिसकी रचना ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ मे "मुरासाकी शिकिबू" नामक प्रसिद्ध लेखक ने की।

गँजी-मोनागोतारी जापानी भाषा का सम्भवत: सबसे पहला उपन्यास है जो जापानी भाषा की "काना" शैली में लिखा गया है। इसमें राजकुमार "गँजी" के चित्रण की आड़ में हेइयन युग के जापानी राज दरबार का चित्र बड़ी सजीव भाषा में अङ्कित किया गया है। उस समय के जापानी समाज मे स्त्री और पुरुषों को यौन सम्बन्धी कितनी आजादी थी इसकी झलक भी इस उपन्यास में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

गञ्जाम

उड़ीसा-राज्य का एक जिला, जिसका क्षेत्रफल १२३५० वर्ग किलोमीटर है।

देखने में यह जिला त्रिकोण मालूम होता है। यह जिला बंगाल की खाड़ी पर स्थित है। और इसका विशेष हिस्सा उत्तर में फैली हुई पूर्वी घाट पहाड़ियों की चट्टानों से निर्मित है। इस जिले में बहने वाली नदियों में ऋषिकुल्या, वंशधारा और लांगुली प्रधान हैं जो बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं।

इस जिले का प्रमुख नगर बुरहामपुर है। बुरहानपुर में इंजीनियरिंग स्कूल, रामधीन संस्कृत कालेज, खालीकोट कालेज इत्यादि शिक्षा संस्थाएँ बनी हुई हैं।

प्राचीनकाल में गञ्जाम 'कलिंगदेश' का एक भाग था, परन्तु कभी-कभी वेंगी राज्य के शासक इसके दक्षिणी भाग को दबा लेते थे। ई० सन् से २६० वर्ष पूर्व सम्राट् 'अशोक' ने कलिंग के साथ इस प्रदेश पर भी विजय प्राप्त की थी।

उसके पश्चात् यह प्रांत वेंगी के आंध्रशासकों के हाथ में आया। ईसा की ५वीं शताब्दी में कलिंग के गङ्ग-वंश ने इस प्रान्त पर अधिकार किया। ईसा की ११वी शताब्दी के प्रारंभ में चोल-राजाओं ने वेंगी और कलिंग के साथ गंजाम का कुछ हिस्सा भी जीता था।

राजा 'राजेन्द्र' चोल की विजय का एक शिला-लेख महेन्द्र गिरि पर मिला है। इसके पश्चात् ईसा की १५वीं शताब्दी तक यह प्रान्त गंग-राजवंश के शासन में रहा।

सन् १५७१ ई० में गोलकुंडा के कुतुबशाही राजवंश ने गञ्जाम पर अधिकार किया। यह राजवंश 'चिकाकोल' के अधिकारी के द्वारा गञ्जाम पर शासन करता था।

सन् १७५३ ई० मे मुसलमानों ने यह प्रान्त फ्रेंच लोगों को दे दिया। सन् १७५९ ई० में यह जिला अंग्रेजों के हाथ में आया। मगर उसके बाद भी बहुत दिनों तक इस जिले में अशान्ति और अराजकता रही। सन् १८३२ई० में बिसोई जाति के विद्रोह के कारण इस प्रान्त में 'मार्शल-ला' लगाया गया। बिसोई और उनके किले एक-एक कर पकड़े और छीने गये। कुछ लोगों को फांसी और कुछ को 'कालेपानी' की सजा दी गयी। तब इस जिले में शान्ति स्थापित हुई।

इस जिले के जौगढ़ नामक स्थान में सम्राट् अशोक के शासन-काल का एक लेख मिला है। इसके सिवाय इस जिले में बहुत से पुराने मन्दिर भी खड़े हैं। उनकी बनावट, कारीगरी और शिला-फलकों से कलिंग के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। श्री 'कूर्मम्' का विष्णु-मन्दिर और 'महालिंगम्' का शिवालय देखने योग्य है।

गजेटियर

किसी भी प्रान्त या राज्य की भौगोलिक, ऐतिहासिक पुरातत्व और रीति-रिवाज सम्बन्धी—सब प्रकार की जानकारी का विवरण देने वाला ग्रन्थ।

भारतवर्ष में 'गजेटियर' बनाने की प्रथा अंग्रेजी सरकार के समय मे प्रारंभ हुई। बंबई, बंगाल, बिहार, पंजाब, उत्तर प्रदेश इत्यादि सभी स्थानों की सरकारों ने अपने-अपने प्रान्तों के गजेटियर तैयार करवाये। इन गजेटियरो से खोज करने वाले इतिहासकारों को बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। भारत सरकार के अनुकरण पर बहुत से देशी राज्यों ने भी अपने-अपने गजेटियर तैयार करवाये थे।

गटिंगन

पश्चिमी जर्मनी के भूतपूर्व प्रशिया प्रान्त का प्राचीन नगर। जो लीन नदी के किनारे पर हनोवर से ६७ मील दक्षिण में रेल-मार्ग पर बसा हुआ है।

गटिंगन के विश्वविद्यालय का सारे संसार के अन्दर अपना विशिष्ट स्थान है। इसके अतिरिक्त इस नगर में जर्मन-साहित्य का पूर्ण संग्रहालय भी बना हुआ है। यह नगर एक औद्योगिक केन्द्र भी है।

गणगौर

राजस्थान और मध्यप्रदेश में नारियों का एक सुप्रसिद्ध त्योहार, जो चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन मनाया जाता है।

यह त्योहार स्त्रियों के सौभाग्य की रक्षा के लिए गौरी या पार्वती की पूजा के रूप में मनाया जाता है।

राजस्थान में चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को लड़कियाँ प्रातः काल गीत गाते हुए घरों से निकलती हैं और होलिका-दहन की राख ले आती हैं। चैत्र कृष्ण प्रतिपदा से चैत्र कृष्ण सप्तमी तक वे होलिका की राख के पिण्डों की पूजा करती हैं। चैत्र कृष्ण अष्टमी को कुम्हार के यहाँ से मिट्टी लाकर गणगौर और ईसर की मूर्तियाँ बनाती हैं और मिट्टी के कुण्डे में गेहूँ बोती हैं। फिर चैत्र शुक्ला तृतीया को ईसर-गनगोर की पूजा करके नदी में उनका विसर्जन करती हैं।

यह त्योहार सारे राजस्थान और मध्य प्रदेश के एक भाग में बड़े आनन्द और प्रेरणा के साथ मनाया जाता है। सब सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने सौभाग्य की रक्षा के लिये और कुमारी लड़किया सुयोग्य वर को प्राप्त करने की आकांक्षा से बढ़िया-बढ़िया रंगीन वस्त्रों को पहन कर मधुर गानों को गाती हुई वसन्त ऋतु के वातावरण को और भी मादक बनाते हुए बड़ी उमंग से ईसर और गणगौर की पूजा करती हैं। यह पर्व राजस्थान का एक महान् सांस्कृतिक पर्व है।

गणगोर और ईसर की मूर्तियाँ भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की बनायी जाती हैं। बीकानेर और जयपुर में राज्य सरकार तथा सम्पत्तिशाली पुरुष लकड़ी की गणगोर बनाते हैं। जैसलमेर में हाथी दांत की तथा जोधपुर में चांदी की गणगौर बनायी जाती है। साधारण घरों की स्त्रियाँ मिट्टी की गणगौर बनातीं हैं।

राजस्थान में गणगौर के त्योहार पर लड़कियाँ सन्ध्या के बाद किसी मिट्टी के बर्तन में बहुत से छेद गिरा कर उसमें दीपक जलाती हैं। घुड़ले की यह प्रथा एक ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर आधारित है। कहा जाता है कि जोधपुर रियासत के 'पीपाड़' नामक नगर में मीर घुड़ले खाँ नामक एक मुसमान सूबेदार था। उसने गणगौर की पूजा करने वाली कुछ लड़कियों से छेड़-छाड़ की। उसकी इस हरकत को देखकर जोधपुर के राठौर वीर 'सातल' ने उस पर हमला करके उसके शरीर पर अनेक घाव कर दिये, जिससे वह मर गया। इस बर्तन में किये हुए अनेक छेद घुड़ले खाँ के घावों के प्रतीक हैं और उसके भीतर जलता हुआ दीपक उसकी काँपती हुई आत्मा का प्रतीक है। इसी युद्ध में सातल की भी मृत्यु हो गयी थी। तभी से राठोड़ों में ईसर निकालने की प्रथा बन्द हो गयी।

हाड़ो ले डूब्यो गणगौर

मध्यकाल में अंग्रेजी राज्य से पूर्व राजस्थान के राजा लोग गणगौर के त्योहार को राष्ट्रीय त्योहार की तरह मनाते थे और इस त्योहार को वीरता और शौर्य का प्रतीक समझते थे। उस युग में किसी राज्य की गणगौर को अगर दूसरे राज्य वाले छीन कर ले जाते तो यह बड़ा अपमानजनक समझा जाता था।

एक बार जयपुर वालों ने बूँदीकोटा के हाड़ा राजवंश की गणगौर को छीनने के लिए आक्रमण कर दिया। इस आकस्मिक आक्रमण से बचने का कोई उपाय न देख कर हाड़ा-नरेश गणगौर को लेकर चम्बल मे डूब गये। तभी से कोटा में गणगौर का उत्सव बन्द हो गया और 'हाड़ो ले डूब्यो गणगौर' यह कहावत मशहूर हो गयी।

(साप्ताहिक हिन्दुस्तान)

गणनाथ सेन

बंगाल के एक सुप्रसिद्ध चिकित्सक, लेखक और विद्वान, जिनका जन्म सन् १८७७ में काशी के अन्तर्गत और मृत्यु सन् १९३७ में हुई। इनके पिता का नाम कविराज विश्वनाथ सेन था।

भारतीय आयुर्वेद शास्त्र के आधुनिक इतिहास में कविराज गणनाथ सेन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र को आधुनिक सांचे में ढाल कर उसे लोकोपयोगी बनाने तथा आयुर्वेद की उपयोगिता की ओर सरकार तथा जनता का ध्यान आकर्षित करने में इनकी सेवाएँ महत्वपूर्ण थीं। अखिल भारतीय आयुर्वेद सम्मेलन की स्थापना में भी इनका महत्वपूर्ण सहयोग था।

कविराज गणनाथ सेन ने आयुर्वेद साहित्य में "प्रत्यक्षशारीरम्" और "सिद्धान्तनिदानम्" नामक दो महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों की रचना कर, शरीर शास्त्र और निदान शास्त्र पर आयुर्वेद के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया।

इन्होंने अपने पिता की स्मृति में विश्वनाथ आयुर्वेद विद्यापीठ के नाम से आयुर्वेद की एक शिक्षासंस्था स्थापित की और अपने प्रयत्न से कलकत्ते में कल्पतरु प्रसाद नामक विशाल भवन का निर्माण करवाया।

गणधर

जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर के समवशरण में उनकी वाणी की विशद व्याख्या करने वाले आचार्यों को गणधर कहा जाता है। गणधर तीर्थंकरों की शिष्य परम्परा में होते हैं।

भगवान महावीर (ई० पू० छठी शताब्दी) के ग्यारह गणधर थे। जिनके नाम (१) इन्द्रभूति (२) अग्निभूति (३) वायुभूति (४) आर्य्य व्यक्त (५) सुधर्माचार्य (६) मण्डीपुत्र (७) मौर्य्यपुत्र (८) अंकापित (९) अचलवृत (१०) मैत्रेयाचार्य्य (११) प्रभासाचार्य्य थे।

ये सभी गणधर ब्राह्मण वर्ण के थे। इनमें से पहले तीन गौतमगोत्रीय, चौथे भारद्वाज गोत्रीय, पांचवे अग्नि वैशम्पायन गोत्रीय, छठे वसिष्ठ गोत्रीय, सातवें काश्यप गोत्रीय, आठवें गौतम गोत्रीय, नवें हरितायन गोत्रीय तथा दसवें और ग्यारहवें काण्डीय गोत्रीय थे।

इन सभी गणधरों की अलग अलग श्रमण-परम्पराएँ थीं। प्रथम पांच गणधरों में से प्रत्येक के पांच सौ श्रमण थे। छठें और सातवें गणधरों के ढाई-ढाई सौ श्रमण थे। आठवें और नवें गणधरों की सम्मिलित श्रमण संख्या ६०० और दसवें तथा ग्यारहवें गणधरों की सम्मिलित श्रमण संख्या ६०० थी।

कल्प सूत्र के अनुसार जिस समय भगवान् महावीर को कैवल्य प्राप्ति हुई उसी समय अपापा नगरी में 'सोमिल' नामक ब्राह्मण के यहाँ यज्ञ को सम्पन्न करवाने के लिए उपरोक्त ११ वेदज्ञ ब्राह्मण विद्वान् आये हुए थे। जब इन विद्वान ब्राह्मणों ने तीर्थंकर के समवशरण की ओर दौड़ कर जाते हुए हजारों लोगों को देखा तो इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। पूछने पर मालूम हुआ कि सब लोग तीर्थंकर महावीर के समवशरण में उपदेश सुनने जा रहे हैं।

तब इन विद्वानों ने तीर्थंकर महावीर को शास्त्रार्थ में पराजित करने का विचार किया। और सबसे पहले इन्द्रभूति गौतम तीर्थंकर महावीर से शास्त्रार्थ करने गये। मगर जब इन्द्रभूति के सब प्रश्नों का महावीर ने सन्तोषजनक समाधान कर दिया तो वे वहीं पर उनके शिष्य बन गये और उनके पहले गणधर हुए।

इसी प्रकार बारी-बारी से ग्यारहों विद्वानों ने समवशरण में पहुंच कर अपने प्रश्नों की शृंखला उपस्थित की और उचित समाधान पाकर सभी भगवान महावीर के शिष्य हो गये। यही ग्यारहों विद्वान उनके गणधर कहलाये। और इन्होंने भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार करने में बहुत बड़ा भाग लिया।

गणित-शास्त्र (Mathamatix)

हिसाब किताब, नाप जोख, गणना तथा खगोल मण्डल के नक्षत्रों की गति की जानकारी देने वाला एक महान् शास्त्र। जिसका मानव जाति के विकास के साथ साथ भिन्न-भिन्न देशों मे भिन्न-भिन्न रूपों में विकास हुआ। गणित की मुख्य-मुख्य शाखाएँ अङ्कगणित (Arithemetic) बीजगणित (Algubra) रेखागणित (Geomatry) त्रिकोणमिति (Trignamiti) और कलक्युलेशन (Calculation) मानी जाती है।

अङ्क गणित

ऐसा समझा जाता है कि सभ्यता के प्रारम्भिक काल में ही मनुष्य को संख्या और गिनती का मोटा ज्ञान हो गया

था। क्योंकि इस ज्ञान के बिना वह अपना सामाजिक और दैनिक जीवन नहीं चला सकता था। प्रत्येक शरीर में ईश्वर ने एक मुँह, दो आंखे, पांच ऊँगलियाँ इत्यादि संख्या को संकेत करने वाली चीजें रख दी थी। जिनके आधार पर संख्या-भेद का प्रारम्भिक ज्ञान उसे स्वाभाविक रूप से हो जाता था।

जब मानव-समाज में लिखने की कला का आविष्कार हुआ तो वर्णलिपि की तरह संख्या-लिपि की ओर भी मनुष्य का ध्यान गया और संसार के विभिन्न देशों में ये संख्या लिपियाँ विभिन्न रूपों में आविष्कृत की गई।

शून्य का आविष्कार

मगर जब तक मानवीय गणित-शास्त्र में शून्य (०) का आविष्कार नहीं हुआ, तब तक मनुष्य के अङ्क-गणित सम्बन्धी ज्ञान का अधिक विकास न हो सका। शून्य का आविष्कार गणित-शास्त्र के इतिहास में एक चमत्कारिक घटना है। इससे बड़ी से बड़ी संख्या की कल्पना और उसको आसानी से लिखने की पद्धति मनुष्य के हाथ लग गई। शून्य के आविष्कार से मनुष्य जाति का गणित ज्ञान अन्त से अनन्त की ओर बढ़ गया। एक शून्य लगाई दसगुना, फिर एक शून्य लगाई सौ गुना, उस पर फिर एक शून्य लगाई हजार गुना इस प्रकार शून्य के रूप में गणित शास्त्र को एक महान् शक्ति की प्राप्ति हो गई।

शून्य का आविष्कार कब और कहां हुआ। इसके जवाब में कहा जा सकता है कि इसका आविष्कार कब हुआ इसका तो कोई निश्चित प्रमाण नहीं है मगर इसका आविष्कार कहाँ हुआ इसके सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इसका आविष्कार भारतवर्ष में हुआ। और यहां के गणित-शास्त्र में इसका निर्द्वन्द उपयोग होने लगा।

भारतवर्ष

भारत के प्राचीन साहित्य में छान्दोग्य-उपनिषद् के अन्तर्गत राशि विद्या का एक विज्ञान के रूप में उल्लेख है, जिसका उच्च ज्ञान नारद ने सनत्कुमार से प्राप्त किया था। बाद में यह विज्ञान गणित के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

एक प्राचीन मूलसूत्र का कहना है कि जिस प्रकार मोरों के सिर पर मुकुट होता है—जिस प्रकार सांपों के फण पर मणि होती है, उसी प्रकार सभी विज्ञानों के ऊपर गणित है। भारतीय गणित की सबसे बड़ी देन शून्य का आविष्कार है। शून्य की यह अङ्क प्रणाली भारतवर्ष के विद्वानों द्वारा अरबस्तान पहुँची। वहाँ पर खलीफा अलमामून के समय में इसका अरबी में 'हिन्दसा' अंकों के नाम से अनुवाद हुआ और वहाँ से यह अंक-प्रणाली यूरोप मे पहुँची। इसी से वहाँ के लोग इसे अरबी-अङ्क-प्रणाली कहते हैं। परन्तु अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि यह अंक प्रणाली अरबी-परम्परा में दृष्टिगोचर होने के १००० वर्ष पूर्व सम्राट् अशोक की आज्ञाओं मे पायी जाती है।

ईसा की नवीं सदी में अरबस्तान में खलीफा अल-मामून का शासन था। खलीफा अल-मामून बड़े विद्या व्यासनी और ज्ञान की खोज में दिलचस्पी रखने वाले खलीफा थे। इन्होंने बैतूल-ऊल-हिक्मा नाम से अरब में एक ज्ञान-संस्था की स्थापना कर रक्खी थी। इनके दरबार में भारतवर्ष से ज्योतिष शास्त्र और गणित-शास्त्र का एक प्रकाण्ड पण्डित जिसका नाम कड था पहुँचा। जो अपने साथ भारतीय ज्योतिष और गणित के कुछ ग्रन्थ रक्खे हुए था। उसने खलीफा-अल मामून की ज्ञान संस्था में भारतीय गणित-शास्त्र और शून्य की उपयोगिता को बताया। शून्य के इस महान् प्रभाव को देखकर अरब के गणित-शास्त्री और ज्योतिषी चमत्कृत हो गये। खलीफा-अल-मामून ने अरबी गणितशास्त्र में शून्य को ग्रहण करने और इन भारतीय ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद करने के आदेश दिये। तब वहां के प्रसिद्ध विद्वान अल-ख्वारेज्मी ने इस ग्रन्थ का अनुवाद अल-सिन्द-हिन्द के नाम से किया। इसी ग्रन्थ के द्वारा यूरोप के लोगों ने भी गणित शास्त्र मे शून्य का प्रयोग सीखा और उसके बाद सारे संसार मे "शून्य" का प्रचार हो गया। फ्रान्स के सुप्रसिद्ध गणित शास्त्री लेप-लासने भारत को इस मौलिक खोज के लिए बधाई दी थी।

अङ्कगणित के इतिहास में भारतवर्ष के अन्तर्गत आर्य्य भट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, महावीराचार्य्य, श्रीधराचार्य्य, भास्कराचार्य्य, गणेश, सूर्यदास, इत्यादि गणित-शास्त्रियों के नाम संसार भर में प्रसिद्ध हैं। यद्यपि इन महान् लेखकों की विशेष खोजें बीज गणित, ज्यामिति और नक्षत्र-गणना के सम्बन्ध में है फिर भी अङ्कगणित के इतिहास में भी इनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन कम नहीं किया जा सकता।

आर्य्य भट्ट के "आर्यभटीय" नामक ग्रन्थ में अङ्कगणित, बीजगणित, ज्यामिति और त्रिकोणमिति पर ३३ सूत्र दिये हुए हैं। आर्य्य भट्ट का जन्म सन् ४७६ में पटना के पास कुसुमपुर नामक स्थान पर हुआ था। इन्होंने गणितशास्त्र में वर्गमूल, घनमूल, त्रैराशिक इत्यादि गणितशास्त्र के कई विषयों पर सूत्रों की रचना की है।

ब्रह्मगुप्त उज्जैन के रहनेवाले थे। इनका जन्म सन् ५५८ के लगभग मानाजाता है। वे अपने समय के सुप्रसिद्ध गणित शास्त्री और ज्योतिषी थे। इन्होंने "ब्राह्म स्फुट" नामक प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के इक्कीस अध्यायो मे दो अध्याय अङ्कगणित पर और शेष ज्योतिष पर है। इस ग्रन्थ मे वर्गमूल, घनमूल, गुणन के चार प्रकार, वर्ग, घन, भिन्न, अनुपात, त्रैराशिक, विषम संख्या, ब्याज इत्यादि अनेक विषयो पर विवेचन किया है ब्रह्मगुप्त के विवेचन को देखकर ऐसा मालूम होता है कि उस समय भारतीय अङ्कगणित विकास की काफी ऊँची सीमा पर पहुँच चुका था। ब्रह्मगुप्त ने अपने इस ग्रन्थ के द्वारा न केवल भारतीय-गणित के इतिहास मे प्रत्युत समग्र संसार के गणित के इतिहास में अपना एक प्रमुख स्थान बना लिया है।

ब्रह्मगुप्त के पश्चात् भारतीय गणित के इतिहास में महावीराचार्य्य का नाम चमकता हुआ दृष्टिगोचर होता है। ये एक जैनाचार्य्य थे। ऐसा समझा जाता है किये राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष तृतीय के समकालीन थे। जिनका समय ईसा की नवी शताब्दी के प्रारम्भ मे था। महावीर के लिखे हुए ग्रन्थो मे गणित सार-संग्रह नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। गणित सार-संग्रह मे ९ अध्याय हैं। इस ग्रन्थ मे ग्रन्थकार ने नाप तौल के पैमाने, गुणन की चार विधियाँ और "कपाट-सन्धि" नामक पाँचवी गुणन विधि का भी विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त छः प्रकार के भिन्न, वर्गमूल, घनमूल, व्यापार-गणित, इकाई भिन्न, त्रैराशिक और शून्य सम्बन्धी क्रियाओं का विवेचन किया है।

मगर भारतीय गणितशास्त्र के इतिहास में "भास्कराचार्य्य" गणित के सबसे बड़े आचार्य हुए। इनका जन्म सन् १११४ में और मृत्यु सन् ११८५ में हुई। भास्कराचार्य्य उज्जैन वेधशाला के निर्देशक थे।

भास्कराचार्य्य की जिस कृति ने उनको संसार भर के गणितशास्त्र के इतिहास में अमर कर दिया उस कृति का नाम "लीलावती" है। जिसका नाम उन्होंने अपनी पुत्री लीलावती के नाम पर रक्खा था। लीलावती का फारसी अनुवाद सन् १५८७ में फैजी ने और इसका अंग्रेजी अनुवाद सन् १८१६ में "टेलर" ने किया था। "लीलावती" में अङ्कगणित, बीजगणित और ज्यामिति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अङ्कगणित में पूर्णाङ्क और भिन्न, त्रैराशिक, ब्याज, व्यापार-गणित, मिश्रगणित, इत्यादि प्रकरणों का समावेश है। इसमें "क्रकच व्यवहार" नामक एक ऐसे अध्याय का वर्णन है जो दूसरी पुस्तकों में नहीं पाया जाता। इस अध्याय का सम्बन्ध लकड़ी चीरने का हिसाब लगाने से है। जिस लकड़ी को चीरा जाता है अगर उसकी लम्बाई चौड़ाई समतल नहीं है तो उसका क्षेत्रफल कैसे निकालना इसका विवेचन किया गया है। लीलावती के अतिरिक्त भास्कराचार्य्य की "बीज गणित" और "सिद्धान्त शिरोमणि" नामक दो कृतियाँ और उपलब्ध है।

भास्कराचार्य के पश्चात् सोलहवी सदी मे "गणेश" नामक प्रसिद्ध ज्योतिषी और गणितशास्त्री हुए। इनका "गृह-लाघव" नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। "लीलावती" पर भी इन्होंने एक बड़ी महत्वपूर्ण टीका लिखी। इस टीका में इन्होंने "गुणन" की एक नवीन पद्धति का परिचय दिया।

इसी प्रकार सूर्य्यदास ने भी लीलावती टीका, बीज टीका, बीजगणित और गणित-मालती इत्यादि टीकाओं और ग्रन्थों की रचना की।

बेबीलोनिया

भारतवर्ष की तरह मेसोपेटोमियाँ की बेबीलोनियन सभ्यता में भी गणित का इतिहास बहुत पुराना है। इस देश के लोगों ने ईसा से करीब तीन हजार वर्ष पूर्व ही एक संख्या पद्धति का आविष्कार कर लिया था जो वहाँ पाये जाने वाले शिलालेखों में दिखाई पड़ती है। इसी युग के आस पास वहाँ पर तौलने के बाट भी बन गये थे जो काँसे के बनाये जाते थे। ई० सन् से १००० वर्ष पूर्व ये लोग

लिखने की कला से भी परिचित हो गये थे। और इनकी हुण्डियाँ ईरान और हिन्दुस्तान में चलती थी।

बेबीलोनिया के सबसे प्रसिद्ध सम्राट् हम्मूरबी (ई० सन् से १९५० वर्ष पूर्व) के समय का एक स्कूल का खण्डहर अभी मिला है। जिसे इतिहासकार संसार की सबसे प्राचीन पाठशाला का भवन मानते हैं। इस खण्डहर की खुदाई मे से प्राचीन युग की लिखने की पट्टियाँ पाई गई हैं। इन पट्टियों से बेबीलोनिया के तत्कालीन गणित-ज्ञान का स्पष्ट परिचय मिलता है। एक पट्टी में १ से ६० तक की संख्याओं के वर्ग और १ से ३२ तक की संख्याओं के घनफल दिये हुए हैं। इन पट्टियों में ६० की संख्या को संख्या-पद्धति का आधार माना गया है। इन पट्टियों में भिन्न का भी प्रयोग दिखलाई पड़ता है।

ज्योतिष गणित के सम्बन्ध में तथा सूर्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध में बेबीलोनिया बहुत पहले से जानकार हो गया था।

मिश्र

मिस्र की सभ्यता संसार की अत्यन्त प्राचीन सभ्यता है। इस सभ्यता में भी गणितशास्त्र के ज्ञान का विकास बहुत प्राचीन समय से हो चुका था। ईसा से करीब दो हजार वर्ष पूर्व वहाँ लेखन कला का प्रचार हो चुका था और लिखने के लिए भोजपत्र की तरह एक वृक्ष से कागज बनाया जाता था। जिसे "पेपरी कहते थे। इसी पेपरी से अंग्रेजी का "पेपर" शब्द निकला है। इस कागज पर जो ग्रन्थ लिखेजाते थे वे "पेपिरस" कहलाते थे। इस प्रकार के पेपिरसों में रिहण्ड-पेपिरस और मास्को पेपिरस उपलब्ध हैं। जो ईसा से करीब १५ सदी पहले के लिखे हुए हैं। इन ग्रन्थों में उस समय के मिस्र के गणित-शास्त्र पर काफी प्रकाश पड़ता है। रिहण्ड पेपिरस का पुराना नाम "अहमिस पेपिरस" था। इस पेपिरस मे ८५ प्रश्न हैं। जो विशेष कर व्यवहार गणित, पशुओं के भोजन और अन्न पर हैं। इन प्रश्नों से मालूम होता है कि मिस्र के गणितकार भिन्न के प्रयोग में बड़े दक्ष थे। इनका व्यापार सम्बन्धी गणित भी बहुत बढ़ा चढ़ा था। ईसा से १५०० वर्ष पूर्व बना हुआ मिस्र में 'दरुल वहरी" नाम का एक मन्दिर है जो वहां की रानी "हताशु" ने बनाया था इस मन्दिर की दीवारों पर बड़ी संख्याएँ चित्रित की हुई हैं। इससे मालूम होता है कि ये लोग संख्याएँ के प्रयोग में उस समय काफी दक्ष हो चुके थे।

प्राचीन यूनान

यूनान की प्राचीन सभ्यता में भी गणितशास्त्र का सर्वाङ्ग मुखी विकास हुआ था। संसार के बड़े-बड़े गणित शास्त्री यूनान ने पैदा हुए। और मिश्र के सिकन्दरिया नामक स्थान की ज्ञान-संस्था ने भी कई यूनानी गणित शास्त्रियों को पैदा किया। यूनान के सुप्रसिद्ध गणित शास्त्रियो में पायथा गोरस, प्लेटो, इराटोस्थेनीज (Eratosthenes) आर्किमेडीज (Archimedes) अपोलोनियस (Apollonius) निकोमेकस (Nicomacus) इत्यादि नाम उल्लेखनीय है।

पायथागोरस

पायथागोरस का जन्म ई० पूर्व सन् ५३२ में हुआ था। यह व्यक्ति एक प्रसिद्ध दार्शनिक और गणित शास्त्री था। वह दर्शन और गणित को एक ही वृक्ष की दो शाखा समझता था। अंकगणित, रेखागणित, ज्योतिष और संगीत इन चार विद्याओं को वह संसार की श्रेष्ठ विद्याएँ मानता था। पायथागोरस के मत मे संख्याएँ सम (Even) और विषम (odd) ऐसे दो प्रकार की होती है। विषम संख्याएँ सीमा का निश्चय करती हैं और सम संख्या "असीम" की ओर सक्तेत करती हैं। ससीम और असीम की कल्पना से ही देश, काल और गति का ज्ञान होता है। पायथागोरस के मत में संसार के अन्दर दस आधारभूत विरोधी तत्व हैं। (१) एक और अनेक (२) दाहिना और बायां (३) पुरुष और स्त्री (४) विराम और गति (५) उजेला और अन्धेरा (६) भला और बुरा (७) वर्ग और आयताकार (८) ऋजु और वक्र (९) सम और विषय (१०) ससीम और असीम। इन विरोधभासित तत्वों के मेल का नाम ही संसार है। पायथागोरस सम संख्याओं को मादा संख्या और विषम संख्या को नर संख्या कहता था।

गणित के अन्दर पायथागोरस के निकाले हुए प्रमेय पायथागोरस-प्रमेय के नाम से प्रसिद्ध हैं। पायथागोरस के स्वतंत्र सिद्धान्तों के कारण उस युग में उस पर बड़े-बड़े अत्याचार हुए। उसे कई दफे इधर से उधर भागना पड़ा। उसके सभा भवनों मे आग लगायी गई और उसकी मृत्यु अत्यन्त दुःखान्त हुई। मगर बाद में किसी देवी के कहने पर

उसकी मृत्यु के पश्चात् वहाँ के लोगों ने उसका बड़ा आदर किया। उसकी मूर्ति बनाई गई और उसकी पूजा होने लगी। और वह अपने युग का सबसे बड़ा दार्शनिक और गणित शास्त्री माना जाने लगा।

अफलातून (Plato)

अफलातून यूनान का सबसे बड़ा दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, और समाजशास्त्री समझा जाता है मगर गणित शास्त्र में भी उसका योगदान बड़ा महत्वपूर्ण है। उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "रिपब्लिक" के आठवें भाग में गणित शास्त्र सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। उसने गणित शास्त्र के सम्बन्ध में पायथागोरस के द्वारा निकाले हुए कुछ सिद्धान्तों का खण्डन भी किया है। अफलातून के पश्चात् उसके शिष्य स्पूसिप्पस, झेनाक्रीटिस और अरिस्टोटल ने उसके गणित सम्बन्धी अन्वेषणों को आगे बढ़ाया।

इराटोस्थनीज (Eratosthenes)

यह सिकन्दरिया सम्प्रदाय का एक यूनानी गणितज्ञ था। इसका जन्म ई० पू० सन् २७६ में और मृत्यु ई० पू० १९४ में हुई, इसकी शिक्षा दीक्षा सिकान्दरिया की यूनान संस्था में हुई।

इराटोस्थिनीज गणितीय भूगोल का जन्मदाता माना जाता है। उसने शायद सबसे पहले पृथ्वी की परिधि और व्यास का नाप बतलाया। अभाज्य संख्याओं को निकालने की विधि "सिव्ह ऑफ इरास्टोस्थिनीज" (Sieve of Eratosthenes) कहलाती है। इरास्टोस्थिनीज अपने युगका महान् गणितज्ञ था।

आर्किमिडीस (Archimedes)

आर्किमीडीस भी सिकन्दरिया स्कूल का स्नातक था। इसने अपना सारा जीवन गणितशास्त्र की खोजों में लगा दिया। इसका जन्म ई० पू० सन् २८६ में और मृत्यु ई० पू० २१२ में हुई। आर्कीमिडिस को गणितशास्त्र सम्बन्धी कई यंत्रों के आविष्कार का भी श्रेय प्राप्त है। आर्कीमिडिस ने ही चाँदी मिले हुए सोने को पानी में तोलकर असली सोने का वजन निकालने की पद्धति का आविष्कार किया था। आर्किमिडीज के महत्वपूर्ण कार्य रेखागणित के क्षेत्र में हैं। अंकगणित के क्षेत्र में उसने Sand Reckoner या रेत-गणक के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।

इसी प्रकार अपोलोनियस और निकोमेकस भी अलेक्जेण्ड्रिया सम्प्रदाये के प्रसिद्ध गणितज्ञ हुए।

यूरोप

यूरोप में मध्यकालीन अङ्कगणित का सबसे पहला और प्रमुख आचार्य "बोथियस" माना जाता है। इसका जन्म सन् ७३५ में और मृत्यु सन् ८०४ में हुई। यह रोम का रहने वाला था। इसने अङ्कगणित और जामेट्री पर बड़े महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। बोथियस का अङ्कगणित निकोमेकस के और उसकी जामेट्री यूक्लिड के सिद्धान्तों पर विशेष रूप से आधारित थी।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच पिसानगर में लिओनार्डो फिबोनक्की (Leonarodo Fibonacci) नामक एक बहुत प्रसिद्ध गणितशास्त्री हुआ। इसका समय ११७०-१२५० के लगभग है। इसका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'लीवर अबाकी" बहुत प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में हिन्दुओं की संख्या लेखन-पद्धति पर भी एक अध्याय दिया हुआ है। जिससे पता चलता है कि यह गणितशास्त्री हिन्दुओं की संख्या लेखन पद्धति से प्रभावित था। अपने ग्रंथ में इसने गणित शास्त्र के भिन्न-भिन्न विषयों पर प्रकाश डाला है।

सन् १२३० में इङ्गलैंड में साक्रोबोस्को (Sacrobosco नामक एक प्रसिद्ध गणितशास्त्री हुआ। जिसने यूरोप में हिन्दू अङ्क पद्धति का बहुत प्रचार किया।

लूसा पोसियाली (Lusa pacioli) नामक एक इटालियन संत भी गणितशास्त्र के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। इसका जन्म सन् १४४५ में और मृत्यु सन् १५०९ में मानी जाती है। इसका सूमा (Suma) नामक ग्रन्थ विश्व के गणित साहित्य में इसकी अनोखी देन है। इस ग्रन्थ में पूर्वीय गणित क्षेत्र के अनेकों आचार्यों के मतों का संग्रह किया गया है। इसके और भी कई प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थ हैं।

पुनर्जागरण युग में यूरोप में गणितशास्त्र का पुनरुत्थान सोलहवीं सदी के प्रारम्भ से हुआ। सबसे पहले इटली के गिरोलेमो (Girolamo) और टैग्लिएण्टे (Tagliente)

नामक दो गणितशास्त्रियों ने अंकगणित पर एक पुस्तक प्रकाशित की। जो उस युग में बहुत लोकप्रिय हुई। इसके पश्चात् "लाभेसियो (Lazesio) नामक इटली के एक और गणितशास्त्री ने अङ्कगणित, बीजगणित और रेखा-गणित के कुछ सिद्धांतों पर एक ग्रन्थ निकला। यह ग्रन्थ भी बहुत लोकप्रिय हुआ।

इन्ही दिनों फ्रान्स में गणितशास्त्र के अन्तर्गत लियांस नगर में लियांस (Lyons) नामक एक विशिष्ट सम्प्रदाय की स्थापना हुई, जिसमें कई बड़े-बड़े गणितज्ञ पैदा हुए। इस लियान्स स्कूल से राची (Roche) पिडमाण्टोईस (Pied-montois) कस्वर्ट टॉनस्टॉल (Tonstall) इत्यादि बड़े प्रसिद्ध गणितकार हुए।

इङ्गलैंड में सोलह सदी में "राबर्ट रेकार्ड" (Robert Record) नामक सुप्रसिद्ध गणितशास्त्री हुआ।

इसका जन्म सन् १५१० में और मृत्यु १५५८ में हुई। इसने गणित शास्त्र पर (१) ग्राउण्ड ऑफ आर्ट्स (२) केसिल ऑफ नॉलेज (३) पाथ वे टू नॉलेज और (४) ह्वेट स्टोन ऑफ विट नामक चार ग्रन्थों का निर्माण किया। ग्राउण्ड ऑफ आर्ट्स में अंकगणको और अङ्कों के द्वारा कलक्यूलेशन करने की बिधियाँ तथा व्यापार गणित के दूसरे विषयों का विवेचन किया गया है। पॉथ वे टू नॉलेज" में प्रसिद्ध गणित कार "यूक्लिड" के रेखा गणितीय सिद्धान्तो की विवेचना की गई है। "ह्वेट स्टोन ऑफ विट" में बीज-गणित के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इसी ग्रन्थ में सबसे पहले रेकार्ड ने समीकरण चिन्हका प्रयोग किया था जो आगे चलकर बहुत प्रचलित हो गया।

जॉन डी (John Dee) भी इङ्गलैंड का एक प्रसिद्ध गणित कार हुआ। इसका जन्म सन् १५२७ में और मृत्यु सन् १६०८ में हुई। उसने "यूक्लिड की जामेट्री का सब से पहले अंग्रेजी में अनुवाद किया और यूक्लिड पर एक टीका की प्रकाशित की।

इसी प्रकार अर्फट का ग्रेमेटियस (Grammatcus) (सन् १४९६) जर्मनीका एडम रीज (Adam Riesuj) हॉलैण्ड का रेनियर (Gemma Frisuis of regnier) और साइमन स्टेविन्सन (Simon Stevinus) इत्यादि और भी अनेक बड़े बड़े गणितज्ञ हुए जिन्होंने अपने ज्ञान से गणित शास्त्र को समृद्ध किया।

बीज–गणित

किसी अज्ञात वस्तु या राशि को, ज्ञात और कल्पित वस्तु के द्वारा प्रत्यक्ष में लाने के गणित को बीज गणित कहते है। इस गणित में अंकों को अक्षरों के द्वारा निरूपित किया जाता है। बीज गणित का मुख्य विषय समीकरणों का साधन है इसका आधार भूत प्रमेय यह है कि "प्रत्येक समीकरण का एक मूल अवश्य होता है।

बीज गणित को अंग्रेजी में एलजबरा (Algebra) चीन में वियेन यूयेंन ('स्वर्गीय तत्व') जापान में काइगेंन-सी-हो-(अज्ञात का ज्ञान') इटली में रेंगोला दला-कोसा ('अज्ञात राशि) का नियम और जर्मनी में डी-कास अथवा "अज्ञात राशि कहते हैं।

भारतवर्ष में इसका "बीज-गणित" नामकरण सबसे पहले सन् ८६० में 'पृथूदक स्वामी" ने किया। इसके पूर्व इसको "कुट्टक गणित, कहते थे।

अंग्रेजी का एलजबरा नाम बगदाद के "अल ख्वा-रिज्मी" नामक गणितशास्त्री की पुस्तक "अल-जब्र-वल-मुकाबला' का अपभ्रंश है। अलख्वारिज्मी की पुस्तक को यूरोप में इतना महत्व मिला कि वहाँ पर इस शास्त्र का नाम ही उसके नाम पर रक्खा गया।

भारतवर्ष

बीज गणित का प्रारम्भ भी अंक गणित की तरह भारत वर्ष में ही हुआ। इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। ऋग्वेद का काल जो कम से कम ईसा से पाँच हजार वर्ष पूर्व समझा जाता है, उस काल में भी हमारे यहाँ यज्ञ होते थे और यज्ञों के हवन-कार्यों के लिये भिन्न आकार-प्रकार की वेदियाँ बनाई जाती थी। इन वेदियों का इतना महत्व था कि इनके रूप का निरूपण करने के लिये कई "शुल्व-सूत्रों" की रचना की गई थी। इनमें "बोधायन" "कात्यायन" "वाराह" "मानव" "मैत्रायण" आदि ऋषियों के शुल्व-सूत्र अब भी उपलब्ध हैं। जिनमें इन वेदियों की कई प्रकार की रेखा-गणितीय रचनाएँ दी गई हैं। जिनके द्वारा बीज-गणित के समी करणों के हल निकलते हैं।

रामायण और महाभारत काल में नल नील के द्वारा रामेश्वरम् का पुल बांधा जाना या यज्ञों की वेदियों का बनाया जाना इत्यादि विषयों का ज्ञान पूर्ण उन्नति पर था। युद्ध में तरह-तरह की व्यूह-रचना करना इत्यादि कलाओं का विकास हो चुका था। इससे पता चलता है कि इन सब वातों की वैज्ञानिक जानकारी के लिये उस समय के लोगों को बीज-गणित का अच्छा ज्ञान था।

बुद्ध-काल में या मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उस समय गणित शास्त्र के ज्ञान का काफी विकास हो चुका था।

पेशावर जिले की मदन नामक तहसील के "भक्साली" नामक ग्राम में सन् १८८१ में एक टीले की खुदाई करते हुए भोजपत्र पर लिखी हुई हस्तलिपि की एक पुस्तक प्राप्त हुई है। जिसके बहुत से पृष्ठ तो नष्ट हो चुके हैं। केवल ७० पृष्ठ ऐसे बचे हैं जो किसी प्रकार पढे जा सकते हैं। इस पुस्तक में जो लिपि लिखी हुई है, उसका नाम उस समय के अंग्रेज इतिहास कारों ने "भक्साली लिपि" रख दिया है। यह पुस्तक इस समय ऑक्सफोर्ड ने एक पुस्तकालय में सुरक्षित है।

यह पुस्तक सूत्रो में दी हुई है। इन सूत्रों में प्रत्येक प्रश्न के साथ उसकी स्थापना (प्रश्न का स्वरूप) उसके वाद "करण" उस प्रश्न का हल और "प्रत्यय" उस प्रश्न की उपपत्ति दी गई हैं।

इस ग्रन्थ में अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित तीनों तरह के प्रश्न दिये गये हैं। इसमें "वर्गमूल" "एक घात समीकरण" (Linear Equations) वर्गसमीकरण" (Quadratic Equations) समानान्तर श्रेणियाँ (Arithmetical Progressions) मिश्र श्रेणियाँ (Compound Series) सोने चाँदी सम्बन्धी गणित लाभहानि (Computations Relating to Gold) इत्यादि गणित की शाखाओं के प्रश्न दिये गये हैं।

इस पुस्तक के लिखे जाने का समय ईसा की तीसरी शताब्दी में माना जाता है और यह जिस लिपि में लिखी गई है उसे शारदा-लिपि कहा जाता है।

इसके बाद भारतीय बीजगणित के इतिहास में "आर्य भट्ट" "ब्रह्मगुप्त" "महावीर" और 'भास्कराचार्य्य' का नाम आता है। इन महान् गणितकारों का परिचय हम अंकगणित के साथ दे चुके हैं। मगर बीजगणित के क्षेत्र मे इनके अनुसन्धान-अङ्कगणित की अपेक्षा बहुत अधिक महत्वपूर्ण हैं। बीजगणित के ये चारों आचार्य्य केवल भारत ही नहीं समस्त संसार के गणितशास्त्र के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

यूनान

प्राचीन यूनान के बीजगणित विशेषज्ञों में "डायफेण्टस" का नाम सबसे अधिक प्राचीन और प्रसिद्ध है। इस गणितशास्त्री का समय ईसा की तीसरी शताब्दी में माना जाता है। उसके लिखे हुए तीन ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं— "Arithmetica" (अरिथमेटिका) "पोलीगोनलनम्बर्स" (Polygonal Numbers) और Porisms (पोरिस्मस)।

डॉयफेण्टस की अरिथमेरिका वास्तव में बीजगणित का एक ग्रंथ है। इस ग्रंथ मे कई ऐसे प्रश्न दिये गये हैं जिनके हल निकालना बड़े-बड़े गणितज्ञों के लिए भी कठिन है। ऐसे कठिन प्रश्न "डायफेण्टो समीकरण" (Diophantine Equations) के नाम से ही गणितशास्त्र के क्षेत्र में प्रसिद्ध हो गये है।

डॉयफ्रण्टस ने बीजगणित की संकेत-लिपि में भी काफी संशोधन किया। इस प्रकार अपनी विलक्षण प्रतिभा से यह महान् व्यक्ति गणितशास्त्र के इतिहास में अमर हो गया। इसके कुछ समय पश्चात् "आयम्बिलकस" (Iamblicus) नामक सीरिया का गणितकार भी इस क्षेत्र में काफी प्रसिद्ध हुआ।

बगदाद

बगदाद के प्रसिद्ध खलीफा "अल-मामून" के दरबार में "अल-ख्वारेज्मी" नामक सुप्रसिद्ध विद्वान भी गणित-शास्त्र के अपने अनुसंधानों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। इस विद्वान ने ज्योतिष और बीजगणित पर कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। बीजगणित पर इसका ग्रंथ "अल-जब्र बल मुकाबला" है जिसके नाम पर अंग्रेजी शब्द "अल-जबरा" की उत्पत्ति हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से अल-ख्वारेज्मी का काम अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अलख्वारेज्मी के बाद अबू-हनीफ नामक गणितशास्त्री नौवीं सदी के मध्य में हुआ। इसने भी बीजगणित हिन्दू

संख्या-पद्धति और ज्योतिषपर कुछ पुस्तकें लिखीं। अबू-जाफर नामक एक विद्वान ने यूक्लिड की जॉमेट्री और ज्योतिष पर कुछ रचनाएँ कीं। इसका समय दसवीं सदी के मध्य में था।

अरबी-साहित्य का सबसे बड़ा गणितकार "अल-करसी" था। इसकी सबसे प्रसिद्ध रचना "फरवरी" है। जो उसने बीजगणित पर लिखी थी। यह ग्रन्थ बीजगणित के इतिहास में बहुत भारी महत्व रखता है। इस ग्रन्थ में बीजगणित की राशियाँ, मूल, एकघात समीकरण (Linear Equations) द्विघात समीकरण (Quadratic Equations) अनिर्णित समीकरण इत्यादि विषयों का समावेश किया गया है।

उमर-खैय्याम का नाम यद्यपि कविता के क्षेत्र में बहुत अधिक प्रसिद्ध है। मगर गणित के क्षेत्र मे भी उसकी देन बहुमूल्य है। उसने बीजगणित पर एक ग्रंथ लिखा था, जिससे उसकी ख्याति सब दूर फैल गई। जिसके परिणामस्वरूप सुलतान मलिकशाह ने सन् १०७४ में उमर-खैय्याम को अपने दरबार में बुलाकर पंचाग को शुद्ध करने का काम सौंप दिया।

यूरोप

फ्रांस के अन्तर्गत बीजगणित पर गवेषणा करनेवाला लेखक जीन डी म्यूरिस (Jear-De-Muris) सन् १२६० के करीब हुआ। इसने अंकगणित और ज्योतिष पर कुछ रचनाएँ कीं। इसने बीजगणित के समीकरणों का भी अध्ययन किया था। इसी प्रकार चौदहवीं शताब्दी मे "निकोल ओरेसमे" (Nicole Oresme) नामक गणित-कार भी प्रसिद्ध हुआ है।

सोलहवी सदी में यूरोप के अन्तर्गत "जिरोलेमो कार्डन" (Girolamo Cardan) नामक गणितशास्त्री का नाम खूब प्रसिद्ध हुआ। इसने गणित और फलित ज्योतिष पर जो पुस्तकें लिखीं, उनसे इसकी कीर्ति सारे यूरोप में फैल गई। इसका समय सन् १५०१ से १५७६ तक रहा।

कार्डन के पश्चात् निकोल-टार्टेग्लिया (Nicolo Tartaglia) नामक लेखक भी गणित के इतिहास मे बड़ा प्रसिद्ध हुआ। यह भी इटली का रहने वाला था। इस लेखक ने आर्कीमिडीज के ग्रन्थों की टीका और यूक्लिड का इटालियन भाषा में पहला अनुवाद तैय्यार किया। इसकी गनेरी (Gunnery) नामक गणितशास्त्र की रचना ने भी बहुत प्रसिद्धि पाई।

इसके बाद यूरोपीय गणितशास्त्र के इतिहास में फ्रान्स के फ्रान्सोइस वीटा (Francois Vieta) का नाम चमकता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसका समय १५४० से १६०३ तक था।

वीटा को आधुनिक बीजगणित का जन्मदाता कह सकते हैं। उसने सबसे पहले बीजगणित में संख्याओं का निरूपण करने के लिए अक्षरों का प्रयोग किया। ज्ञातराशियों के लिए व्यञ्जनों का और अज्ञातराशियों के लिए स्वरों का।

वीटा के पश्चात् सत्रहवीं सदी में फ्रान्स के प्रसिद्ध गणितज्ञ पिरे-फर्मा (Pierre Fermat) का नाम प्रमुख रूप से आता है। इसने संख्याओं के गुणधर्मों पर बहुत अनुसन्धान किये। इन अनुसन्धानों के कारण यह आधुनिक संख्या-सिद्धान्त का जन्मदाता कहा जाता है। डायफ्रेण्टस के पश्चात् संख्या-सिद्धान्त का इतना बड़ा जानकार दूसरा कोई नहीं हुआ।

इस के बाद "जॉन नेपियर" (John Napier) का नाम बीजगणित के क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसका समय सन् १५५० से १६२७ तक था। सन् १६१४ में इसकी प्रसिद्ध पुस्तक डिस्क्रिप्शियो (Discriptio) का प्रकाशन हुआ, जिसमें इसने लघु-गणकों के आविष्कार का विवरण दिया था। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही संसार के तत्कालीन बड़े-बड़े गणितज्ञ आश्चर्य-चकित हो गये। जो लघुगणक नेपियर ने आविष्कृत किये थे, वे आजकल के लघुगणक दशमलवों से भिन्न थे। सन् १६२४ में नेपियर ने अपने एक सहयोगी के साथ मिलकर "अरिथमेटिका-लॉगरथिमिका" (Arithmetica-Logarithmica) नामक पुस्तक प्रकाशित की। जिसमें १—३०००० और ८०००० से १००००० तक की संख्याओं के लघुगणक दिये हैं। नेपियर की एक पुस्तक 'रेब्डालाजिया' भी उसकी एक महानतम कृति है।

एडमण्ड गण्टर भी एक प्रसिद्ध अंग्रेज गणितकार था। इसका जन्म सन् १५८१ में और मृत्यु १६२६ में हुई। इसके द्वारा आविष्कृत की हुई गण्टरचेन (Gunter Chain) सर्वेक्षण के काम में उपयोगी है। वस्तुओं का उच्चत्व (Atitude) निकालने के लिए इसने गण्टर क्वॉडरेण्ट (Gunter Quadrant) का आविष्कार किया।

मगर गणितशास्त्र के इतिहास में "आइजक न्यूटन" का नाम यूरोप के इतिहास में सर्वोपरि माना जाता है। एक अंग्रेज लेखक का कथन है कि सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक गणितशास्त्र का हिसाब लगाया जाय तो अकेले न्यूटन के द्वारा किया हुआ कार्य्य आधे से अधिक बैठेगा। आइजक न्यूटन का जन्म सन् १६४२ में और मृत्यु १७२७ में हुई। यह महान् वैज्ञानिक गणित की खोजों के साथ ही प्रकाश-सिद्धान्त और गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांतो की खोज के कारण संसार के वैज्ञानिक इतिहास में अमर हो गया।

इसका प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रिन्सीपिया (Principia) इसकी कीर्ति का सबसे बड़ा कीर्तिस्तम्भ है। विश्व की रचना के सम्बन्ध में इसके अन्दर जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया गया, वे दो शताब्दियो तक संसार के तत्वचिन्तकों का पथ-प्रदर्शन करते रहे। न्यूटन के द्वारा गणित और ज्योतिष के सम्बन्ध में बनाए हुए यंत्र अभी तक उपयोगी माने जाते हैं।

सन् १७०७ मे उसकी "अरिथमेटिका यूनिवर्सलिज (Arithmetica Universalis) प्रकाशित हुई। इसमें बीज-गणित और समीकरण सिद्धान्त का विवेचन है अपने समय में यह व्यक्ति गणित और भौतिक विज्ञान का अद्वितीय विद्वान माना जाता था।

अठारहवीं सदी मे गणितशास्त्र के इतिहास में फ्रान्स का गणितकार लुई लेग्राञ्ज (Louis Lagrange) यूरोप में बड़ा प्रसिद्ध हुआ। १८ वर्ष की आयु में ही यह ज्यामेट्री का प्रोफेसर हो गया। और कुछ ही समय के पश्चात् इसने कलक्यूलस ऑफ वेरिएशन (Calculus of Variations) पर दो अभिपत्र लिखे। जिससे इसका यश चारों ओर फैल गया और जर्मनी के तत्कालीन नरेश 'फ्रेडरिक महान्' ने एक महान् गणितज्ञ के नाते इसे अपने यहाँ बुला लिया। इसके लिखे हुए ग्रन्थों में "सीलेशियल मैकैनिकक्स" (Celesial Mechanics) और एनेलिशियल फन्क्शनस (Analytical Functions) विशेष प्रसिद्ध हैं।

फ्रान्स का लेजाण्ड्र (१७५२–१८३३) भी एक महान् गणितज्ञ था। लेजाण्ड्र की विशेष ख्याति इसकी प्रसिद्ध पुस्तक (Exercices de calcul Integral) समाकलन गणित पर प्रश्नावलियों के कारण हुई। यह ग्रन्थ तीन भागों में छपा है और इसके तीसरे भाग में एलिप्टिक इण्टीग्रेल्स (Elliptic Integrals) सारिणियाँ दी हुई है। इसके बाद इसका ग्रन्थ इलेप्टिक फन्क्शन्स (दीर्घवृत्तीय फलन) पर दो भागों में निकला।

संख्या-सिद्धान्त पर भी लेजाण्ड्र की खोजें बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इस विषय पर उसकी एक महत्वपूर्ण पुस्तक सन् १८०१ में प्रकाशित हुई। इसी प्रकार "आकर्षण" "भूमिति" और ज्यामेट्री पर भी उसने कई खोजें की।

स्वीट्जरलैण्ड का "लियोनार्ड आयलर" (Leonhard Euler) भी यूरोप के अन्दर एक महान् गणितज्ञ के रूप में प्रसिद्ध है। इसका जन्म सन् १७०७ में और मृत्यु सन् १७८३ में हुई। आधुनिक वैश्लेषिक गणित के निर्माताओं में "आयलर" का नाम बहुत ऊँचे स्थान पर है। सन् १७४८ में "अनन्त विश्लेषण" पर इसका प्रसिद्ध ग्रंथ निकाला जिसके पहले भाग में "बीजगणित" "समीकरणमीमांसा" "त्रिकोणमिति" आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में स्कैण्डिवेनिया का "आबेल" नामक गणितज्ञ भी यूरोप में बड़ा प्रसिद्ध हुआ। इसने केवल २७ वर्ष की आयु पाई, मगर इतने कम समय में ही इसके अनुसन्धानों ने इसे बहुत प्रसिद्ध कर दिया। इसका जन्म सन् १८०२ में और मृत्यु १८२९ में हुई।

इसी प्रकार अमेरिका में "बेञ्जामिन पियर्स" "मैक्सिम बोचर" इत्यादि गणितकारों ने भी बीजगणित पर अपनी महत्वपूर्ण गवेषणाएँ कीं।

इस प्रकार क्रमशः विकास करते हुए धीरे-धीरे मनुष्य जाति ने बीजगणित क्षेत्र में इतनी उन्नति प्राप्त की।

जॉमेट्री या रेखागणित

मानवजाति के अन्तर्गत बीजगणित के साथ समानान्तर गति से रेखागणित का भी विकास हुआ। ये दोनों गणित एक दूसरे के विशेष रूप से पूरक हैं।

आधुनिक युग में भौतिक विज्ञान की उन्नति के साथ गणितशास्त्र के जॉमेट्री-विभाग का भी बहुत तेजी से विकास हुआ हैं। क्योकि रेखागणित के विकास के बिना भौतिक विज्ञान के विकास की कल्पना भी नही की जा सकती। इन दोनों में कार्यकारण का सम्बन्ध है। खगोल-विज्ञान का अध्ययन करने में भी जॉमेट्री के बिना काम चल नहीं

सकता। इसलिए भौतिक विज्ञान और खगोल विज्ञान के विकास के साथ-साथ गणित-शास्त्र के जामेट्री विभाग में भी कई नयी-नयी शाखाओं का प्रादुर्भाव हो गया।

शुरू में रेखागणित की "प्लेन जामेट्री" और सालिड जामेट्री दो शाखाएँ थीं। और इस शास्त्र का प्रारम्भ भी सबसे पहले भारतवर्ष में यज्ञ की वेदियों के निर्माण का विवेचन करने वाले शुल्व-सूत्रों से हुआ।

जामेट्री अंग्रेजी भाषा का शब्द है और यह शब्द जॉ और मीटर से बना है जिसका अर्थ पृथ्वी और माप होता है। इससे पता चलता है कि यूरोप में यह गणित भूमि के नाप से प्रारम्भ हुआ।

पर भारत वर्ष में जॉमेट्री का उपयोग यज्ञ की वेदियो के साथ-साथ ज्योतिषशास्त्र के विकास मे भी बहुत अधिक हुआ। जो आगे जाकर दूसरे देशों ने भी ग्रहण किया।

रेखागणित का एक सूत्र जो कि यूरोपीय परम्परा के अनुसार पायथागोरस के द्वारा निर्मित्त माना जाता था वह ऐसा ज्ञात होता है कि पायथागोरस से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व या ईसा से आठ सौ वर्ष पूर्व बोधायन ऋषि अपने शुल्वसूत्र में हलकरचुके थे। यह प्रमेय इस प्रकार है "एक समकोण त्रिभुज के कर्ण का वर्ग अन्य दोनों भुजाओं के वर्ग के योगों के बराबर होता है। इससे यह बात साफ प्रकट होती है कि पायथागोरस उक्त प्रमेय का आविष्कर्त्ता नही था, उसने किसी भारतीय गणित के आधार पर ही उसकी रचना की थी।

मिस्र के अन्तर्गत बने हुए प्राचीन पिरामिडों को देखने से पता चलता है कि उस समय ईसा से पूर्व ३००० से लेकर २००० हजार तक के मिश्र के शिल्पकारों को जामेट्री का बहुत काफी ज्ञान था। ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व मिश्र में भूमि के नाप और वर्गीकरण का काम चालू था। जो बिना जॉमेट्री ज्ञान के सम्भव नहीं था।

प्राचीन यूनान के अन्तर्गत और विषयो के साथ-साथ जॉमेट्री गणित के क्षेत्र में भी बड़ी बड़ी प्रतिभाएँ पैदा हुईं। यूनान के गणितज्ञ जॉमेट्री के अन्दर बहुत गहरे घुस गये थे और अङ्कगणित और बीजगणित के प्रश्न भी जॉमेट्री तरीके से हल करते थे। यद्यपि यूनान से पहले ही मिश्र के निवासी जॉमेट्री की रूपरेखा से परिचित थे, पर इस विषय के ज्ञान का शास्त्रीय रूप मिश्र को भी यूनानी विद्वानों ने ही दिया। यूनान के इतिहास में ईसा से पूर्व नौवी से सातवीं शताब्दी तक का युग जॉमेट्री-युग कहलाता है। इन दिनों के बने हुए मन्दिर, मिट्टी के वर्तन, जॉमेट्री के त्रिभुज, समभुज और वृत्तों से भरे हुए हैं।

ईसा से पूर्व सातवीं सदी में यूनान के अन्तर्गत "थेल्स" नामक एक गणितशास्त्री हुआ। इसने सूर्य-ग्रहण के सम्बन्ध में एक भविष्यवाणी बतलाई थी। उसके सत्य निकल जाने के कारण इसका बड़ा नाम हो गया। इसने पहले पहल किसी आकृति की भिन्न-भिन्न रेखाओं मे क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न को उठाकर जॉमेट्री के अन्तर्गत रेखागणित की नींव डाली।

थेल्स के बाद पायथागोरस इस विषय का प्रकाण्ड पंडित हुआ। उसने ज्यामेट्री के सम्बन्ध में कई प्रमेयों को सिद्ध किया और उनकी रचना की विधि का आविष्कार किया। इसी प्रकार प्राचीन यूनान मे हिपाक्रेटस (Hippocrates) टॉलेमी आर्काइटस (Archytas)(४२८-३४३ ई०पू०) थीटेटस (ई० पूर्व ३७५) अफलातून, अरस्तू इत्यादि कई गणितज्ञ हुए जिन्होने ज्यामेट्री के क्षेत्र मे कई अनुसन्धान किये।

यूक्लिड

मगर सारे संसार में जॉमेट्री के क्षेत्र मे "यूक्लिड" ने जो नाम कमाया, उसका मुकाबिला कोई नहीं कर सकता। इसका समय ईसा से तीन शताब्दी पूर्व था। और इसने अलेकजेण्ड्रिया में टॉलेमी के राज्यकाल मे एक स्कूल की स्थापना की थी। यूक्लिड का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ जिसने उसके नाम को गणितशास्त्र के इतिहास में अमर कर दिया "एलीमेण्ट्स" (Elements) था। आधुनिक युग में सन् १८८२ से लेकर सन् १९६० ई० तक इस ग्रन्थ के करीब एक हजार संस्करण छप चुके हैं। इसके अन्य ग्रंथों में डेटा (Data) स्यूडेरिया (Pseudaria) पोरिज्म्स (Porisms) और सरफेस लोकी (Surface Loci) विशेष प्रसिद्ध हैं।

यूक्लिड के पश्चात् अपोलोनियस का नाम भी यूनानी गणितशास्त्र के इतिहास मे बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ कॉनिक्स (Conics) है जो आठ भागों में विभक्त है। उसके और भी कई ग्रन्थ थे मगर वे लुप्त हो

चुके हैं। कॉनिक्स के पूर्वार्द्ध में इस विद्वान ने अपने पूर्ववर्त्ती सभी गणितज्ञों का कार्य्य सुव्यवस्थित रूप में दे दिया है और उत्तरार्द्ध में अपने मौलिक अविलम्बों (Normals) का विवेचन किया है।

इसी प्रकार पेप्स, प्रोक्लस तथा वोथियस ने भी अपने कार्य्यों से रेखागणित को बहुत समृद्ध किया।

भारतवर्ष

मध्यकाल में भारतवर्ष में अंकगणित और बीजगणित की तरह रेखागणित के क्षेत्र में भी आर्यभट्ट का नाम बहुत उल्लेखनीय है। अपने आर्यभट्टीय नामक ग्रंथ के कई अनुच्छेदों में उन्होने रेखागणित के प्रमेयों का उल्लेख किया है। आर्यभट्ट ने एक त्रिभुज, एक विषमकोण, समलम्ब चतुर्भुज तथा एकवृत्त के क्षेत्रफल को निकालने की विधि खोज निकाली। पाश्चात्य रेखागणित मे किसी वृत्त के व्यास का, उसकी परिधि से सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए-यूनानी अक्षर पाई का चिन्ह प्रयोग मे लाया जाता है। व्यास का गुणनफल तथा इस चिन्ह का मूल्य ही उसकी परिधि को बतलाता है। आर्यभट्ट ने इस मूल्य की गणना ३·१४१६ की। जिसकी सटीकता की बराबरी यूरोप में गणितज्ञ "पुरबाक" (Purbach) (१४२३-१४६१) तक नही की जा सकी।

भारतीय रेखागणित के क्षेत्र में आर्यभट्ट की ही तरह ब्रह्मगुप्त के अनुसन्धान भी बड़े महत्वपूर्ण हैं। ब्रह्मगुप्त ने त्रिभुजों, आयतों, समलम्बों, और वृत्तों पर तो सूत्रों की रचना की ही है, मगर गणितीय क्षेत्र में उनका महत्वपूर्ण अनुसन्धान चतुर्भुजों (Cyclic Quadrilaterals) और ठोसों पर हुआ है।

ब्रह्मगुप्त के बाद महावीराचार्य का नाम आता है। वृत्तीय चतुर्भुजों पर उसने ब्रह्मगुप्त के सब सूत्रों को दिया है। मगर उनके अलावा उसने और भी वृत्त, अर्ध वृत्त, निम्न-वृत्त, उन्नत वृत्त, कुम्बक वृत्त (Conchiform Area) इत्यादि अनेक प्रकार के वृत्तों की आकृत्तियाँ दी हैं।

महावीराचार्य के पश्चात् भारतीय रेखागणित में भास्कराचार्य्य का नाम आता है। बीजगणित में विशेष ख्याति प्राप्त होने पर भी रेखागणित के क्षेत्र में भी भास्कराचार्य की सेवाएँ कम महत्व की नहीं कही जा सकती। इनके सुप्रसिद्ध "लीलावती" गणित में क्षेत्र-व्यवहार नामक एक अध्याय रेखागणित पर दिया गया है। इसमें त्रिभुजों और चतुर्भुजों के क्षेत्रफल, वृत्तों के क्षेत्रफल और गोलों के तन और आयतन का विवेचन किया गया है।

समकोण त्रिभुजों पर प्रश्न करते हुए, एक स्थान पर लीलावती से पूछा गया है।

चक्रक्रौञ्चा कुलितसलिले, क्वापि दृष्टं तड़ागे।
तोयादूर्ध्वं कमलकलिकाग्रं वितस्ति प्रमाणम्॥
मदंमन्दं चलित मनिलेनाहतं हस्त युग्मे।
तस्मिन्मग्नम्, गणक कथय क्षिप्रमम्भं प्रमाणम्॥

अर्थात्—एक तलाब में कमल की कली का ऊपरी सिरा जल से आधे हाथ की ऊँचाई पर था। मन्द-मन्द चलती हुई पवन के थपेड़ों से वह जहाँ पर दिखाई पड़ता था, उससे दो हाथ की दूरी पर जाकर डूब गया तो बतलाओ कि तलाब के जल की गहराई क्या है?

इसी प्रकार के और कई प्रकार के प्रश्न करके उनके हल बतलाये गये हैं।

यूरोप

रेखागणित के क्षेत्र में यूरोप में विशेष प्रगति सोलहवी सदी से होना प्रारम्भ हुई। इस शताब्दी में इटली के अन्दर लियोनार्डो (Leonardo) (सन् १४५२-१५१९) फ्रान्सिस्को मोरोलिको (Franeesco Maurolico) (१४९४-१५७५) केटेल्डी (Cataldi) (१५४८-१६२६) फ्रान्स में पेट्रस-रेम्यूस (Patrus Ramus) (१५१५-१५७२) जर्मनी में अल्ब्रेक्ट—ड्यूरर (Albrecht Durer) ल्यूडोल्फ-वान स्यूलेन (Ludolph Van Ceulen) (१५४०-१६१०) नामक गणितकार विशेष प्रसिद्ध हुए।

क्रिस्टोफर क्लेवियस (Christopher Clavius) जर्मनी का बहुत प्रसिद्ध गणितकार था। इसका समय सन् १५३७ से १६७२ तक था। इसने जर्मनी में गणित के अध्ययन को बहुत प्रोत्साहित किया। इसकी बनाई हुई पाठ्य-पुस्तको ने गणित के अध्ययन की ओर लोगो का ध्यान बहुत आकर्षित किया।

क्लेवियस ने यूक्लिड पर एक टीका लिखी। इसी ग्रन्

गणित और बीजगणित तथा पंचाङ्ग विषय पर भी पुस्तकें लिखीं जो बहुत लोकप्रिय हुईं और जिनके कारण इसका नाम सारे यूरोप में प्रसिद्ध हो गया।

सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में इटाली में कैवोलिरी (Bonaventura Cavalieri) नामक प्रसिद्ध गणितकार हुआ, जिसका जन्म सन् १५६८ में और मृत्यु १६४७ में हुई। सन् १६३५ में इसने रेखागणित मे Principle of Indivisibles (अविभाज्यों के सिद्धान्त) नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में उसने बतलाया कि प्रत्येक रेखा में अनन्त बिन्दु, प्रत्येक समतल में अनेक रेखाएँ और प्रत्येक ठोस में अनन्त समतल होते हैं। यद्यपि उसके इस सिद्धांत की उस समय काफी आलोचना हुई। मगर उसने इन सब आलोचनाओं के उत्तर में एक पुस्तक लिखकर इस सिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप दे दिया। उसने अपनी इसी नवीन विधि से कैपलर के द्वारा उठाये हुए कई प्रश्नों को हल किया। कैविलरी ने इस ग्रन्थ के सिवा त्रिकोणमिति, ज्योतिष इत्यदि पर भी कई पुस्तकें लिखीं।

बैरोमीटर नामक प्रसिद्ध यंत्र के आविष्कारक टोरिसेलि (Torricelli) का जन्म भी सन् १६०८ में इटली के फेञ्जानगर में हुआ था। यह सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलिओ का शिष्य था। रेखागणित में इसके द्वारा किये हुए अनुसन्धानों का भी इटाली में बड़ा आदर हुआ।

फ्रांस के 'रेनी डकार्टे' का नाम भी रेखागणित के इतिहास में उल्लेखनीय है। इसका जन्म सन् १५९६ में और मृत्यु १६५० में हुई। इस गणितकार ने निर्देशक जॉमेट्री (Coordinate) की नींव डाली।

फ्रान्स के गणितशास्त्रियों में पॉस्कल का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। इसका जन्म सन् १६२३ में और मृत्यु सन् १६६२ में हुई। इसने यूक्लीड के कई साध्यों को अपने स्वतन्त्र ढंग से सिद्ध किया था। इसके साध्य 'पास्कलप्रमेय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पॉस्कल ने अपने इसी प्रमेय से ४०० उपप्रमेय निकाले थे।

इनके अतिरिक्त राबर्ट सिमसन (१६८७-१७६८) किंग इन क्लीफोर्ड (१८४५-१८८९) के नामक अंग्रेज गणितज्ञ भी उल्लेखनीय हैं।

फ्रांस के प्रसिद्ध गणितज्ञ मांजे (१७४६-१८१८) को वर्णनात्मक जौमेट्री का जन्मदाता माना जाता है। वर्णनात्मक जौमेट्री पर इसने एक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की।

इसके साथ ही जर्मनी के महान् गणितकार फ्रेडरिक गाउस (१७७७-१८५५) का नाम आता है। यह एक मजदूर का पुत्र था। सन् १८०१ में संख्या सिद्धान्त पर इसका प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। जॉमेट्री के क्षेत्र में इसके अनुसन्धान इतने महत्वपूर्ण थे कि उनको वजह से यह आधुनिक युग के तीन महान् गणितकारों में से एक माना जाता है और लेपलॉस तथा लॅग्राज के साथ इसकी गणना की जाती है।

स्विट्जरलैण्ड का 'जेकब-स्टेनर' भी जॉमेट्री-गणित का एक महान् अनुसन्धानकर्त्ता माना जाता है। इसका जन्म सन् १७९६ में और मृत्यु सन् १८६३ में हुई। सन् १८३४ में बर्लिन विश्व-विद्यालय में इसके लिए जॉमेट्री की एक नई गद्दी स्थापित की गई। इसने जॉमेट्री पर कई उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना की।

जॉन बोलिये हंगरी का एक महान् गणितकार था। इसका जन्म सन् १८०२ में और मृत्यु सन् १८६० में हुई।

जॉन बोलिये और रूस के गणित-शास्त्री लोवाच्युस्की (१७९३-१८५६) दोनों ही यूक्लिड की जॉमेट्री के विरोधी थे। उनके मत से यूक्लिड की जॉमेट्री हमें वास्तविकता तक नहीं पहुँचाती, केवल उस वास्तविकता की एक झलकमात्र दिखला देती है। यूक्लिडो जॉमेट्री उनकी सार्विक जॉमेट्री की ही एक सीमा स्थिति है। इन दोनों गणितज्ञों ने अपने अनुसन्धान स्वतन्त्र रूप से निकाले।

इस प्रकार हजारों वर्ष से मानव-बुद्धि की आंच में तपता हुआ गणितशास्त्र का यह प्रमुख अंग आज इस विकसित अवस्था को पहुँचा है।

त्रिकोणमिति

त्रिकोणमिति या ट्रिग्नामिट्री भी गणित-शास्त्र की एक मुख्य शाखा है। इस शाखा से त्रिभुजों की भुजाओं और

कोणों को नाप कर उनके पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख किया जाता है। पहले यह रेखागणित की ही एक शाखा थी। बादमें जैसे-जैसे अनुसन्धान हुए इसने एक स्वतंत्र शाखा का रूप धारण कर लिया।

त्रिकोणमिति का आविष्कार प्रारम्भ में मनुष्य की, समय के ज्ञान सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हुआ। उस समय आज कल की घड़ियों की तरह घड़ियों का आविष्कार नहीं हुआ था और सूर्योदय से सूर्यास्त तक समय का निरूपण करने की सब को आवश्यकता पड़ती थी। मनुष्य ने जब देखा कि सूर्योदय के साथ-साथ धूप में उसकी परछाईं पहले लम्बी और फिर कम होते-होते १२ बजे के मध्याह्न में बिल्कुल कम हो जाती है और फिर उसके बाद बढ़ने लगती है। इस सिद्धान्त के ऊपर सूर्य की चाल के अनुसार उसने धूप-घड़ी का आविष्कार किया और इस धूप-घड़ी में त्रिकोणमिति के हिसाब से उसकी भुजाएं और कोण बनाये गये।

इस प्रकार त्रिकोणमिति का प्रारम्भ सबसे पहले धूप-घड़ी से हुआ। ये धूप-घड़ियां संसार के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न आकारों की बनायी गयीं। मिस्र के अन्दर सबसे प्राचीन धूप-घड़ी ईसवी सन् से पूर्व लगभग १५५० वर्ष पहले बनायी गयी थी। इसकी क्षितिज भुजा को ६ भागों में बांटा गया है, जिस पर घण्टे अङ्कित हैं। प्रातःकाल से बारह बजे तक इसकी पीठ पूर्व की ओर रहती थी और बारह बजे के बाद इसकी पीठ पश्चिम की ओर कर दी जाती थी। इस तरह की एक घड़ी अभी बर्लिन के संग्रहालय में सुरक्षित है।

बेबीलोनियां में गणितकार 'बिरोसस' ई० सन् पूर्व ३०० में हुआ था। इसने एक धूप-घड़ी की रचना की थी। इससे मालूम होता है कि बेबीलोनियां में भी त्रिकोणमिति का विकास पहले हो चुका था। प्राचीन यूनान में भी कई आकृतियों की धूप-घड़ियां बनाय जाती थीं, जिनका वर्णन सुप्रसिद्ध खगोलशास्त्री और गणितज्ञ 'टॉलेमी' ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अल्मेजेस्ट' में किया है।

इसी प्रकार भारतवर्ष में, रोम में, अरब में भी धूप-घड़ियों का प्रचलन हुआ।

प्राचीन युग में सभी देशों में गणित की भिन्न-भिन्न शाखाओं का विकास, प्रायः समान-लेखकों से हुआ है। जिन लोगों ने रेखा गणित और बीज गणित पर अपने अनुसन्धान किये--त्रिकोणमिति के अन्दर विशेषकर उन्हींके नाम आते हैं। जैसे, भारतवर्ष में 'भास्कराचार्य' 'आर्यभट्ट' 'बराहमिहिर, इत्यादि गणितज्ञों के नाम बीजगणित और रेखागणित की तरह त्रिकोणमिति के अन्दर भी प्रधानरूप से आते हैं।

इसी प्रकार प्राचीन यूनान में 'हिपार्कस' टॉलेमी' अरब में 'अल्ख्वारेज्मी' 'अबुलवफा' इत्यादि के नाम भी त्रिकोणमिति के इतिहास में उल्लेखनीय हैं।

इन लोगों के अतिरिक्त भारतवर्ष में 'लल्ल' नामक एक ज्योतिषी का नाम आता है। इसने सन् ५९८ ई० में 'धीवृद्धि तंत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें ज्या और उज्ज्या की सारिणियां दी गयी हैं। इन्होंने गोले की त्रिज्या को सूर्य-सिद्धान्त की भांति ३४३८ माना है। और एक अन्य सारिणी में त्रिज्या १५० मानी गयी है। ब्रह्मगुप्त ने अपनी 'ज्यासारिणी' में त्रिज्या ३२ और ७० ली है।

अरब में 'अबुलवफा' नामक एक गणितकार हुआ, जिसका समय सन् ९४० से ९९८ ई० तक था। इसने यूनान की गणित सम्बन्धी कई पुस्तकों के अनुवाद किये। त्रिकोणमिति के प्रमेयों को भी इसने व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। त्रिकोणमिति को गणितशास्त्र की स्वतन्त्र-शाखा का रूप सम्भवतः इसी ने पहले-पहल दिया।

ईसा की ११ वीं शताब्दी में स्पेन में 'अजकिल' नामक एक गणितज्ञ हुआ। इसने भी ज्याओं और उज्याओं की एक सारिणी बनायी है जिसमें गोले की जिज्या को १५० माना है। ईसा की १६ वीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी के अन्दर 'बार्थालोमस पिटिस्कस' नामक एक धर्माचार्य हुआ। इसीने सबसे पहले गणित की इस शाखा को त्रिकोणमिति ट्रिग्नामिट्री का नाम देकर इसी नाम से अपने ग्रन्थ को प्रकाशित किया। इसी के समय से गणितकारों ने त्रिकोणमिति के फलनों को अनुपात के रूप में देना प्रारम्भ किया।

इसके अतिरिक्त त्रिकोणमिति गणित के क्षेत्र में स्काटलैंड के 'जेम्स ग्रेगरी' (१६३८ से १६७५) फ्रांस के 'डी-माबरे' (१६६७ से १७५४) और 'टामस-फंटेल डी-लग्नी (१६६० से १७४०) 'आगस्टस-डी-मार्गन, (१८०६ से १८१७) इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

कल्क्युलेशन या कलन और फलन-सिद्धान्त

अंग्रेजी के 'कल्क्युलेशन' शब्द का मतलब है-गणना, जोड़ना, घटाना और उसका फलन निकालना--कल्क्युलेशन में ये सब भाव आते हैं। वैसे साधारण दृष्टि से देखने में यह वस्तु बहुत साधारण दिखाई पड़ती है, मगर आजकल के युग में गणित की इस शाखा का रूप बहुत ही विस्तृत हो गया है।

ज्वार-भाटे के सिद्धन्त की गणना, सूर्य-ग्रहण और चन्द्र ग्रहण की गणना, आकाशीय नक्षत्रों की गणना आदि सब विषयों का समावेश इसमें होता है।

गणित की इस शाखा ने इस युग में बहुत अधिक महत्व प्राप्त कर लिया है। प्राचीन युग में गणित की यह शाखा रेखागणित और बीजगणित से ही सम्बन्धित थी, मगर मध्य और आधुनिक युग में इस शाखा ने अपना एक स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया है। मध्य युग के अन्तर्गत इस शाखा के इतिहास में 'क्रिश्चियन हाइजेन्स' का नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म सन् १६२९ में और मृत्यु सन् १६९५ ई० में हुई। कल्क्युलेशन के क्षेत्र में इनका कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता है।

इसी प्रकार फ्रांस के 'मिचेलरोल' 'आइजक वेरो' (१६-३० से १६७७) 'आइजक न्यूटन' 'लिबनीज (१६४६ से १७१६) इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाओं और इनके निकाले हुए सिद्धान्तों से गणित की इस कल्क्यु-लेशन-शाखा का बहुत विकास हुआ।

इसके पश्चात् आधुनिक युग में स्विट्जरलैंड के बरनोली-परिवार के 'जैकब' नामक गणितकार के अनुसन्धान कल्क्यु-लेशन सिद्धान्त के अन्तर्गत बहुत महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

इसी प्रकार जेकब के भाई 'जान' और 'निकोलस' ने भी इस क्षेत्र के अन्दर अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये। जॉन के छोटे पुत्र 'डेनियल' (Danial) (१७०० से १७८२) ने गणितीकृत्यों के विषय, कलन, अवकलन, समीकरण और सम्भाव्यता पर अपने महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये। इसको पेरिस की परिषद् से १० बार पुरस्कार प्राप्त हुए।

बर्नोली-परिवार की तरह इटली के 'रिकेटी' परिवार का जेकब-फांसिस-रिकेटी' भी एक प्रसिद्ध गणितकार हुआ, जिसका समय सन् १६७६ से १७५४ तक था।

इसी प्रकार पेरिस का 'जॉन-बैप्टिस्ट-कैरो' (मृत्यु सन् १७९५) 'पीयर्स-साइमन-लेप्लास' (१७४९ से १८२७) 'जोसेफ-फूरियर' (१७६८ से १८३०) कार्ल-फ्रेडरिक-गाउस' (जर्मनी) (१७७७ से १८५५) 'आगस्ट-लियोपोल्ड-क्रेले (जर्मनी) (१७८० से १८२५) 'आगस्टीन-लुई-कौची' (फ्रांस) (१७८९ से १८५७) 'जैकब-जेकोबी' (जर्मनी) (१८०४ से १८५१) 'विलियम-रॉवेन-हेमिल्टन' (आयर्लेण्ड) १८०५ से १८६५), थियोडोर-विस्ट्रास' १८१५ से १८९७) 'नील्स-हेन-रिक -आरबेल्स' (१८०२ से १८२९) 'जेम्स-जोसेफ सिल्वेस्टर (१८१४ से १८९७) (इङ्गलेंड) 'आर्थर-केली' इंग्लैंड) (१८२१ से १८९५) 'जॉर्ज फ्रेडरिक बर्नरहार्ड-रिमान' (१८२६ से १८६६) 'फिलिप-कैंटर' (१८४५ से १९१८) 'हेनरी-पायन-केरे' (१८५४ से १९१२) इत्यादि महान लेखकों ने गणित की इस कल्क्युलेशन-शाखा को अपने अनु-सन्धानों से समृद्ध करके इसको इतना विशालरूप दे दिया।

(डॉ० व्रजमोहन—गणित का इतिहास दत्त और सिंह—भारतीय गणित का इतिहास)

गणतन्त्र और गणराज्य

भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक राज्य-प्रणालियों में से एक प्रणाली। जिसका इतिहास बहुत पुराना है। और जिस पर संसार के विभिन्न देशों में मनुष्यने भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग किये हैं।

गणतन्त्र राज्य प्रणाली प्रजातन्त्र प्रणाली का ही एक पूर्व रूप है। प्राचीन युग में जब मनुष्य कबीलों के रूप में था छोटे-छोटे जनपदों के रूप में रहता था तब वह अपने कबीलों या जनपदों की सुव्यवस्था के लिये एक सरदार को चुनते थे। यह सरदार, कही पर खाकान (मध्य एशिया) कहीं पर राजा (भारत) कहीं पर कोन्सल (रोम) और कहीं पर इम्परेटर कहते थे।

यह लोग प्रजा की बनाई हुई समिति-जिसका नाम कहीं पर समिति, कहीं पर कुरीलताई, और कहो पर सीनेट होता था—की सलाह से शासन का काम किया करते थे।

फिर भी इस चुनाव पद्धति में प्रजातन्त्र के विकसित तत्व नहीं थे। विशेषकर सरदार या राजा उसी व्यक्ति को चुना जाता था जो कुलीन हो, जो स्वयं वीर या वीरों की सन्तान हो, जो साधारण जन समाज से ज्ञान और विवेक में आगे

बढ़ा हुआ हो। इसी लिए महान् तत्ववेत्ता अरस्तू ने कुलीन-तन्त्र या गणतंत्र को अरिस्टोक्रेसी (Aristocracy) और प्रजातन्त्र को डिमाक्रेसी (Democracy) की संज्ञा दी है।

गणतन्त्र राजपद्धति का भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार से विकास हुआ।

भारत

भारतवर्ष में वैसे वैदिक काल में भी गणतन्त्र पद्धति का किसी रूप में विकास हो चुका था और समिति, सभा, विद्य नामक संस्थाएं चुने हुए राजा के कार्य्यों पर नियन्त्रण करती थी। फिर भी गणतन्त्र पद्धतिका पूर्ण विकास महाभारत काल के पश्चात स्थापित हुए सोलह जनपदों में हमें देखने को मिलता है।

ये सोलह जनपद १—अंग, २—मगध, ३—काशी, ४—कौशल, ५—वज्जि, ६—मल्ल, ७—चेदि, ८—वत्स, ९—कुरु, १०—पांचाल, ११—मत्स्य, १२—शूरसेन, १३—अश्मक, १४—अवन्ति, १५—गन्धार और १६—कम्बोज थे।

गणतन्त्र के इस युग में वैदिक राज्यसंस्था के कई अंशों में परिवर्तन हो गया था। इस काल में श्रेणी तथा निगम इन दो नवीन संस्थाओं का उदय हो गया था जो पहले नहीं थी।

गणतन्त्र प्रणाली के इन गणराज्यों में आपस में बराबर संघर्ष चलते रहते थ। और हरएक गणराज्य अपने को सार्व-भौम राज्य बनाने की महत्वाकांक्षा में दूसरे गणराज्यों को नष्ट करने की प्रवृत्ति रखता था।

इस कारण सोलह महाजनपदों की यह स्थिति अधिक समय तक नहीं बनी रही। अङ्ग और मगध एक दूसरे के पड़ोसी थे। उन दोनोंके बीच लगातार मुठभेड़ें होती रहती थीं। अन्त में एक बार मगध ने अंग पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। इसी प्रकार ई० पू० ६२५ में कौशल जनपद की बढ़ती हुई शक्ति काशी जनपद को हड़प गई। और अन्त में इन सभी महाजनपदों का अस्तित्व मगध के विशाल साम्राज्य में समा गया और ई० पू० ५४० मे सम्राट् अजातशत्रु विशाल मगध साम्राज्य की स्थापना करने में समर्थ हुआ।

यूनानी गणतन्त्र

यूनान के प्राचीन इतिहास में भी गणतन्त्र-राज्य पद्धति पर बहुत प्रयोग हुए। ईजियन सभ्यता की समाप्ति के समय यूनान में कई नगरराज्य स्थापित होचुके थे और वहाँ पर गणतान्त्रिक राज्यव्यवस्था चालू हो चुकी थी। इन नगर राज्यों में एथेन्स और स्पार्टा सब से बड़े और शक्तिशाली नगर राज्य थे और इनके बाद कोरिन्थ, समीस, ईजिना, डेलिस, रोनिया आदि नगर राज्यों का नम्बर आता था। इन नगर राज्यों में शासन की शक्ति कुलीन लोगों के हाथ में थी। फिर भी इन कुलीन लोगों का नियन्त्रण करने के लिए ४०० चुने हुए नागरिकों की एक सभा हुआ करती थी। इस सभा का नाम "एकलेसिया" रक्खा गया था।

स्पार्टा के अन्तर्गत भी इसी प्रकार का कुलीनतन्त्र था इसमें २८ निर्वाचित लोगों की एक परिषद् हुआ करती थी और इस परिषद् पर पांच सदस्यों की एक शक्ति सम्पन्न संस्था थी जिसे 'एफेर' कहा जाता था। इस एफर के ऊपर दो राजा होते थे, एक सर्वोच्च सेनापति और दूसरा धर्माचार्य्य।

भारतीय महाजन पदों की ही तरह यूनान के इन नगर राज्यों के बीच भी आपस में बराबर संघर्ष होते रहते थे। उसके बाद ईरान के द्वारा किये हुए विशाल आक्रमणों ने भी इन नगर राज्यों की स्थिति को बहुत कमजोर करदिया था, ईरानी युद्धों के पश्चात् यूनान के नगर राज्यों ने अपना एक सम्मिलित शक्तिशाली संघ बनाने का निश्चय किया, मगर स्पार्टा इस संघ में शामिल नहीं हुआ। अन्त में ई० पू० ४५९ से ई० पू० ४०४ तक एथेन्स और स्पार्टा के बीच कई लड़ाइयाँ हुई जिनमें स्पार्टा ने एथेन्स को पराजित कर दिया।

मगर इसी समय एथेन्स में पैरेक्लीज का आविर्भाव हुआ। इसके समय में एथेन्स के अन्तर्गत एक स्वर्णयुग का प्रारम्भ हुआ। एथन्स गणतंत्र के इतिहास में पैरेक्लीज का युग सबसे श्रेष्ठ युग था। यह अत्यन्त न्यायप्रिय, उदार और दैवी सम्पद् से ओतप्रोत शासक था। इसके शासनकाल में कला, संस्कृति, न्याय, साहित्य इत्यादि सभी दृष्टियों से एथेन्स की सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

मगर पैरेक्लीज के बाद ही स्थिति फिर बिगड़ी। गणतन्त्र शासन के नाम पर सत्ता की बागडोर तीस आततायी (Tyrantes) लोगो के हाथ में चली गई। इन्हीं के शासन-काल में सुकरात के समान महान् व्यक्ति को जहर का प्याला पिलाया गया।

इस प्रकार यूनान में भी गणतन्त्र व्यवस्था अधिक स्थायी नहीं रही और थोड़े ही समय के पश्चात् मकदुनिया के राजा फिलिप ने यूनान पर आक्रमण करके उसे अपने राज्य में मिला लिया।

रोमन गणतन्त्र

रोम के अन्तर्गत ई० पू० ६२४ में राज्यतन्त्र प्रणाली का अन्त होकर गणतन्त्र या कुलीनतन्त्र राजव्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। उस समय रोम की जनता में दो दल प्रधान थे। एक दल का नाम 'पैट्रीशियन' था जिसे हम कुलीनवर्ग कह सकते है, और दूसरे दल का नाम 'प्लेवियन' था जिसे हम जनता का साधारण वर्ग कह सकते हैं। इन दोनों दलों में हमेशा संघर्ष चलता रहता था। राज्य के तमाम ऊंचे पदों पर पैट्रीशियन लोगों का अधिकार था। वहाँ की राज्यसभा 'सीनेट' के सदस्य पैट्रीशियन होते थे। वहाँ के सर्वोच्च अधिकारी 'कौन्सिल' भी इन्ही में से चुने जाते थे। प्लैवियन लोगों का काम सेना में भरती होकर युद्ध करना और शान्ति के समय खेती करना और पैट्रीशियन लोगों की गुलामी करना था। प्लेबियन लोग पैट्रीशियल लोगों से जमीन का लगान चुकाने के लिए कर्ज लेते थे तो उस समय के नियम के अनुसार उन्हें कर्ज अदा होने तक साहूकार का दास होकर रहना पड़ता था और ये साहूकार उन पर मनमाना अत्याचार करते थे।

प्लेबियन लोग युद्ध में जीत कर लूट का माल लेकर आते थे तो पैट्रीशियन लोग उस सारे माल को आपस में बाँट लेते थे और उन्हें अंगूठा बता दिया जाता था।

इस प्रकार एक ओर घर की यह फूट रोम को बरबाद कर रही थी। दूसरी ओर आसपास के दूसरे राज्य इट्रस्कन, सबैन आदि रोम पर आक्रमण करके उसे कमजोर बना रहे थे।

इस प्रकार गणतन्त्र पद्धतिका आरम्भ होजाने पर भी रोम के अन्दर शान्ति और स्मृद्धिका आविर्भाव नहीं हुआ। पर वाद में पैट्रोशियन और प्लेवियन लोगों के पारस्परिक संघर्ष के फल स्वरूप धीरे-धीरे प्लैवियन लोगों को 'ट्रिव्यून' चुनने के तथा दूसरे भी बहुत से अधिकार मिले। और गाल, साम्नाइट तथा कार्थेज लोगों के साथ होने वाले युद्धों में विजय प्राप्त होने पर रोम को शान्ति और स्मृद्धि भी प्राप्त हुई।

मगर शान्ति और स्मृद्धि प्राप्त होते ही रोमन लोगों में विलास और ऐय्याशी की भावनाएँ प्रबल हो उठीं। उन्होंने ग्रीक लोगों के वैभव और विलास का अनुकरण करना प्रारम्भ किया। पैट्रीशियन और प्लैवियन लोगों का भेद तो ई० पू० ४८० में मिट चुका था। मगर अब उसकी जगह समाज में 'ऑप्टिमेट' [धनवान] और 'ऑग्जिक्यूरी' [गरीब] ये दो भेद प्रमुख हो गये। इसी समय शासन की सारी शक्ति कौसल और ट्रिव्यून के हाथ से निकल कर सिनेट के हाथ में आ गई।

यह सिनेट एक प्रकार से धनवान लोगों की ही थी। टाइबीरियस नामक एक देशभक्त व्यक्ति ने गरीबों के अधिकारों की रक्षा के लिए तया धनी लोगों का जमीन पर से एकाधिकार हटाने के लिए सीनेट में लिसिनियन नामक विल में संशोधन करने का प्रस्ताव रखा। इस पर वहाँ का धनीवर्ग इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने टाइबीरियस को जुपिटर देवता के मन्दिर के सामने मरवा डाला।

इस प्रकार करीव ६०० वर्षों तक रोम में, गणतन्त्र या कुलीनतन्त्र रहा मगर इन शताब्दियों में रोम के अन्दर स्थायी शान्ति न रही, कभी वाहरी आक्रमणोसे और कभी घरेलू झगडोसे रोम हमेशा त्रस्तरहा। अन्तमें 'जूलियस सीजर'ने अपनी विलक्षण प्रतिभा और शक्ति से अपने प्रतिद्वन्दी पाम्पे, सुल्ला, इत्यादि व्यक्तियों को हराकर रोम के शासन की सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली। उसको निरंकुश सत्ता के मार्ग पर जाते देख कर ब्रूट्स नामक व्यक्ति ने उसकी हत्या कर डाली। मगर उसके वाद उसके उत्तराधिकारी ऑगस्टस सीजर ने अपने सब प्रतिद्वन्दियों को परास्त कर धीरे-धीरे विशाल रोम साम्राज्य की नींव डाली। ऑगस्टस सीजर के शासनकाल में रोम ने जो शान्ति, जो सुव्यवस्था, जो वैभव और जो विकास देखा वह इसके पहले कभी नहीं देखा था।

मध्य-एशिया

मध्य-एशिया के कवीलाई गणतन्त्रों का इतिहास अत्यन्त करुणाजनक घटनाओं से भरा हुआ है। वहाँ के इतिहास में शकों, हूणों, तुर्कों, मङ्गोलों इत्यादि कई बड़े-बड़े कवीलों के द्वारा स्थापित विशाल राज्यों का वर्णन हमें पढ़ने को मिलता है। सुनहरी कवीला, सफेद कवीला, मंगोल कवीला इत्यादि कई कवीले इतिहास के परदे पर आते हैं। कवीले के लोग शासन के लिए 'खाकानों' का चुनाव करतेथे। इस खाकान

पद के लिए वहाँ पर कितना रक्तपात हुआ है इसका कोई हिसाब नहीं। भाई ने भाई की, पिता ने पुत्र की, साले ने बहनोई किस प्रकार हत्याएँ की हैं, इसका अत्यन्त करुण इतिहास है। ऐसा मालूम होता है जैसे 'हत्या' और 'कत्ल' वहाँ का आम नारा हो गया था।

ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में अखामनी राजवंश ने ईरान में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस साम्राज्य ने कोई दो तीन शताब्दियों तक सारे मध्य-एशिया में सुव्यवस्थित शासन किया। यही वह समय कहा जा सकता है जब मध्य-एशिया के इतिहास में, शान्ति, सुव्यवस्था, वैभव और विकास का युग प्रवर्तमान रहा।

सिकन्दर महान् के आक्रमण ने अखामनी-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। उसके बाद फिर कबीलाशाही ने जोर पकड़ा। ईरान में फिर पार्थियन और सासानी साम्राज्यों की स्थापना हुई और वहाँ पर फिर शान्ति और सुव्यवस्था कायम हुई, मगर उसके बाहर सारे मध्य-एशिया में वैसी ही गड़बड़ रही। उसके बाद मंगोलों के भयंकर आक्रमणों ने सारे एशिया को रौंद डाला। मङ्गोल-आक्रमणों के बाद भी कहीं कबीलाशाही और कहीं वंश-परम्परागत राज्य-सत्ता का उदय हुआ मगर बहुत समय तक वहाँ शासन में स्थिरता नहीं आई।

इङ्गलैंड

इंग्लैण्ड में राज्य-तन्त्र की जड़ काट देने के लिए सन् १६४९ में क्रामवेल के नेतृत्व में भारी क्रान्ति हुई और राजा चार्ल्स का सिर काट कर, क्रामवेल के नेतृत्व में गणतन्त्र की स्थापना की गई, मगर थोड़े ही समय में यह गणतन्त्र सैनिक-शासन में परिवर्तित हो गया और केवल ग्यारह वर्ष के पश्चात् ही सन् १६६० में इंग्लैण्ड की प्रजा को फिर से राजतन्त्र की स्थापना करनी पड़ी। हालांकि धीरे-धीरे वह राजतन्त्र पार्लमेंट के द्वारा नियंत्रित कर दिया गया।

फ्रांस

अठारवीं सदी में फ्रान्स की जनता ने भी अनियन्त्रित राज्य तन्त्र के खिलाफ भयङ्कर क्रांति करके सम्राट् सोलहवें लुई को मौत की सजा दे दी। मगर उसके बाद फ्रांस में रक्त-पात का जो भीषण ताण्डव हुआ उससे इतिहास के पृष्ठ लाल हो गये और अन्त में 'नैपोलियन' के साम्राज्य के सम्मुख फ्रांस को नतमस्तक होना पड़ा।

इस प्रकार सारे इतिहास का सर्वेक्षण करने पर इस बात का पता चलता है कि स्वेच्छाचारी राज्यसत्ता का अन्त करने के लिए मानव-जाति ने समय-समय पर कई संघर्ष किये, और संसार के कई देशों में गणतन्त्र-शासन प्रणालियों की व्यवस्था हुई। मगर मनुष्य की स्वार्थवृत्ति ने, उसकी जिगीषावृत्ति ने, उसकी प्रतिशोध-वृत्ति ने इस प्रणाली को पूरी तरह से सफल नहीं होने दिया। परिणामस्वरूप प्राचीन भारतीय गण-राज्यों ने मगध साम्राज्य के सम्मुख, यूनानी गणराज्यों ने फिलिप के सम्मुख, रोमन गणराज्य ने ऑगस्टस सीजर के सम्मुख, फ्रान्स की क्रान्ति ने नैपोलियन के सम्मुख, अपने घुटने टेक दिये। और सब जगह के गणराज्य साम्राज्यवाद में बदल गये।

इसी लिए प्लेटो के समान महान् राजनीतिज्ञ ने अपने 'रिपब्लिक' ग्रन्थ में इस प्रणाली का विरोध किया है और 'अरस्तू' ने अपने 'पॉलिटिक्स' नामक ग्रन्थ में इस पद्धति का समर्थन करते हुए भी लिखा है कि—

"फिर भी यह प्रश्न खड़ा रहता है कि राज्य की सार्व-भौम शक्ति किस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह में केन्द्रीभूत होना चाहिए? सार्वभौम शक्ति जनसाधारण के हाथ में हो, धनिकों के हाथ में हो, कुलीनों के हाथ में हो, या एक सर्व-श्रेष्ठ व्यक्ति के हाथ में हो? अरस्तू का मत है कि सभी पद्ध-तियों की अपनी-अपनी कठिनाइयाँ हैं और यह सिद्धांत भी कि सभी शक्तियों के ऊपर कानून की शक्ति का नियन्त्रण हो—कठिनाइयों से खाली नहीं है। पर इस विषय पर अत्यधिक मन्थन के बाद इसी निर्णय पर पहुंचा जाता है कि 'सर्वोच्च-शक्ति जनता के हाथ में होना चाहिये। कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में नहीं। यह सिद्धान्त भी अपवादों से खाली नही है, फिर भी इसमें सत्य का अंश है।"

पर इसके साथ ही अरस्तू यह भी चेतावनी देता है कि "यह सिद्धान्त हर प्रकारके समाजपर लागू नहीं हो सकता। पिछड़ी हुई जातियों में, या ऐसे राज्य में जहाँ सर्वसाधा-रण भले-बुरे का निर्णय करने असमर्थ हैं—यह सफल नहीं हो सकता। जिस राज्य में सर्वसाधारण के अन्दर एक ऊँचे दर्जे की बुद्धि और राजनैतिक चेतना का योगक्षेम हो, वहीं यह सिद्धान्त लागु हो सकता हैं। और जहाँ जनता इस योग्य हो वहाँ भी राज्य के सर्वोच्च पद तो उन्हीं कुलीन लोगों को दिये

जाना चाहिये जो जीवन के प्रारम्भ से ही उच्च शिक्षा, दिव्य संस्कार और उन्मुक्त वातावरण में पले तथा विकसित हुए हों। जनसाधारण को तो केवल शासन-नीति निर्द्धारित करने, अधिकारियों और न्यायाधीशों का चुनाव करने और उनके कार्यों की जाँच करने का अधिकार होना चाहिए।"

इस प्रकार मनुष्य जाति अपने इतिहास के संक्रमण में, राज्यतन्त्र, अनियन्त्रित राजतन्त्र, नियन्त्रित राज्यतंत्र, कुलीनतंत्र या गणतंत्र, प्रजातंत्र इत्यादि कईप्रकार की राज्य-प्रणानियों का परीक्षण करती आई है। इन सब पद्धतियों के मीठे और कड़ुवे अनुभवों को उसने चखा है। उसने राज्यतंत्र-प्रणाली में रामराज्य, मौर्य्यराज्य, गुप्तराज्य, एलिजाबेथ के राज्य, आगस्टस सीजर के राज्य, हानवंश [चीन] का राज्य, अकबर का राज्य इत्यादि अनेकानेक उत्तम राजतंत्रों को भी देखा है, जिसमें उसने सुख, समृद्धि और वैभव की बंसरी बजाई है और इसी राज्यतंत्र में उसने हूण-राजा मिहिरगुल का शासन, तैमूर लङ्ग का शासन और नादिरशाह का शासन, औरङ्गजेब का शासन, रूस के जारों का, फ्रांस के लुइयों का, जर्मनी के कैसरों का और भारत के पठान शासकों के अत्याचारपूर्ण शासन भी देखे हैं जिसमें कभी भी उसकी जान-माल सुरक्षित नही रहे हैं। गणतंत्र शासन-प्रणाली में भी उसने लिच्छवी, शिशुनाग इत्यादि कई अच्छे शासनों को भी देखा है और तीस आतताइयों के उस शासन को भी देखा है जिसने सुकरात के समान महान पुरुष की हत्या की थी। उसने नियंत्रित राज्यसत्ता में इंग्लैण्ड का सर्वतोमुखी विकास और प्रजातंत्र-पद्धति में अमेरिका का महान् विकास भी देखा है।

और आज वह फिर इतिहास के सारे ज्ञान को साथ लेकर अपने विस्तृत ज्ञानके साथ प्रजातंत्र-पद्धति का परीक्षण कर रही है। सारी दुनिया में इस समय प्रजातंत्रीय शासन की एक जोरदार लहर आ रही है। कई देशो में इस पद्धति के परीक्षण असफल भी हो गये हैं और कई देशों में यह पद्धति सफलता पूर्वक आगे भी बढ रही है। आगे जाकर इसके क्या परिणाम होगे—यह तो आगे का इतिहास ही बतलायेगा।

मगर वास्तविक तथ्य यह है कि किसी भी राज्य-पद्धति की सफलता का रहस्य वहां की जनता की मनोभावनाओं में छिपा रहता है। कोई भी राज्य-पद्धति स्वयं में अच्छी या बुरी नहीं होती, जनता की मनोभावनाओं के अनुसार ही उसका रूप बनता है। अगर जनता की मनोभावनाएँ व्यापक दैवी सम्पद्से परिपूर्ण हो, अगर उसकी भावनाओंमें स्वार्थ की अपेक्षा त्याग की, विलास और वैभव की जगह बलिदान की और अनाचार की जगह नैतिकता की भावनाएँ परिपूर्ण हों तो, राज्य-प्रणाली का रूप कोई भी हो, वह समाज मे दैवी-सम्पद् का योगक्षेम कर शान्ति और समृद्धि को बनाये रक्खेगी। राज्य-तंत्र के अन्तर्गत भी वह मौर्य्य साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य, सीजर साम्राज्य और अकबर साम्राज्य को उत्पन्न करती रहेगी।

इसके विपरीत यदि जनता मे आसुरी-सम्पदा, स्वार्थ, कर्तव्यहीनता, भ्रष्टाचार, सत्ताकी होड़ और पड़ोसीको मारकर अपना भला करने की भावनाएँ समष्टिगत हुई तो राज्य-प्रणाली का नाम और रूप कितना ही अच्छा या आकर्षक क्यों न हो वह समाज में शान्ति और समृद्धि का संचार नहीं कर सकती। इतिहास के पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं।

फिर भी इसमे संदेह नहीं कि अनियंत्रित राजसत्ता की अपेक्षा गणतंत्र प्रणाली मे और प्रजातंत्र प्रणाली में जनता के विकास के साधन अधिक रहते हे।

गढ़वाल

हिमालय पहाड़ के मध्य में स्थित, उत्तर प्रदेश की कुमाऊँ कमिश्नरी का एक जिला। जो उत्तर-पूर्व में तिब्बत से घिरा हुआ है।

यह जिला पहाड़ी है। इस जिले मे हिमालय की बड़ी-बड़ी चोटियाँ उपस्थित हैं। इन चोटियों में 'नन्दा देवी' (२५६४५) 'कामत' (२५४७७) 'बद्रीनाथ' (२३२१०) 'केदारनाथ' (२२८५३) 'त्रिशूल' (२३३८२) इत्यादि चोटियाँ उल्लेखनीय हैं।

हिंदुओं के परम पवित्र तीर्थस्थान जैसे बद्रीनाथ, जोशीमठ, केदारनाथ, पाण्डुकेश्वर इत्यादि इसी क्षेत्र में अवस्थित हैं।

इस प्रदेश का पुराना प्रामाणिक इतिहास प्राप्त नहीं होता। पर वहां पर प्रचलित किंवदन्तियों के अनुसार ऐसा पता लगता है कि प्राचीन काल में ब्रह्मपुर का कत्यूरी राज-

वंश जोशीमठ का था। जहाँ से वह अलमोड़ा और दक्षिण-पूर्व में फैल गया।

१४ वी शताब्दी के अन्त में अजयपाल नामक किसी राजा ने छोटे-छोटे राज्यों को तोड़ कर देवगढ में एक राज्य की स्थापना की थी। १७ वीं शताब्दी में इसी राजवंश में महीपत शाह नामक एक राजा हुए। इन्होंने अपने राज्य का और भी विस्तार किया।

शाहजहां के राज्यकाल में इस क्षेत्र में पृथ्वीशाह नामक राजा राज्य करते थे। शाहजहां ने इनको दबाने के लिए सेना भेजी थी। इसी समय देहरादून का इलाका पृथ्वीसिंह के हाथों से निकल गया। इसके कुछ वर्षों के बाद दारा-शिकोह के लड़के सुलेमान शिकोह को, जो औरंगजेब के डर से भाग कर गढ़वाल चला गया था—लूट लिया और लूट कर उसे औरंगजेब को सौप दिया।

सन् १७०८ ई० मे अलमोड़ा के जगत्चन्द ने गढवाल के राजा को वहाँ से निकाल कर यह राज्य किसी ब्राह्मण को दे दिया। लेकिन सन् १७१७ ई० मे प्रदीपशाह ने गढ़वाल को फिर जीत लिया और सन् १७७२ ई० तक यहां पर शासन किया।

सन् १७७९ ई० में यहाँ के राजा ललितशाह ने कुमाऊं विजय प्राप्त करके अपने पुत्र प्रद्युम्नशाह को उस राज्य पर अभिषिक्त किया।

सन् १८०३ ई० मे गोरखाओं ने गढ़वाल के राजा को परास्त कर भगा दिया। प्रद्युम्नशाह मैदानों मे भगे-भगे फिरे और सन् १८०४ ई० में देहरादून के आसपास मर गये।

सन् १८१५ ई० मे कुमाउँ पर अंग्रेजो का अधिकार हो गया। सन् १८३७ ई० मे गढ़वाल एक उपविभाग और सन् १८९१ ई० में एक जिले के रूप में बनाया गया।

इस जिले के गोपेश्वर नामक स्थान पर १० फुट ऊंचे एक त्रिशूल पर एक मल्ल राजा की विजय का वर्णन अंकित है। जो सम्भवतः एक नेपाली नृपति थे। इस लेख की लिपि १२वीं शताब्दी की मालूम पड़ती है। इस क्षेत्र मे प्रधान नदी गंगा है। गंगा की प्रधान सहायक नदी अलखनन्दा है। अलखनन्दा, विष्णुगंगा और धोलीगंगा के संगम से बनती है और रुद्रप्रयाग में मन्दाकिनी इसमें आ मिलती है। फिर देव प्रयाग में अलखनन्दा और मन्दाकिनी का संगम होता है और यह सम्मिलित धारा आगे चलकर गंगा कहलाती है।

गणिका

नर्तकी, नगर-वधू अथवा आधुनिक भाषा में इसको वेश्या कहते है। समाज की इस संस्था का इतिहास बहुत पुराना है। हालांकि इसका सामाजिक स्तर भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न प्रकार का रहा है।

वैसे गणिका-जाति का स्तर समाज में हमेशा ही निम्नकोटि का समझा गया है और समाज के धर्म-शास्त्रियो और नीति-शास्त्रियो ने इस वर्ग को हमेशा समाज के नैतिक स्तर को गिराने वाला ही समझा है। फिरभी समय-समय पर संसार के कई देशों में ऐसी प्रभाव शाली गणिकाएँ हुई हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से कला के महान् क्षेत्र को समृद्ध किया है और जिन्होंने वासना और अनाचार के निम्न क्षेत्र से ऊपर विशुद्ध रूप से कला के क्षेत्र में ही अपनी पूजा अर्पित की है।

ऐसा अनुमान होता है कि "गणिका" शब्द की उत्पत्ति गण शब्द से हुई है जिस प्रकार समूह के राज्य को गणराज्य कहते थे, वैसे हो संभव है समूह की पत्नी को गणिका कहा जाता होगा।

ऐसा समझा जाता है कि सोलह गणराज्यों के समय मे वैशाली के लिच्छवि-गणराज्य में जो कन्या सबसे सुन्दर प्रतिभाशालिनी और अज्ञात कुलशीला होती थी, उसे वहाँ के कानून के अनुसार, नगर-वधू बना दिया जाता था और सब तरह की नृत्य, संगीत इत्यादि कलाओं में उसे प्रवीण किया जाता था।

प्राचीन यूनान मे भी ईसा पूर्व पाँचवी और चौथी सदी में एक युग ऐसा आया, जब वहाँ के नागरिक जीवन में वेश्याओं की स्थिति बड़ी श्रेष्ठ बन गई थी। और वे प्रेम की देवी-एफ्रोदिते (Godess of love) का रूप मानी जाती थी।

आम्रपाली

भारतवर्ष में भगवान् बुद्ध के समय में 'आम्रपाली' का नाम सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध था। चूंकि यह

अज्ञात कुलशीला थी और एक आम के बगीचे में मिली थी। इस लिए इसका नाम आम्रपाली रक्खा गया। और युवावस्था होने पर इसे नगरवधू बनाकर नृत्य, संगीत और वाद्य की कला में प्रवीण किया गया प्रवीण होकर वह बड़े-बड़े सामन्तों और राज पुरुषों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने लगी। इतिहास की कल्पना है कि स्वयं मगध के नरेश श्रेणिक बिम्बसार उसके प्रेम में गुंथे हुये थे। उस समय संगीत, रूप और यौवन के क्षेत्र मे उसका मुकाबला भारतवर्ष मे कहीं भी न था। उसकी आँखों में मदिरा का दरिया लहराता था और उसकी हँसी में संगीत के सारे स्वर एक साथ बज उठते थे। दूर दूर के बड़े-बड़े राजा और राजपुरुष उसकी कृपाकटाक्षों का इंतिजार करते थे।

इतनी शान-शौकत, वैभव और सुख के होते हुए भी उसका श्रेष्ठ व्यक्तित्व जैसे इन बातों के प्रति विद्रोह करता रहता था और किसी अलक्ष्य अभाव को वह हमेशा महसूस करती रहती थी।

इतने में ही तथागत भगवान् बुद्ध का वैशाली में आगमन हुआ। और वे आम्रपाली के आम के बगीचे में ठहरे। यह सुन कर आम्रपाली बड़े श्रद्धा पूर्ण हृदय से तथागत को दर्शनों को चली। तथागत को देखते ही उसे जैसे भान हुआ कि उसे उसकी अलक्ष इष्टवस्तु एकाएक मिल गई है। उसने बड़ी श्रद्धा से भगवान् बुद्ध को संघ-सहित भोजन के लिए अपने घर पधारने का न्योता दिया। भगवान् बुद्ध तो उसके अन्तरंग की भावनाओं को समझ रहे थे। उन्होंने मौन रह कर आम्रपाली के निमंत्रण को स्वीकार कर लिया।

लिच्छवि राजवंश के लोग भी अपने सुवर्ण रथों पर सवार होकर तथागत के दर्शनों को जा रहे थे। जब उन्होंने देखा कि अम्बपाली का रथ गर्वोन्नत भाव से उनके पहियों से पहिया टकराते हुए वापस लौट रहा है, तब उन्होने पूछा कि–'क्या बात है ? तू लिच्छवियों के रथ के बराबर अपना रथ कैसे चला रही है।'

अम्बपाली ने कहा — 'आर्य पुत्रों ! तथागत ने मेरा भोजन का निमंत्रण जो स्वीकार कर लिया है,'

लिच्छवियों ने कहा —"अम्बपाली ! तू एक लाख स्वर्णमुद्रा लेकर यह निमंत्रण हमें दे दे।"

अम्बपाली ने कहा—"आर्य पुत्रों ! यदि आप मुझे सारे वैशाली का राज्य भी दे दें तो भी मैं यह निमंत्रण नहीं बेचूंगी।"

तब उन्होंने निराश होकर कहा—'आज हमें अम्बपाली ने हरा दिया।

दूसरे दिन समस्त संघ-सहित तथागत ने आम्रपाली के घर भोजन किया। उसके घरपर उन्होने उसको धर्म की देशना दी। अम्बपाली ने अत्यंत प्रभावित होकर अपना आम का बगीचा भिक्षु-संघ के लिए तथागत को दान में दिया और उसने स्वयं तथागत से प्रव्रज्या ग्रहण की। उसके बाद वह थेरी (भिक्षुणी) हो गयी। उसकी वाणी थेरी गाथामें विद्यमान है।

सालवती

अम्बपाली को देखकर मगध-सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार ने भी अपने यहाँ सालवती नामक एक अत्यन्त रूपवती कन्या को मगध की नगरवधू बनाया था। (ई० पू० छठी सदी) सालवत्ती भी अत्यंत रूपवती और नृत्य संगीत की कला में प्रवीण थी। मगर वह बहुत थोड़ी आयु मे ही गर्भवती हो गई थी। यह सोचकर कि सन्तान होने की खबर सुनकर राजपुरुषों का आकर्षण उसके प्रति कम हो जावेगा, उसने अपने सद्यप्रसूत पुत्र को चुपचाप कूड़े के ढेर पर फिकवा दिया।

इस सद्यप्रसूत बच्चे पर बिम्बसार के पुत्र अभय कुमार की दृष्टि पड़ी और उन्होने उसका पालन किया। सालवती का, अभयकुमार के द्वारा जिलाया हुआ यही पुत्र आगे जाकर 'जीवक' के नाम से आयुर्वेद के इतिहास में प्रसिद्ध हुआ।

कोसा

अम्बपालिका के पश्चात् ई० पूर्व चौथी शताब्दी में नन्दराजवंश के नवें राजा धनानन्द के समय में 'कोसा' नामक राजनर्तकी बहुत प्रसिद्ध हुई। इसने अपने गुरु से 'सूचिका' नामक नृत्य को सिद्ध किया था। इस नृत्य में सूँगों के ढेर में सूइयाँ खड़ी करके उन सूइयों पर कमल के फूल रखकर उन फूलो पर नृत्य की सिद्धि की जाती थी। यह नृत्य अम्बपालिका भी सिद्ध नही कर सकी थी। मगर कोसा ने उसे सिद्ध कर लिया था।

इस कोसा ने जैन-धर्म के सुप्रसिद्ध आचार्य स्थूलभद्र को दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व बारह बरस तक अपने रूप,

प्रेम, कला और संगीत के वातावरण में फँसाये रखा। स्थूलभद्र नन्दराज के प्रसिद्ध मंत्री शकटार के पुत्र थे और जन्म से ही वैराग्यमूलक भावनाएँ होने के कारण 'शकटार' के लाख प्रयत्न करने पर भी इन्होंने विवाह कर गृहस्थ बनना स्वीकार नहीं किया।

मगर एक दिन वसन्तोत्सव के समय कोसा के नृत्य और संगीत को देखकर वे मुग्ध हो गये और उसकी प्रणयप्रार्थना को स्वीकार कर बारह वर्ष तक उसके साथ रहे। उसके पश्चात् उन्होंने जैन-दीक्षा ग्रहण की और कुछ वर्षों पश्चात् कोसा ने भी इनसे दीक्षा ग्रहण करली।

इसी प्रकार मृच्छकटिक में वर्णित वसन्तसेना भी गणिका होते हुए महान् गुणों से विभूषित थी। बौद्धजातकों में काशी की 'अट्टकासी नामक गणिका की बहुत प्रशंसा की गई है। ईसा की पाँचवीं सदी के श्यामीलक कवि ने काशी की पराक्रमिका नामक गणिका की और आठवीं सदी में कश्मीर के दामोदर गुप्त ने अपने ग्रंथ में काशी की 'मालती' नामक गणिका की बहुत प्रशंसा की है।

मुसलमानी काल में भी कई स्थानों पर वेश्याओं का बड़ा प्रभाव रहा। दक्षिण के सुलतान मुहम्मद कुली कुतुब शाह (१५८०) का "भागमती" नामक एक हिन्दू वेश्या से गहरा प्रेम था। उसके प्रेम की स्मृति में उसने "गोलकुण्डा" से कुछ दूरी पर "भाग नगर" नामक एक नगर बसाया जो इस समय हैदरा बाद के नाम से प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार कहा जाता है कि बीजापुर मे गोल-गुम्बज नामक भव्य इमारत का निर्माण करवानेवाले मुहम्मद आदिल-शाहका "रम्भा" नामक एक गणिकासे प्रेम था। जब उनकी अमर स्मृति गोल गुम्बज बनकर तैयार हो गया तब वे रम्भा को साथ लेकर उसको देखने गये तो उसकी गूंजती हुई वीथिकाओं की परीक्षा करने के लिए उन्होंने कुछ दूरी से रम्भा से पूछा "जानेमन! क्या तुम मुझे सच्चे दिल से प्यार करती हो" रम्भा ने जवाब में कहा—"मैं अपने प्राणों से भी ज्यादा आपसे मोहब्बत करती हूँ।" तब आदिलशाह ने कहा कि "अगर तुम्हारी मुहब्बत सची है तो तुम इस मीनार पर से छलांग लगा जाओ।" सुनते ही रम्भा ने आव देखा न ताव उसी समय उस गुम्बज से छलांग लगाकर मर गई।

इसी प्रकार हीरा बाई नामक वेश्या के साथ औरंगजेब का प्रेम-इतिहास प्रसिद्ध है।

प्राचीन यूनान की गणिकाएँ

ई० पू० पाँचवीं सदी से चौथी सदी तक यूनान के अन्तर्गत ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ पैदा हुईं जिसके कारण वहाँ का गणिकावर्ग समाज का एक श्रेष्ठ अंग बन गया। दुनिया के इतिहास में कभी और किसी समाज में गणिकाओं को इतना आदर प्राप्त नहीं हुआ जितना यूनान में इस काल में हुआ।

इस काल में वहाँ की गणिकाएँ प्रेम की देवी एफ्रोदिते का रूप समझी जाने लगी। यूनान की गणिकाएँ अनुपम सुन्दरी होती थीं। उस काल में बड़े-बड़े राजपुरुष, कवि, लेखक और दार्शनिक इन गणिकाओं के विलास भवनों में पड़े रहते थे। सुकरात के समान महापुरुष भी अन्य तत्ववेत्ताओं के साथ वहाँ की विदुषी गणिकाओं की महफिलों में जाया करते थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में 'दियोतिमा' नामक गणिका के प्रति अपनी श्रद्धांजलि भी प्रकट की है।

तत्कालीन एथेन्स के सुप्रसिद्ध शासक, वक्ता और लेखक 'पैरेक्लीज' का 'एसपेसिस' नामक गणिका से गहरा प्रेम था। एसपेसिस उस युग में अपने रूप और कला के साथ ही विद्वता में भी बेजोड़ समझी जाती थी। पैरेक्लीज की कई रचनाओं में भी उसका सहयोग था।

इस समय एथेन्स का गणिकावर्ग रूप और कला के क्षेत्र को पारकर दर्शनशास्त्र, विज्ञान और राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश कर गया था। उनके विलास भवन अब ज्ञान के भवन बन गये थे और बड़े-बड़े दार्शनिक, कवि, चित्रकार और तत्ववेत्ताओ से वे घिरी रहती थीं।

फ्राईन

ऐसे ही युग में थीबिज नगर की रहने वाली "फ्राइन" नामक गणिका ने कीर्ति प्राप्त करने के लिए एथेन्स में अपना कला-मन्दिर स्थापित किया। यह गणिका अपने सौन्दर्य को हलके और महीन अवगुण्ठन से ढँके हुए रहती थी, जिससे उसका सौन्दर्य और भी खिल जाता था।

यूनान का धनी नवयुवक दल इस गणिका की अदा पर मुग्ध हो गया। उसका साहचर्य पैदा करने के लिए बड़े-बड़े रईस उसके चरणों पर अतुल धनराशि को अर्पित करने लगे। देखते ही देखते अतुल स्वर्ण सम्पदा उसके महल में एकत्रित हो गई।

उसी समय विजेता अलेक्जेण्डर ने फ्राइन के निवास स्थान थीबीज नगर को उसके प्राचीर तोड़कर ध्वस्त कर दिया था। फ्राइन ने थीबीज नगर की प्राचीरों को फिर से बनवाने का प्रस्ताव थीबीज की जनता के सामने किया मगर यह भी कहा कि इन नवीन दीवारों पर यह लिख दिया जाय कि जिन प्राचीरों को सिकन्दर ने तोड़ा था उन्हें फ्राइन ने फिर से बनवा दिया।

मगर थीबीज की जनता ने गणिका के इस अहसान को स्वीकार नहीं किया। तब फ्राइन ने उस समय के प्रसिद्ध मूर्तिकार—"प्राक्सीटेलिज" से एफ्रोदिते देवी के रूप में अपनी मूर्त्ति बनवाकर वेनीडस नगर राज्य के मन्दिर में प्रतिष्ठित करवा दिया जिसको देखने के लिए हजारों लोग आने लगे।

उसके बाद थीबीज नगर राज्य ने भी "प्राक्सीटेलीज" से फ्राइन की एक स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर उसे डेल्फी में अर्चीडामस और फिलिप्स राजाओं की मूर्त्तियों के बीच प्रतिष्ठित कर दिया।

इतना सब होने पर भी एथेन्स की अदालत में 'फ्राइन' पर नवयुवकों को चरित्रभ्रष्ट करने का मुकदमा चलाया। जब न्यायाधीशकी अदालतमें इसका मुकदमा चलने लगा उस समय उसके वकील ने उसके मुख पर से घूंघट हटा दिया। घूंघट के हटाते ही उसकी सुन्दरता अदालत में छिटक गई। न्यायाधीश ने उस अपूर्व सौन्दर्य को देखकर उसे बिना प्रमाण लिये ही छोड़ दिया।

इस प्रकार गणिका वर्ग ने इतिहास के किसी युग में अपनी उत्कृष्टता का प्रमाण दिया था।

गणिका वर्ग की स्थिति इतिहास के प्रायः सभी युगो में संसार के सभी देशों में पाई जाती है। मगर यह वर्ग विशेष रूप से समाज मे एक अवांछित और अकल्याण कर तत्व की तरह माना गया है।

बड़े बड़े धर्माचार्य्यों ने और सुधारकों ने इस वर्ग की कड़े शब्दों में निन्दा की है और जनता को इस वर्ग से बचे रहने की सालाह दी हैं। समय-समय पर कई राज्यों ने भी इस प्रथा के विरुद्ध कड़े कदम उठाये हैं। इन सब बातों के बावजूद समाज का यह वर्ग बराबर जीवित है और हजारों बरसों से समाज के सामने एक ज्वलन्त प्रश्नवाचक (?) चिह्न बना हुआ है। इसका एक कारण यह भी है—एक ओर जहां अनैतिकता का प्रचार करने में यह वर्ग अग्रगण्य रहा हैं वहां दूसरी ओर नृत्य, संगीत इत्यादि ललितकलाओं की रक्षा और उसके विकास में भी इस वर्ग ने बहुत बड़ा भाग अदा किया है।

कुछ समाज-शास्त्रिओं का कथन है कि समाज में हमेशा से एक वर्ग ऐसा रहता आया है जिसको अपनी यौन वासनाओं को चरितार्थ करने के लिए कोई वैधानिक मार्ग नहीं मिलता। समाज का यह वर्ग ऐसे स्थानों पर जाकर अपनी यौन भावनाओं को चरितार्थ कर लेता है। यदि उसका यह मार्ग भी बन्द हो जाय तो वह समाज के दूसरे क्षेत्रों में गन्दगी पैदा करेगा। जिस प्रकार घर की गन्दगी को निकालने के लिए हर एक घर में 'मोरी' की जरूरत होती है और जिस घर में मोरी नहीं होती है वह घर हमेंशा गन्दा रहता है। इसी प्रकार यह वेश्यावर्ग समाज की गन्दगी को साफ करने के लिए मोरी का काम करता है। यदि इस मोरी को बन्द कर दिया जाय तो सारा समाज गुप्त व्यभिचार और अनाचार से दूषित हो जावेगा। मगर समाज शास्त्रियों का एक बड़ा वर्ग ऐसा है जो वेश्यावृत्ति के विरुद्ध है। उसके मत से यह वेश्यावर्ग समाज के शरीर में कोढ़ की तरह है। इस वर्ग के द्वारा समाज में व्यभिचारजन्य कई प्रकार की भिन्न-भिन्न बिमारियाँ फैलकर सारे समाज को दूषि करती है। इस लिए समाज के इस वर्ग को बिलकुल समाप्त कर देना आवश्यक है। स्वतंत्र भारत की सरकार ने इसी पक्ष लेकर इस वर्ग के खिलाफ जिहाद की घोषणाकर दी है। बड़े-बड़े नगरों से इनके बाजारों को हटा दिया गया है। आगे जाकर इसके क्या परिणाम होते हैं यह भविष्यमे देखे जावेगे।

इस प्रकार संसार की समाज व्यवस्थाओं में 'गणिका' का वर्ग हमेशा से एक प्रश्नवाचक चिह्न बना रहा है। जिसने समय-समय पर इतिहास में अनेक रूप बदले हैं।

गणेश दैवज्ञ

नन्दीग्राम के निवासी एक प्रसिद्ध ज्योतिषी, जिनका समय १६वीं सदी के प्रथम चरण मे माना जाता है।

पं० गणेश दैवज्ञ ज्योतिष और गणित-शास्त्र के एक महान् आचार्य्य थे। इन्होंने कई ज्योतिष ग्रंथों की रचना की। इन रचनाओं मे ग्रहलाघव, पात सारिणी, लीलावती-व्याख्या, लघुतिथि चितामणि इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

गणेश कवि

काशी के महाराजा उदित नारायण सिंह के एक दरबारी कवि, जो सन् १७९३ ई० से १८५३ ई० तक विद्यमान थे।

'गणेश कवि' नरहरि-बन्दीजन के वंश में 'लालकवि' के पौत्र और 'गुलाबकवि' के पुत्र थे। ये काशिराज महाराज उदितनारायण सिंह के दरबारी कवि थे और महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह के समय तक जीवित थे। इन्हों ने तीन ग्रन्थों की रचना की। वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ-प्रकाश, प्रद्युम्न-विजय नाटक और हनुमत्पचीसी।

प्रद्युम्न-विजय नाटक समग्र पद्यवद्ध है और अनेक प्रकार के छन्दों में ७ अंको के अन्दर समाप्त हुआ है। इसमें दैत्यों के वज्रनाभपुर नामक नगर में 'प्रद्युम्न' के जाने और 'प्रभावती' से गान्धर्व-विवाह करने की कथा का वर्णन है। काव्य और नाटक की दृष्टि से इस नाटक को सफल नहीं कहा जा सकता।

गणेशदत्त (गोस्वामी)

पञ्जाब के विख्यात सन्यासी और सनातन धर्म महासभा की पञ्जाब प्रतिनिधि सभा के प्रधान मन्त्री।

गोस्वामी गणेशदत्त हिन्दू, हिन्दी और सनातन धर्म की ठोस सेवा के लिए सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध रहे। अ० भा० सनातन धर्ममहासभा की इन्हों ने केवल पञ्जाब मे ५०० शाखाएँ स्थापित कीं। स्वामी गणेशदत्त की संगठन शक्ति बड़ी अद्भुत थी। वे बड़े अच्छे वक्ता और विद्वान् थे।

पं० मदनमोहन मालवीय और सेठ जुगलकिशोर बिड़ला के साथ इनके बहुत अच्छे सम्बन्ध थे। इन्होंने अपनी तपस्या कुटी उत्तर काशी में गंगोत्री के मार्ग पर बनाई थी और अक्सर वही रहते थे। इसके सिवाय दिल्ली के 'लक्ष्मीनारायण मन्दिर' में बनी हुई कृत्रिम गुफाओं में भी ये कभी-कभी रहा करते थे।

गणेशप्रसाद (डॉक्टर)

भारतवर्ष के एक सुप्रसिद्ध गणितकार जिनका जन्म सन् १८७६ ई० में बलिया के अन्तर्गत और मृत्यु सन् १९३५ ई० मे हुई।

डा० गणेशप्रसाद आधुनिक गणित के इतिहास में एक प्रसिद्ध व्यक्ति हुये। सन् १८९८ ई० में इन्होंने इलाहाबाद युनिवर्सिटी से गणित शास्त्र में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। उसके बाद गणित-शास्त्र में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए ये सन् १९०१ ई० में इंगलैंड की कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी और जर्मनी की गटिंगन् युनिवर्सिटी में गये।

सन् १९०४ ई० में वहाँ से वापस लौटने के पश्चात् ये उत्तर प्रदेश, कलकत्ता युनिवर्सिटी और बनारस युनिवर्सिटी में गणित के प्रोफेसर रहे। सन् १९१८ ई० में इन्होंने बनारस में 'मैथेमेटिकल सोसायटी' की स्थापना की। सन् १९२३ ई० से सन् १९३५ ई० तक जीवन भर ये कलकत्ता युनिवर्सिटी में शुद्ध गणित के हार्डिज प्रोफेसर रहे।

डा० गणेशप्रसाद ने गणित-शास्त्र के सिद्धान्तों पर ५२ शोध पत्र और ११ पुस्तकें लिखी। इनके शोधपत्रों में 'ऑन दी कॉंस्टीट्यूशन ऑफ मैटर ऐन्ड ऐनालेटिकल थ्योरीज ऑफ हीट' नामक शोधपत्र बहुत प्रसिद्ध है।

सन् १९३५ ई० में जब डा० गणेश प्रसाद आगरा विश्व-विद्यालय के अन्तर्गत एक बैठक मे भाग ले रहे थे, तब अचानक मस्तिष्क से रक्तस्राव होने के कारण इनका स्वर्गवास हो गया।

डा० गणेशप्रसाद के शिष्यों में आगे चलकर डा० बी० एन० प्रसाद ने गणित के क्षेत्र में और भी अधिक उन्नति की। डा० गणेशप्रसाद के प्रोत्साहन से डा० प्रसाद ने गणित के क्षेत्र में वास्तविक चर वाले फलनों के सिद्धान्तों तथा श्रेणियों की, विशेषतया फोरियर श्रेणियों की आकलनीयता पर गवेषणा प्रारम्भ की। उनकी इस मौलिक गवेषणा से शीघ्र ही संसार के प्रतिभाशाली गणितज्ञों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो गया। जिसके फलस्वरूप भारत-सरकार ने भी उनको पद्मभूषण की उपाधि से सम्मानित किया।

इस प्रकार डा० गणेशप्रसाद गणित-शास्त्र के क्षेत्र में अपने पीछे भी एक महत्वपूर्ण परम्परा छोड़ गये हैं।

गणेशशंकर विद्यार्थी

भारत वर्ष के एक सुप्रसिद्ध देशभक्त हिन्दी पत्रकार। प्रताप पत्र के संस्थापक। जो कानपुर में सन् ११३१ में होने वाले हिंदू मुसलिम दङ्गे में शहीद हो गये।

गणेश शङ्कर विद्यार्थी का जन्म सन् १८९० में इलाहाबाद के अन्तर्गत अपने ननिहाल में हुआ था। इनके पिता का नाम मुन्शी जयनारायण और माता का नाम गोमती देवी था। बचपन से ही इनके संस्कार देशभक्ति पूर्ण हो गये थे। इन्होंने कानपुर से "प्रताप" नामक एक साप्ताहिक पत्र का हिंदी भाषा में प्रकाशन प्रारम्भ किया। "प्रताप" सम्भवतः हिंदी का पहला साप्ताहिक था जिसने अंग्रेजी सल्तनत की आलोचना में उग्रभाषा का प्रयोग प्रारम्भ किया था। इसलिए इस पत्र को हिंदी में लगभग वही दर्जा प्राप्त हो गया जो मराठी भाषा में "केसरी" को प्राप्त था। गांधीजी के असहयोग आंदोलन के समय में इसका दैनिक संस्करण भी प्रारम्भ हो गया।

उक्त पत्रकारिता के साथ गणेश शंकर विद्यार्थी में देशभक्ति भी कूट कूट कर भरी हुई थी। इसलिए क्रांतिकारी दल के अनेकों सदस्य भी—जो सर पर कफन बांध कर अंग्रेजी सरकार के खिलाफ बगावत करने को उतारू थे—प्रताप कार्यालय में शरण पाते थे। सरदार भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद इत्यादि अनेकों क्रांतिकारी विद्यार्थीजी पर अटूट श्रद्धा रखते थे।

विशुद्ध राष्ट्रीय भावना से पूर्ण होने के कारण विद्यार्थीजी हिंदू मुसलिम एकता में विश्वास रखते थे और हिंदू-मुसलमानों के बीच होने वाले सांप्रदायिक उपद्रवों को देख कर उन्हें हार्दिक वेदना होती थी।

दैवयोग से सन् १९३१ के मार्च महीने में उन्ही के नगर कानपुर में हिन्दू-मुसलिम दङ्गा बड़े भयङ्कर रूप से प्रारम्भ होगया। देखते-देखते उपद्रव कारियों ने बीसों मन्दिर और कई मस्जिदों को नष्ट कर दिया। इस दङ्गे में चार दिनोंतक कानपुर में भयङ्कर नर संहार हुआ। जिसमें करीब ५०० व्यक्ति मारे गये और हजारों घायल हुए।

ऐसे विकट समय--उस भयङ्कर नर संहार के समय जब प्रतिष्ठित और राष्ट्रीयता का दम भरने वाले व्यक्ति अपने-अपने घरों में छिप कर बैठे हुए थे, विद्यार्थीजीकी आत्मा इस घटना से तड़प उठी और वे इस जलती हुई आग को बुझाने के लिए घर से बाहर निकल पड़े। उनके घर के लोगों ने और उनके इष्ट मित्रों ने इन खूंखार और हत्यारे लोगों के बीच उन्हें जाने से बहुत रोका। मगर उन्होंने किसीकी न सुनी और एक हिन्दू और एक मुसलमान स्वयंसेवक को साथ लेकर उस साम्प्रदायिक उन्मादको शांत करने के लिए घरसे निकल पड़े।

प्रारम्भ में उन्होंने "पटकापुर" "बङ्गाली मुहाल" इत्यादि हिंदू मुहल्लों मे जाकर उन मुहल्लों में फंसे हुए कई मुसलमानों को सुरक्षित स्थानों पर भिजवाया। और उसके बाद मुसलमानी मुहल्लों में फंसे हुए हिंदुओं को बचाने के लिए वे मुसलमानी मुहल्लों में जाने को तैयार हुए। उस समय फिर उन्हें लोगो ने धर्मान्ध मुसलमानों के बीच में जाने से रोका मगर उन्होंने किसी की न सुनी।

शुरू-शुरू में उन्होंने मिश्री बाजार और मछली बाजार में फंसे हुए हिंदुओं को सुरक्षित स्थानों में भिजवाया। उसके बाद वे "चौबे गोला" नामक मुहल्ले में गये जो खूंखार मुसलमानों का मुहल्ला था। वहां जातेही वहां के धर्मान्ध मुसलमानों ने इन पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया। एकाध बार तो उस मुसलमान स्वयंसेवक के समझाने से वे लोग रुक गये। मगर अन्त में भीड़ ने इनको चारों ओर से घेर लिया। ऐसे समय में एक मुसलमान सज्जन ने उनकी जान बचाने के इरादे से उन्हें एक गली में खींच कर ले जाने का प्रयत्न किया। मगर उसी समय विद्यार्थीजी ने चिल्लाकर कहा कि "क्यों खींचते हो मुझे? मैं मैदान से भागना नही चाहता। अगर मेरे मरने से ही इन लोगों की प्यास शांत होती है तो अच्छा है कि मैं कर्तव्य पालन करते हुए यही पर बलिदान दे दूं।"

मगर उन खूंखार पशुओं ने उनके वचनों का और उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं समझा और उनपर आक्रमण करके उन्हे भयङ्कर रूप से घायल कर दिया। चौथे दिन २७ मार्च को उनका 'शव' अत्यंत क्षत-विक्षत अवस्था में अस्पताल के अंदर बरामद हुआ।

इस प्रकार देश की एक महान आत्मा का साम्प्रदायिक उन्माद की वेदी पर बलिदान हो गया।

गणेशोत्सव

महाराष्ट्र में मनाया जाने वाला एक सुप्रसिद्ध सार्वजनिक और राष्ट्रीय त्योहार। जिसके आधुनिक रूप का आरंभ सन् १८९२ ई० में हुआ।

वैसे तो 'गणेशोत्सव' या गणपति के जन्म दिन को मनाने की प्रथा, प्रायः सारे भारतवर्ष में बहुत प्राचीन समय से है, पर महाराष्ट्र में यह प्रथा विशेष रूप से प्रचलित रही है। पेशवाओं के राज्यकाल में पूना के शनिवार-वाड़े में पेशवा-सरकार की ओर से लगातार ६ दिनों तक यह उत्सव धूमधाम से मनाया जाता था। इस अवसर पर हर नगर, गाँव और मुहल्लों में कीर्तन, भजन और नाटकों की बड़ी धूम रहती थी। अनन्त चतुर्दशी के दिन एक विशाल जलूस निकाला जाता था, जिसमें नगर के सभी गणपतियों की झाँकियाँ सम्मिलित होती थीं और उन्हें जल में विसर्जित किया जाता था।

सन् १८९२ ई० में सरदार कृष्णाजी काशीनाथ उर्फ नानाजी खासगी वालों ने श्री घोटवड़ेकर और श्री भाऊ रंगारी के सहयोग से इस उत्सव को सार्वजनिक रूप दिया। उसके बाद लोकमान्य 'तिलक' ने इस उत्सव को राष्ट्रीय रूप देने में बड़ी दिलचस्पी से काम लिया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से युवकों में आचार-विचार को नष्ट होते देखकर तथा उनको अपनी संस्कृति के प्रति उदासीन होते देख कर उन्हें बड़ा दुःख होता था। इसलिये युवकों का ध्यान राष्ट्रीय गौरव और संस्कृति की ओर झुकाने के लिये लोकमान्य ने इस महोत्सव को सबसे उपयुक्त समझा।

उन्होंने सन् १८९४ ई० में स्वयं अपने यहाँ गणपति की प्रतिमा की स्थापना की और 'गणाना त्वा गणपति हवा महे' को दृष्टिगत रखते हुए स्वातंत्र्य-देवता की तरह गणपति का पूजन प्रारंभ किया और इस उत्सव को भाद्रपद्र शुक्ला प्रतिपदा से लेकर अनन्त चतुर्दशी तक मनाने की प्रथा का प्रारंभ किया। इस त्योहार को उन्होंने एक राष्ट्रीय मेले का रूप दिया। इस अवसर पर जगह-जगह के कथाकार, कीर्तनकार, धर्मप्रचारक और राष्ट्रीय भावनाओं के विद्वान् आकर अपना प्रचार करते थे। कुछ वर्षो मे गणेशोत्सव का यह राष्ट्रीय स्वरूप सारे महाराष्ट्र मे, विदर्भ में और मध्य भारत के उन हिस्सों मे जहाँ महाराष्ट्रियों की बहुत बस्ती है—पूर्ण रूप से व्यापक हो गया, और सन् १९०५ से सन् १९१० ई० तक इस उत्सव का रूप बहुत विशाल होगया। लोकमान्य तिलक स्वयं इस उत्सव के समय में प्रतिदिन चार-चार, पाँच-पाँच भाषण करके लोगों की राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने का प्रयत्न करते थे। उनके 'केसरी' और 'मराठी' नामक पत्र इस काम में उनकी सहायता करते थे।

कहना न होगा कि इस त्योहार की वजह से महाराष्ट्र की जनता में एक अभूतपूर्व राष्ट्रीय चेतना का सञ्चार हो रहा था जिससे अंग्रेजी सरकार का चिन्तित होना स्वाभाविक था, और इसलिए उसने इस उत्सव के विरुद्ध कदम उठाना प्रारंभ किया।

सन् १९०८ ई० में जब लोकमान्य तिलक जेल में चले गये तब सरकार को इस उत्सव के दमन करने का अच्छा अवसर मिला। इस उत्सव में भाग लेने वाले नवयुवकों पर झूठे-सच्चे केस चलाकर उसने उनको परेशान करना शुरू किया।

उत्सव में छत्रपति शिवाजी और लोकमान्य की जय बोलने पर प्रतिबन्ध लगा कर, उसे जुर्म करार दिया। बहुत से सरकार परस्त लोगों ने इस उत्सव को साम्प्रदायिक उत्सव बतलाकर मुसलमानों को इस उत्सव के खिलाफ भड़काने की कोशिश की, मगर मुसलमानों पर इसका विशेष प्रभाव नही हुआ।

फिर भी इन कारणों से इस उत्सव में कुछ शिथिलता आ गयी और जब तक लोकमान्य जेल में रहे तब तक यह शिथिलता बनी रही।

सन् १९१४ ई० में लोकमान्य तिलक के छूटने के बाद ही इस उत्सव में फिर से जान आ गयी और इसका क्षेत्र और भी अधिक व्यापक हो गया, और सन् १९२७ ई० तक जब तक लोकमान्य जीवित रहे, इस उत्सव ने महाराष्ट्र की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जागृति मे अपूर्व सहयोग दिया। मगर लोकमान्य की मृत्यु के पश्चात् इस उत्सव की मौलिकता नष्ट हो गयी और इस पावन पर्व पर कही पर गणेशजी को, गान्धीजी का, कही पर जवाहरलाल जी का और कहीं पर शिवाजो का रूप दिया जाने लगा। मगर फिर भी बहुत से विचारशील लोग ऐसे हैं, जिन्होंने इस उत्सव की मौलिकता को बनाये रखा है और यह उत्सव अभी भी हमारी राष्ट्रीय जागृति के एक ऐतिहासिक पृष्ठ की तरह हमारे सामने विद्यमान है।

गणपति शास्त्री

संस्कृत के महान् नाटककार 'भास' के तेरह लुप्त नाटकों की खोज करने वाले, गणपति शास्त्री।

वर्तमान बीसवीं शताब्दी के पहले दशक तक महाकवि 'भास' का नाम इतिहासकारों के लिए रहस्य पूर्ण बना रहा। क्योंकि संस्कृत के कई प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपनी रचनाओं में 'भास' का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया हैं। मगर उनकी कोई रचना अभी तक उपलब्ध नही थी।

सन् १९०९ में गणपति शास्त्री ने कुमारी अन्तरीप से लगभग बीस मील दूर पद्मनाभपुर के निकट एक प्राचीन ग्रामपति के घर से ताड़ पत्र पर लिखी हुई तेरह नाटकों की पाण्डुलिपियों की खोज की, और इन नाटकों को इन्हों ने भास की रचनाओं के रूप में प्रकाशित करवाया।

इन नाटकों के प्रकाशित होते ही इतिहासकारों में हलचल मच गई। वार्नेट, थॉमस, विण्टर्निल इत्यादि कई अंग्रेज लेखकों ने भी इस वाद-पिवाद में भाग लेकर कि ये भास की कृतियाँ हैं या नही, इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये। फिर भी अब यह बात एक तरह से स्वोकृत कर ली गई हैं कि ये भास की ही कृतियाँ हैं।

गणेशदत्त शर्मा (इन्द्र)

मध्य प्रदेश के एक सुप्रसिद्ध प्राचीन साहित्यसेवी, लेखक पत्रकार और कवि। जिनका जन्म सन् १८९४ ई० में दीपावली के दिन गुना-मध्यभारत में हुआ था। इसके बाद उनका परिवार आगर (मालवा) में आकर बस गया।

पं० गणेशदत्त शर्मा "इन्द्र" को बचपन से ही लिखने-पढ़ने का शौक लग गया था। अठारह वर्ष की आयुसे ही ये हिन्दी के कई पत्रपत्रिकाओं में लेख-कविता और गल्प लिखने लग गये थे। आर्य-समाजी विचार धारा के होने के कारण इन को कई वर्षों तक ग्वालियर राज्य और जनता का कोपभाजन होना पड़ा। एक वार ग्यालिअर रियासत ने इनको राज्य से बहिष्कृत भी कर दिया था, मगर फिर इनके सत्याग्रह करने पर वापस इनको आगर में बसने की इजाजत दी गयी।

हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत इनकी गणना द्विवेदी-युग के लेखकों में होती है। पं० गणेशदत्त शर्मा उन लेखकों में से है, जिन्हों ने भयंकर आर्थिक संकटों के बीच रूखा-सूखा खाकर भी अपने सरस्वती-मन्दिर के दीपक को ज्वलन्त बनाये रखा। इन्होंने कई भिन्न-भिन्न विषयों अपनी रचनाएँ कीं। सन्तान-शास्त्र, दीर्घायु, स्त्रियों के व्यायाम, स्वप्नदोष-रक्षक, ग्राम-सुधार इत्यादि रचनाएँ इन्हों ने स्वास्थ्य विषय पर कीं। इसके अतिरिक्त गुजराती-हिन्दी-कोश, योगासन, व्यवहारिक सभ्यता, यशवन्त राव होल्कर इत्यादि और भी आप की कई महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

साहित्य-सृजन के अतिरिक्त पत्रकारिता के क्षेत्र में भी इन्होंने कुछ पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया। जिनमे हिन्दी सर्वस्व, चन्द्रप्रभा, गौड़हितकारी आदि मुख्य हैं। पं० गणेश दत्त शर्मा का हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, मराठी, बंगला, गुजराती इत्यादि कई भाषाओं पर अच्छा अधिकार है।

पं० गणेशदत्त शर्मा को भिन्न-भिन्न संस्थाओं से 'विद्या-वाचस्पति' 'काव्यकला निधि' और 'धर्मवीर' की उपाधियाँ प्राप्त हुई हैं।

गदूनोफ (रूसीजार)

रूस के जार 'इवान चतुर्थ' के पश्चात् 'जार फ्योदर' के के समय में उसका एक प्रभावशाली सरदार और उसके बाद रूस का जार। जिसका शासन सन् १५९८ ई० से प्रारम्भ हुआ।

बोरिस गदूनोफ बायर-वंश का था। इसकी बहिन 'ईरीना' का विवाह जार-फयोदर के साथ होने से इसका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था।

सन् १५९८ ई० में जार-फ्योदर के मरने के साथ ही रूस का प्राचीन रूरिक राजवंश समाप्त हो गया। तब उसके बाद वहाँ की 'जेम्सकी-सबोर' नाम की राष्ट्रीय परिषद ने सन् १५९८ ई० में बैठक करके 'बोरिस-गदूनोफ' को नया जार चुना।

बोरिस-गदूनोफ बड़ा योग्य और गुणी पुरुष था। मगर इसके शासन में आने के कुछ ही समय पश्चात् सन् १६०१ ई० में रूसमें ३ वर्षका भारी अकाल पड़ा। अतिवृष्टि और पाले के पड़ने से सारी फसल बरबाद हो गयी। लोग भूख के मारे घास और भोजपत्र की छाल खाने लगे। गाँव के गाँव उजड़ गये। मास्को की सड़कें बिना

दफनाई हुई लाशों से पट गयीं। गदूनोफ के हुक्म से अन्न के सरकारी भण्डार खोलकर अकालग्रस्तों में बाँटे गये, मगर उससे भी पूरा न पड़ा। तब भूखे किसानों और मजदूरों ने अपनी टुकड़ियाँ बना कर जमींदारों और व्यापारियों को लूटना शुरू किया। सन् १६०३ ई० में खालोप-कसलोप के नेतृत्व में विद्रोही किसानों की एक बहुत बड़ी टुकड़ी ने मास्को में जाकर जार की सेना से एक भयंकर लड़ाई की। जिसमें जार का राज्यपाल 'ईवान-बसमानोफ' मारा गया। पर अन्तमें रूसी सेना ने उस विद्रोह को दबा दिया और पकड़े हुए विद्रोहियों को मास्को की सड़कों के किनारे के वृक्षों पर फाँसी पर लटका दिया।

रूस की इस कठिन स्थिति का फायदा पोलैण्ड के राजा 'सीगिसमन्द तृतीय' ने उठाना चाहा। उसने एक व्यक्ति को जार ईवान का पुत्र 'दिमित्रि' बतलाकर उसे रूसी राजगद्दी का वारिस बनाने का समर्थन किया। पोप ने भी दिमित्रि का समर्थन किया।

इस प्रकार इस दिमित्रि को सब लोगों का समर्थन प्राप्त होने लगा। जिसके लिए यह खबर उड़ गयी थी कि सन् १५९९ ई० में वह 'उगलिच' नामक नगर में मर गया। पोलैंड वालों ने कहा कि उस समय यह मरा नहीं था, बल्कि पोलैंड आ गया था।

पोलैण्ड के राजपुरुषों ने दिमित्रि के प्रकट होने का बड़ा स्वागत किया। पोलैंड के राजा सीगीसमन्द ने सन् १६०४ई० में राजधानी 'क्रैको' में उसका स्वागत किया। अन्त में सब तैयारी कर लेने के बाद सन् १६०४ ई० की शरद-ऋतु में ४००० पोल-सेना और बहुत से रूसी कज्जाकों के साथ दिमित्रि ने रूस के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ किया। अकाल के मारे हुए बहुत से भगोड़े किसान और गदूनोफ के शासन से असन्तुष्ट बहुत से सैनिक भीं दिमित्रि के झंडे के नीचे एकत्रित हो गये। फिर भी सन् १६०५ ई० मे गदूनोफ की सेना ने दिमित्रि की सेना को हरा दिया। मगर उसके बाद ही गदूनोफ की सेना में भी भारी विद्रोह हो गया और उसी अवस्था में अप्रैल सन् १६०५ ई० में गदूनोफ की मृत्यु हो गयी।

गदूनोफ के शासनकाल में ही, सबसे पहले साइबेरिया में जा कर रूस के लोगों ने आबाद होना शुरू किया। साइबेरिया से मिलने वाली समूर-जानवर की खालें सोने के भाव में बिकती थीं। साथ ही वहाँ के जंगली लोगों को पकड़ कर उन्हें गुलामों की मंडी में बेंच देने से भी अच्छी आमदनी हो जाती थी। इसलिए रूसी प्रवासियों का उधर आकर्षित होना स्वाभाविक था।

जार गदूनोफ के शासन-काल में एक बड़ा सैनिक अभियान साइबेरिया भेजा गया। तभी से साइबेरिया के अन्दर रूसी लोगों के उपनिवेश और बड़े-बड़े नगर बनना प्रारम्भ हो गये।—(मध्य-एशिया का इतिहास)

गद्य-साहित्य

मनुष्य की साधारण बोलचाल की भाषा को व्याकरण के अनुशासन में बाँधकर जो साहित्यिक भाषा तैयार की जाती है, उसी को 'गद्य' कहते हैं।

मानव-समाज के अन्तर्गत बोल-चाल की भाषा के रूप में सबसे पहले गद्य का जन्म हुआ। मगर जब भावनाओं के आवेग से मानवीय ज्ञान ने साहित्य का रूप ग्रहण किया तो उस साहित्य में पहले पद्य या कविता का और उसके बाद गद्य-साहित्य का निरूपण हुआ। संसार के प्रायः सभी देशों के साहित्य में यह क्रम इसी रूप में पाया जाता है।

गद्य-साहित्य के साधारणतया दो विभाग होते हैं। एक में कहानियों और उपन्यासों का समावेश रहता हैं और दूसरे में इतिहास, दर्शनशास्त्र, निबन्ध, पत्रकार कला इत्यादि का स्थान रहता है।

कहानी और उपन्यासों का विवेचन इस ग्रन्थ में उपन्यास साहित्य और कहानी-साहित्य के शीर्षकों में किया जा चुका है। इस स्थान पर हम गद्य के दूसरे विभागों से संबंधित गद्य-साहित्य का वर्णन करेंगे।

संस्कृत गद्य-साहित्य

संस्कृत साहित्य में काव्य के मुकाबिले में गद्य-साहित्य का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा है। इसका कारण यह है कि भारतीय संस्कृति में सौन्दर्य्योपासना और रस अभिव्यक्ति की भावनाएँ हमेशा से व्याप्त रही हैं और सौन्दर्य्य और रस की अभिव्यक्ति के लिए गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक कारगर होता है। इसी लिए संस्कृत साहित्य में दर्शन शास्त्र, ज्योतिष और गणित

शास्त्र जैसे दुरूह विषयों का वर्णन भी कई स्थानों पर सुन्दर कविता में कर उन विषयों को आकर्षक बना दिया गया है।

फिर भी संस्कृत का गद्य-साहित्य अपनी प्रौढ़ता, सुन्दरता और भावों की अभिव्यञ्जना के लिए संसार का एक उत्कृष्ट गद्य साहित्य है।

संस्कृत गद्य साहित्य को काल-विभाग के अनुसार हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) पूर्ववर्ती उपनिषद्-युग जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषद् ग्रंथों और दशन ग्रंथों का समावेश होता है (२) मध्ययुग जिसमें दण्डी, सुबन्धु, बाण इत्यादि महान् ग्रन्थकारों की रचनाओं का समावेश होता हैं और (३) उत्तरयुग जिसमें बाण के बाद लिखे हुए गद्य साहित्य का समावेश होता है।

पूर्ववर्त्ती युग में कृष्ण यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद् ग्रन्थ और दर्शन ग्रंथों के द्वारा संस्कृत गद्य के विकास की परम्परा प्रारम्भ हुई। यद्यपि उस समय का बहुत सा साहित्य समय के भीषण प्रहारों से नष्ट हो चुका है, फिर भी जो कुछ शेष है उसी से हमें उस काल की संस्कृत गद्य परम्परा का परिचय मिलता है।

मगर संस्कृत गद्य परम्परा को सुव्यवस्थित और सुन्दर रूप सुप्रसिद्ध वैय्याकरणी महर्षि पाणिनी के द्वारा व्याकरण के महान् ग्रंथ "अष्टाध्यायी" की रचना के पश्चात् प्राप्त हुआ।

संस्कृत गद्य की भाषागत परम्परा एवं साहित्य के क्षेत्र में पाणिनी व्याकरण ने एक नवीन युग की स्थापना की। यह युग लौकिक संस्कृत का युग कहा जाता है। कई लोगों का यह भी कथन है कि उस समय की लौकिक भाषा जब पाणिनी व्याकरण के द्वारा सुसंस्कृत की गई तब उसका नाम संस्कृत पड़ा। पाणिनी का समय ई० पू० ४८० से ई० पू० ४१० के बीच किसी समय समझा जाता है।

इसके पश्चात् गुप्तकालीन शिलालेखों, रुद्रदामन के गिरनार का शिलालेख तथा और भी कई अभिलेखों से उस समय के संस्कृत-गद्य की स्थिति का पता चलता है।

दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में शास्त्रीय गद्य की अवतारणा करने वालों में 'शाम्बर स्वामी' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका संस्कृत गद्य में 'कर्म-मीमांसा-भाष्य' दर्शन शास्त्र का बहुत उत्कृष्ट ग्रंथ है। शबर स्वामी का समय सन् चार सौ ईसवी के लगभग माना जाता है। शबर स्वामी के पश्चात् दार्शनिक गद्यकी रचना करने वालोंमें जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य का नाम आता है जिन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' 'गीता' तथा 'उपनिषदों' के भाष्य किये थे। ९वीं शताब्दी के अन्त में सुप्रसिद्ध नैयायिक पंडित 'जयन्त भट्ट' ने अपने न्याय-मञ्जरी ग्रन्थ के द्वारा संस्कृत-गद्य का एक परिष्कृत रूप उपस्थित किया।

संस्कृत-गद्य का एक सुललित रूप हमें पञ्चतन्त्र के अन्दर दिखाई पड़ता है। पञ्चतन्त्र का समय ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा की दूसरी शताब्दी तक के बीच किसी समय माना जाता है। पंचतन्त्र की शैली सीधी, शक्तिशाली, प्रवाहपूर्ण और अत्यधिक अलंकारों के बोझ से बची हुई है।

दण्डी

मगर संस्कृत-गद्य का चरम विकास और उसका साँचे में ढला हुआ स्वरूप हमें 'दण्डी' की रचनाओं में मिलता है। दण्डी का समय ईसा की छठी सदी के आसपास समझा जाता है।

आचार्य दण्डी संस्कृत के प्रथम गद्यकार माने जाते हैं। हालांकि इनके पहले भी संस्कृत साहित्य मे गद्य की परम्परा कायम थी। पर गद्य का वह वैभवशाली रूप, जिसके कारण संस्कृत-भाषा को आगे बढ़ने का अवसर मिला हमें दण्डी, सुबन्धु और बाण की रचनाओं में देखने को मिलता है दण्डी की रचनाओं में 'दशकुमार-चरित' और 'काव्यादर्स' उल्लेखनीय हैं। दण्डी अपनी रचनाओं में कलात्मकता की अपेक्षा प्रामणिकता तथा विशुद्धतावाद की अपेक्षा वास्तविकतावाद को अधिक पसन्द करते थे।

आचार्य दण्डी के बाद संस्कृत के गद्यक्षेत्र में सुबन्धु का नाम आता है। इनका समय ईसा की छठीं और सातवीं सदी के बीच समझा जाता है। इनकी रचना 'वासवदत्ता' संस्कृत-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। दण्डी यदि मनुष्य के व्यस्त और स्वाभाविक जीवन की ओर अग्रसर हुए तो सुबन्धु अलंकृत काव्य के प्रभाव के सर्वथा वशीभूत हो गये। इनका गद्य लम्बे-लम्बे और अलंकारों से बोझिल वाक्यों से भरा पड़ा हुआ है। वासवदत्ता के प्रेम की पीड़ा का वर्णन करते हुए एक दूत राजकुमार से इस प्रकार कहता है—'आप के लिए इस कन्या के हृदय में जो पीड़ा है, उसका वर्णन करने मे युगों का समय लगेगा। और उसके लिए आकाश को कागज, समुद्र को दावात, शेषनाग को वक्ता और ब्रह्मा को लेखक बनाना होगा।'

कहना न होगा कि इस प्रकार के अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करने के लिये उन्हें लम्वे-लम्वे वाक्यों का आश्रय लेना पड़ा। उनका कोई-कोई वाक्य तो सौ-सौ पंक्तियों में जाकर पूरा हुआ है।

बाण भट्ट

दण्डी और सुवन्धु के बाद बाणभट्ट का नाम आता है। बाणभट्ट संस्कृत के उन यशस्वी विद्वानों में से हुए जिनके कारण संस्कृत-भाषा को विश्व की उच्चतम भाषाओं में स्थान मिला। इनकी रचनाओं में 'कादम्बरी' और 'हर्ष-चरित्र' दो रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं में उन्होंने आत्म-चरित की थोड़ी सी झाँकी देकर इतिहासकारों के मार्ग को बहुत प्रकाशित कर दिया है। आगे के युग में संस्कृत के लेखकों ने बाणभट्ट का बहुत अनुकरण किया। बाणभट्ट का समय सन् ६५० ई० से ७०० ई० के बीच तक का माना है। ये सम्राट् हर्षवर्धन की सभा के राजकवि थे।

बाणभट्ट की रचनाओं के अनुकरण पर 'मेरुतुङ्गाचार्य' ने प्रबन्ध-चिन्तामणि और 'राज शेखर सूरि' ने प्रबन्धकोष की १४वी शताब्दी में रचना की।

इसके पश्चात् संस्कृत साहित्य में चम्पू काव्यों का युग आता है। चम्पू मे गद्य और पद्य का मिश्रण होता है। इन चम्पू काव्यों में 'त्रिविक्रम भट्ट' का नल-चम्पू, 'सोमदेव' का यशस्तिलक-चम्पू, जीवनधर चम्पू इत्यादि बहुत से चम्पू-ग्रंथों को रचना हुई।

संस्कृत-गद्य के आधुनिक इतिहास में पं० अम्बिकादत्त व्यास के द्वारा रचित 'शिवराज-विजय' उपन्यास उल्लेखनीय है।

अंग्रेजी गद्य-साहित्य

अंग्रेजी गद्य का प्रारम्भ वैसे ईसा की दसवीं सदी से माना जाता है। उसके पहले वहाँ लैटिन गद्य का प्रचार था। सबसे पहले राजा अल्फ्रेड के "क्रानिकल" का सरल अंग्रेजी में निर्माण हुआ। यह शैली करीब सौ वर्षों तक चलती रही।

इसके बाद सन् १४७६ में विलियम कैक्सटन के द्वारा इंग्लैण्ड में पहला प्रिण्टिंग प्रेस खुला। इस प्रेस के द्वारा अंग्रेजी गद्य को बहुत प्रोत्साहन मिला। इसी समय विलिमम टिण्डेल और 'कवरडेल' ने बाइबिल का अंग्रेजी गद्य मे बड़ा सुन्दर अनुवाद किया। इससे अंग्रेजी गद्य को नया मोड़ मिला। इसी युग में 'जानफॉक्स' 'रिचर्डहूवर' 'रोजर एशम' 'टॉमस-नार्थ' इत्यादि लेखकों ने अंग्रेजी-गद्य को स्मृद्धि किया।

सोलहवी सदी में फ्रांसिस-बेकन ने अंग्रेजी गद्य के क्षेत्र में एक नवीन धारा को प्रवाहित किया। इसका समय सन् १५६१ से १६२६ तक था। यद्यपि इसकी बहुत सी रचनाएँ लैटिनमें हैं। फिर भी सन् १५९७ में उसके अंग्रेजी भाषा के निवन्धों का जो संग्रह प्रकाशित हुआ, उससे उस समय के धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में एक युगान्तर हो गया।

फ्रान्सिस बेकन के बाद अंग्रेजी गद्य के विकास में थामस-ब्राउन का नाम आता है। इसका समय सन् १६०५ से १६८२ तक था। उसने अपने "हाइड्रियोटेफिया' और 'अर्न-बरियल' नामक रचनाओ में अंग्रेजी-गद्य को एक नवीन सांचे में ढाल दिया। इसी के समकालीन 'जेरेमी टेलर' और 'जान-मिल्टन' ने भी अंग्रेजी गद्य को समृद्ध किया। इसी युग में 'आइजक वाल्टन' ने 'कम्प्लीट एँगलर' नामक गद्य ग्रन्थ की रचना कर अंग्रेजी साहित्य को प्रभावित किया। इसी सत्रहवीं सदी में 'सेम्यूएल पेपिज' नामक प्रसिद्ध गद्यकार की डॉयरी प्रकाशित हुई, जो अंग्रेजी साहित्य में बेजोड़ मानी जाती है।

अठारहवीं सदी में दर्शन-शास्त्र के गम्भीर विषयों पर अंग्रेजी गद्य में रचना होने लगी। जिनका प्रारम्भ जार्ज बर्क्ले और डेविड ह्यूम ने किया। बर्क्ले और ह्यूम के दार्शनिक चिंतन ने अंग्रेजी-समाज को काफी प्रभावित किया।

अठारहवीं सदी में अंग्रेजी गद्य के शक्तिमान लेखकों में एडवर्ड गिब्बन का नाम बहुत उल्लेखनीय है। उसकी आत्म-कथा या 'आटोबायग्रॉफी' अंग्रेजी गद्य की सुघड़ शैली का एक सुन्दर नमूना पेश करती है। उसके इतिहास-ग्रन्थों ने प्राचीनता का परदा खोल कर आधुनिकता के साथ उसका सापेक्ष्य मूल्यांकन किया। इसी युग में राजनीति के क्षेत्र में 'टामस होबेस' के ग्रन्थ 'लेवायथान' और जान-लॉक के निबंध 'ऐन ऐसेज कन्सर्निङ्ग ह्यूमन अण्डर स्टेण्डिङ्ग' ने समग्र यूरोप को बहुत प्रभावित किया।

गिबन का समकालीन 'सेम्युएल जान्सन' भी अंग्रेजी साहित्य का महारथी था। उसने सन् १७४७ से १७५५ तक अंगेजी डिक्सनेरी की रचना करके अंग्रेजी साहित्य में तहलका मचा दिया। यह डिक्सेनेरी आने वाले युग की सब डिक्सने-

रियों की पूर्व जननी थी। इसमें शब्दों का जितना ज्ञान और व्याख्या जान्सन ने प्रस्तुत की उतनी उसके पहले अंग्रेजी साहित्य में कहीं भी न थी।

अठारहवीं सदी में ही 'गोल्डस्मिथ' ने अपने 'सिटीजन ऑफ दी वर्ल्ड' नामक निबन्ध-संग्रह से अंग्रेजी गद्य को समृद्ध किया। इस सदी का सबसे बड़ा गद्य लेखक और वक्ता 'एडमण्ड वर्क' हुआ। जिसकी जोशपूर्ण वक्तृताओं से इंगलैण्ड की पार्लमेंट थर्राती थी। भारत के गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज के खिलाफ चलनेवाले केस में एडमण्ड-वर्क की वक्तृताएँ अंग्रेजी साहित्य की अमर वस्तु है। इसके अतिरिक्त भी इसने अंग्रेजी गद्य में कई रचनाएँ कीं, जो अपनी प्रवाहपूर्ण अंग्रेजी के कारण खूब प्रसिद्ध हुईं।

इसी प्रकार इस सदी में 'विलियम कूपर' 'टॉमसग्रे' जेम्स मैकफर्सन इत्यादि लेखक भी उल्लेखनीय हुए हैं।

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी गद्य के अन्तर्गत 'कौलरिज' का नाम अत्यन्त उल्लेखनीय है। सन् १८१७ में 'वायोग्रेफिया लिटरेरिया' नामक रचना के द्वारा उसने अंग्रेजी गद्य मे समालोचना की एक सुघड़ परम्परा कायम की और आलोचना क्षेत्र में एक नवीन शब्दावली को कायम किया। उसकी दार्शनिक विचारधारा ने अंग्रेजी के चिन्तन को बहुत प्रेरणा दी।

इसी सदी में चार्ल्स लैम्ब के द्वारा 'ऐसेज आफ एलिया' और 'लास्ट एसेज' नामक अंग्रेजी गद्य की अमर कृतियों का सृजन हुआ। इसके अतिरिक्त 'विलियम हैलेट' 'डी० क्विन्सी विलियम कॉबेट, 'चार्ल्स डारविन' इत्यादि लेखक भी अंग्रेजी गद्य में प्रसिद्ध हुए। इसी सदी में कई पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जिनके द्वारा अंग्रेजी गद्य में एक नवीन धारा प्रवाहित हो चली।

मेकाले, कारलाइल और मैथ्यूआर्नेल्ड—इस सदी के अत्यन्त प्रभावशाली लेखक हुए। कठिन शब्दावलियों और अलङ्कारों से जड़ी हुई होने पर भी मेकाले की भाषा उसके विस्तृत ज्ञान के कारण अत्यन्त प्रवाहपूर्ण साबित हुई। उसकी 'हिस्ट्री ऑफ इंग्लैण्ड' बहुत प्रसिद्ध हुई। कारलाइल की 'ऑन हीरोज एण्ड हीरो वर्शिप' 'पास्ट एण्ड प्रेझेण्ट' इत्यादि कृतियाँ अंग्रेजी साहित्य मे बहु लोकप्रिय हुईं। मैथ्यू आर्निल्ड ने अंग्रेजी के समालोचना साहित्य को एक नवीन दिशा प्रदान की। 'जॉन रस्किन ने अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या की। उसकी 'माडर्न पेण्टर्स' 'दी स्टोन ऑफ वेनिस' और 'एन टू दिस लॉस्ट' नामक रचनाएँ अंग्रेजी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

बीसवीं सदी में तो अंग्रेजी गद्य ने बहुत विशाल रूप धारण कर लिया और सैकड़ों लेखकों ने इसको अपनी रचनाएँ भेंट की। उन सबके नामोल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है। इन लेखकों में 'चेस्टरटन' 'वैलाक' 'वीरवोहम' 'लायड जार्ज' 'चर्चिल' और 'स्ट्रेची' के नाम गिनाये जा सकते हैं।

इटालियन गद्य का विकास

चौदहवीं सदी इटालियन-भाषा के विकास की सर्वोत्तम शताब्दी मानी जाती है। इस शताब्दी के पहले इटालीके विद्वान विशेष करके लैटिन-भाषा में ही अपनी रचनाएं करते थे। इस सदी के पहले तेरहवीं सदी में सिर्फ सुप्रसिद्ध इटालियन यात्री मार्को-पोलो के प्रसिद्ध यात्रा विवरण का फ्रेञ्च भाषा से किया हुआ इटालियन अनुवाद इटालियन गद्य का महत्व पूर्ण उदाहरण था।

चौदहवीं सदी में इटालियन साहित्य का प्रधान केन्द्र फ्लोरेन्स बन गया। इस सदी के अन्तर्गत "बोकाचो" नामक विद्वान ने इटालियन गद्य में एक नवीन धारा को प्रवाहित कर उसे सुसंगठित रूप दिया। उसका लिखा हुआ "देकामरन" नामक ग्रन्थ आज भी इटालियन साहित्य की एक बहुमूल्य निधि समझा जाता है।

पन्द्रहवीं सदी के अन्त और सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में 'पिएट्रो वैम्बो' नामक एक प्रसिद्ध लेखक हुआ। जिसने इटालियन भाषा में शुद्ध शैलीवाद की परम्परा का प्रारम्भ कर इटालियन भाषा को संकीर्ण और बोझिल बनाने का प्रयत्न किया। इसने वेनिस के इतिहास पर, नेपल्स के इतिहास पर तथा यूरोपीय इतिहास पर कई ग्रन्थों की रचना की।

इसी काल में सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ 'मैकियाविली' हुआ। उसने भी अपनी राजनैतिक और ऐतिहासिक रचनाओं में वैम्बो की इसी क्लिष्ट शैली का अनुगमन किया। 'जार्जियों वासारी' ने इसी काल में कलाकारों के जीवन-चरित्र पर एक ग्रन्थ की रचना की तथा वेनवेनूटो सेलानी (Ben-venuto-cellini) ने अपनी आत्मकथा लिखकर इटालियन गद्य को

समृद्ध किया। इसी सदी में कई उपन्यासों की भी 'बोकाचो' की शैली में रचना हुई।

इसी सदी में इटली में कई बड़े बड़ वैज्ञानिक भी हुए जिन्होंने इटालियन गद्य को अपनी वैज्ञानिक रचनाओं से अलंकृत किया। सुप्रसिद्ध गणितशास्त्री और वैज्ञानिक 'गैलिलिओ' भी इसी काल में हुआ। यह युग ईसाई-धर्मान्धिता का युग था' इस युग में अपने नये सिद्धान्तों के प्रतिपादन के कारण गैलिलिओ को भयङ्कर विरोध का सामना करना पड़ा और अपने प्राण बचाने के लिए अपने आविष्कृत नवीन सिद्धान्तों का सार्वजनिक रूपसे विरोध करना पड़ा। इसी सदी में कई दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता 'ज्योरडानो ब्रूनो' को नास्तिकता के अपराध में जीवित जला दिया गया। और 'टौमासो काम्पोनाला' को लम्बी कैद भुगतनी पड़ी। मगर इन लोगों की रचनाओं ने इटालियन गद्य में विशिष्ट स्थान ग्रहण किया।

सत्रहवीं सदी के इटालियन गद्य पर बोकाचो के साथ साथ 'मारिनी' की शैली का भी प्रभाव रहा। इस काल के प्रधान गद्यकारों में ट्रायानो बोकालीनी (Traino Bocca-lini) राजनीति का बड़ा प्रचण्ड आलोचक और निर्भीक गद्यकार हुआ। उसने अपनी रचनाओं मे स्पेन के अत्याचारों के खिलाफ प्रबल प्रहार किया है। पाओलो-सेग्नेरी (Paola Segneri) ने अपनी धार्मिक रचनाओं से इटालियन गद्य में नव जीवन का संचार किया।

इस सदी के उत्तरार्द्ध मे फ्रान्सिस्को रेड्डी (१६२८-१६९८) नामक एक प्रसिद्ध गद्यलेखक हुआ। चिकित्सा शास्त्र, विज्ञान इत्यादि कई विषयों पर रचनाएं करके इसने इटालियन गद्य के विकास में योग दान दिया। इसी प्रकार प्राकृतिक विज्ञान के अन्तर्गत लॉरेंजो मागालोट्टी (१६३७-१७१२) ने, विज्ञान के क्षेत्र मे 'मार्सेले मालपीघी (१६२८-१६९४) ने और धार्मिक क्षेत्र में 'डानिएलो बर्टोली' नामक पादरी की रचनाओंने इटालियन गद्य में विकसित परम्परा का प्रारम्भ किया।

इसी युग में क्लासिकल शैली के विरुद्ध इटालियन साहित्य में बड़ा विद्रोह हुआ और सरल तथा जन-भाषा की ओर साहित्यकारों का ध्यान गया।

सन् १७८५ में सेजारोही (Cesarotti) नामक विद्वान ने 'भाषा-विज्ञान' पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। उसने टस्कनी भाषा के मूलाधार पर स्थित इटालियन भाषा में आवश्यकतानुसार [illegible] विदेशी शब्द ग्रहण करके उसे सम्पन्न बनाने का समर्थन किया। इसके विरुद्ध फ्रान्सेस्को गालिनी नामक लेखक ने शुद्ध इटालियन भाषा के समर्थन में अपने ग्रन्थों की रचना की।

उन्नीसवीं सदी इटाली के अन्तर्गत राजनैतिक चेतना की शताब्दी थी। इसी शताब्दी में [illegible] इटाली के राजनैतिक क्षेत्र में 'ग्वीसेप-मोजिनी' ने एक नई जीवन-धारा बहादी। इसी युग में जिओबर्टी नामक विद्वान ने पो[illegible]के तत्वावधान में इटाली की व्यापक राष्ट्रीयता की कल्पना की। इसी शताब्दी में इटालियन उपन्यासों में यथार्थवादी [illegible] चित्राङ्कन का प्रारम्भ हुआ। जिसका नेतृत्व लुइजी-कापुआना (१८३९-१९१५) और अल्फ्रेड ओरियानी (१८५२-१९[illegible]०९) ने किया। ओरियानीका उपन्यास 'जैलेसी' यथार्थवादी [illegible] दृष्टि-कोण से लिखा हुआ इटालियन भाषा का सफल उपन्यास है।

बीसवीं सदी इटाली में फासिस्ट-सिद्धान्तों की प्रेर[illegible]णा-भूमि बन गई। और यहाँ के लेखकों ने जर्मन-व्यक्तिवादी 'नित्शे' और 'स्टेफन जार्ज' का अनुकरण कर फासिज्म और नाजीज्म के समर्थन में अपनी रचनाएं करना प्रारम्भ किया। कई लेखकों ने फ़ासिज्म के विरोध में भी बहुत कुछ लिखा। इन विरोधी लेखकों में 'इग्नाजिओ सिलोने' का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इस विद्वान को अपनी फासिज्म-विरोधी भावनाओं के कारण देश से निर्वासित होना पड़ा। इसका 'फोण्टा मारा' नामक उपन्यास विशेष प्रसिद्ध हुआ।

इब्रानी गद्य

इब्रानी-भाषा यहूदियों की भाषा है। इस भाषा को अंग्रेजी में 'हिब्रू' भाषा कहते हैं। इब्रानी-भाषा का साहित्य बहुत पुराना है। ईसा से कई शताब्दियों पूर्व इब्रानी भाषा में बाईबिल के 'ओल्डटेस्टामेंट' की रचना हुई थी। जिसके व्याख्याता हजरत मूसा ईसा से सोलह सौ वर्ष पहले हुए थे।

ऐसा समझा जाता है कि यहूदी साहित्य को सब से पहले संग्रह करके उसे व्यवस्थित रूप देने वाला "यहूदा हनशी' नामक विद्वान ईसा की पहली या दूसरी सदी में

हुआ। इसने यहूदी दर्शन, यहूदी कानून और यहूदी धर्म-शास्त्र को लिपिबद्ध करवा कर उसे शास्त्रीय रूप दिया। यह लिपिबद्ध साहित्य 'मिश्ना' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह 'मिश्ना' यहूदी कानून-व्यवस्था का प्रामाणिक संकलन है। इसके पश्चात् इस 'मिश्ना' साहित्य को अलग-अलग छः विभागों में बाँट दिया गया। पहला विभाग कृषि से संबंधित था। इसे 'जिराएन' कहा गया। त्यौहारों से सम्बन्धित दूसरा विभाग 'मोएद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। समाज में स्त्रियोंकी स्थिति का निरूपण करने वाला विभाग 'नशीन' कहलाया। कानून के सभी अङ्गों की व्याख्या वाले विभाग को विभाग 'नजीकिन' नाम दिया गया। और यज्ञ-बलिदान से सम्बंधित 'कोदशिम' तथा आचार-शास्त्र का विभाग 'तोहरोथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसी मिश्ना साहित्य से इब्रानी-गद्य का प्रारम्भ होता है। इस मिश्ना-साहित्य पर वाद-विवाद करने और इसमें समय समय पर संशोधन करने के लिये 'कल्ला' नामक एक सभा बनाई हुई थी। इस सभा में जो विचारों का आदान-प्रदान होता था, उसका संग्रह कर लिया जाता था। यह संग्रह 'वेविलोनीयन तालमुद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ईसाकी दूसरी शताब्दी में वेबिलोनिया के 'सुरा' 'नेहाद्रिया' तथा 'पुम्पेडिटा' नामक स्थानों पर यहूदियों ने अपनी ज्ञान-शोधक-संस्थाओं की स्थापना की। इन संस्थाओं के द्वारा भी इब्रानी-गद्य के विकास में बड़ी सहायता मिली।

ईसाकी छठी शताब्दी में इब्रानी-साहित्य में 'साद़िया-वेन-जोसेफ' नामक एक सर्वतोमुखी प्रतिभा का विद्वान हुआ। इसने इब्रानी भाषा के अन्दर एक कोष का निर्माण कर उसके विकास को एक नया मोड़ दिया। इसने इब्रानी गद्य के लिए एक व्याकरण का निर्माण करके इब्रानी गद्य को व्यवस्थित रूप दिया। इसने 'एमुनोथ-वे डेओथ' नामक ग्रन्थ लिखकर यहूदी दर्शनशास्त्र की नींव डाली।

इसके पश्चात् ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में 'जूड़ा हलेवी', 'ममोनाइड्स' और 'वहया' नामक तीन लेखकों ने अपनी रचनाओं से इब्रानी गद्य को समृद्ध किया। मनुष्य के कर्तव्यों का विश्लेषण करने वाला 'बहया' का ग्रन्थ इब्रानी-साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसके इब्रानी भाषा में सैंकड़ों संस्करण हुए। और विश्व की कई भाषाओं में इसके अनुवाद भी हुए।

इसी शताब्दी में 'अब्राहम इब्न-इजरा' हुआ। जो इब्रानी भाषा का प्रकाण्ड पण्डित था और जिसने ज्योतिष, विज्ञान, व्याकरण, दर्शन-सभी विषयों पर अपनी रचनाएँ प्रस्तुतकर इब्रानी-गद्य को एक नवीन दिशा दी।

इसी युग में 'मैमोनोडाइज' नामक प्रसिद्ध इब्रानी विद्वान हुआ। यह सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी महान् विद्वान था। उसने यहूदियों के ग्रन्थ 'तालमुद' को एक व्यवस्थित रूप देकर 'मिश्ने-टोरा' की रचना की। उसने अपनी रचनाओं से यहूदी कानून में भी बहुत सुधार किया। इसी युग मे यात्रावर्णन और भूगोल पर बेञ्जामिन नामक लेखक ने अपना ग्रन्थ लिखा और 'जोसेफ-इब्न-जबरा' ने भी आनन्द के स्वरूप पर 'सेफेर शआशुइमें' नामक ग्रन्थ की रचना की।

तेरहवीं शताब्दी में स्पेन पर मुसलमानी शासन समाप्त होकर फर्डिनण्ड और इजाबेला का ईसाई-शासन प्रारम्भ हुआ और उन लोगोंने यहूदियों पर भयानक अत्याचार प्रारम्भ किये जिसके फलस्वरूप यहूदी विद्वानों को वहाँ से भागना पड़ा।

इसी शताब्दी में 'मोजिज-दी-लिओन' नामक विद्वान ने ईसाई अत्याचारों के खिलाफ 'जोहार' नामक एक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के नाम पर ही यहूदियों में एक ईसाई विरोधी आन्दोलन चल गया जिसमें अन्य गैर ईसाई लोग भी शामिल हो गये। इस आन्दोलन ने इब्रानी साहित्य के अन्तर्गत बड़े प्रेरणादायक साहित्यका निर्माण किया।

मगर अन्त में ईसाइयों के शासन में यहूदी-सम्प्रदाय कहीं भी एक स्थान पर नहीं ठहर सका और करीब तीन शताब्दियों तक वे लोग इधर-उधर मारे मारे फिरते रहे।

अठारहवीं सदी में फिर इब्रानी-साहित्य में नये जीवन का संचार हुआ। जिसका प्रारम्भ 'लुजाटो' (१७०७-१७४७) ने किया। इसने तर्कशास्त्र और आचरशास्त्र पर कई रचनाएँ कीं।

१८ वीं शताब्दी में इब्रानी साहित्य में 'हस्कला' नामक एक आन्दोलना चला। जिसका नेतृत्व 'मेण्डेलस्सोन' (१७२९-१७८६) नामक दार्शनिक ने किया। इस आन्दो-

लन से इब्रानी साहित्य को नया जीवन प्राप्त हुआ। इसी सदी में इब्रानी साहित्य में कई पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुई। इन पत्र पत्रिकाओं में 'मिश्रास्फिम' नामक पत्रिका का नाम उल्लेखनीय है जिसने करीब २७ वर्षो तक इब्रानी साहित्य को समृद्ध किया।

इसी सदी में आस्ट्रिया और गैलीशिया के यहूदियों में भी 'हस्कला आन्दोलन का तेजी से प्रसार हुआ,। गैलीशिया में यहूदियों के इतिहास पर भी कई ग्रन्थों की रचना हुई। इन लेखकों में 'सालेमन-जूड़ा' 'नहमान क्रोकमाल' (१७८५–१८४०) 'डेविड लुजाटो' (१८००–१८६५) इत्यादि लेखकों के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

उन्नीसवीं सदी में इब्रानी गद्य का काफी विकास हुआ। इस शताब्दी में कई इब्रानी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इतिहास के क्षेत्र में भी कई प्रौढ़ रचनाएं अस्तित्व में आईं। समालोचना साहित्य में भी बहुत वृद्धि हुई। उपन्यास और कहानियाँ भी खूब लिखी गई। इतिहासकारों में 'कलमन-शुलमन' (१८१६-६६) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जिसने सारे विश्व-इतिहास पर अपने ग्रन्थ की रचना की। समालोचनाके क्षेत्र में 'जेकब पपेर्ना' (१८४०–१९१९) और 'अब्राहम-कोवनेर' (१८४२-१९०१) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। और भी अनेक विद्वानों ने इस सदी में इब्रानी साहित्य को सुसंस्कृत किया।

अरबी गद्य

अरबी भाषा के अन्तर्गत वैसे गद्य के रूप में कोई स्वतन्त्र साहित्य नहीं है। पर ज्योतिष, विज्ञान, कानून, राजनीति, दर्शन शास्त्र इत्यादि सभी विषय गद्य के अन्तर्गत ही लिखे गये हैं।

वैसे ईस्लाम के सबसे पवित्र ग्रन्थ कुरआन शरीफ की रचना भी विशेष रूप से गद्य में ही हुई मगर वह गद्य तुकांत शैली में होने से पद्य की तरह ही मालूम होता है। इसकी भाषा वही है जो सातवीं सदी में मक्का में बोली जाती थी। कुरान की शैली के अनुकरण पर ही अरबी गद्य का विकास हुआ।

फिर भी अरबी गद्य को विशिष्ट रूप अब्बासी खलीफा अल-मंसूर (मृ० ७५५) के समय में मिलना प्रारम्भ हुआ जब कि प्रसिद्ध भारतीय यात्री अलबेरूनी ने भारतीय गणित, ज्योतिष इत्यादि पर अरबी भाषा में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। भौतिक विज्ञान और गणित के क्षेत्र में तत्कालीन अरबी साहित्य में ये रचनाएँ बेजोड़ थीं।

सन् ७७० ई० में इब्राहीम अलफजारी ने हिंदू गणित शास्त्र और ज्योतिष सिद्धांत के एक ग्रंथ का अरबी अनुवाद 'अल-सिन्द हिन्द' के नाम से किया। इसी में पहले पहल भारतीय अङ्कों का 'हिन्द-सा' के नाम से प्रयोग हुआ था। इस ग्रन्थ ने अरबी ज्योतिष शास्त्र के अन्तर्गत एक नवीन धारा का प्रारम्भ कर दिया। जिससे आगे जाकर सारा अरब और यूरोपीय देश भी प्रभावित हुए।

इसके कुछ वर्षों बाद प्रसिद्ध अब्बासी खलीफा 'अल-मामून' ने ज्ञान के प्रचार के लिये वैत-अल-हिक्मा नामक एक ऐकेडेमी की स्थापना की। इस ऐकेडेमी के द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओं के अनेक शोध ग्रन्थों के अरबी भाषा में अनुवाद किये जाने लगे। इसी समय में अरबी भाषा के व्याकरण और छन्द शास्त्र की भी रचना हुई। और इसी काल में संस्कृत के पंचतन्त्र नामक ग्रन्थ की कहानियों का अनुवाद 'कलील वा दिम्न' नाम से किया गया।

इसी युग में अबू-हनीफा ने 'कानून-हनीफ' के नाम से 'इब्नअनस' ने 'कानून-मलिकी' के नाम से, अलशाफी ने 'कानूनशाफी के नाम से और इब्नहम्बल ने 'कानून हम्बली' के नाम से इस्लामी कानून की चार शाखाओं का निर्माण किया और इन कानून व्यवस्थाओं पर ग्रंथों की रचना की।

ईसा की नवीं और दसवी सदीं में अरबी गद्य में विज्ञान की कई शाखाओं पर ग्रंथ लिखे गये। अबू-माशर नामक ज्योतिषी ने समुद्र में उठने वाले ज्वार भाटा के सिद्धांत का निरूपण अरबी गद्य में किया। उसने कई ग्रन्थों की रचना की जिनमें चार ग्रन्थों का अनुवाद लैटिन भाषा में हुआ।

ज्योतिष-विज्ञान में अरबी भाषा ने बहुत प्रगति की। इन ज्योतिषियों में अली इब्न यूनुस नामक ज्योतिषी का नाम बहुत प्रसिद्ध है। स्पेन के कारडोवा नामक शहर में भी ज्योतिष ज्ञान का बहुत विकास हुआ। अल-जरकाली, के द्वारा सन् १०८० में तोलेदो के अन्दर बनाया गया ज्योतिष सम्बन्धी चक्र 'तोलेदो-चक्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

राजनीति के क्षेत्र में 'अबू-यूसूफ' की रचना "किताब-

अल खराज'' तथा 'निजामुलमुल्क' की रचनाओं ने अरबी गद्य को बहुत स्मृद्धि किया ।

इसी प्रकार धर्मशास्त्र के क्षेत्र में 'अल-मावर्दी' का नाम बहुत प्रसिद्ध हुआ । इसका ग्रन्थ 'अल-अहकाम अल सुलतानिया' इस्लामी आचरण शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ समझा जाता है । इसी क्षेत्र में 'अल-बुखारी' 'अल-मातुरीदी' 'अल नसफी' अल शहरस्तानी इत्यादि विद्वान बहुत प्रसिद्ध एहु । जिन्होंने अपने धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के द्वारा अरबी गद्य साहित्य को स्मृद्धि किया ।

इसी सदी मे अरबी गद्य में कथा कहानियों की भी खूब रचना हुई । फारसी ग्रन्थ 'हजार अफसाने' का अनुवाद अल जहशियरि' ने किया जो आगे जाकर 'अरेबियन नाइट्स' के नाम से संसार मे प्रसिद्ध हुआ । इसी काल मे सुप्रसिद्ध 'अलिफलैला' की हजार रातो की कहानियों की रचना हुई जो आगे जाकर सारे संसार में प्रसिद्ध हो गई ।

इसी सदी में 'अल-हाकम' (सन् ८७०) और अल-बलाजरी (८९२) नामक इतिहासकारों ने 'फतूह-मिस्र' और 'फतूह अल-बुल्दान' नामक इतिहास ग्रन्थों की रचना अरबी गद्य मे की । 'अल-तबरी' (८३८-९२३) और 'अल-मसूदी' (९५६) ने भी अपनी रचनाओं से अरबी इतिहास को स्मृद्धि किया ।

अरबी गद्य में समालोचना साहित्य और भापा विज्ञान के क्षेत्र में 'अलआमिदी' (९८७) अबू-तम्माम (८४६) 'अल-बहतरी (८९७) इत्यादि लेखकों के नाम उल्लेखनीय है ।

इसी युग में ईरान और अरब में सूफी या रहस्यवादी मत का का प्रचार हुआ । सूफी मत ने ईरान और अरब की सभ्यता को बहुत प्रभावित किया । और इसके कारण इस्लाम की कट्टरता मे बहुत कुछ कमी आ गई ।

यद्यपि सूफी सम्प्रदाय के विद्वानों ने अपनी अधिकतर रचनाएँ कविता में की । फिर भी कई विद्वानों ने अपनी रचनाओ से अरबी गद्य को भी प्रभावित किया ।

ईसा की चौदहवीं सदी में स्पेन पर ईसाई राजा फर्डिनण्ड का अधिकार हो जाने पर उसने ईसाई-धर्म के जोश में इस्लामी धर्म के सारे साहित्य को जला दिया । बहुत थोड़े ग्रंथ उसकी इस आसुरी लिप्सा से बच पाये । उधर सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में उसमानी तुर्क लोगों ने ममलूक सुलतानों को पराजित कर दिया जिससे अरबी गद्य का विकास एक दम रुक गया ।

उसके पश्चात् उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में मिश्र, ईरान और अरब में पत्र पत्रिकाओं की परम्परा का प्रारम्भ हुआ और इन पत्र पत्रिकाओं ने अरबी गद्य के विकास में बड़ी सहायता पहुंचाई । सन् १८७५ में सलीम कला नामक विद्वान ने मिश्र के सुप्रसिद्ध पत्र 'अल-अहराम' का प्रकाशन प्रारम्भ किया । इसीके आसपास 'सलीम सरकीस' (१८६९-१९२६) ने 'अल-मुसीर' नामक पत्र का सम्पादन प्रारम्भ किया । 'फरह अन्तून' (१८७२-१९१४) नामक पत्रकार ने 'जामिया अल उसमानिया' और रशीद रिजा (१८६५-१९३५) ने 'अल-मीनार' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया ।

इन्ही दिनों मिश्र पर ब्रिटिश सत्ता कायम हो जाने से (१८८२) तथा लेबनान के टर्की से स्वतन्त्र हो जाने के परिणाम स्वरूप अरबी-साहित्य ने एक नया मोड़ पकड़ा । अब इस साहित्य पर अंग्रेजी और फ्रेंच भापा का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगा । इसका गद्य, इसके उपन्यास और नाटक सभी इस प्रभाव से प्रभावित होने लगे । कई फ्रेंच और अंग्रेजी के उपन्यासों और नाटको का अरबी भापा में अनुवाद होने लगा । इस समय मे 'याकूब सर्रुफी' नामक विद्वान् (१८५२–१९२७) ने अरबी गद्य में एक नई और सुघड़ शैली को जन्म देकर अरबी गद्य को एक नवीन मोड़ दिया । उसने अपनी शैली से यह सिद्ध कर दिया कि विज्ञान, दर्शन इत्यादि दुरूह और अरोचक विषयो को भी सुन्दर गद्य की शैली मे किस प्रकार रोचक बनाया जा सकता है ।

प्राचीन यूनान का गद्य साहित्य

प्राचीन यूनान के अन्दर ईसा की छठी शताब्दी पूर्व से गद्य-साहित्य का प्रारम्भ हुआ । एथेन्स मे ग्रीक-गद्य साहित्य का विशेष रूप से विकास हुआ । इस विकास में सबसे महत्वपूर्ण योग 'अफलातून' (प्लेटो) (४२७-३४७ ई० पू०) ईसा क्रेटीज (ई० पू० ४३६-३३८) डिमास्थेनीज (३८४-३२२ ई० पू०) अरस्तू इत्यादि लेखको ने अपनी राजनैतिक और दार्शनिक रचनाओं के रूप में दिया । अफलातून की रिपब्लिक, लॉज इत्यादि रचनाएँ तथा अरस्तू के 'पॉलिटिक्स' नामक ग्रंथ ने ग्रीक साहित्य को अमर कर दिया ।

यूनानी लोगों की वक्तृत्वकला के कारण भी वहां के गद्य को बहुत प्रोत्साहन मिला। एथेन्स की 'ओरेटरो' वक्तृता के साहित्य में इतिहास के अन्दर प्रसिद्ध है। यूनान के वक्ताओं में 'कोरेक्स' 'टिसियस' 'लिसियस'' एण्टिफोन' 'पैरेक्लीज' इत्यादि वक्ताओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

इतिहास के क्षेत्र में यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (ई० पू० ४८५-४२५) संसार के इतिहास साहित्य का जनक माना जाता है। इसीने सबसे पहले संसार का भ्रमण करके वैज्ञानिक ढङ्ग से इतिहास लिखने की प्रणाली का प्रारम्भ किया। इसीका समकालीन 'थ्युसीडाइडस' भी एक महान् इतिहासकार हुआ। इसका ऐतिहासिक विश्लेषण, निष्पक्ष विवेचना और घटनाओं का आलोचनात्मक लेखन भी बड़ा अद्‌भुत था। इसी परम्परा में 'क्सेनोफोन' 'इफोरस' और 'थ्योपाम्पस' नामक लेखक भी हुए।

ईसा के पूर्व की तीसरी और दूसरी शताब्दी का युग यूनानी साहित्य में 'हैल्लोनिक युग' कहलाता है। इस युग में इतिहास और दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ग्रीक गद्य का बहुत विकास हुआ। इसी युग में प्लेटो के अनुगमन पर स्टोइक दर्शनशास्त्र पर कई रचनाएं लिखी गई। इस युग का प्रधान दार्शनिक (एपीक्यूरियस था, जिसने एपीक्यूरियन दर्शनशास्त्र की नीव डाली जो किसी हद तक नास्तिकता का समर्थक था। इस युग मे 'पोलिवियस' (ई० पू० २०१-१२०) नामक इतिहासकार बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसने तत्कालीन इतिहास-लेखन मे एक नवीन वैज्ञानिक परम्परा का प्रारम्भ किया।

इसके पश्चात् ग्रीस रोमन-साम्राज्य के अधिकार में चला गया। रोमन अधिकार में भी वहाँ की साहित्यिक जागृति जीवित रही। इस युग में दो लेखक बहुत प्रसिद्ध हुए। (१) प्लूटार्क (ई० सन् ४६-१२७) और लूसियन (ई० सन् १२०-१८०)। प्लूटार्क ने ग्रीस और रोम के महापुरुषों की प्रमाणभूत और तुलनात्मक जीवनियां कई भागों में लिखीं जो आज भी प्रमाण-भूत मानी जाती हैं।

चीनी गद्य-साहित्य

गद्य-साहित्य के क्षेत्र में चीन का इतिहास शायद सबसे प्राचीन है। ईसा से करीब २७०० वर्ष पूर्व सम्राट् हुआंग-टी के शासनकाल में उसकी राजसभा के लेखक 'चिश्रेह' ने चीनी लिपि का आविष्कार किया जो चित्र-लिपि के रूप में थी और ऊपर से नीचे को लिखी जाती थी। उसी समय से चीन में साहित्य को लिपिबद्ध करने का काम प्रारम्भ हो गया था।

इसके पश्चात् चाऊ-राजबंश के समय में चीन के अन्दर पढ़ाई के लिए स्कूल खोले जाने की परम्परा का प्रारम्भ हुआ। जिससे पढ़ाई के रूप में चीनी-गद्य की परम्परा बढ़ी।

इसके पश्चात् ईसा की छठी शताब्दी पूर्व से लेकर तीसरी शताब्दी पूर्व तक चीनी-साहित्य में दार्शनिक लोगों की उत्पत्ति का एक तांता बंध गया। इसी युग में लाओ-त्से कन्फ्यूशस (ई० पू० ५५१-४७८) माओ-त्से (ई० पू० ५०० से ४२० तक) मौन्सियस (ई० पूर्व ३७२-२८६) और हसन-चांग (ई० पू० २८६ से २३८) नामक विख्यात दार्शनिक हुए। इन सभी दार्शनिकों ने जीवन-दर्शन और राजनीति के क्षेत्र में अपनी महान् रचनाएँ करके चीनी-गद्य को बहुत समृद्ध किया।

ई० पू० ३३७ में कानून के क्षेत्र में तत्कालीन सम्राट् का प्रधान मंत्री बड़ा शांग-यांग प्रसिद्ध हुआ। इसने चीनी कानून की परम्परा का प्रारम्भ किया। और कानून के विषय में रचनाएँ कर उनका सख्ती से प्रयोग करना प्रारम्भ किया। राजनीति-शास्त्र में इसी युग में 'हान फेई' (ई० पू० २३३) नामक बड़ा गम्भीर विचारक हुआ जिसने अपने राजनैतिक सिद्धान्तों के द्वारा एक नवीन युग का प्रारम्भ किया।

इसके पश्चात् ई० पू० २२० में चिन-राजवंश सत्ता पर आया। इस वंश का पहला सम्राट् 'चिन-शिह-सी' साहित्य और दर्शन शास्त्र का महान् शत्रु था। उसने कन्फ्यूशस के अनुयायियों को जिन्दा जला दिया। और उसके ग्रन्थों को भी आग में फूंक दिया। कनफ्यूशस के कुछ गुप्त अनुयायियों ने उसकी कृतियों को बड़ी कठिनाई से कहीं-कही छुपाकर उनकी रक्षा की। साहित्य और राजनीति कीं गति एक दम रुक गई।

ई० पू० २०६ में चिन-राजवंश की समाप्ति होकर चीन में हान-राजवंश की स्थापना हुई।

हान-राजबंश का समय चीनी-साहित्य के इतिहास में स्वर्ण-युग कहा जाता है। इस युग में सैकड़ों लेखकों ने गद्य और पद्य में अमर रचनाएँ कर चीनी-साहित्य को अलंकृत किया। इस युग में साहित्य की 'शू-चिंग' शाखा के अन्तर्गत

इतिहास के और 'ली-ची' शाखा के अन्तर्गत धर्मशास्त्र और आचारशास्त्र के कई ग्रन्थों की रचना हुई।

चीएन (१४५-८७ ई० पू०) नामक इतिहासकार उस काल के इतिहासकारों मे बड़ा प्रसिद्ध हुआ। उसने 'शिह-ची' नामक चीन का एक वृहद् इतिहास १३० खण्डों में लिखा। जो आगे के इतिहासकारों के लिए आधार-स्तम्भ साबित हुआ। इसी युग में 'पान-पियाऊ' (ई० सन् ३-४५) 'पान-कू' नामक लेखक और पान-चाओ नामक महिला ने भी इतिहास-लेखन में बड़ी ख्याति पाई।

राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत इसी युग में राज्य मंत्री 'चिया-यी' (Chia-yi) ने 'हिसन शू' नामक राजनीतिक ग्रन्थ की रचना कर राजनीतिशास्त्र में एक नवीन युग का श्रीगणेश किया। इसी प्रकार दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में 'लिऊ-आन' 'टुंग-चुंग-शू' विशेष प्रसिद्ध हुए। इसके कुछ समय पश्चात् ई० सन् १२० में चीनी-भाषा का पहला शब्दकोश प्रकाशित हुआ। इसी समय वांग-चुंग नामक लेखक ने साहित्यिक आलोचनाशास्त्र के क्षेत्र मे एक नवीन प्रणाली का प्रारम्भ किया।

ईसा की तीसरी शताब्दी में हान-साम्राज्य तीन राज्यों में बंट गया। इस काल का इतिहास चेन-शाऊ (सन् २३३-२९७) नामक इतिहासकार ने 'सान-कुओ-ची' के नाम से लिखा। इसमें उसने इतिहास के प्रत्येक पात्र के चरित्र का विश्लेषण बड़ी खूबी से किया है।

सन् ६१८ से ९०६ तक चीन में सुप्रसिद्ध तांग-राजबंश का साम्राज्य रहा। इस युग में भी चीनी साहित्य को फलने-फूलने का काफी अवसर मिला। तांग-युग में 'प-इन-टी' नामक एक विशिष्ट गद्य-शैली का चीन में प्रचार था जो गद्य-काव्य की तरह बोली जाती थी। फिर भी इसे विशुद्ध गद्य की शैली नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध गद्य-शैली का निर्माण ईसा की आठवीं शताब्दी में हान-यू (७६८-८२४) और टुसुंग-युआन (७७३-८१९) नामक लेखक ने प्रचलित की। इन लेखकों ने कई निबन्ध-ग्रंथों की रचना कर चीनी-गद्य में एक नवीन और शक्तिशाली गद्य-प्रणाली का प्रारम्भ किया। इसी युग में ल्यू-चिह-ची (६६१-७१२) नामक सर्वतोमुखी प्रतिभा का महान् विद्वान हुआ। जिसने ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र और गणित-शास्त्र पर कई ग्रन्थों की रचना की। 'ली-चुन-फेंग' (६०२-६७०) भी उस युग का महान् ज्योतिषी और गणितकार था, जिसने इन विषयों पर कई ग्रंथों की रचना की और नक्षत्रों की पहचान के लिए एक यन्त्र का भी आविष्कार किया।

सन् ९०६ में तांग राजवंश का अन्त हो गया। कुछ वर्षों की अव्यवस्था के पश्चात् सन् ९६० में सुंग राजवंश का चीन में आधिपत्य हुआ। सुंग राजवंश के शासनकाल में चीनी साहित्य का बहुत विकास हुआ। इस युग में चीनी भाषा में कई विश्व-कोषों और ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना हुई। इसी युग मे ठप्पों के द्वारा मुद्रण करने की कला का आविष्कार हुआ और इसी युग में कम्पास का तथा संख्या जोड़ने वाली मशीन का भी आविष्कार हुआ।

इस युग में वांग-आन-शिह (१०२१-१०८६) ओयांग हिस्यू (११००-११७२) और मा टुआन-लिन नामक लेखक बहुत प्रसिद्ध हुए। ओयांग-हिस्यू ने तांगराजवंश के एक प्रामाणिक इतिहास को रचना की। और मा-टुआन-लिन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'वेन हिसियेन तांग काओ' की रचना कर चीन के सर्वतोमुखी सामाजिक जीवन के इतिहास पर प्रकाश डाला। इसी प्रकार इस युग में और भी कई साहित्यकारों ने चीनी गद्य को बड़ा स्मृद्ध किया।

सुङ्ग राजवंश की समाप्ति के पश्चात् मंगोल राजवंश के कुबलाई खाँ का शासन 'युआन-राजवंश' के नाम से प्रारम्भ हुआ। इस राजबंश के शासनकाल में चीनी गद्य में उपन्यासों का बहुत विकास हुआ।

युआन-राजवंश का अन्त करके सन् १३६८ में मिंग राज् वंश ने अपने शासन का प्रारम्भ किया। इस युग में सन् १४०३ के अन्दर चीन के कई विद्वानों ने एक विशाल विश्व-कोष का संग्रह किया। इसी समय में 'युङ्ग-लो-ट-टिएका' नामक एक और विश्वकोष की रचना हुई। जिसमें २२,८०० चीनी ग्रंथों की सूची थी। आज भी यह विश्वकोष प्राचीन ज्ञान के सम्बन्ध मे सब से बड़ा कोष माना जाता है।

मिंग राजवंशका नाश करके सन् १६४४में चिंग राजवंश का शासन प्रारम्भ हुआ। इस राजवंश का सम्राट् कांग-सी बड़ा ज्ञान-प्रेमी था। इसके शासनकाल में चीनी भाषा के सबसे महत्वपूर्ण विश्व-कोष 'टू-सू-ट्सी-चेङ्ग' की रचना हुई।

जो दो-दो सौ पृष्ठों के १६२८ खण्डों में समाप्त हुआ। यह विश्व-कोष हजारों चित्रों से सुसज्जित है। इसी प्रकार इस युग में चीन के २४ राजवंशों का इतिहास ७७१ खण्डों में प्रकाशित हुआ।

इस युग के प्रसिद्ध गद्य लेखकों में हुआंग-तांग-सी (१६१०-६५) कु-येन-वू (१६१३-१६९५) यूम्रान-मेई (१७१६-६८) विशेष प्रसिद्ध हुए। हुआंग-तांग सी ने अपने ग्रंथ में चीन की कुछ दार्शनिक विचारधाराओं का विश्लेषण किया। कू-येन-वू ने इतिहास, भूगोल, पुरातत्व इत्यादि अनेक विषयों पर अनेक ग्रंथों की रचना की। यूम्रान मेई ने भी कविताओं के अतिरिक्त कई विषयों पर गद्य में निबन्ध लिखे।

इसके बाद चीनी गद्य का इतिहास एक लम्बी छलांग लगा कर उन्नीसवीं सदी में फिर एक नया रूप ग्रहण करता है। इसी युग में चीनी राजनीति मे डॉ० सनयाट सेन ने एक नये जीवन को प्रतिष्ठा कर दी। विदेशियों के खिलाफ उनके आन्दोलन ने सारे चीन की आत्मा को झकझोर दिया। चीनी साहित्य भी जन-आन्दोलन की इस लहर से नही बच पाया। 'पाई-हुआ' नामक एक नवीन आन्दोलन का सन् १९१७ मे डॉ० 'हू-शिह' और प्रो० चेन-टु-शिउ ने श्रीगणेश किया। इस आन्दोलनने क्लासिकल साहित्यके विरुद्ध जन-बोली के साहित्य का समर्थन किया। इस आन्दोलन ने चीनी गद्य को एक नया मोड़ दे दिया। जिससे एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। इस युग के महान् लेखकोंमे मो-जो, लूसिन, हू-शिह, लिन-युतांग नामक लेखक विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। लू-सिन-तो चीन का गोर्की माना जाता है। मो-जो ने चीनी गद्य को सुन्दर रूप देने मे बड़ी सफलता प्राप्त की। उसने कई विदेशी भाषाओं के ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कर चीनी साहित्य को बहुत स्मृद्ध किया। लिन-युतांग भी अन्तराष्ट्रिय ख्याति का विद्वान था। उसकी कई रचनाओं ने पाश्चात्य देशों में बड़ी ख्याति प्राप्त की।

जापानी गद्य-साहित्य

जापानी गद्य साहित्य का प्रारम्भ वस्तुतः उस समय से माना जाता है जब जापानी साम्राज्य की राजधानी सन् ७१० में 'नारा' के अन्तर्गत स्थापित हुई। इस युग मे अर्थात् सन् ७१२ में 'कोजिकी' नामक जापान के प्राचीन इतिहास की रचना हुई। सन् ७२० में जापान का एक दूसरा इतिहास 'निहोन्शोकी' के नाम से लिखा गया। इसकी रचना में अनेक लेखकों ने भाग लिया। इसी युग में 'इजमो-फुदोकी' नामक एक भौगोलिक ग्रंथ की भी रचना हुई, जो शायद जापान का सबसे पहला भूगोल है। मगर इस समय सारे जापानी-साहित्य पर चीनी भाषा का प्रभाव था।

नौवी सदी में फूजीबारा-युग के अन्दर जापानी भाषा चीनी भाषा के सब बन्धनों को तोड़ कर मुक्त हो गई। और उसका स्वतन्त्र रूप से विकास होने लगा।

ग्यारहवी सदी में 'मुरासाकी शिकिबू' नामक लेखक ने 'गेंजी मोनोगातारी' के नाम से जापानी-भाषा का पहला उपन्यास लिखा। जिसमें तत्कालिन जापानी समाज, राजदरबार और वहां की यौन-सम्बन्धी आजादी का बड़ी बहती हुई प्राञ्जल भाषा में चित्रण किया है। यह उपन्यास जापानी समाज में बहुत लोकप्रिय हुआ और आने वाले उपन्यासकारों में से कई ने इसकी शैली का अनुकरण किया। इसी युग में 'सेई-शोनागोन' नामक एक प्रतिभाशाली जापानी महिला ने 'माकरानो सोशी' नामक दरबारी जीवन को चित्रित करने वाला एक पुस्तक लिखी।

बारहवीं सदी के कामाकुरा युग में जापान में सैनिकवाद का विशेष रूप से प्रचार हुआ। इस युग में भी जापानी गद्य में कई महत्वपूर्ण धर्मग्रन्थों और कहानियों की रचना हुई।

चौदहवी सदी के अन्त से सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ तक का युग जापानी इतिहास मे 'मुरोमाची युग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में 'चिकाफूसा' नामक प्रसिद्ध लेखक ने प्राचीनकाल से लेकर तेरहवीं सदी के अन्त तक का जापानी इतिहास, उसके राजनैतिक मूल्यांकन के साथ लिखा। यह ग्रंथ जापानी इतिहास के उपर बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है। इसी युग में एक धर्माचार्य्य ने 'ताइहेइकी' नामक एक इतिहास ग्रन्थ की रचना की, जिसमें अत्यन्त सरल जापानी गद्य में बारहवीं सदी से चौदहवी सदी के मध्य तक के गृहयुद्धों का और देश की अशान्त स्थिति का चित्रण किया गया है।

सोलहवीं सदी के अन्त में गृहयुद्धों और अराजक स्थिति का अन्त होकर जापान में एक सुसंगठित सरकार का आविर्भाव हुआ और उसकी राजधानी वर्तमान 'टोकियो' में जिसका पुराना नाम 'इदो' था स्थापित हुई।

इदो युग में जापान के लोगों का ध्यान चीनी साहित्य की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। मगर यह अधिक समय तक नहीं टिका और कुछ ही समय में उसके विरुद्ध और जापानी-साहित्य के पक्ष में एक प्रबल आन्दोलन उठ खड़ा हुआ।

सन् १६५७ में 'तोकुगावा मित्सकुनी' (१६२८-१७००) नामक महान् लेखक ने 'दाई-निहोन-शी' के नाम से एक विशाल जापानी इतिहास चीनी भाषा मे लिखा। इसी प्रकार 'मोतूरी नोरिनागा' (१७३०-१८०१) नामक प्रसिद्ध इतिहासकार ने 'कोजिकोदेन' नामक प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ ४६ खण्डों में लिखा जो सन् १७९८ में समाप्त हुआ। इसी युग में 'ईवारा सैकाकू' (१६४२-१६६३) ने मनुष्य के यौन-सम्बन्धी आनन्द का चित्रण करने वाले कई उपन्यासों की रचना की। जिनमें कामुक स्त्री और पुरुषों का नग्न और स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

उन्नीसवी सदीमें जापानी साहित्य पर पश्चिमीय साहित्य का बड़ा जोरदार प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ। कई सुप्रसिद्ध पश्चिमीय लेखकों की कृतियों का जापानी भाषा में अनुवाद होना प्रारम्भ हुआ। इस कारण जापानी गद्य मे भी संसार के सब देशों की तरह एक युगान्तर होना प्रारम्भ हुआ। इसी युग में जापानी भाषा में कई पत्र-पत्रिकाओं का भी प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। जिससे जापानी गद्य बड़ा समृद्ध हुआ। समालोचना विज्ञान की भी इस युग में काफी उन्नति हुई। 'टसुबोची-शीयो' नामक लेखक ने 'शोसेत्सु-सिंजई' नामक ग्रन्थ उपन्यास की कला पर लिखा।

इसी युग मे 'हिगुची इचियो' नामक लेखिका का 'ताकेकुरावे' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ, जो जापानी साहित्य में बड़ा लोकप्रिय हो गया। इसी युग में जापानी-साहित्य में यथार्थवाद की जगह प्रगतिवाद का प्रारम्भ हुआ। इन रचनाओं में मनुष्य की यौन-समस्याओं का खुले रूप से चित्रण होने लगा। प्रगतिवाद के लेखकों में 'सीमाजकी तोसोन' (१८७२) 'कोसुगी तेनाई' (१८६५) इत्यादि लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रगतिवाद के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द करने वाला लेखक 'मात्सुमे सोसेकी' (१८६७-१९१६) हुआ। इसने साहित्य में एक नवीन आन्दोलन का श्रीगणेश किया। इस आन्दोलन में मनुष्य के अवकाश के समय के उपयोग का महत्व बतलाया गया। यदि मनुष्य अपनी अवकाश के समय का ठीक से उपयोग करने लगे तो उसका जीवन कितना आनन्दपूर्ण हो सकता है—इसकी विवेचना उसने अपने उपन्यासों में की। उसकी कृतियों का जापानी साहित्य में बड़ा आदर हुआ।

इसी युग में 'किकुची कान' 'कूमे मासाओ' इत्यादि उपन्यासकार भी बड़े प्रसिद्ध हुए।

बीसवी सदी में जापान में जनवादी-साहित्य की तरफ लोगों का ध्यान गया।

फ्रेञ्च गद्य-साहित्य

फ्रेञ्च गद्य का प्रारम्भ अनुमानतः ईसा की तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से माना जाता है, जब कि राजा 'आर्थर' से सम्बन्ध रखने वाली कुछ कथाएँ गद्य में लिखी गईं। इसी परम्परा में 'हाई बुक ऑफ ग्रेल' नामक ग्रंथ की रचना हुई।

मगर फ्रेंच साहित्य के गद्य ने अपना वास्तविक और सुसंगठित रूप सोलहवी सदी में प्राप्त किया। जब 'राब्ले' 'काल्विन' और 'मौण्टेग्नी' नामक विद्वानों ने अपनी लेखनी के चमत्कारों से फ्रेञ्च-साहित्य को समृद्ध किया। 'रावले' की गणना विश्व के महान् साहित्यकारों में की जाती है। उसके औपन्यासिक ग्रन्थ 'गार्गन्तुआ एण्ड पांताग्रुएल' में उस समय फ्रांस की समाज स्थिति का निरूपण अत्यन्त सजीव शैली में किया गया है।

कालविन का विशेष परिचर्या 'कालविन' नाम के साथ (इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में देखें) चर्च का विरोधी और प्रोटेस्टैण्ट धर्म का अनुयायी एक प्रसिद्ध दार्शनिक था। अपने विचारों के प्रतिपादन में उसने फ्रेञ्च गद्य की एक नवीन और सुबोध शैली का प्रचलन प्रारम्भ किया। इस शैली के अन्तर्गत थोड़े शब्दों में गहरे अर्थ और भावों की व्यञ्जना होती थी।

सत्रहवीं सदी में चौदहवें लुई के राज्यकाल में 'फ्रेंच एकेडमी' की स्थापना हुई। इस एकेडेमी के द्वारा साहित्य के प्रत्येक अङ्ग को बहुत स्फूर्ति मिली। गद्य-साहित्य का इस सदी में बहुत अधिक विकास हुआ। इस युग के महान् गद्यकारों में ला-ब्रियेर, डेकार्ट और पस्कल के नाम नक्षत्रों की तरह चमक रहे हैं।

ला-ब्रियेर ने सन् १६८८ में 'कारक्ते' नामक अपनी रचना से फ्रेञ्च गद्य में एक नवीन युगान्तर कर दिया। इसके पश्चात् 'रोशफुकोल' नामक लेखक ने अपने 'माक्सिम' के द्वारा तथा 'मैडम-दी-सेविने' नामक लेखिका ने अपने पत्रोंकी परम्परा से फ्रेञ्च गद्य को समृद्ध किया।

डेकार्ट और पस्कल दोनों दार्शनिक विचारधारा के चिन्तक थे। डेकार्ट तो अन्ताराष्ट्रिय ख्याति का दार्शनिक माना जाता है। इन्होंने अपने विचारों को सूत्रवद्ध करने के लिए जिस शैली का प्रयोग किया, वह फ्रेञ्च गद्य के क्षेत्र में एक महान् शैली सावित हुई। इसने फ्रेञ्च गद्य की एक नवीन मंजिल निर्माण की। इसी सदी में 'ब्वालो' नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने भी दर्शन-शास्त्र और साहित्य के सन्तुलन समीक्षाशास्त्र के क्षेत्र में एक नवीन शैली को जन्म दिया।

पस्कल एक वैज्ञानिक और गणितशास्त्री था। इसने विज्ञान के रूखे विषयों को अपनी ललित गद्यशैली में सरस बनाकर फ्रेञ्च गद्य में एक नवीन माडल की स्थापना की।

अठारहवीं सदी फ्रेञ्च साहित्य के अन्तर्गत नवजीवन का सन्देश लेकर आई थी। इस सदी में फ्रेञ्च साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। इस सदी में यूरोपीय जनता के दिलों में जमी हुई अन्ध धार्मिक विश्वासों की मोटी तहें धड़ाधड़ टूट रही थी और विज्ञान, तर्कशास्त्र का चारों तरफ बोलवाला हो रहा था। इसी घूमधाम में फ्रेञ्च-गद्य में भी एक नई धारा का प्रवाह प्रारम्भ हो रहा था और इस प्रवाह को पैदा करने वालों मे' 'पियर कार्नेल'' ''वाल्टेयर'' ''रूसो'' और दिदरो के नाम सबसे आगे थे।

पियर कार्नेल ने सन् १६९७ में अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक कोष का प्रकाशन कर धर्म-संस्था के विरुद्ध क्रान्ति की एक लहर पैदा की और उसके साथ ही 'वाल्टेयर' ने अपने सेकड़ों निबन्धों और पैम्फलेटों के द्वारा एक ओर धार्मिक विश्वासों की जड़ें हिला दी, दूसरी ओर फ्रेञ्च गद्य में नये प्राण फूंक दिये। ''रूसो'' अपने लेखों, विचारों और ग्रन्थों के द्वारा समाजवाद का आचार्य वन गया। राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत अपने विचारों से उसने एक नवीन अध्याय की स्थापना की। माण्टेस्क्यू नामक विद्वान् ने भी कानून और राज्य के अनेक विभेदों पर तात्विक दृष्टि से विचार किया।

सन् १७५१ से १७७१ तक दिदरो नामक विद्वान् ने कई दूसरे विद्वानों के सहयोग से एक विशाल विश्वकोष कीं रचना की। इस कोष ने फ्रेञ्च गद्य-साहित्य को वहुत समृद्ध किया और भावी लेखकों के लिए इसने एक मजबूत आधारशिला का काम किया। इसी प्रकार 'दिदरो' ने और भी कई वैज्ञानिक ग्रन्थों की रचना की।

उन्नीसवी सदी में तो फ्रेञ्च गद्य का स्वरूप वहुत विशाल हो गया। अनेक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन ने तथा कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में होने वाली धुंआधार प्रगति ने, फ्रेञ्च गद्य को एक अभिराम सांचे ढाल दिया। उपन्यासों के क्षेत्र में होने वाले लेखकों का वर्णन, हम उपन्यास साहित्य (दूसरा खण्ड) और कहानी के क्षेत्र में होने वाले कहानीकारों का वर्णन हम कहानी साहित्य के अन्तर्गत (इसी ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में) कर चुके हैं। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में इस सदी में 'काण्ट' नामक विश्व-विख्यात दार्शनिक हुआ। जिसका पूरा वर्णन 'काण्ट' नामके अन्तर्गत इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में दिया जा चुका है। 'रेना' नामक विद्वान ने भी दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में बड़े सुमधुर गद्य में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की। समालोचना-साहित्य के क्षेत्र में सेण्टब्यूव' उन्नीसवी सदी का सब से बड़ा समालोचक माना जाता है। इतिहास-लेखन के क्षेत्र में 'तेन' और 'मिशले' ने अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं।

वीसवी सदी फ्रेञ्च-साहित्य में यथार्थवादीस-ाहित्य की सदी मानी जाती है। इस सदी में फ्रेञ्च साहित्य में उपन्यासों का बोलवाला रहा और 'अनाटोल फ्रांस' के समान उपन्यासकारों ने अपनी विश्व-विख्यात कृतियों से फ्रेञ्च साहित्य को अलंकृत किया। इस सदी के विचारकों और लेखकों में 'आन्द्रेगीद' का नाम वहुत प्रसिद्ध है। इसी प्रकार महान विचारक 'रोम्यांरोला' भी फ्रेञ्च साहित्य को इसी सदी की देन है, जिसने अपने विचारो से सारे संसार को प्रतिध्वनित किया। इसी प्रकार 'जार्ज दुआमेल' 'जूलस रोम्यां' 'राजर मार्टिन डु गार्ड' इत्यादि लेखक भी इस सदी में फ्रेञ्च साहित्य की निधि के रूप में प्रकट हुए।

रूसी गद्य-साहित्य

रूसी राजकुलों का प्रारम्भ नीपर नदी के तट पर खीव, स्मोलेन्स्का, नवगोरद इत्यादि क्षेत्रों में हुआ।

बारहवीं सदी में इस राजवंश में "ईगर" नामक एक अत्यन्त प्रतापी सरदार हुआ। इसने कई युद्धों में बड़ी सफलताएँ प्राप्त की थी। इस राजा के चरित को कहानी के रूप में लिखा गया चरित ही रूसी गद्य का पहला ग्रन्थ है। यह गद्य काव्य के रूप में लिखा गया है। इसकी भाषा बड़ी तेजस्वी और भावपूर्ण है।

पन्द्रहवीं सदी मे रूस का प्रसिद्ध यात्री अफनासी सन् १४६६ में बहमनी मुसलमानों के समय भारतवर्ष आया था उसने अपना यात्रा-वर्णन 'खोजेनिया जात्रिमोर्या' के नाम से लिखा था। यह ग्रंथ भी रूसी गद्य का एक प्राचीन उदाहरण हैं।

सन् १५६३ में इवान-भयानक के शासन काल में रूस में पहला छापाखाना खुला और सन् १५६४ में वहां पर पहली पुस्तक छपी।

अठारहवीं सदी में रूस के जार पीटर महान् के शासन में रूस की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। जिससे वहाँ के साहित्य को भी बड़ा बल मिला। इस सदीं में 'मिखाइल लोमोनोसोव' नामक एक सर्वतोमुखी प्रतिभा का महान् विद्वान् हुआ। इसीके प्रयत्नों से सन् १७५५ में मास्को युनिवर्सिटी की स्थापना हुई। मास्को युनिवर्सिटी के प्राङ्गन में अभी भी इस महान् लेखक की आदमक़द मूर्ति खड़ी हुई है। इसके प्रयत्नों से समग्र रूसी साहित्य और गद्य को प्रेरणा मिली।

सन् १७९० में "रादिशचेव" नामक लेखक के द्वारा मास्को सेण्ट पीटर्स वर्ग यात्रा पर एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। जिसमें उस समय के रूसी मजदूरों और गुलामों का करुण चित्र खींचा गया है। इस रचना के फल स्वरूप लेखक को देश निकाला हुआ और अन्त में आत्महत्या करके मरना पड़ा।

मगर रूसी गद्य साहित्य को सुव्यवस्थित और सुसंगठित रूप जार एलेक्जेण्डर प्रथम के समय में महान् लेखक कारामजिन (१७६६-१८२६) ने दिया। उसने सन् १८०२ में "मास्को-जर्नल" नामक एक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। और उसके पश्चात् उसने बारह बड़े-बड़े खण्डों में रूस का विशाल इतिहास लिख कर तैयार किया। इस इतिहास लेखन में उसने सुललित रूसी गद्य की एक परिमार्जित नवीन शैली का प्रयोग किया। इस ग्रन्थ ने रूसी गद्य को एक परिमार्जित रूप दिया। इससे रूस का समग्र इतिहास सिनेमा फिल्म की तरह जनता के सामने आ गया।

अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ का युग रूसी साहित्य में "पुश्किन युग" के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में रूसी साहित्य का सर्वतोमुखी विकास हुआ। कविता और उपन्यास के क्षेत्र में जहाँ महाकवि पुश्किन, क्रिलोव, लेरमेन्तोव इत्यदि ने रूसी साहित्य को अपनी अपूर्व प्रतिभा से स्मृद्ध किया। वहां गद्य के क्षेत्र को निकोलस-गोगोल, वेलिन्स्की, हैर्जेन आदि विद्वानों ने अपने रचना चातुर्य्य से प्रकाशित किया।

निकोलस गोगोल (१८०६-५२) पुश्किन का समकालीन और उसी की प्रेरणा से साहित्य क्षेत्र में आगे आनेवाला साहित्यकार था। उसने उपन्यास और नाटक दोनों ही क्षेत्रों में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इसकी रचनाओं ने रूसी जन-मानस को झकझोर करके रख दिया। अपने नाटक में नौकर शाही के कृत्यों की कटु आलोचना करने के कारण उसे रूस छोड़ कर रोम में जाकर बसना पड़ा।

उन्नीसवीं सदी में रूसी गद्य के महान् निर्माता 'तुर्गनेव' (१८१८-१८८३) और 'टालस्टाय' थे। रूसी कविता के क्षेत्र में जिस प्रकार पुश्किन अमर है उसी प्रकार रूसी गद्य के क्षेत्र में तुर्गनेव अमर है। उसके कई उपन्यासों और कहानियों ने उसे न केवल रूस में प्रत्युत सारे यूरोप का महान् कलाकार घोपित कर दिया है।

इसी युग में रूस में अराजकवादी और निहलिस्ट विचार धाराओं का प्रारम्भ हुआ। इन विचारधाराओं के नेता बाकुनिन, प्रिन्स क्रोपाट्किन, कात्कोव, हेरनिशेव्हस्की इत्यादि लेखकों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं के द्वारा रूसी गद्य में एक परम्परा का सूत्रपात किया।

'व्लाडिमिर सोलोनोव' (१८५३-१९००) नामक विद्वान् ने इन्हीं दिनों समालोचना के क्षेत्र में एक नवीन परिपाटी की स्थापना की। इसी सदी में महान् लेखक शेड्रिन (१८२६-१८८९) हुआ। तीखे व्यङ्गों के द्वारा समाज के अन्तरङ्ग का परदा फाश करने में यह लेखक बेजोड़ था।

ऐसा समझा जाता है कि व्यङ्ग-साहित्य में रूस के अन्दर इसके जोड़ का साहित्यकार कोई नहीं हुआ। शेड्रिन की परम्परा में ही "लेस्कोर्व"; पिसेम्की (१८२०-१८८१) और ग्रिगोरी विच भी हुए।

वेलिन्सिकी (१८१०-१८४८) आलोचना के क्षेत्र में एक नवीन शैली का संस्थापक था। यह समाजवादी सिद्धांतों का समर्थक था। उसने उस समय के तमाम महान् साहित्य शिल्पियों की रचनाओं की व्याख्या और आलोचना की। जिससे उसका नाम रूसी साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हो गया।

इवानोविच हर्जेन (१८१२-१८७०) भी वेलिन्स्की की परम्परा का महान् विद्वान था। उसके उपन्यासों और अन्य रचनाओं ने भी रूसी गद्य को बहुत प्रभावित किया। अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण उसे रूस से निर्वासित होना पड़ा।

मगर इस युग के सबसे प्रतिभाशाली और विश्वख्याति के लेखक "टालस्टाय" और "दोस्तोव्हस्की" हुए। केवल साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं धर्म और नीति के क्षेत्र में भी टालस्टाय ने एक नया मापदण्ड प्रस्तुत किया। महात्मा गांधी के समान संसार के कई धर्म और नीतिशास्त्रियों को टालस्टाय ने प्रभावित किया। उनकी रचनाओं मे 'अन केरेनिना' 'वार एण्ड पीस' इत्यादि रचनाओं ने विश्वसाहित्य को प्रभावित किया।

दोस्तोव्हस्की टालस्टाय के एकदम विपरीत आधुनिक परम्परा का प्रतीक था। उसने अपनी रचनाओं में अपराधियों, पागलों, कङ्गालों, मूर्खों, दुःखियों और समाज के पतित समझे जाने वाले अङ्ग का बड़ा मर्मस्पर्शी और दिल को दहला देने वाला चित्र अङ्कित किया है। उसकी रचनाओं के संसार की कई भाषाओं में अनुवाद हो चुके है और ज्यों-ज्यों वह संसार के निकटतम परिचय में आता गया त्यों-त्यों उसकी ख्याति बढ़ती गई। इसकी रचयाओं ने भी रूसी गद्य को एक नवीन मंजिल पर पहुँचा दिया।

बीसवीं सदी के गद्य कलाकारों में रूस के अन्तर्गत 'मैक्सिमगोर्की' (१८६९-१९३९) और 'चेखोव' (१८६०-१९०४) के नाम सबसे आगे आते हैं। मैक्सिमगोर्की रूसी साहित्यका नवीन निर्माता समझा जाता है। इसने भी दोस्तोवस्की की तरह अपने उपन्यासो में गरीबों, मजदूरों, पीड़ितों और शोषित वर्ग का जीता जागता चित्रण किया। और व्यङ्ग' हास्य और विनोद की पुट देते हुए अपने चरित्रों को रुचिपूर्ण बना दिया। उसने रूसी गद्य साहित्य में नये प्राणों का सञ्चार कर दिया।

चेखोव ने तुर्गनेव की परम्परा को अपनाया। रूस के अन्धकारपूर्ण युग को उसने अपनी रचनाओं से आलोकित किया।

इसी युग में गार्शिन, कोजलेंको, मेरेजोस्की कुप्रिन इत्यादि लेखकों ने भी रूसी साहित्य को स्मृद्ध किया।

लैटिन गद्य

प्राचीन रोम के अन्तर्गत दो प्रकार की जातियों का निवास था एक लैटिन और दूसरीं 'इट्रस्कन'। समय पाकर लैटिन जाति ने इट्रस्कन जाति को समाप्त कर दिया।

लैटिन जाति की बोली जाने वाली भाषा को लैटिन और लिखी जाने वाली लिपि को लैटिन (रोमन) लिपि कहते है।

जिस प्रकार संस्कृत भाषा कई भारतीय भाषाओं की जननी है उसी प्रकार लैटिन भाषा भी कई यूरोपीय भाषाओं की जननी है।

संसार की अन्य भाषाओं की तरह लैटिन साहित्य में भी पहले कविता का विकास हुआ और उसके पश्चात् गद्य का विकास हुआ।

समय के आघातों से बचती हुई जिन लोगों की गद्य कृतियां किसी रूप में अभी उपलब्ध है उनमें कातो-सेन्सोर (ई० पू० २३४ से १४९ तक) का नाम सबसे पहले आता है। इसकी कुछ रचनाएँ और वक्तृताएँ अभी उपलब्ध है उनसे पता चलता है कि उसका गद्य लेखन बड़ा सशक्त और प्रवाही था।

कातो के करीब एक शताब्दी पश्चात् 'तेरेन्तियस वारो' का नाम उल्लेखनीय है जिसने कृषिविज्ञान, भाषा शास्त्र तथा कोष निर्माण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रयत्न किये।

मगर लैटिन साहित्य का महानतम वक्ता और गद्य लेखक जूलियस सीजर का समकालीन "सिसरो" माना जाता है। जिसकी तेजस्वी प्रतिभा अनेकों शताब्दियों की आड़ आने पर भी आज भी उतनी ही तेजस्विता से प्रकाशमान हो रही है। उसकी भाषा में ओज था, उसकी वाणी में माधुर्य्य था, उसकी वक्तृताओं में गति और प्रवाह था। दर्शनशास्त्र पर उसने

करीब दस बारह महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की जो उसकी प्रतिभा के महान् प्रतीक हैं। इस समय उपलब्ध उसके ७०० पत्र उसके सुललित गद्य का परिचय देते हैं।

इसके पश्चात् ऑगस्टस सीजर के प्रतापी युग में रोमन-गद्य-साहित्य में "लिवि" (ई० पू० ५९ से ई० सन् १७ तक) का नाम उल्लेखनीय है। उसका लिखा हुआ विशाल इतिहास उसकी महान् प्रतिभा का द्योतक है।

ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी लैटिन साहित्य में रजत-युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस शताब्दी में रोम मे कई बड़े-बड़े इतिहासकार हुए। जिन्हो ने अपनी रचनाओ से लैटिन गद्य का अभूतपूर्व विकास किया। कार्निलस टैक्टिटस नामक इतिहासकार जिसका, जन्म ई०सन् ५५ में और मृत्यु ई० सन् ११८ मे हुई, उस युग का प्रसिद्ध इतिहासकार था। उसने 'एनाल्स एण्ड हिस्ट्री' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ उस युग का पहला ग्रन्थ है जिसमें प्रत्येक घटना और व्यक्ति का विश्लेषणात्मक ढंग से विवेचन किया गया है।

सूवटोनियस उस युग का दूसरा इतिहासकार है जिसका जन्म ई० सन् ७५ में और मृत्यु सन् १६० में हुई। यह तत्कालीन रोमन सम्राट् हैड्रियन का सेक्रेटरी था और इसने रोमन सम्राटों के जीवन चरित्र थर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की।

मगर इस काल का सबसे बड़ा इतिहासकार 'प्लाइनी' हुआ। उसने भी विश्व इतिहास पर बहुत कुछ लिखा। उसके द्वारा लिखे हुए ३६८ पत्र इस समय उपलब्ध है जिनमें बड़े प्राञ्जल गद्य में रोम की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डाला गया हैं।

क्विण्टिलियन भी इस युग का एक प्रधान लेखक था उसका जन्म ई० सन् ३५ मे और मृत्यु सन् १०० में हुई। वक्तृत्व कला या ओरेटरी और समालोचना शास्त्र पर इसने एक बृहत् ग्रन्थ की रचना की जो लैटिन साहित्य की एक अक्षय सम्पत्ति है।

इस युग मे 'सेटायर' या व्यङ्ग साहित्य पर भी कई अद्भुत और सुन्दर रचनाएं हुई। इस क्षेत्र के लेखकों में पर्सियस और जुवेनाल (सन् ५५-१३०) के नाम विशेष अग्रणी है।

ईसा की तीसरी सदी में रोम के अन्दर ईसाई धर्म का प्रवेश हुआ। उसके पश्चात् लैटिन गद्य पर भी ईसाई धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से गिरने लगा। कई बड़े-बड़े ईसाई सन्तों ने लैटिन गद्य में अपनी रचनाएँ कर उसको एक नया प्रवाह प्रदान किया। इन ईसाई संतों में सेण्ट जेरोम, सेंट ऑगस्टाइन सेण्ट एम्ब्रौस, सेंट वेनिडिक्ट, सेण्ट ईसिदोर और ग्रेगरी महान् के नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध। इन सन्तों और लेखकों ने प्राचीन देवपूजा के विरुद्ध और ईसाई धर्म के समर्थन में आचार शास्त्र, नीति-शास्त्र, प्रवचन तथा बाइबिल पर सैकड़ों रचनाएँ करके लैटिन गद्य को ऊँचाई की चोटी पर पहुंचा दिया। सेण्ट वेनिडिक्ट के प्रयत्न से ईसाई गिरजो मे ज्ञान-शोध का कार्य प्रारम्भ हुआ और कई गिरजों ने तो ज्ञानपीठों का रूप धारण कर लिया। सेण्ट ईसिदोर ने 'एतमालोगी' के नाम से एक विश्वकोष की रचना कर लैटिन साहित्य को एक नवीन मोड़ दे दिया।

रोम के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशों मे भी ईसाई प्रचारकों के प्रयत्नों से लैटिन साहित्य को गति मिल रही थी इंग्लैण्ड के बीड (६७३-७३५) नामक विद्वान ने इङ्गलैड के धार्मिक इतिहास पर एक ग्रन्थ लिखा जो उस समय की लैटिन गद्य शैली का एक प्रखर उदाहरण है। सम्राट् शार्ल-मेन के शिक्षामंत्री 'अल्कुइन' ने भी कई रचनाएँ बनाकर लैटिन गद्य का स्मृद्ध किया।

तेरहवीं शताब्दी मे सेण्ट टॉमसाएक्विनस नामक महान् दार्शनिक ने अपनो रचनाओ से दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में एक नवीन मापदण्ड की स्थापना की। उसकी प्रसिद्ध कृत्ति 'सुमा थियोलॉजिका' ईसाई दर्शन शास्त्र की एक महान् कृति है। इस दार्शनिक कृति के माध्यम से उसने लैटिन भाषा को दार्शनिक विवेचन के सुंदर गद्य का रूप दे दिया।

इन्ही शताब्दियों में यूरोप के अन्तर्गत प्रत्येक देश में अपनी-अपनी जन भाषाओं का उदय हो रहा था। जिससे लैटिन का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो रहा था। फिर भी धर्म शास्त्र और दर्शन शास्त्र की सर्वमान्य भाषा बहुत समय तक यही रही। रेनेन्सा या पुनर्जागरण भी शताब्दियों में टॉमस केम्पिस, पेट्रार्क, सर एजक न्यूटन, वेकन इत्यादि ने भी अपनी बहुत सी रचनाएँ लैटिन में कीं।

हिन्दी-गद्य-साहित्य

हिन्दी गद्य-साहित्य का प्रारम्भ कब से हुआ यह विचारणीय है। आधुनिक हिन्दी का विकास होने के पहले हिन्दी ब्रजभाषा के रूप में थी और व्रजभापामें गद्य-साहित्यका प्रारंभ १५वीं शताब्दी से माना जाता है। उस समय के कुछ गोरख पन्थी ग्रंथ पाये गये हैं, जिनका निर्माणकाल सन् १३५० ई० के आसपास का है।

उसके पश्चात् १७वीं सदी में वल्लभसम्प्रदाय की चौरासी वैष्णवों की वार्ता, तथा 'दो सो बावन वैष्णवों की वार्ता' नामक गद्य-ग्रन्थों की रचना हुई। इसी शताब्दी में 'नाभा, दास' के द्वारा लिखा हुआ 'अष्टदाम' और बैकुंठमणि शुक्ल के द्वारा लिखा हुआ 'अगहन,महात्म्य' नामक ग्रंथ भी उपलब्ध हैं।

इसके पश्चात् १९वीं सदीमें कलकत्ता फोर्ट विलियम कालेज के जॉन गिलक्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू के गद्य की पुस्तकें तैयार करवाने का अलग'अलग प्रबन्ध किया। इस प्रबन्ध में पं० लल्लूलाल ने 'प्रेम'सागर' की और पं० सदल मिश्र ने 'नासिकेतो पाख्यान' की रचना की। इसके साथ ही मु० सदासुख लाल नियाज और इंशाअल्ला खाँ हुए। इंशाअल्ला की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी गद्य के इतिहास मे बहुत प्रसिद्ध है।

इसके पश्चात् १९वी शताब्दी में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्दने उर्दू मिश्रित हिंदी गद्य को एक सुव्यवस्थित रूप दिया। इनकी रचनाओं में 'मानव धर्मसार' 'इतिहास तिमिर नाशक' तथा राजा भोज का सपना इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु युग

मगर हिन्दी गद्य का वास्तविक इतिहास निर्माण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के हाथों से हुआ। इनका जन्म सन् १८५० ई० में और मृत्यु सन् १८८५ ई० में हुई। इस महान् व्यक्ति ने अपनी छोटी सी उम्र में हिन्दी-साहित्य को अभिनव रूप देकर जो सेवाएँ की हैं, वे हिन्दी साहित्य के इतिहास में हमेशा अमर रहेंगी।

राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने जो कुछ लिखा था, वह एक प्रकार से प्रस्ताव के रूप में था, मगर हिन्दी गद्य को स्थिर रूप प्रदान करने का भय भारतेन्दु 'हरिश्चन्द्र' को ही दिया जा सकता है।

भाषा के स्वरूप में स्थिरता आजाने के पश्चात् हिन्दी-गद्य-साहित्य का तेजी से विकास होने लगा। और हिन्दी-साहित्य में कई पत्र-पत्रिकाएँ, नाटक और अनुवाद प्रकाशित होना शुरू हुए। स्वयं भारतेन्दु ने कई मौलिक नाटकों की और अनुवादित पुस्तकों की रचना करके उन्हें प्रकाशित किया और 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका'' 'बाला वोधिनो' इत्यादि पत्रिकाओं का भी प्रकाशन प्रारंभ किया।

'हिन्दी गद्य—साहित्य का यह युग 'भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग के अन्य गद्यकारों में पं० प्रताप नारायण मिश्र (१८५६-१८९४) वालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४) पं० बद्रीनारायण चौधरी (१८५५-१९२२) लाला श्री निवासदास, ठा० जगमोहन सिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, कार्तिक प्रसाद खत्री इत्यादि साहित्य कारों के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी-गद्य-साहित्य के विकास में बा० श्यामसुन्दर दास' पं० रामनारायण मिश्र और ठा० शिवकुमारसिंह का नाम उल्लेखनीय है। जिन्होंने सन् १८९३ में 'काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा' की स्थापना कर हिन्दी के विकास का एक नया मार्ग खोल दिया। हिन्दी-गद्य के विकास में काशी-नगरी-प्रचारिणी-सभा की सेवाओं का मूल्यांकन बहुत अधिक है। जिसने हिन्दी के अनेक दुर्लभ और अलभ्य ग्रन्थों का प्रकाशन करके हिन्दी साहित्य के उत्थान में बहुत बड़ा भाग लिया।

द्विवेदी-युग

भारतेन्दु—युग के पश्चात् हिन्दो-गद्य साहित्य के विकास में दूसरा प्रभावशाली युग पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रारंभ किया। जो द्विवेदी-युग के नाम से प्रसिद्ध हैं। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १८७० ई० और मृत्यु सन् १९३८ ई० में हुई।

सन् १९०३ ई० में उन्होंने 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के सम्पादन का भार अपने ऊपर लिया। तब से उन्होंने अपना सारा जीवन हिन्दी—गद्य के विकास में लगाया। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी लेखक की सफलता इसी बात में मानते थे कि

कठिन से कठिन विषय को भी ऐसे सरल रूप में रखदिया जाय कि साधारण विद्यार्थी भी उसे भलीभाँति समझ जाय।

'सरस्वती' पत्रिका के द्वारा पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-गद्य और पद्य के अन्दर कई प्रभावशाली लेखकों को तैयार किया।

इसी युग में बा० बालमुकुन्द गुप्त का नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनका जन्म सन् १८६५ ई० और मृत्यु सन् १९०७ ई० में हुई। ये कलकत्ते के 'भारत मित्र' नामक पत्र के प्रधान सम्पादक थे। इनकी भाषा बड़ी चलतीहुई, सजीव और विनोद पूर्ण होती थी। हिन्दी गद्य के सम्बन्ध में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ इनकी बड़ी प्रतिद्वन्दिता चलती थी। द्विवेदी-युग के लेखकों मे पं माधव प्रसाद मिश्र, पं० गोविन्द नारायण मिश्र, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० अम्बिका प्रसाद' गणेशदत्त शर्मा इन्द्र' श्री नाथूराम 'प्रेमी' रूपनारायण पाण्डेय, हिन्दीभूषण बाबू शिवपूजन सहाय श्री सुख सम्पत्तिराय भंडारी इत्यादि लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस युग मे पं० नाथूराम प्रेमी ने हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर नाम की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था की स्थापना की और उसके द्वारा संसार के प्रसिद्ध विद्वानों की कृत्तियो का प्राञ्जल हिंदी गद्य में अनुवाद करवा कर प्रकाशित किया।

द्विवेदी-युग में समालोचना के क्षेत्र मे भी हिन्दी-गद्य ने बहुत प्रगति की। स्वयं द्विवेदी जी बहुत अच्छे समालोचक थे।

इसी युग मे मिश्र-बन्धुओंने मिश्र-बन्धु-विनोद नामक विशाल ग्रन्थ की रचना करके हिन्दी के समस्त प्राचीन कवियो के इतिहास और उनकी कविताओं की समालोचना करने का विस्तृत प्रयत्न किया। इनका दूसरा ग्रन्थ 'हिन्दी-नवरत्न' भी समालोचना-साहित्य का एक अच्छा ग्रन्थ है जिसमें हिन्दी के तुलसी दास, सूरदास, विहारी इत्यादि नौ महान् कवियो की कविताओं की विस्तृत आलोचना की है।

पं० पद्मसिंह शर्मा भी इस युग के अच्छे समालोचक थे। इन्होंने 'विहारी सत सई' के ऊपर बड़ी सुन्दर और सरल टीका और समालोचना की है। लाला भगवान दीन 'दीन' की 'विहारी बोधिनी' भी विहारी की कविताओं पर एक सुन्दर प्रयास है। पं० कृष्णविहारी मिश्र के द्वारा लिखा हुआ 'देव और विहारी नामक ग्रन्थ भी हिन्दी के समालोचना-क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का एक तुलनात्मक और आलोचनात्मक विशाल इतिहास लिखकर हिन्दी-गद्य-साहित्य को समृद्ध करने में अपना महत्व पूर्ण योग दान दिया है।

बाबू श्यामसुंदर दास द्वारा लिखित 'साहित्या लोचन' भी इस युग का बहुत सुंदर प्रयास है।

द्विवेदी-युग में प्रयाग मे बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन के प्रयास से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना हुई। इस संस्था ने सारे भारत वर्ष में खासकर दक्षिण प्रान्तों मे हिन्दी के प्रचार का महत्व पूर्ण कार्य सम्पादन किया। इस संस्था के प्रकाशनों ने और इसकी परीक्षाओं ने हिन्दी साहित्य के विकास में अपना महत्व पूर्ण योग दान अर्पित किया।

प्रेमचन्द-युग

द्विवेदी-युग के पश्चात् हिन्दी-गद्य-साहित्य के तीसरे युग को हम प्रेमचन्द-युग कह सकते हैं। इस युग मे हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों ने जो एक नया मोड़ दिया, वह किसी भी साहित्य के लिये गौरव की वस्तु हो सकता है। प्रेमचन्द के युग में हिन्दी-साहित्य के विकास मे श्री जेनेन्द्र कुमार, बाबू प्रतापनारायण श्री वास्तव, बाबू वृन्दावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, बाबू जयशंकर प्रसाद, बिश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, भगवती प्रसाद वाजेपेयी, वासुदेव शरण अग्रवाल, डा० भगवतशरण उपाध्याय इत्यादि ने हिन्दी गद्य को अपनी प्राञ्जल रचनाओं से बहुत स्मृद्ध किया।

प्रेमचन्द युग के पश्चात् हिन्दी के गद्य साहित्य में एक नवीन युग का प्रादुर्भाव हुआ। जिसे 'प्रगतिवाद' का युग कहा जा सकता है। इस युग मे उपन्यास और कहानियो के क्षेत्र में एक नवीन धारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसका संक्षिप्त वर्णन 'कविता साहित्य' शीर्षक में इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड अन्तर्गत कर चुके हैं।

गुजराती-गद्य-साहित्य

गुजराती को गद्य साहित्य का प्रारम्भ वैसे ईसा की १४वी शताब्दी से हो गया था। इस शताब्दी में जैन मुनि

सुन्दर सूरि, शीलांक सूरि इत्यादि कई जैनाचार्यों ने कई 'रासों' का निर्माण करके गुजराती गद्य का प्रारम्भ कर दिया था। और उसके बाद ईसा की १६ वी सदी के प्रारम्भ में कई पादरियों ने 'बाइबिल' तथा दूसरे धार्मिक ग्रन्थों का गुजराती-गद्य अनुवाद करवा के उनका प्रचार किया था, मगर उनका लक्ष साहित्य की उन्नति नहीं, केवल धर्म-प्रचार था।

गुजराती-गद्य को सब से पहले साहित्यिक रूप देने का श्रेय 'नर्मदा-शङ्कर' को है। इनका जन्म सन् १८३३ में और मृत्यु सन् १८८६ ई० मे हुई थी। इन्होंने गुजराती गद्य के अन्तर्गत सबसे पहले 'राज्य-रंग' नामक विश्व के एक विशाल इतिहास की रचना की। जिसमें मिस्र, बेबीलोनिया, खाल्दिया, ईरान तथा रोम के कई प्रसिद्ध वीरों का इतिहास दिया गया है। इस इतिहास से गुजराती गद्य की एक गम्भीर शैली का प्रादुर्भाव हुआ। इनका दूसरा ग्रन्थ धर्म विचार था। इसमे यह शैली और भी परिपक्व हुई है। नर्मदाशंकर की गद्य शैली अत्यन्त सरल, स्वाभाविक और प्रवाहयुक्त थी।

नर्मदाशंकर ने सन् १८६० ई० से १८६८ ई० तक कठोर परिश्रम करके 'नर्मकोश' अथवा गुजराती-शब्दार्थ-संग्रह नामक प्रसिद्ध कोश को प्रकाशित किया। उस समय तक इस प्रकार का कोई कोश गुजराती साहित्य मे नही था। इससे गुजराती साहित्य की एक बहुत बड़ी कमी को पूर्ति हुई।

नर्मदा शंकर के पश्चात् गुजराती गद्य-साहित्य में नवल राम का नाम चमकता हुआ नजर आता है। इन्होंने अपनी प्रतिभा से गुजराती गद्य को एक नवीन रूप दिया। नवलराम नर्मदाशङ्कर के समकालीन थे और एक ही स्थान के रहने वाले थे। इन्होने नर्मदाशङ्कर की जो जीवन कथा लिखी, वह इनकी गद्य-शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। नवलराम की साहित्य विषयकी विशेष कीर्ति उनके लिखे हुए विवेचनों से हुई। इन विवेचनो के द्वारा गुजराती के गद्य-साहित्य को अच्छा निखार मिला।

इसी समय गुजराती गद्य का विकास दो भिन्न-भिन्न शैलियों में विभक्त हो गया। एक शैली हिन्दू-गुजराती और दूसरी शैली पारसी-गुजराती के नाम से प्रसिद्ध हुई। हिन्दू गुजराती शैली में संस्कृत और अपभ्रंश के शब्दो की अधिकता रहती थी और पारसी गुजराती शैली में फारसी शब्दों की बहुलता रहती थी। नर्मदाशङ्कर, दलपतराम, नवलराम इत्यादि हिन्दू-लेखकों ने गुजराती गद्य की जिस शैली को अपनाया, वह शैली हिन्दू-गुजराती के नाम से प्रसिद्ध हुई और गुजराती गद्य की जिस शैली को पारसी लोगों ने अपनाया वह पारसी गुजराती कहलायी। इन दोनों शैलियों के बीच पत्र-पत्रिकाओं में आक्षेप-विक्षेप भी होने लगे।

नवलराम के पश्चात् हिन्दू-लेखकों ने गुजराती-गद्य को संस्कृत के कठिन शब्दों से और अलंकारों के बोझ से लादना शुरू किया। दूसरी ओर पारसी लेखकों ने फारसी गद्य की शैली को अपनाया।

मगर संस्कृतमयी इस गुजराती-गद्य की शैली का प्रबल विरोध करके रायबहादुर हरगोविन्द कांटावाला ने शुद्ध और सरल गुजराती शैली के निर्माण का जोरदार प्रयत्न किया।

इसी समय गुजराती में गोवर्धनराम त्रिपाठी का सुप्रसिद्ध उपन्यास (१८८७-१६०१) 'सरस्वतीचन्द्र' प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ ने भी गुजराती गद्य-साहित्य को एक नया मोड़ दिया। सरस्वतीचन्द्र तथा अन्य गुजराती उपन्यासों का वर्णन हम उपन्यास-साहित्य शीर्षक के अन्तर्गत इस ग्रन्थ के दूसरे भाग मे दे चुके हैं।

गुजराती के गद्य-साहित्य को पुष्ट करने में निबन्ध लेखकों ने भी बहुत बड़ा योग दिया। गुजराती-भाषा का पहला निबन्ध सन् १८५१ ई० में नर्मदाशंकर के द्वारा 'मण्डली मलवाथी थता लाभ' विषय पर लिखा गया। उसके बाद मासिक पत्रों में और दैनिक पत्रों में निबन्ध-लेखन की धूम मच गयी। इस क्षेत्र में आनन्दशङ्कर ध्रुव का नाम गुजराती-साहित्य मे नक्षत्र की भाँति जगमगाता है। इनका जन्म सन् १८६६ ई० में और मृत्यु सन् १६४३ में हुई।

आनन्दशङ्कर ध्रुव ने पूर्व और पश्चिम दोनों विवेचन शैलियों का समन्वय करने का गुजराती गद्य में महत्वपूर्ण प्रयत्न किया। वे स्वयं पौर्वात्य और पश्चात्य विद्यासंस्कारों से भूषित थे। गुजरात में इनकी गणना संस्कृति का उत्तम रूप में पुनरुत्थान करने वाले आचार्य्य की तरह होती है। आनंद शङ्कर 'ध्रुव' एक समर्थ विचारक और गम्भीर दार्शनिक थे। इन्होंने 'बसन्त' नामक एक मासिक पत्र निकालना प्रारंम्भ

किया था और इस मासिकपत्र के द्वारा गुजराती गद्य साहित्य में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया।

आचार्य 'ध्रुव' के पश्चात् हरगोविंददास, छोटालाल भट्ट, कमला शंकर त्रिवेदी' डायाभाई देरासरी, दीवान बहादुर कृष्णलाल जवेरी, नानालाल दलपतराम इत्यादि महान लेखकों ने अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं से गुजराती-गद्य को समृद्ध किया। इसके साथ ही गुजरात के क्षेत्र में विश्व-साहित्य को अमर कर देनेवाले महात्मा गांधी का नाम आता है। इन्होंने अपने लेखों, आत्म कथा, विभिन्न विषयों की अनेक पुस्तकों और 'नवजीवन' नामक साप्ताहिक पत्र के द्वारा गुजराती गद्य को एक नया मोड़ देकर उसे अत्यंत सरल, सुबोध और प्रभाव युक्त बना दिया।

गुजराती गद्य के इतिहासमें कन्हैयालाल माणकलाल मुंशी का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक महान् साहित्यकार की तरह इन्होंने अपनी रचनाओं से गुजराती-गद्य के हर एक अंग को परिपुष्ट किया। एक महान् विचारक की तरह मुंशी का भी जीवन और साहित्य के विषय में एक विशिष्ट दृष्टिकोण है, जिसको उन्होंने अपने कई लेखों और साहित्य संसद में दिये गये भाषणों में प्रकट किया है। गुजराती-साहित्य के विषय में उनके मूल-सूत्र उनके लिखे हुए 'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' नामक ग्रंथ में दिये गये हैं।

सन् १९३५ई० में बम्बई विश्वविद्यालयने 'बी०ए० आनर्स' के पाठ्यक्रम में गुजराती को स्थान प्रदान किया। इस घटना ने भी गुजराती गद्य के विकास को बहुत बड़ी प्रेरणा दी और इस प्रेरणा के फल स्वरूप गुजराती-साहित्य के बहुत से लेखकों के बिखरे हुए निबंधों को एकत्रितकरके प्रकाशित किया गया। इन लेखकों में श्री रमणलाल देसाई, विश्वनाथ भट्ट, विजयराम वैद्य, विष्णुप्रसाद त्रिपाठी; नवलराम त्रिवेदी, काका कालेलकर, मोहनलाल दवे, जवेरचंद मेघाणी, केशवलाल कामदार, खट्टूभाई उमर वाड़िया, चैतन्यबाला मजूमदार, अनन्तराम रावल, मनसुखलाल जवेरी, प्रेमशंकर भट्ट, श्री सुंदरम्, उमा, शंकर जोशी, अम्बालाल जानी, हीरालाल पारेख इत्यादि लेखकों के सन् १९३० ई० के बाद प्रकाशित निबंधों को ग्रंथों के रूप में एकत्रित कर प्रकाशित किया गया।

इन निबंध-ग्रंथों के प्रकाशनों से गुजराती गद्य को एक महान सम्पदा प्राप्त हुई। इस कार्य में अहमदाबाद की गुजरात वर्नाक्यूलर सीसायटी ने काफी योग दिया। इस सोसायटी का आधुनिक नाम गुजरात-विद्या सभा है।

इसी प्रकार गुजराती-साहित्य के सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी भिक्षु अखंडानंद ने 'सस्तुं साहित्य मंडल' नामक प्रकाशन संस्था के द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों की अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर उन्हे सस्ते मूल्य में जनता में वितारित कर गुजराती-गद्य-साहित्य की अमूल्य सेवा की है।

बङ्गला-गद्य-साहित्य

बङ्गला के साहित्यिक गद्य का विकास १८वीं शताब्दी के चौथे चरण से प्रारम्भ हुआ जब कि एन० बी० हॉल हेड द्वारा लिखित बङ्गाली-ग्रामर का सन् १७७८ ई० में प्रकाशन हुआ।

सन् १८०० में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई और सन् १८०१ ई० में 'राम-राम वसु' का "प्रतापदित्य-चरित्र" बंगाली गद्य में प्रकाशित हुआ। सन् १८०८ ई० में मृत्युञ्जय विद्यालङ्कार के द्वारा लिखित राजा वली नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। जिसे बंगला-भाषा का पहला इतिहास ग्रन्थ कहा जा सकता है।

सन् १८१५ ई० के पश्चात् एक ओर राजाराम मोहन राय के प्रयत्न से हिन्दू-धर्म का नवीन. साँचे मे ढला हुआ, धर्म की नवीन व्याख्याओं को प्रस्तुत करनेवाला साहित्य प्रकाशित हो रहा था और दूसरी ओर श्री रामपुर की ईसाई मिशनरी ने ईसाई-धर्म के प्रचारार्थ अप्रैल सन् १८१८ ई० से नाना प्रकार के ज्ञानोपयोगी निबन्धों से युक्त 'दिग्दर्शन' नामक मासिक पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया।

इसके पश्चात् सन् १८२१ ई० में 'सम्बाद-कौमुदी' और सन् १८२२ ई० में भवानी चरण वन्द्योपाध्याय के सम्पादनमें 'समाचार-चन्द्रिका' नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जिसने बंगाली गद्य को समृद्ध करने का प्रयत्न किया।

सन् १८३१ ई० में बंगला के प्रसिद्ध पत्रकार ईश्वरचन्द्र गुप्त ने 'सम्बाद-प्रभाकर' नामक पत्र निकाल कर बंगला-पत्रकारिता और गद्यके क्षेत्रमें एक नवीन युगका प्रारम्भ किया।

इसके पश्चात् एक ओर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने 'तत्व बोधिनी पत्रिका निकाल कर ब्रह्म-समाज का प्रचार करना

प्रारम्भ किया और दूसरी ओर सन् १८७२ ई० में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने 'वंग-दर्शन' नामक पत्र निकाल कर ब्रह्म-समाज का विरोध करना प्रारम्भ किया।

मगर बंगाली गद्य मे नवयुग का संचार रवीन्द्र बाबू की 'साधना' नामक पत्रिका का प्रकाशन से प्रारम्भ हुआ। साधना को नवयुग की प्रेरक पत्रिका माना जाता है। इस पत्रिका के द्वारा कई ऐसे लेखक तैयार हुए, जिन्होंने भिन्न-भिन्न विषयों पर निबन्ध लिख कर बंगला गद्य में नई प्राण प्रतिष्ठा की। इन निबन्ध लेखकों में रवीन्द्र-नाथ के भतीजे बलेन्द्रनाथ ठाकुर, रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी, यागेशचन्द्र राय विद्यानिधि, जगदानन्द राय, अक्षयकुमार मैत्रेय इत्यादि लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन निबन्ध लेखकों ने दर्शन शास्त्र, विज्ञान, कला की आलोचना इत्यादि विषयों पर बहुत काफी लिखा।

१९वीं शताब्दी के अन्त और २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बंगाली गद्य में एक सर्वतोमुखी बाढ़ आई। इतिहास, दर्शन, विज्ञान, कला, निबन्ध इत्यादि सभी क्षेत्रों में बहुत तेजी से विकास हुआ। उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, बंकिम बाबू, प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, रवीन्द्र नाथ टैगोर हुए। जिनका विवेचन 'उपन्यास साहित्य' के शीर्षक में हम इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में कर चुके हैं। इतिहास के क्षेत्र में रमेशचन्द्र दत्त, राखलदास बनर्जी इत्यादि लेखकों ने भारत के प्राचीन इतिहास पर कई इतिहास ग्रन्थों की और कई ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में गुरुदास बनर्जी का 'ज्ञान और कर्म' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है। निबन्धों के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने राजा और प्रजा, साहित्य, शिक्षा, समाज, इत्यादि भिन्न-भिन्न विषयों पर सैकड़ों सुन्दर और गम्भीर निबन्धों की रचना की। हास्य रस के क्षेत्र में श्री राजशेखर वसु ने जो हिन्दी में परशुराम के नाम से प्रसिद्ध हैं अपनी रचनाओं से योग दिया निबन्ध के क्षेत्र में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रमथ चौधरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकार अनेकानेक लेखकों के सतत उद्योग से बंगला-साहित्य का गद्य इतनी उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ है।

मराठी-गद्य-साहित्य

मराठी के आधुनिक गद्य-साहित्य का प्रारंभ वैसे साधारणतया सन् १८०८ ई० से प्रारंभ होता है। गद्य के इस प्रारंभिक युग को 'अनुवाद-युग' कहते हैं। इस युग में अंग्रेजी और संस्कृत के कई उपयोगी ग्रन्थों का मराठी भाषा में अनुवाद हुआ। इस युग के लेखकों में लोकहितवादी फुले विष्णुबुवा, तात्या गोडबोले, कृष्ण शास्त्री, राजवाड़े इत्यादि लेखकों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी समय बम्बई युनिवर्सिटी के स्थापित होने से मराठी गद्य के विकास में बड़ी उत्तेजना मिली। इसी युग में सुप्रसिद्ध विद्वान और न्यायाधीश महादेव गोविन्द रानाडे और डा० भाण्डारकर के समान प्रकाण्ड पण्डित उत्पन्न हुए, जिन्हों ने अपने लेखों, व्याख्यानों और इतिहास की खोजों से मराठी गद्य को बहुत समृद्ध किया।

मगर मराठी गद्य का वास्तविक इतिहास सन् १८८० ई० से प्रारम्भ होता है, जब विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने मराठी-साहित्य में निबन्धमाला का प्रकाशन प्रारम्भ किया और इसके द्वारा सात वर्षों तक सैकड़ों निबन्ध प्रकाशित कर के मराठी-साहित्य को समृद्ध किया।

श्री चिपलूणकर आधुनिक मराठी गद्य-साहित्य के जनक कहे जाते हैं। एडीसन और मैकाले की निबन्ध-शैली की छटा उनके साहित्य में विपुल मात्रा में पायी जाती है। साहित्य का निबन्ध-अंग इन्हीं की लेखनी से परिपुष्ट और प्रभावपूर्ण हुआ। वे एक स्वतंत्र विचारक थे। उनके लेखों से मराठी-क्षेत्र में देश प्रेम और स्वाधीनता की लहरें उठने लगीं।

इस लहर का उत्थान लोकमान्य तिलक और श्री आगरकर के द्वारा हुआ। मराठी गद्य में समाज-सुधार की भावनाओं के प्रचार के नाते श्री आगरकर का नाम अमर रहेगा। उनका साहित्य, निर्भयता, लगन और तर्क-संगति की दृष्टि से परिपूर्ण है।

लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' पत्र के प्रकाशन द्वारा मराठी-गद्य साहित्य में एक युगान्तर उत्पन्न कर दिया। मराठी-गद्य में लिखा हुआ, उनका 'गीता-रहस्य' नामक महान् ग्रन्थ मराठी-गद्य साहित्य की ओर से विश्वसाहित्य को दी हुई एक अनुपम भेंट है।

लोकमान्य तिलक के पश्चात् उनके सहयोगी नरसिंह

चिन्तामणि केलकर ने मराठी गद्य-साहित्य को ऊँचा उठाने में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया। इन्होंने साहित्य, इतिहास, जीवनी, निबंध, उपन्यास इत्यादि अनेकानेक विषयों पर अत्यन्त प्रौढ़ कृतियों का निर्माण किया। इनका लिखा हुआ लोकमान्य तिलक का एक विशाल जीवन-चरित्र हजार-हजार पृष्ठों के तीन खण्डोंमें समाप्त हुआ है। जो मराठी साहित्य की एक अमूल्य निधि है। इनका लिखाहुआ 'मराठा और अंग्रेज' नामक ग्रन्थ मराठों के इतिहास को एक नवीन दृष्टिकोण के साथ पेश करता है। इनके सम्पादन में 'केसरी' पत्र ने भी मराठी-गद्य की अभूतपूर्व सेवा की है।

इसी प्रकार उपन्यासों के क्षेत्र में सुप्रसिद्ध उपन्यासकार हरिनारायण आप्टे, वामन मल्हार जोशी, इतिहास और दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में डा० पाण्डुरंग वामन काणे, अन्ना साहब कर्वे इत्यादि महान् लेखकों ने अपनी रचनाओं से मराठी-गद्य के समृद्ध करने में बहुत बड़ा योग दिया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

वाचस्पति गैरोला—संस्कृत साहित्य का इतिहास
कृष्ण चैतन्य— ,, ,,
डॉ० भगवद् शरण उपाध्याय—विश्व-साहित्य की रूपरेखा
रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास
डॉ० सत्येन्द्र—बंगला साहित्य का इतिहास
कृष्णलाल मोहनलाल—गुजराती साहित्य

गन्धकुटी

बौद्ध और जैन धर्म में तथागत या अर्हन्तों के बैठने के लिए जो स्थान होता है, उसको 'गन्धकुटी' कहते हैं।

जैन-परम्पराओं के अनुसार जब तीर्थकरों को कैवल्य की प्राप्ति होती है तब उनके उपदेश को श्रवण करने के लिए एक विशाल 'समवशरण' सभा का आयोजन किया जाता है। इस सभा में देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि सभी प्राणियों के बैठने की अलग-अलग व्यवस्था होती है। अर्हन्तों के मुख से जो दिव्यध्वनि उच्चारित होती है, उसे सब प्राणी अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं।

समवशरण के केन्द्र में उच्च स्थान पर अर्हन्तों के बैठने के लिए जो स्थान बनाया जाता है—उसे गन्धकुटी कहते हैं। यह गन्धकुटी अगुरु, चन्दन इत्यादि सुगन्धमय पदार्थों की धूप से सुगन्धित रहती थी। तीर्थङ्कर ऋषभदेव के समय में गन्धकुटी की लम्बाई ६०० दण्ड, चौड़ाई ६०० दण्ड और ऊँचाई ९०० दण्ड थी। मगर यह लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई हर एक तीर्थंकर के समय में कम होती गयी। और अन्त में तीर्थंकर महावीर के समय में गंधकुटी की लम्बाई-चौड़ाई ५०—५० दण्ड और ऊँचाई ७५ दण्ड रह गयी।

जैनियों की तरह बौद्ध-ग्रंथों में भी तथागत के बैठने के स्थान को 'गन्धकुटी' या 'मूलगंध कुटी' के नाम से ही अभिहित किया गया है। सारनाथ की उपदेश-सभा में भगवान् बुद्ध के बैठने का स्थान गन्धकुटी में ही था।

गन्दन

मध्य एशिया के जुङ्गर-साम्राज्य का एक प्रभावशाली शासक। जिसका समय सन् १६७१ से १६९७ ई० तक रहा।

'जुङ्गर' कल्मक—जाति की एक शाखा का नाम था। कल्मक मंगोल-जाति की एक शाखा थी और मंगोलों में 'तारबुत' के नाम से प्रसिद्ध थी।

सन् १५८२ ई० से सन् १७५७ तक इस जाति का मध्य एशिया के काफी बड़े भूभाग पर साम्राज्य रहा।

गल्दन इसी जुंगर—साम्राज्य का चौथा शासक था। शुरू में यह बौद्ध भिक्षु बनकर तिब्बत में अध्ययन करने के लिये चला गया था। वहां से वापस लौटकर इसने अपने भाई सेत-सेन खान को हराया और स्वयं खान की गद्दी पर बैठा।

सन् १६७८ में गन्दन ने पूर्वी तुर्किस्तान को जीत कर यारकन्द में खोजा 'अप्पक्' को वहाँ का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। तब से लेकर सन् १७५५ ई० तक एक बार फिर पुर्वी तुर्किस्तान की प्राचीन बौद्ध भूमि फिर से कल्मक-बौद्धों के हाथ में आकर जूंगर-साम्राज्य का अंग बन गई। इसी समय गल्दन ने तुर्फान और खामिल को भी जीत लिया और 'बुस्तु:खान' (बोधिसत्व राजा) की उपाधि धारण की। जिसे अब तक चंगेज खाँ को सन्तानें ही धारण करती थीं। इस समय गल्दन का राज्य उत्तर में 'केरूलोन' नदी से दक्षिण में 'कोकोनोर' सरोवर तक और पूर्व में खलखा-मङ्गोलों की सीमा से पश्चिम में कजाकों की सीमा तक फैला हुआ था।

इस समय जुंगरों और खलखा-मंगोलों के बीच संघर्ष चल रहा था। रूस जुंगरों के पक्ष में था और चीन खलखा-मङ्गोलो का समर्थन कर रहा था।

अप्रैल सन् १६९६ ई० में एक बहुत बड़ी चीनी सेना ने गल्दन के विरुद्ध अभियान किया। इस अभियान में गल्दन की रानी गोली की शिकार हुई। गल्दन अपनी लड़कियों और एक लड़के के साथ पश्चिम की ओर भाग चला और असफलताओं से निराश होकर ५ जून सन् १६९७ ई० को उसने आत्महत्या कर ली।

गल्दन एक बहुत बहादुर और योग्य सरदार था। उसके शत्रु भी उसकी योग्यता के कायल थे। चीन के सम्राट् कांग-सी ने लिखा था—

'गल्दन एक बड़ा ही दुर्धर्ष शत्रु था। उसने समरकन्द, बुखारा, किरगिज, उरगंज, काशगर, सुरमान, तुरफान और खामिल को मुसलमानों से जीत लिया और बारह सौ से अधिक नगरों पर कब्जा कर लिया। जो बतलाता है कि उसकी बाहें कितनी लम्बी थीं। सातों झंडों के खलखों ने व्यर्थ ही अपने एक लाख जवानों को जमा करके उसका विरोध किया। उन्हें तितर-बितर करने के लिए गल्दन के वास्ते एक वर्ष पर्याप्त था।' (म० ए० इतिहास)

गफ (लार्ड गफ)

सन् १८४३ ई० में भारत स्थित अंग्रेजी सेनाओं का प्रधान सेनापति, जिसका जन्म सन् १७७९ ई० में तथा मृत्यु सन् १८६९ ई० में हुई।

लार्ड 'गफ' आयर्लैंड का रहने वाला था। सन् १८३७ ई० में वह भारत आया और मैसूर में सेनापति बना दिया गया। उसके पश्चात् जब चीन के साथ भारत सरकार का युद्ध चला, तब इसको चीन के मोर्चे पर भेजा गया। सन् १८४२ ई० में नानकिंग की सन्धि हो जाने पर यह वहाँ से वापस आ गया। सन् १८४३ ई० में वह समस्त भारत की अंग्रेजी सेना का प्रधान सेनापति बना दिया गया।

इसी वर्ष महाराजपुर में उसने मराठा-सेना को एक करारीं पराजय दी। सन् १८४५ ई० में सिक्खों के साथ की लड़ाई में सोबरावं में उसने सिक्खों को बुरी तरह पराजित किया। जिसके परिणाम-स्वरूप सिक्खों को लाहौर के अन्तर्गत अंग्रेजों से एक अपमानपूर्ण सन्धि करने को मजबूर होना पड़ा। इस विजय के उपलक्ष में पार्लमेंट ने उसे 'अर्ल' की उपाधि प्रदान की।

सन् १८४९ ई० में गुजरात (पंजाब) के युद्ध में इसने सिक्खों को एक करारी पराजय दी। उसके बाद यह इंग्लैण्ड चला गया। वहाँ पर सन् १८६२ ई० में वह 'फील्ड-मार्शल' बना दिया गया और सन् १८६९ ई० में इसकी मृत्यु हो गयी।

गया

भारतवर्ष के बिहार-राज्य में,पटना से ५५ मील दक्षिण फल्गू नदीके किनारे पर बसा हुआ एक प्राचीन नगर। जिसकी जनसंख्या १ लाख ५१ हजार १०५ है। गया नगर दो भागों में विभक्त है। एक पुराना गया और दूसरा साहबगञ्ज। पुराने नगर में 'विष्णुपाद' का सुप्रसिद्ध मन्दिर और दूसरे कई पवित्र स्थान बने हुए है। इस क्षेत्र में विशेष रूप से गया वाल पण्डे ही रहते हैं।

साहबगञ्ज क्षेत्र में बाजार, न्यायालय,औषधालय, गिरिजा-घर, पुस्तकालय, सर्किट हाउस इत्यादि बने हुए हैं।

हिन्दुओं के धार्मिक तीर्थों के अन्तर्गत गया नगर का बहुत बड़ा महत्व है। महाभारत, भागवत और पुराणों में इस क्षेत्र की पवित्रता के लिए बहुत कुछ लिखा गया है। वायु पुराण के अन्तर्गत गया-माहात्म्य नाम से एक स्वतन्त्र अध्याय है। उसमें गया की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—

'प्राचीन काल में गयासुर नामक एक बड़ा बलशाली और तपस्वी असुर था। वह विष्णु का परम भक्त था। एक बार 'कोलाहल पर्वत' पर पहुँच कर उसने विष्णु की कठोर तपस्या करना प्रारम्भ किया। उसकी तपस्या को देख कर देवता लोग घबराये। और वे ब्रह्मा के पास पहुँचे। इन सब ने विचार करके विष्णु के साथ कोलाहल पर्वत पर जाकर गयासुर से वर माँगने को कहा। उसने कहा कि यदि आप वर देना चाहते हैं कि ऐसा वर दीजिये कि मेरा शरीर ब्राह्मण, तीर्थशिला, देवता, योगी, सन्यासी, कर्मी, धर्मी सभी के शरीर से अधिक पवित्र हो जाय। और जिसको मैं छू लूँ वही सीधा बैकुण्ठ

को चला जाय। विष्णु 'तथास्तु !' कह कर देवताओं के साथ वापस चले गये। उसके बाद सभी जीवधारी गयासुर के शरीर को छू छू कर सीधे वैकुण्ठ जाने लगे। सारे विश्व में अव्यवस्था मच गयी। यमराज की यमपुरी खाली हो गयी। तब यमराज भगे हुए विष्णुके पास पहुँचे। तब विष्णुने सबके साथ जाकर गयासुर का शरीर यज्ञ के लिए माँगा। गयासुर ने यज्ञ के लिए अपना शरीर दे दिया। उसके शरीर पर ही यज्ञ किया गया। ब्रह्मा के आदेश से यम ने 'धर्मशिला' ले जाकर उसे असुर के शरीर पर रख दिया और उसके शरीर को निश्चेष्ट बनाने के लिए देवता उस शिला पर चढ़ कर कूदने लगे। लेकिन फिर भी वह निश्चेष्ट नहीं हुआ। तब विष्णु उस शिला पर खड़े हुए, तब वह निश्चेष्ट हुआ। उस समय उसने कहा कि अगर आप पहले ही मुझसे कह देते तो मैं निश्चेष्ट हो जाता। तब विष्णु ने प्रसन्न होकर उससे वर माँगने को कहा। गयासुर ने कहा कि आप ऐसा वर दें कि चन्द्र, सूर्य और पृथ्वी के रहने तक सब देवता इस शिला पर वास करें। मेरे नाम पर यह स्थान एक पुण्यक्षेत्र बने और यह तीर्थ सब तीर्थों में श्रेष्ठ माना जाय।

तभी से गया का यह क्षेत्र और इसकी यह शिला बहुत पवित्र मानी जाती है। भारत के विभिन्न प्रान्तों से असंख्य तीर्थ यात्री प्रति वर्ष गया में पितरों का श्राद्ध और तर्पण करने के लिए आते हैं। यहाँ यात्री को ४५ स्थानों पर पिंड दान करना पड़ता है। मगर आजकल कुछ लोग ५ या ३ ही स्थानो पर पिण्डदान करते है। ठोस चट्टान पर बना हुआ 'विष्णुपाद' का मन्दिर गया में सब से बड़ा है। कहा जाता है कि देवी अहिल्याबाई होलकर ने पुराने मन्दिर के स्थान पर यह नया मन्दिर बनवाया था। गयावाल पण्डे ही इस मन्दिर के मौरूसी पुजारी हैं।

हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्ध लोगों का भी यह स्थान बहुत बड़ा तीर्थ रहा है। भगवान बुद्ध को यही पर बोधिसत्व की प्राप्ति हुई थी। गया के समीप ही 'अरुबेला' नामक ग्राममे पीपल के एक वृक्ष के नीचे समाधिस्थ होकर उन्होंने बोधिसत्व की प्राप्ति की। अरुबेला में वहाँ के ग्रामपति की पत्नी 'सुजाता' का आहार लेकर बुद्ध ने अपना कई दिन का उपवास भंग किया था और उसी समय वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि काया को उपवास इत्यादि उग्र तपश्चर्या से कष्ट पहुँचा कर कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता। मुक्ति के लिए मध्यम मार्ग ही श्रेयस्कर है।

सम्राट् अशोक अपने शासन के १० वें वर्ष में इस पवित्र स्थान की यात्रा को गये थे। और उन्होंने यहाँ पर एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया था।

चौथी सदी में चीनी यात्री फाहियान ने और सातवीं सदी के हुएनसांग ने अपने यात्रा विवरण में इस मन्दिर का उल्लेख किया है। वर्तमान मन्दिर उसके काफी समय के बाद बना है। इसकी ऊँचाई १६० फुट और चोड़ाई ६० फुट है।

छठी शती में सिंघल के नरेश ने गया के बौद्ध मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया था। ऐसा उल्लेख 'महावंश' में पाया जाता है।

जिस बोधिवृक्षके नीचे भगवान बुद्धको बोधिसत्व की प्राप्ति हुई थी उस वृक्ष की एक शाखा, सम्राट् अशोक की पुत्री 'संघमित्रा' ने ले जाकर लङ्का के अनुराधापुर नामक नगर में बौद्धधर्म की स्मृति के रूप में लगाई थी। वह वृक्ष अभी भी वहाँ पर मौजूद है और उस वृक्ष की एक डाली वहाँ से लाकर वर्तमान सारनाथ के उत्थान के कुछ वर्ष पूर्व यहाँ पर आरोपित की गयी थी।

(वसु-विश्वकोष — ना० प्र० वि० कोष)

गयादीन दूबे

सन् १८५७ ई० की जन-क्रान्ति में कानपुर के समीप फतेहपुर शहर के एक क्रान्तिकारी, जिनका जन्म सन् १८०७ ई० के करीब हुआ।

बाबा गयादीन दूबे फतेहपुर नगर के ३ मील पश्चिम 'कोराई' नामक ग्राम के एक प्रतिष्ठित और दबंग व्यक्ति थे। इनके पास घोड़े और बहेलियों की एक छोटी सी सेना थी।

४ जून सन् १८५७ ई० को कानपुर में विद्रोह भड़कने की खबर जब फतेहपुर पहुँची तो वहाँ के सिपाहियो ने भी ६ जून को विद्रोह कर दिया। उस समय वहाँ के जज 'राबर्ट-टकर' नामक एक अंग्रेज थे। उनका बंगला वर्तमान फतेहपुर कचहरी के सामने था। ७ जून को इलाहाबाद की फौज ने भी बगावत कर दी और ८ जून को खागा मे दरियाव सिंह की सेना ने अंग्रेजों का सामना किया। ऐसे भयंकर

वातावरण में जज राबर्ट टकर ८ जून को कुराई गये और उन्होंने बाबा गयादीन से शरण माँगी। बाबा गयादीन ने दरियाव सिंह की सेना के साथ अंग्रेजों को परास्त किया था। और वे अंगरेजों के कट्टर दुश्मन थे। फिर भी उन्होंने शरणागत 'टकर' को रक्षा का आश्वासन दिया और उन्हें वापस अपने बंगले में भेज दिया।

मगर ऐसा कहा जाता है कि गयादीन अपने आश्वासन की रक्षा न कर सके और ६ जून को विद्रोही सैनिकों ने 'टक्कर' के बंगले को घेर लिया। टक्कर ने अपनी रक्षा का उपाय न देख कर आत्महत्या कर ली। मगर इसके पहले उसने अपने बङ्गले की छत पर पेंसिल से लिख दिया कि— 'गयादीन दूबे ने मेरे साथ विश्वासघात किया है।'

१२ जुलाई को मेजर 'रेनार्ड' और 'हैवलाक' १४ सौ गोरे, ६ सौ हिन्दुस्तानी सिपाही और ८ तोपें लेकर फतेहपुर पहुँचे और 'टक्कर' के लिखे हुए शब्दों को देखकर रातोरात 'कोराई' पर धावा बोलने का निश्चय किया।

यह देखकर गयादीन अपने ५ सौ सम्बन्धियों को लेकर वहाँ से भाग निकले और गंगा पार कर रामपुर पहुंचे। और वहाँ से खजूर गाँव के राणा के यहाँ शरण ली, मगर एक धोबी ने इनकी सूचना अंग्रेजों को दे दी। वहाँ से उनको गिरफ्तार करके फतेहपुर की जेल में रखा गया।

उधर हैवलाक ने उनके विशाल प्रासाद को तोपों से उड़ा कर धूल में मिला दिया और घर का सारा सामान गाड़ियों पर लादकर फतेहपुर भेजा गया। कहा जाता है कि १७ दिन तक यह सामान ढोया गया। कुछ दिनों के बाद बाबा को फांसी का आदेश दिया गया। मगर फांसी देने के पहले ही बाबा गयादीन की जेल में मृत्यु हो गयी।

(साप्ताहिक हिन्दुस्तान ८।१२।५७)

गयासुद्दीन (१)

बंगाल के सुल्तान सिकन्दर शाह के लड़के, जो सन् १३६७ ई० में बंगाल की गद्दी पर बैठे।

गयासुद्दीन के पिता 'सिकन्दर शाह' को दो बेगमें थीं। एक बेगम से १७ लड़के हुए और दूसरी से एक गयासुद्दीन अकेले थे। गयासुद्दीन के तेज और प्रतिभा को देखकर उनकी सौतेली माँ हमेशा उनके विरुद्ध उनके पिता के कान भरती रहती थी। यह रंग-ढंग देखकर गयासुद्दीनने ग्वाल पाड़े पहुँच कर, एक फौज इकट्ठी करके विद्रोह कर दिया। इस लड़ाई में सिकन्दर शाह मारे गये और सन् १३६७ ई० में गयासुद्दीन बंगाल के शासक हुए।

गयासुद्दीन ने अपने ७ वर्ष के शासन में अपनी न्याय-प्रियता, उदारता और विद्या प्रेम का काफी परिचय दिया। पढ़ने लिखने का इनको बहुत शौक था और ये कभी-कभी कविता भी करते थे। (वसु विश्वकोष)

गयासुद्दीन (२)

बंगाल के एक सूबेदार, जिनका समय सन् ११७८ से सन् ११६४ ई० तक रहा।

गयासुद्दीन मध्य एशिया के 'गोर-राज्य' में अच्छे खान-दान में पैदा हुए थे। वहाँ से ये हिन्दुस्तान आये और सन् ११७८ ई० में सम्राट् अलामेश ने इन्हें बंगाल का सूबेदार बनाया। मगर कुछ समय पश्चात् ही इन्होंने दिल्ली की मात-हती छोड़कर अपने आपको स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। और सन् ११८६ ई० में अपने नाम का रुपया चलाया। इन्होंने कई स्कूल, यतीमखाने आदि इमारतों का निर्माण करवाया। लोगों को बाढ़ संकट से बचाने के लिए नदियों पर बाँध भी बनवाये। और आसाम तिरहुत, त्रिपुरा तथा उड़ीसा के कुछ हिस्से को जीत कर वहाँ के राजाओं से खिराज वसूल किया।

दिल्ली को नजराना न भेजने के कारण सम्राट् अल्तमश फौज के साथ बंगाल पर चढ़ आये। तब गयासुद्दीन ने घबरा कर बहुत जुरमाना देकर बादशाह की सब शर्तें मंजूर करके सुलह कर ली।

मगर बादशाह के वापस जाते ही इन्होंने पुनः विद्रोह कर दिया। तब उस विद्रोह को दबाने के लिए बादशाह ने पुनः फौज भेजी और सन् ११६४ ई० में ये मार डाले गये।

गयासुद्दीन 'खिलजी'

गुजरात के एक सूबेदार, जो सन् ११६४ ई० में गुजरात की गद्दी पर बैठे। जब ये वृद्ध हो गये तब इनका बड़ा पुत्र नासिर उद्दीन अपने छोटे भाई सुजात खां को मार कर सन्

१५०० ई० में गद्दी पर बैठा। कुछ समय पश्चात् इसने अपने पिता को भी जहर देकर मार डाला।

गयासुद्दीन 'बलबन'

दिल्ली के एक मुसलमान बादशाह, जो सन् १२६६ ई० को फरवरी के महीने में दिल्ली के तख्त पर बैठे।

गयासुद्दीन बलबन को एक गुलाम के रूप में सम्राट् अल्तमश ने खरीदा था। और शुरू में इन्हें बाज उड़ाने की नौकरी पर रखा था। मगर उस समय इनका एक भाई किसी बड़े ओहदे का ओहदेदार था। उसकी वजह से यह शीघ्र ही पञ्जाब के हाकिम बना दिये गये।

सुल्ताना 'रजिया' के समय में इन्होंने विद्रोहियों का साथ दिया था। इससे लड़ाई में हारने पर यह पकड़ लिए गये, मगर कुछ ही दिनों बाद कैदखाने से भागकर इन्होंने 'बहराम' की मदद की। बहराम के बादशाह होने पर यह 'रेवाड़ी' के हाकिम बना दिये गये।

जब सन् १२४६ ई० में अल्तमश के लड़के नासिरुद्दीन बादशाह हुए, तब इनका सितारा चमक उठा और सन् १२६६ ई० के फरवरी महीने में नासिरुद्दीन के मरने पर अपना नाम 'बलबन' रख कर के दिल्ली के तख्त पर बैठे।

इस व्यक्ति ने हिन्दुओं के प्रति कई जिहाद किये। असंख्य काफिरों को मारा, कितनों ही को मुसलमान बनाया, मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ा और खूब लूटमार की। उसने अल्तमश के ४० समसी गुलाम सरदारों के दल का दमन किया जो उस समय बलबन का भीषण प्रतिद्वन्दी बना हुआ था।

सन् १२६६ ई० मे बलबन की मृत्यु हो गयी और उसके बाद ही राज्य में घोर अराजकता छा गयी।

गयासुद्दीन 'तुगलक'

दिल्ली में तुगलक बंश की स्थापना करने वाला एक तुगलक सरदार, जिसने सन् १३२१ ई० मे दिल्ली के तख्त पर बैठ कर तुगलक-वंश की स्थापना की।

सन् १३२० ई० में कुतुबुद्दीन मुबारक शाह की खुसरो के द्वारा हत्या होने पर खिलजी बंश का अन्त हो गया। उसके बाद खुसरो के अत्याचारों से तंग आकर सरदारों ने उसकी हत्या कर डाली। और उसकी जगह गाजी मलिक को सन् १३२१ ई० में गयासुद्दीन तुगलक शाह के नाम से गद्दी पर बिठाया।

गयासुद्दीन का बाप सम्राट् 'बलबन' का एक गुलाम था और उसकी माँ एक जाटनी थी। गाजी तुगलक का जन्म भारत में हुआ था। इसलिए वह दूसरे शासकों की तरह धर्मान्ध और क्रूर नहीं था। उसकी शासन-पद्धति भी व्यवस्थित थी। थोड़े ही समय में उसने अपने आन्तरिक शासन को व्यवस्थित कर लिया। और आये दिन मंगोलों के होनेवाले आक्रमणों से रक्षा का भी प्रबन्ध कर लिया था। कई हिंदुओं को भी उसने ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया था। पाटन के सेठ समरशाह पर उसकी बड़ी कृपा थी।

उसने अपने पुत्र जूना खाँ को दक्षिण-विजय के लिए भेजा। बारंगल की पहली लड़ाई में तो जूना खाँ बुरी तरह से हार गया, मगर दूसरी बार उसने काकातीय-राज्य का अन्त करके बारङ्गल और बीदर पर कब्जा कर लिया।

उस समय गयासुद्दीन सुल्तान बङ्गाल के उत्तराधिकार की समस्या को हल करने गये थे। उनके लौटने के पूर्व ही जूना खाँ दिल्ली पहुँच गया और सुल्तान का स्वागत करने के लिए दिल्ली से बाहर लकड़ी का एक सुन्दर मण्डप बनवाया।

सुल्तान जब अपने पुत्र महमूद के साथ उस भवन में सो रहे थे तो जूना खाँ ने उस मण्डप को गिरवा दिया। सुल्तान तथा उसके पुत्र उसमे दब कर मर गये।

कहा जाता है कि मुसलमान फकीर निजामुद्दीन औलिया का भी इस षड़यन्त्र मे हाथ था। जब सुल्तान बङ्गाल से लौट रहे थे, तो मार्ग से उन्होने निजामुद्दीन औलिया को एक पत्र में लिखा था कि—'चाहे आप दिल्ली में रहें, चाहे मैं रहूँ मगर दोनों एक साथ नहीं रह सकते।'

इसके जवाब मे निजामुद्दीन ने लिखा था कि—'घबराते क्यों हो, दिल्ली अभी बहुत दूर है।' और सचमुच वह दिल्ली को अपने जीवन में नही देख सके।

गयासुद्दीन सुल्तान ने दिल्ली के निकट ही तुगलकाबाद नामक एक मजबूत किला बनवाया था और उसी किले में अपना मकबरा भी अपने जीते-जी बनवा लिया था। सन् १३२५ ई० में मृत्यु के पश्चात् उसे इसी मकबरे में दफनाया गया।

गयासुद्दीन गोरी

मध्य एशिया के गोर-प्रदेश का सुल्तान, गयासुद्दीन गोरी, जिसका शासन सन् ११७३ ई० से सन् १२०३ ई० तक रहा।

सल्जुकी तुर्कों के मशहूर सम्राट् 'सिजर' की मृत्यु सन् ११५६ ई० में हो जाने के बाद सल्जुकी-साम्राज्य बिखरने लगा। इसका फायदा गोर के सरदार गयासुद्दीन और शहाबुद्दीन ने उठाया। 'गोर' में अपना स्वतन्त्र राज्य घोषित कर गयासुद्दीन वहाँ की गद्दी पर बैठा और उसका भाई शहाबुद्दीन गोरी उसका प्रधान सेनापति बना।

सन् ११७३ ई० में गजनी को जीत कर शहाबुद्दीन को वहाँ का शासक बना दिया। इसके बाद गयासुद्दीन ने बामियान, तुखारिस्तान, शुगनान, चित्राल तथा दूसरी पहाड़ी पर कब्जा करके अपने चचा 'मसूद' को इस सारे प्रदेश का शासक बना दिया। इस समय गोरियों का राज्य पूरब मे वक्षु और चित्राल तक और पश्चिम मे हिरात और खुरासान तक पहुँच गया था।

कुछ समय तक यह राजवंश मुसलिम एशिया के पूर्वी भाग का एक स्वतन्त्र और सवल राजवश हो गया था। मध्य एशिया के अन्तर्गत इस समय गोरी राजवंश, कराखिताई और ख्वारेज्मशाह—ये तीनों शक्तियाँ सबसे बड़ी हो गयी थी।

गयासुद्दीन के समय में ही शहाबुद्दीन गोरी ने भारतवर्ष पर आक्रमण करना शुरू कर दिया था। मुल्तान और सिन्ध को जीतने के बाद सन् ११७८ ई० मे उसने गुजरात पर हमला किया। मगर वहां से उसे पराजित होकर वापस लोटना पड़ा। सन् ११९१ ई० दिल्ली के समीप 'तरावड़ी' के मैदान मे पृथ्वीराज चौहान के साथ उसका ऐतिहासिक युद्ध हुआ, जिसमें उसकी करारी हार हुई और वह पृथ्वीराज के हाथों पकड़ा गया। बहुत अनुनय-विनय करने पर पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया।

उसके बाद सन् ११९२ ई० मे एक बड़ी सेना के साथ उसने दिल्ली पर फिर आक्रमण किया। इस बार उसने पृथ्वीराज को परास्त करके उन्हे पकड़ लिया और फिर मार डाला।

इसके पश्चात् उसने अजमेर पर भी कब्जा कर लिया और दिल्ली मे अपने गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक को राज्यपाल बना कर 'इस्लामी-सल्तनत' की नींव डाल दी।

चंगेज खाँ के मशहूर आक्रमण के पश्चात् मध्य एशिया का शक्तिशाली गोरी-राज्य समाप्त हो गया,। किन्तु इस वंश ने भारतवर्ष में जिस जबर्दस्त इस्लामी शक्ति की नींव डाली, वह कई सदियों तक चलती रही और उसने भारतीय जीवन के प्रत्येक अंग पर अपना स्थायी प्रभाव डाला।

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

हिन्दी के एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि, जिनका जन्म सन् १८८३ में हुआ।

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' हिन्दी के बड़े भावुक और सरल हृदय कवि हैं। ये पुरानी और नई दोनों चाल की कविताएँ लिखते हैं। इनकी राष्ट्रीय कविताएँ 'त्रिशूल' के नाम से और साहित्यिक कविताएँ 'सनेही' के नाम से छपती थी। उर्दू भाषा में भी इनकी कविताएँ अच्छी होती थीं। इनकी काव्य-पुस्तकों में कुसुमाञ्जली, प्रेमपचीसी, त्रिशूलतरंग इत्यादि पुस्तके उल्लेखनीय हैं। सन् १९२१ से प्रारम्भ होने वाले स्वाधीनता-आन्दोलन के युग में इनकी राष्ट्रीय कविताओं की बड़ी धूम थी। सनेही जी के सम्पादन में एक 'सुकवि' नाम का काव्यमय मासिक पत्र भी निकलता था।

गरबा—नृत्य

गुजरात प्रान्त का एक सुप्रसिद्ध लोकनृत्य, जो विशेषकर नवरात्रि तथा अन्य सांस्कृतिक उत्सवों के समय गुजरात में अभिनीत होता है।

जिस प्रकार केरल अपने कथकली नृत्य के लिये, मणिपुर अपने मणिपुरी नृत्य के लिये, तथा पंजाब अपने भांगड़ा नृत्य के लिए प्रसिद्ध है। उसी प्रकार गुजरात को भी अपने गरबा नृत्य का गोरव है।

गरबा-नृत्य के अन्तर्गत भी दूसरे नृत्यों की तरह राधा और कृष्ण के अमर प्रेम की कहानी प्रदर्शित की जाती है। नृत्य के प्रारम्भ में राधा और कृष्ण के मिलन और विरह के भावो को प्रदर्शित किया जाता है। राधा गोपियों के साथ, नृत्य करती हुई मन की व्यथा का प्रदर्शन करती है और कृष्ण के आते ही प्रेम के आवेग मे उनके साथ रासनृत्य करने लगती है। राधा और कृष्ण का यही प्रेम-भाव गुजरात के

घरों में पति पाली के मिलन बिछोह, देवर भाभी के रसीले संवादों के रूप में गरवा नृत्य के अन्दर मुखरित हो जाता है।

गुजराती बालाएँ रास के डण्डों पर समूहबद्ध नृत्य करती हुई—

"मेहन्दी वायी मालवेमें, एनो रंग गयो गुजरात" के मन-मोहक संगीत के साथ सारे वातावरण को मधुमय बना देती है। देवर-भाभी के हाथों पर मेहंदी का रंग न देख कर उससे कारण पूछता है तो भाभी जबाव देती है—

हाथ रंगी ने करूं शूं रे देवरिया
ऐने जोनारो छे परदेशरे।

हे देवरिया हाथ रचा के क्या करू", इनको देखने वाला तो परदेश में है।

इसी प्रकार कृष्ण के मुरली नाद को सुनकर गुजराती बालाएं "मुरली कयारे वगाड़ी" की धुन में अत्यन्त मनो-मोहक नृत्य करती हैं।

इसी प्रकार और भी भिन्न-प्रकार के प्रेम, मिलन वियोग और क्रोध के भावों का इस नृत्य के द्वारा बड़ा सुन्दर अभिनय किया जाता है।

गर्दे—लक्ष्मण नारायण

हिन्दी भाषा के एक सुप्रसिद्ध सम्पादक, वक्ता और लेखक जिनका जन्म १८८९ काशी में हुआ था।

श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में बहुत पुराने और सफल सम्पादक रहे। सन् १९१९ में जब भारतीय पत्रकार कला अपनी शैशव अवस्था में थी। लक्ष्मण नारायण गर्दे हिन्दी के सुप्रसिद्ध और प्राचीन पत्र दैनिक भारत मित्र के प्रधान सम्पादक रहे।

सन् १९२४ में गर्देजी आर० एल० वर्म्मन के द्वारा प्रकाशित 'श्रीकृष्ण-सन्देश' नामक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक रहे। उस जमाने में "श्रीकृष्ण सन्देश" एक उच्चस्तरीय पत्र था।

पत्रकारिता के अतिरिक्त पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे कई साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक, संस्थाओं में भी उच्च पदों पर आसीन रहे। काशी की "राष्ट्रकवि परिषद् नामक संस्था से भी इनका बहुत अधिक सम्बन्ध था।

पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे का धार्मिक जीवन भी बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। उनके प्रवचन बहुत उच्चकोटि के होते थे। महामना मालवीय जी इनके प्रवचनों को बड़े आग्रह के साथ सुनते थे। अपने देहान्त के कुछ समय पूर्व उन्होंने पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे को बुला कर उनका प्रचचन करवाया था। उस प्रवचन को सुनकर मालवीयजी की आँखोंसे आंसुओं की धारा बह चली थी।

राष्ट्रपति राधाकृष्णन उस समय बनारस विश्वविद्यालय के उपकुल पति थे। लक्ष्मण नारायण गर्दे से 'गीता" के दार्शनिक महत्व पर वे विचार विनिमय करते रहते थे, गर्देजी की विद्वता से वे प्रभावित थे।

गरहार्ट (चार्ल-फ्रेडारिक)

एक फ्रेंच रसायन-शास्त्री। जिनका जन्म सन् १८१६ ई० में 'स्ट्रासबर्ग' नामक स्थान पर हुआ और मृत्यु सन् १८५६ ई० में हुई।

सन् १८४४ ई० में पेरिस-विश्वविद्यालय से, इन्होंने रसायन-शास्त्र में 'डाक्टरेट' की उपाधि प्राप्त की। सन् १८५२ ई० में इन्होंने सबसे पहले 'एसिड ऐन-हाइड्राइड' को तैयार किया। इसके पहले सन् १८३८ ई० में इन्होंने 'कार्बोनिक' यौगिकों की रेडिकल-थ्योरी को पुनर्जीवित करके रेसीडियुअल थ्योरी (Residual Theory) की स्थापना की।

कार्बोनिक रसायन के विकास में इनके अनुसन्धान बड़े महत्वपूर्ण थे।

गरीबदास (१)

पूर्वी पञ्जाब में 'गरीब-पन्थ' के प्रवर्तक। जिनका जन्म सन् १७१७ ई० में रोहतक जिले की झज्झर तहसील के 'छुड़ानी' नामक ग्राम में हुआ था और वहीं पर सन् १७७८ ई० में इनका देहान्त हो गया।

गरीबदास जाट जाति के थे। ऐसा कहा जाता है कि

सिर्फ १२ वर्ष की उम्र में स्वप्न में इन्हें कबीर साहब के दर्शन हुए और तभी से ये उनको अपना गुरु मानने लगे।

गरीबदास की बानी १६ अंगों में विभाजित है और उसमें साखियों, पदों, सवैया, रेखता, भूलना इत्यादि अनेक प्रकार के छन्दों में उनके भावों को बतलाया गया है। गरीबदास ने परमात्मा को सत्पुरुष का नाम दिया है। और उनका परिचय निराकार, निर्विशेष, निर्लेप और निर्गुण कहके दिया है और बतलाया है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, वह उससे भिन्न नहीं। भिन्नता का अनुभव केवल भ्रान्ति के कारण होता है। कहते हैं—

मर्म की बुरज सब सीत की कोट हैं।
अजब ख्याली रचा ख्याल है रे!
दास 'गरीब' वह अमर निज ब्रह्म है—
एक ही फूल-फल डाल है रे!

अपने सद्‌गुरु की प्रशंसा करते हुए वह कहते हैं—

ऐसा सत् गुरु हमें मिला, तेज पुंज का अंग।
झिलमिल नूर-जहूर है, रूप-रेख नहिं रङ्ग॥

गरीबदास (२)

सुप्रसिद्ध सन्त 'दादू दयाल' के पुत्र और शिष्य, जिनका जन्म सन् १५७५ ई० में हुआ।

२८ वर्ष की अवस्था में ये महात्मा दादूदयाल की गद्दी पर बैठे। ये एक महात्मा होने के साथ ही कुशल कवि, गायक और बीणाकार भी थे। इनकी प्रशंसा 'राघोदास' ने भी अपनी भक्तमाल में की है। इनकी स्मृति में 'नरेना' के अन्तर्गत एक 'गरीब-सागर' तालाब भी बना हुआ है। इनकी साखियों की संख्या २३ हजार बतलाई जाती है, मगर इस समय बहुत ही थोड़ी साखियाँ उपलब्ध हैं।

गरीबदास के समय में उनके पन्थ की विशेष तरक्की नहीं हुई। क्योंकि उनमें संगठन-शक्ति की कमी थी। जिसके कारण उनके पन्थ की प्रगति में शिथिलता आने लग गयी थी। यह देखकर उन्होंने पन्थ की गद्दी को छोड़ दिया और अपने छोटे भाई 'मिस्कीनदास' को अपना उत्तराधिकारी बना दिया।

सन् १६३६ ई० में इनका देहान्त हो गया।

गरुड़ पुराण

महर्षि वेदव्यास रचित १८ पुराणों में से १७ वां प्रसिद्ध पुराण, जिसको भगवान् विष्णु ने गरुड़ से कहा था।

इस पुराण में १९ हजार श्लोक हैं, और यह पूर्वखण्ड और उत्तर खण्ड (प्रेतकल्प) नामक दो विभागों में विभक्त है। पूर्वखण्ड में पुराणोपक्रम, सूर्यादि पूजनविधि, दीक्षा-विधि, नय-व्यूहार्चन विधि, वैष्णव पूजा-विधान, योगाध्याय-विष्णुसहस्र नाम कीर्तन, मृत्युञ्जय-पूजन, मालामंत्र, शिव पूजा, त्रैलोक्य-मोहन-श्रीधरार्चन, चक्रार्चन, देव-पूजा, सन्ध्योपास्ति, दुर्गार्चन, वास्तुकला, मूर्तिप्रतिष्ठा, अष्टांग योग दान-धर्म, प्रायश्चित-विधि, नरकों का वर्णन, सूर्य-व्यूह, ज्योतिष, सामुद्रिक, नवरत्न परीक्षा, तीर्थ-माहात्म्य, गया-माहात्म्य, मन्वन्तराख्यान, मित्राख्यान, श्राद्ध-कर्म, वर्ण-धर्म, ग्रहयज्ञ, विनायक-पूजा, आश्रम-वर्णन, प्रेताशौच, सूर्य और चन्द्र वंशों की वंशावलियां, अवतार-वर्णन, रामायण, हरिवंश, भारतोपाख्यान, आयुर्वेद-वर्णन तथा व्याकरण, छन्द, सदाचार, ज्ञानामृत, वेदान्त, सांख्य-सिद्धान्त और गीतासार का वर्णन किया हुआ है।

इस प्रकार इस विभाग में इतिहास धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, योग शास्त्र, ज्योतिष, सामुद्रिक, रत्नपरीक्षा इत्यादि सभी प्रकार के ज्ञानों का समावेश हो गया है।

उत्तरखण्ड अर्थात् प्रेतकल्प में धर्म की उत्पत्ति, जीव का नाना योनियों में भ्रमण का वर्णन, और्ध्वदैहिकदानादि का वर्णन, वृषोत्सर्ग, कर्म-विपाग, सप्तलोक और ब्रह्माण्ड की स्थिति, ब्रह्म, जीव और प्रलय-काल का वर्णन किया गया है।

गरोठ

मध्य प्रदेश के मन्दसौर जिले की एक तहसील। जो पहले इन्दौर-राज्य के रामपुरा-भानपुरा जिले में पड़ता था और इस जिले का प्रमुख स्थान था।

'गरोठ' पहले इन्दौर-राज्य में रामपुर, भानपुर जिले का एक प्रधान राजकीय केन्द्र था। १६ वीं शताब्दी में यह रामपुरा के चन्द्रावतों के अधिकार में था। उसके बाद यह जयपुर के अधिकार में गया और जयपुर से यह होल्कर के अधिकार में आया।

इस स्थान पर सन् १८०४ ई० में अंग्रेज सेनापति कर्नल 'मानसून' और 'यशवन्त राव' होल्कर के बीच में भयंकर लड़ाई हुई थी। जिसमें कर्नल मानसून को यशवन्त राव ने बुरी तरह से हराया था और 'हिंगलाज गढ़' का किला वापस ले लिया। इस लड़ाई में मानसून के सैकड़ों आदमी मारे गये और उसके सामान को लूट लिया गया।

मानसून के इस पराजय से यशवन्त राव की सैनिक कीर्ति बहुत बढ़ गयी थी। मगर उसके बाद दूसरी लड़ाई में यशवन्त राव की पराजय हो गयी और सन् १८११ ई० में भानपुरा स्थान पर उनका स्वर्गवास हो गया।

गरोठ के समीप ही 'चन्दवासा' नामक ग्राम में धर्म राजेश्वर का पहाड़ में 'खोदा हुआ' एक बहुत सुंदर मंदिर बना हुआ है जिसके सम्बंध में ऐसी किम्वदंती है कि यह मंदिर भीम के द्वारा बनाया हुआ है।

गलित-कुष्ठ (Leprorsy)

मानव-शरीर में लगनेवाली एक भयंकर व्याधि–जिसमें मनुष्य के शरीर का एक-एक अंग गलकर झड़ने लगता है। और उसका सारा शरीर पीबमय और बदबूदार हो जाता है।

मानवीय रोगों के इतिहास में जितनी भयंकर, गन्दी और दुःखदायी बीमारी गलित कुष्ठ की समझी जाती है उतनी दूसरी कोई भी नहीं। संसार के सब देशों में इस बीमारी के सम्बन्ध में अनेकों प्रकार के विश्वास प्रचलित हैं। इस बीमारी से ग्रसित व्यक्तियों को पूर्वजन्म का घोर पापी समझा जाता है और ऐसे लोग समाज से ही नही मानवीय सहानुभूति के दायरे से भी बाहर समझे जाते हैं।

प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से मालूम होता है कि ईसा के जन्म से करीब पन्द्रह सौ वर्ष पहले मिश्र से सारे कोढ़ियों को जलावतन कर दिये गये थे।

कई सदियों तक यूरोप में भी कोढ़ियो को शहरो में कदम रखने की मनाई थी। उन्हें काले चोगे पहन कर, लकड़ी से खट्-खट् की आवाज करते हुए चलना पड़ता था। ताकि लोग पहले ही से दूर हो जाय। दिन में शहर पनाह से बाहर एक टीले पर उनका भोजन रख दिया जाता था। जिसे उठाने के लिए वे केवल रात के समय जा सकते थे।

चीनी इतिहास में अठारहवीं सदी के एक मंडारिन अफसर का जिक्र मिलता है जिसने दावत के बहाने एक स्थान पर सब कोढियों को इकट्ठा कर उस मकान में आग लगवायी थी जिससे सब कोढ़ी वहीं पर जलकर राख हो गये। थोड़े लोग जिन्होंने भागने की कोशिश की वे सिपाहियों की गोलियों से भून दिये गये।

आजकल के युग में कोढ़ियों पर कोई अत्याचार तो नहीं होता। मगर इस रोग के सम्बन्ध में प्रचलित अन्ध विश्वास अब भी जारी है। इस समय संसार में कोढ़-ग्रस्त लोगों की सख्या एक करोड़ चालीस लाख है। दूसरे तमाम रोगों ने मिलकर इतने लोगों को अपंग नहीं बनाया जितने अकेले इस रोग ने।

कुष्ठ रोगियों की सेवा मे ईसाई मशीनरीयोंने बड़ा महत्व पूर्ण भाग अदा किया है।

भारत वर्ष में महात्मा गांधी ने भी इस रोग से पीड़ित रोगियों की सेवा के सम्बंध में बहुत दिलचस्पी ली। उन्होंने परचुरे शास्त्री नामक साबरमती आश्रम के एक सहयोगी को गलित कुष्ठ की बीमारी होजाने पर वर्धा में स्वयं अपने आश्रम में रक्खा, और स्वयं अपने हाथों से उनकी मालिश वगैरह उपचार करते थे।

इसी परम्परा में १ अगस्ट सन् १९५१ के दिन बाबा राघवदास ने गोरखपुर में कुष्ठ-सेवाश्रम की स्थापना की। यह संस्था तब से अभी तक कुष्ठ सेवा के क्षेत्र में अपना कार्य कर रही है।

लगभग इन्हीं दिनों सेवाग्राम वर्धा में डॉ० वाड़े करने 'गांधी-स्मारक कुष्ठ प्रतिष्ठान' के नाम से कुष्ठ रोगियों के लिए एक आश्रम की स्थापना की। इस प्रतिष्ठान ने कुष्ठ रोग की नवीन आविष्कृत दवा 'सल्फोन' की सहायता से कुष्ठसेवा के क्षेत्र मे नवीन सफलता प्राप्त की। अब कुछ खास तरह के छूत किस्म के कुष्ठ को छोड़कर शेष रोगियों को इस चिकित्सा के द्वारा बस्ती में रखकर ही रोग मुक्त कर दिया जाता हे।

सन् १९५८ में गांधी कुष्ठ प्रतिष्ठान द्वारा ईजाद इस प्रणाली की प्रशंसा टोकियो (जापान) मे हुई अन्तर्राष्ट्रीय कुष्ठ कांग्रेस में की गई। और वहां भी इस प्रणाली को अपनालिया गया। इसी से प्रभावित होकर जापान के एशियायी कुष्ठ

मिशन ने बीस लाख रुपये की लागत से आगरा में एक कुष्ठ केन्द्र की स्थापना की। इस केन्द्र में गांधी कुष्ठ-प्रतिष्ठान की प्रणाली पर ही कुष्ठ सेवा का कार्य चलाया जा रहा है। भारत सरकार भी कुष्ठ उन्मूलन के राष्ट्रीय कार्य-क्रम के अन्तर्गत कई राज्यों में अग्रगामी योजनाएं चला रही है। जिससे भारत के १५ लाख कुष्ठ रोगियों को राहत मिल सके।

डा० पालब्रेंड की कुष्ठ-सेवा

कुष्ठरोग की चिकित्सा के अन्तर्गत इंग्लैण्ड के डा० पालब्रेंड ने भारत के वेल्लोर अस्पताल में बड़ी सफलता प्राप्त की है। वे सन् १९४७ में वेल्लोर आये थे, अगले वर्ष उनकी पत्नी मार्गरेट भी आ पहुँची। मार्गरेट भी एक सर्जन महिला हैं।

पालब्रेंड और मार्गरेट आज के चिकित्सा जगत् के सबसे अनोखे दम्पतियों में है। पालब्रेंड ने हजारों कोढ़ियों को पुनः अपने हाथों का उपयोग करने के योग्य बनाया है और मार्गरेट जे हजारों कोढ़ियों को अन्धेपनके खतरे से उबारा है।

वैल्लोर में आते ही उन्होंने कोढ़ के सम्बंध में अपनी खोजें चालू कर दी। शीघ्र ही उन्हें मालूम हो गया कि अभी तक चिकित्सा जगत् में कोढ़ के सम्बन्ध में जो धारणाएं हैं वे सब पुरानी और मध्य युगीन हैं।

वैसे यह बात काफी समय से ज्ञात थी कि तपेदिक की तरह कोढ़ के भी कीटाणु होते हैं। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हेनरिक हेन्सन नामक चिकित्सा शास्त्री ने इस बात का पता लगाया था कि तपेदिक की तरह कोढ़ के कीटाणु भी गांठे उत्पन्न कर देते हैं जो मटर के दाने से लेकर बेर के बराबर होती हैं। और ये मुंह पर, गालों पर, हथेलियों पर, और पांवों पर निकलती हैं। और इन्हीं से ग्रसित अङ्ग गलना शुरु हो जाते हैं।

लेकिन कोढ़ आक्रांत कोशों के लम्बंध में अब तक बहुत कम अनुसंधान किये गये थे। क्या कुष्ठग्रस्त अवयवों के कोशों और स्वस्थ कोशों में कोई अन्तर होता है। क्या अवभवों के गलने में कुष्ठ के कीटाणु सीधे कारण बनते हैं। डा० ब्रैड की खोज से यह एक आश्चर्यजनक तथ्य सामने आया कि स्वस्थ कोश और कुष्ठ-आक्रान्त कोश में कोई अंतर नही होता। हां, इतना जरूर होता है कि कुष्ठ के कीटाणु स्नायुओं के सिरों को वेकार वना देते हैं जिससे वे संज्ञा-शून्य हो जाते हैं। लेकिन कोशों में कोई विकृति नहीं होती।

इस जानकारी के प्राप्त होने पर उन्होंने कोढ़ियों के हाथों की रक्षा के लिये विशेष दस्ताने बनाये और इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाने लगा कि घाव लगने पर तुरंत मरहम पट्टी करदी जाय। जिससे व्रण न बनने पावे।

इसका फल वड़ा चमत्कार पूर्ण हुआ। नये घावों की संख्या घट चली। कोढ़ियों की काम करने की शक्ति भी बढ़ी। और चिकित्सा को एक सही मार्ग मिल गया।

साथ ही डा० पालब्रैड ने अपनां मुख्यकाम अर्थात् हाथों का पुनर्निर्माण, सिकुड़ी हुई हड्डियों का सीधी करना और मांस खण्डों को सक्रिय वनाना जारी रक्खा।

कोढ की एक अति भयङ्कर और प्रसिद्ध निशानी हैं नाक का धंस जाना। खोज करते करते वे इस परिणाम पर पहुँचे कि कोढ़ के कीटाणुओं के प्रसर से नाक की श्लेष्मिक झिल्ली (म्यूकस मेम्ब्रेन) सिकुड़ जाती है और उस झिल्ली से जड़ी हुई नाक की कच्ची हड्डी भीतर खिचजाती है। वास्तव में नाक नष्ट नहीं होती, वह खोपड़ी में घुस जाती है। तब डा० पालब्रेड ने ऑपरेशन के द्वारा नाक को भीतर से ऊपर उठाने का प्रयोग प्रारम्भ किया। बड़ा कठिन प्रयोग था पर अब तो संसार के कई अस्पतालों में इस ऑपरेशन के द्वारा कोढ़ के रोगियों की नाक ठीक की जाने लगी है।

इसके वाद आंख का नम्बर आता है। कोढ़ जब बहुत बढ जाता है तब रोगी को अंधा भी कर देता है। लेकिन डॉ० पाल ब्रैड इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अंधापन कोढ़ का आनुषंगिक परिणाम है। उनकी यह धारणा हुई कि विटामिन "ए" की कमी से मोतियाबिंद होता है जो इलाज न होने पर रोगी को अंधा कर देता है। इसलिए उन्होंने कोढ़ियों के भोजन में विटामिन "ए" की मात्रा बढ़ा दी। जिससे मोतियाबिंद के नये केस होना कम हो गये। पुराने मोतियाबिंद वाले रोगियों का ऑपरेशन किया जाने लगा।

पालब्रैड की पत्नी सर्जन मार्गरेट मोतियाबिंद के ऑपरेशन में सिद्ध हस्त हैं। वे मोतियाबिंद के एक एक दिन में सौ सौ अपरेशन तक कर डालती हैं। जब कि यूरोप और अमेरिका में दिन भर में दस या बारह ऑपरेशन काफी समझे जाते हैं। लेकिन वैल्लोर सर्जनों के सामने हजारों रोगी

अंधे पन से त्राण पाने के लिये कतार बांध कर खड़े रहते हैं, इसलिये ऑपरेशन की ऐसी विधियाँ अपनायी गई हैं जिनके द्वारा जल्दी से जल्दी काम हो सके।

इस प्रकार डॉ० पालब्रेड और उनकी सर्जन पत्नी मार्गरेट दोनों हजारों कोढ़ियों के निराश जीवन में आशा का प्रकाश पैदा करने के उद्योग में अपना जीवन लगा रक्खा है।

(नारमन कजिंस—कादम्बिनी)

गवर्नर-जनरल

ब्रिटिश शासन के उपनिवेशों के अंतर्गत सम्राट् का प्रतिनिधित्व करने वाला एक उच्च स्तरीय पद जिसे गवर्नर-जनरल कहते थे।

ब्रिटिश-साम्राज्य का विस्तार जब संसार के दूसरे-दूसरे देशों में होने लगा। तो वहाँ की व्यवस्था करने के लिये विशेष विधान की रचना करनी पड़ी। शुरू-शुरू में 'ईस्ट-इण्डिया कम्पनी' ने बंगाल, मदरास तथा बंगाल में शासन-व्यवस्था के लिए गवर्नरों की नियुक्ति की। मगर जब शासन का विस्तार अधिक हो गया, तब उसकी व्यवस्था के लिये एक केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता महसूस हुई।

सन् १७७३ ई० में 'रेग्यूलेटिंग एक्ट' पास कर के इंग्लैंड की पार्लियामेंट ने इस केन्द्रीय शक्ति के लिये गवर्नर जनरल पद की व्यवस्था की और उसी वर्ष 'वारेन-हेस्टिंग्स, को पहला गवर्नर-जनरल बनाया गया। और उसकी सहायता के लिए एक कमेटी का संगठन किया गया। इसके बाद जो-जो कठिनाइयाँ सामने आती गयीं त्यों-त्यों इस एक्ट में सुधार करने के लिये सन् १७८१ ई० और सन् १७८६ ई० में नये एक्ट (कानून) बनाए गये।

सन् १८५८ ई० में महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणा के द्वारा भारतवर्ष का शासन अपने हाथ में ले लिया। उसके बाद गवर्नर-जनरल को 'वाइस राय' की उपाधि प्राप्त हुई और 'लार्ड कैनिंग' को भारत वर्ष का पहला वायस राय और गवर्नर-जनरल बनाया गया। अब गवर्नर-जनरल का पद भारत के शासक के रूप में और वायसराय का पद इङ्गलैंड के सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप को उद्-घोषित करता था।

सन् १९०९ ई, १९१९ और १९३५ ई० में पास किए गये भारतीय एक्टों के द्वारा सम्पूर्ण शासन का अधिकार गवर्नर-जनरल के हाथों में रखा गया था। इस प्रकार भारत का गवर्नर-जनरल एक ऐसी अनियंत्रित सर्वोच्च सत्ता का अधिकारी था, जो शायद रूस के जार के सिवाय और किसी को भी प्राप्त नहीं थी।

भारत वर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के आखिरी गवर्नर-जेनरल और वायसराय लार्ड माउंट बेटन थे।

गवालियर

वर्तमान में मध्य प्रदेश राज्य के गिर्द जिले का प्रधान शहर। उसके पहले मध्य भारत का एक प्रसिद्ध राज्य। इसके उत्तर में चम्बल नदी और आगरा, दक्षिण में विदिशा और भोपाल, पूर्व में झांसी जिला और बिन्ध्य प्रदेश और पश्चिम मे झालावाड़ और कोटा राज्य पड़ता था।

गवालियर का इतिहास बहुत प्राचीन है। इस नगरी ने प्रकृति के कई उत्थान और पतन तथा वैभव और नाश के दृश्य देखे है।

इस समय जिस शहर को गवालियर कहते हैं वह वस्तुतः तीन भागों में बटा हुआ है। जिसमें एक भाग को लश्कर कहते है जिसका निर्माण दौलत राव शिन्दे की फौजी छावनी के रूप में हुआ था। दूसरा भाग मुरार है जो अंगरेजों की सैनिक छावनी के रूप में प्रयोग किया गया था और तीसरा भाग प्राचीन गवालियर और उसका किला है जो अनेक ऐति-हासिक घटनाओं के साथ सम्बद्ध है।

गवालियर के किले का निर्माण कब हुआ इसके सम्बन्ध में कोई मजबूत ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्राचीन काल में खड्गराय नामक एक कवि हुआ है। उसने अपनी पुस्तक में गवालियर किले की स्थापना और उसके राजाओं की बंशावली का परिचय दिया है। मगर उसमें ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा कल्पनासम्भूत घटनाएँ अधिक दिखाई पड़ती हैं।

फिर भी इतना कहा जा सकता है इस प्रान्त का वास्तविक इतिहास कछवाहा और प्रतिहार राजवंश के समय से ही प्रारम्भ होता है। कछवाहों और प्रतिहारों के पहले इस क्षेत्र में गवालियर की अपेक्षा

विदिशा (भेलसा) का विशेष महत्व था. और गवालियर विदिशा के अन्तर्गत समझा जाता था।

खङ्गराय के कथनानुसार कछवाहा वंशी कुन्तलपुरी के राजा सूर्य्यसेन को कुष्ट रोग हो रहा था। एक दिन वे गोप गिरि (गवालियर का पुराना नाम गोपगिरि था) के जंगल में शिकार के लिए गये। यहां पर उन्हें जोर की प्यास लगी। पानी की तलाश में वे 'गवालिया' नामक एक साधुकी गुफा मे पहुँचे। उस साधु ने अपने कमण्डल में से ठण्डा जल निकाल कर उन्हें पिलाया। उस जल के पीते ही वे कुष्ट रोग से मुक्त हो गये। यह देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होने उस साधु से कुछ सेवा बतलाने की प्रार्थना थी। तब साधू ने कहा कि अगर तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो इस पास वाले तालाब को अधिक विस्तृत करवा कर यहाँ पर एक मजबूत दुर्ग बनवा दो। तब राजा ने वहां एक मजबूत दुर्ग का निर्माण करवाया और उस दुर्ग का नाम उन्ही महात्मा 'गवालिया' के नाम पर 'गवालियर' रखा। और उस तालाब का नाम राजा के नाम पर 'सूर्य्य-कुण्ड' रखा गया।

आठवी और नवीं सदी में जब कन्नोज पर परम प्रतापी प्रतिहार राजबंश का शासन स्थापित हुआ तो प्रतिहार राजा मिहिर भोज ने मालवा और गवालियर को भी जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था। मगर ऐसा मालुम होता है कि प्रतीहारों के जीतने के पहले भी गवालियर पर कछवाहों का अधिकार था। क्योकि मिहिरभोज के शिलालेखो से मालूम होता है कि उसने गवालियर का राज्य कछवाहों से छीना था। इससे खङ्गसेन कवि की यह बात भी सही हो जाती हैं कि ई० सन् २७५ में जिस सूर्य्यसेन ने गवालियर दुर्ग का निर्माण करवाया था वह भी कछवाहा था।

कछवाहा राजवंश

कछवाहा-राजवंश के कई शिलालेख इस समय उपलब्ध हैं। उनमें से दो विशेष महत्वपूर्ण हैं। एक गवालियर के सास बहू के मन्दिर से मिला है और दूसरा गवालियर से ७६ मील की दूरी पर दूभ कुण्ड के जैन मन्दिर से मिला हैं।

इन शिलालेखों से मालूम होता है कि कछवाहों का राज्य शुरु में गवालियर राज्य के नरवर नामक स्थान पर था जो प्राचीनकाल में 'निषध' देश के नाम से प्रसिद्ध था।

इस राजबंश में वज्र दामन नामक राजा हुआ जिसने कन्नोज के प्रतिहार राजा विजयपाल प्रतिहार को हराकर ई० सन् ९७७ के लगभग गवालियर में अपना राज्य स्थापित किया। इस शिलालेख में उसने अपने को 'महाराजा धिराज' लिखा है। इससे मालूम होता है कि उस समय वह स्वतंत्र रहा होगा। बाद में सम्भव है उसे बुंदेलखण्ड के चंदेलों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा होगा। क्योंकि अलबेरूनी ने अपने विवरण में गवालियर और कालीञ्जर के किलों पर चंदेलो के अधिकार होने की बात लिखी है। वज्रदामन का पुत्र मंगलराज और मंगलराज का पुत्र कीर्तिराज हुआ। कीर्तिराज के समय मे ही सन् १०२७ में महमूद गजनवी ने गवालियर पर आक्रमण किया मगर कीर्तिराज ने गजनवी को ३० हाथी भेंट करके सुलह कर ली।

कीर्तिराज के पश्चात् क्रम से मूलदेव, देवपाल, पद्मपाल, और महीपाल गवालियर की गद्दी पर बैठे। मूलदेव का दूसरा नाम त्रैलोक्य मल और देवपाल का दूसरा नाम अपराजित था।

गवालियर के किले में जो सास बहू का सुंदर मंदिर बना हुआ है वह इसी देवपाल के पुत्र पद्मपाल ने बनवाना प्रारंभ किया और उसके पुत्र महिपाल ने जिसका नाम भुवनैक मल्ल भी था इस मंदिर को पूरा करवाया और सारा वृतांत शिलालेख में खुदवा कर उस मंदिर में लगा दिया। यह मंदिर भगवान विष्णु का है और सन् ११०८ में इसका निर्माण पूरा हुआ।

गवालियर गजेटियर मे यह भी उल्लेख है कि सन् ११२९ में कन्नोज के प्रतिहारों ने यह किला कछवाहों से छीन लिया। मगर प्रतिहार राजा मिहिरभोज के शिलालेख से तो यह पता लगता है कि उसनें नवीं शताब्दी में ही गवालियर का किला कछवाहों से छीन लिया था और उसके बाद कछवाहा राजा वज्रदामन ने वापस उसे प्रतिहारों से छीना था। सन् ११२९ तक तो कन्नोज का प्रतीहार राजवंश एक प्रकार समाप्त ही हो गया था और कन्नोज पर गहरवालों का झण्डा फहरानेलगा था। यह हो सकता है कि प्रतिहारों की किसी दूसरी शाखा ने इसे कछवाहों से छीन लिया हो।

इस लिए सन् ११९६ में जब मुहम्मद गोरी का गवालियर पर आक्रमण हुआ उस समय गवालियर पर राज्य करने

वाला 'सोलंख' नामक राजा कछवाहा या प्रतिहार बंश का होना चाहिए।

जो हो, मुहम्मद गौरी के आक्रमण के पश्चात् यह किला कुतुबुद्दीन ऐबक के हाथ में चला गया।

इसके पश्चात् सन् १३९८ तक गह किला मुसलयानों के अधिकार में रहा। वादमें तैमूर के आक्रमण के समय इस किले पर तोमर राजवंश के राजा बीरसिंह देव ने अधिकार कर लिया।

तोमर–राजवंश

वीरसिंह देव के पश्चात् तोमर राजवंश में वीरमदेव, ढोलासहाय, गणपति देव और डूंगर सिंह राजा हुए। इस समय में तोमर राजवंश का प्रताप वहुत बढ़ गया था। राजा डूंगर सिंह ने ३० वर्ष राज्य किया। इनके समय मे यहाँ पर वास्तु कला का वहुत विकास हुआ। डूंगर सिंह ने गवालियर किले के भीतर उसकी दीवारों पर कई विशाल जिनमूर्तियों की खुदाई करवाई थी। यहाँ पर बनी हुई आदि नाथ की प्रतिमा जो लगभग ५० फुट ऊंची है मूर्ति निर्माण का यह कार्य्य करीव ३३ वर्षों मे पुरा हुआ। डूंगर सिंह के पुत्र कीर्ति सिंह ने इसे पूरा किया। डूंगर सिंह के बाद उनके पुत्र कीर्ति सिंह या किरण राय, उनके बाद कल्याण मल राजा हुए।

डूंगर सिंह का जैन धर्म पर वड़ा विश्वास था और इन्होने कई जैन कलाकृतियों का निर्माण करवाया।

सन् १४८६ में कल्याण मल के पुत्र मानसिंह ने गवालियर का शासनभार सम्हाला। राजा मान सिंह गवालियर के इतिहास मे बड़े प्रतापी हुए। इनके समय में गवालियर राज्य अपने वैभव की चरम सीमापर था और यह नगर इन्हीं के समय में संगीतकला का प्रसिद्ध केन्द्र बना।

मृगनयनी

कहा जाता है कि एक दिन शिकार पर जाते हुए मानसिंह ने अनुपम सुन्दरी गूजर कन्या मृगनयनी को देखा और उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर वे उस पर मुग्ध हो गये और उसके सामने उन्होंने विवाह का प्रस्ताव रक्खा। मृगनयनी ने उत्तर दिया कि महाराज! पहले मेरे लिए एक महल वनवाइये और मेरे गाँव के पास जो नदी निकलती है उसके पानी को उस महल में पहुंचाने का प्रवन्ध करें, तब मैं आपकी रानी बनूंगी।' महाराज मानसिंह ने तब उसके लिए एक महल बनवाया जो आज भी "गूजरी महल" के नाम से प्रसिद्ध है।

रानी होने के बाद मृगनयनी ने गवालियर में संगीत का सुप्रसिद्ध विद्यालय स्थापित किया। जो सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध हुआ। तभी से गवालियर संगीत विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र हो गया। अबुल फजल ने अपने आईने अकबरी नामक ग्रंथ में भारत के छत्तीस कीर्त्तिवान संगीत कलाकारों के नाम गिनाये हैं। उनमें से पन्द्रह ने गवालियर के संगीत विद्यालय में शिक्षा ग्रहण की थी। सुप्रसिद्ध संगीतकार तानसेन भी इसी विद्यालय के स्नातक थे। तभी से संगीत कला में "गवालियर स्कूल" प्रसिद्ध हुआ जो अभी तक प्रसिद्ध है।

तोमर राजाओं के समय मे गवालियर की बहुत उन्नति हुई। खेती की उन्नति के लिए उन्होने कई तलावों का निर्माण करवाया। वास्तुकला और शिल्पशास्त्र के भी वे बड़े शौकीन थे। गवालियर के किले में उन्होंने मान मन्दिर नामक एक सुन्दर पत्थर के महल का निर्माण करवाया। जिसके शिल्प नैपुण्य की प्रशंसा मुगलसम्राट् बावर और अबुल फजल ने मुक्त कण्ठ से की है। इतिहासकार फजल अली ने लिखा है कि "मान सिंह के समान राजा बिरले ही होते हैं। उनके समय में गवालियर वासी उन्नति के शिखर पर पहुच गये थे।"

सन् १५२५ में तोमर राजवंश का अन्त हुआ और उसके वाद यह किला इब्राहीम लोदी को अधिकार में और उसके बाद मुगल वादशाहों के अधिकार मे गया।

मुगल वादशाहों के समय में गवालियर का किला शाही कारागार वना दिया गया। मुगलसम्राट् जिस राजा या अफसर को खतरनाक समझते उसे इस किले में भेज देते थे। बड़े-बड़े प्रसिद्ध लोग यहाँ पर कैदी वनाकर रक्खे गये। औरंगजेब ने अपने भाई मुराद को भी कैद करके यही पर रक्खा था। जो भी इस किले में आया वह जीतेजी वापस नही लौटा। सिर्फ सिक्खों के गुरु हरगोविन्द सिंह ही ऐसे थे जो इस किले से जीवित वापस लौटे।

शिन्दे-राजवंश

मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख होने पर यह किला मराठों के हाथ मे आया। राणोजी सबसे पहले शिन्दे सरदार थे जो इस स्थान पर आये मगर उन्होंने अपनी राजधानी उज्जैन में वनाई। उसके वाद महादजी शिन्दे ने पानीपत के युद्ध के पश्चात् मध्यभारत में अपनी सत्ता जमाने के उद्देश्य से गवालियर पर अधिकार किया। सन् १७७७ ई० मे पेशवा ने गवालियर शिंदे परिवार को सौंप दिया।

सन् १७९४ में दौलतराव शिन्दे गवालियर की गद्दी पर आये।

दौलतराव शिंदे एक वीर और कुशल सेना संचालक थे मगर इनकी राजनैतिक बुद्धि बहुत अस्थिर थी। इन्होने अपनी सेना को फरासीसी सेनाध्यक्षों के द्वारा सुशिक्षित करवाया था और अगर ये होलकर तथा दूसरी मराठा शक्तियों को संगठित करके अंग्रेजों को विरुद्ध संयुक्तमोर्चा बनाते तो निश्चय इन्हें सफलता प्राप्त होती। मगर इन्होंने कभी होलकरके विरुद्ध अंगरेजों की और कभी अंगरेजों के विरुद्ध होलकर की मदद करके अपने पक्ष को बहुत कमजोर कर लिया। परिणामस्वरूप अंगरेज सेनापति आर्थर वेलेस्ली ने और उसके बाद जनरल लेक ने इनकी सेनाओं को बुरी तरह से परास्त किया। इसके बाद और भी कई लड़ाइयाँ हुई। जिनके कारण असीरगढ़ का किला और हिंदीया का किला इनके हाथ से निकल गया और इन्हें अंगरेजों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। सन् १८२७ में दौलतराव की मृत्यु हो गई। दौलतराव के बाद जनकोजी और उनके बाद जयाजी राव (बाजीराव) गवालियर की गद्दी पर बैठे।

सन् १८५७ में सिपाही-विद्रोह के समय एकबार फिर गवालियर सामने आया। सिपाही विद्रोह के समय गवालियर की सेनाओं ने भी अंगरेजों के विरुद्ध बगावत कर दी और सन् १८५८ में जब तांतिया टोपे वहाँ पहुँचे तो सेनाओं ने बलपूर्वक बाजीराव को गद्दी से हटा दिया। तब बाजीराव और उनके मंत्री दिनकर राव वहाँ से भाग कर आगरा चले गये। मगर सन् १८५८ में अंगरेज सेनापति सर ह्यूरोज ने गवालियर पर फिर से अधिकारकर जयाजीराव या बाजीराव को फिर गवालियर की गद्दीपर प्रतिष्ठित किया और उनकी राज्य भक्ति से खुश होकर उन्हे दत्तक लेने का अधिकार और K. G. C. B. तथा K. G. C. S. I. की उपाधियाँ प्रदान की।

सन् १८८६ में जयाजी राव का स्वर्गबास होने पर महाराज माधवराव शिंदे गद्दीपर आये। सन् १८९४ में इन्हें राजकीय अधिकार प्राप्त हुए।

महाराज माधवराव शिंदे एक कुशल और अनुभवी, शासक थे। गवालियर पर इन्होंने एक लम्बे समय तक शासन किया। और रियासत की उन्नति के लिए तथा कृषि की उन्नति के लिए अनेक प्रयत्न किये। इन्होंने 'दरबार-पॉलिसी' के नाम से एक ग्रंथ का कई भागों में निर्माण किया था। जिसमें शासन के तरीकों और प्रजा की उन्नति के उपायों का बड़ा विशद विवेचन है। कोई भी प्रजाजन अपनी शिकायतों के लिए इनसे मिल सकता था और लिखकर देने पर भी ये तत्काल उसकी जाँच करते थे।

महाराजा माधवराव की स्मृतियों में अमर स्मृति उनके द्वारा निर्माण किया हुआ "शिवपुरी" का शहर है। इस शहर को अनेक सरोवरोंके निर्माण द्वारा इन्होंने अत्यंत सुंदर बना दिया है। महाराजा माधवराव के समय मे.ही गवालियर लाइट रेलवे का निर्माण हुआ। जो गवालियर शहर को भिण्ड, शिवपुरी इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण स्थानों से जोड़ती है।

माधवराव के पश्चात् उनके पुत्र जयाजी राव गवालियर की गद्दी पर बैठे। इन्हीं के समय में गवालियर का मध्य भारत में विलीनीकरण हुआ।

गवालियर का क़िला और दर्शनीय स्थान

गवालियर का किला अपनी मजबूती, सामरिक महत्व तथा ऐतिहासिक और पुरातत्व की दृष्टि से भारतवर्ष के सब दुर्गों में बेजोड़ है। वैसे कालिञ्जर, असीरगढ़ और अजयगढ़ के दुर्ग भी अभेद्य गिने जाते हैं। किंतु उन किलों में ज्यादा दिन तक घेरा रहने से पानी का अभाव हो जाता है, मगर गवालियर के दुर्ग में पानी का अभाव नहीं होता। यह किला उत्तर से दक्षिण एक मील छः फर्लाङ्ग लम्बा ३०० फुट ऊँचा और ६०० से २८०० फुट तक चोड़ी बालूका पत्थर की पहाड़ी पर बना हुआ है।

गवालियर के इस किले में विभिन्न कालों के बने हुए छह महल, आठ तालाब और छः ऐतिहासिक मंदिर है। ये इमारतें मध्यभारत में अलग-अलग काल की कलाओं के मिश्रण का उदाहरण पेश करती हैं।

(१) तेली का मंदिर जिसका पुराना नाम तैलंगना मंदिर था आर्य्य और द्राविड़ शैलियों के समिश्रण से बना हुआ है।

(२) सास-बहू का मंदिर राजपूत स्थापत्य कला का एक बहुत सुंदर नमूना है।

(३) पहाड़ी से नीचे उतरने पर गवालियर की

जामा मसजिद और मुहम्मद गौस का मकबरा मुगल भवन-निर्माण कला का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(४) मान मंदिर—मगर गवालियर किले की सबसे बढ़िया शान राजा मानसिंह के द्वारा निर्मित मान-मंदिर में दिखलाई पड़ती है। जिसमें भारतीय वास्तुकला का चरम विकास देखने को मिलता है। सम्राट् बाबर और अबुलफजल जैसे व्यक्ति ने इसकी कारीगरी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी।

(५) गूजरी महल मानसिंह की गूजरी रानी मृगमयनी के लिए बना हुआ महल। यह भी प्राचीन भारतीय वस्तुकला का सुन्दर नमूना है।

गवालियर दुर्ग में प्रवेश करने के लिए छह विशाल तोरण द्वारों को पार करके जाना पड़ता हैं। दुर्ग के सबसे नीचे के फाटक का नाम आलम गिरि है जिसका निर्माण सन् १६६० में औरङ्गजेब के सेनापति मोतमिद खाँ ने बादशाह के नाम पर करवाया था।

राजा कल्याणमल के भाई बादल राय ने बादल द्वार के नाम से दूसरा द्वार बनवाया जो बाद में हिन्दोलपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तीसरा भैरों द्वार किसी कछवाहा राजा भैरोंसिंह ने बनवाया था जो बाद में बांसोरपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

चौथा गणेशपुर द्वार सन् १४२४ से १४५४ के बीच राजा डूंगरसिंहने बनवाया था। इस द्वारके बाहर एक तालाब बना हुआ है। इसके अन्दर गुवालिया सिद्ध का मन्दिर था। जो बाद में मसजिद बना दी गई।

पांचवां लक्ष्मणपुर द्वार कछवाहा राजा वज्रदामन ने अपने पिता लक्ष्मण की स्मृति में बनवाया था।

छठा हथियापुर द्वार का निर्माण राजा मानसिंह ने करवाया था। इस द्वार पर हाथी की एक विशाल मूर्ति बनी हुई थी जिस पर राजा मानसिंह बैठे थे। इस हस्ती मूर्ति के कारण इस द्वार का नाम हथियापुर पड़ा। इस मूर्ति को शायद मोतमिद खाँ ने तुड़वा दिया।

गवालियर नगर की वर्त्तमान आबादी लश्कर और मुरार समेत ३५००८७ है। राज्य पुनर्गठन आयोग ने सन् १९५६ में इस प्रदेश का एक जिला बना दिया इस जिले का नाम 'गिर्द' रखा गया।

गलेशियस

रोमन चर्च के एक विशप जो बाद में पोप प्रथम गलेशियस के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका समय ई० सन् ५०२ के आसपास था।

उस समय रोम के पश्चिमीय साम्राज्य की स्थिति बड़ी छिन्न भिन्न हो रही थी। सन् ४४७ का वर्ष रोमन साम्राज्य के पतन का वर्ष समझा जाता है। इसी वर्ष गाथ जाति का सरदार ओडेसर पश्चिमी रोम सम्राट् को गद्दी से हटाकर पूर्वी रोम-सम्राट् के नाममात्र के संरक्षण में वहां का शासन करने लग गया था। चारों ओर अराजकता के दृश्य थे। ऐसे समय में रोमन चर्च की धर्म संस्था ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया।

इसके पहले ही पूर्वीय रोम के तृतीय वैलेण्टाइन सम्राट् ने सन् ४४५ में एक आदेश के द्वारा रोमन चर्च के विशप को सर्वोपरि धर्म्माचार्य्य घोषित कर दिया था और दूसरे सब चर्चों के धर्माचार्य्यों को उसके कानून और आज्ञाओं को मानने के लिये बाध्य कर दिया था।

सन् ५०२ में पहली बार रोम में चर्च की एक सभा ने बैठकर यह निश्चय किया कि चर्च के सम्बन्ध में दिये हुए ओडेसर सम्राट् के कुछ आदेश अवैध और अमान्य हैं। क्योंकि किसी राजकीय अधिकारी को धर्म के मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

रोम के विशप ने जो बाद में पोप गलेशियस प्रथम के नाम से प्रसिद्ध हुआ, बतलाया कि "ईश्वर ने संसार में अधिकार की दो तलवारें दी हैं। एक राजा के हाथ में, दूसरी पोप के हाथ में, एक धर्म के हाथ में, दूसरी राज्य के हाथ में। मगर इन दोनों में राज्य के अधिकार से धर्म का अधिकार अधिक है। क्योकि धर्माचार्य्य ईश्वर के सम्मुख सम्राट् के कार्यों का भी उत्तरदायी है। जब धर्म और राष्ट्र में झगड़ा हो तब धर्माधिकारी का फैसला ही सर्वोपरि समझा जावेगा।

इस प्रकार पोप गलेशियस प्रथम के समय में रोमनचर्च की सत्ता का विस्तार हुआ। और यह संस्था राज्य संस्था से भी उच्च मानी जाने लगी।

गहड़वाल-राजवंश

कन्नोज और बनारस का एक सुप्रसिद्ध और प्रतापी राजवंश जिसने ई० सन् १०८० ई० से सन् ११९४ ई० तक राज्य किया।

गाहड़वाल-राजवंश राष्ट्रकूटों की एक उपशाखा मानी जाती है। किन्तु यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त हैं। इतिहासकार 'हॉर्नल' ने इण्डियन ऐंटीक्वायरी जिल्द १-१४ में इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा है—

"गहड़वालों के राठौर होने के सम्बन्ध में दो-तीन कारणों से सन्देह उत्पन्न होता है। पहला कारण यह है कि गहड़वालों का गोत्र काश्यप है और राठौरों का गोत्र गौतम है। दूसरा कारण यह है कि इन दोनों कुलों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होते हैं और तीसरा कारण यह है कि दूसरे राजपूत, गहड़वालों को शुद्ध कुल का नहीं मानते। इन कारणों से गहड़वालों के राठौर होने में शङ्का उत्पन्न होती हैं।"

इसके विपरीत जोधपुर के राठौर अपने को कन्नोज के गहड़वालों का वंशज बतलाते है। उनकी धारणा के अनुसार राठौरों का मूल पुरुष 'सीहाजी' जो कि पहले-पहल मारवाड़ में आया, जयचन्द के भाई का पौता था। दूसरी बात यह है कि जोधपुर के राठौर अपने को सूर्यवंशी बतलाते हैं और गहड़वालों के राजबंश की स्थापना करने वाले 'चन्द्रदेव' के पुराने शिला लेख में भी गाहड़वालों को सूर्यबंशी बतलाया गया है।

इसलिए जोधपुर के राठौरों की कथाओं के आधार पर बहुत से इतिहासकार कन्नोज के गहड़वालों और जोधपुर के राठौरों को एक ही वंश का मानते है। साथ ही दक्षिण भारत मे राज्य करने वाले राष्ट्रकूटों से कन्नोज और जोधपुर के राठौरों को भिन्न मानते है। क्यों कि दक्षिण के राष्ट्रकूटों के शिलालेखों मे उन्होने अपने को 'सात्यकि' के वंश में उत्पन्न चन्द्रवंशी क्षत्रिय लिखा है। जब कि जोधपुर के राठौर और कन्नोज के गहड़वाल अपने को सूर्यबंशी मानते हैं। फिर भी कुछ प्रमाण ऐसे हैं जिनसे मालूम पड़ता है कि गाहड़वाल लोग दक्षिण से ही उत्तर में आये। जोधपुरवालों की धारणा है कि राठौरों के कुल देवी की मूर्ति जोधपुर का एक राजा दक्षिण से लाया था। उस देवी का नाम 'नागनेची' है। यह शब्द भी मराठी भाषा का है।

एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि नयचन्द सूरि ने जयचन्द की जीवनी पर 'रम्भा-मञ्जरी' नाम की जो नाटिका लिखी वह नाटिका प्राकृत-मराठी में लिखी हुई है। और इसके अन्दर एक पद्य मराठी-भाषा में भी है। इससे अनुमान होता है कि नयचन्दसूरि दक्षिण के जैनाचार्य रहे होंगे। और जयचन्द के दरबार में और भी दक्षिण के कवि रहे होंगे। और दक्षिण से इस बंश का सम्बन्ध रहा होगा।

इन सब अनुमानों के आधार पर कई इतिहासकार दक्षिण के राष्ट्रकूटों और उत्तर के गाहड़वालों को एक ही वृक्ष की दो शाखा समझते हैं।

जो भी हो इस वंश के मिले हुए शिलालेखों से मालूम होता है कि 'महियल' गाहड़वाल के पुत्र चन्द्रदेव ने अपने बाहुबल से कान्यकुब्ज का राज्य प्राप्त किया और नरपति, गजपति और त्रिशंकुपति को जीतकर पाञ्चालराज को पराजित किया। इस लेख का समय सन् १०९३ ई० से १०९९ ई० तक हैं।

इस प्रकार चन्द्र ने कन्नोज का राज्य हस्तगत कर देश को तुर्कों के त्रास से मुक्त किया। और एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना कर काशी, कान्यकुब्ज, उत्तर कोशल तथा इन्द्रस्थान को अपने अधीन कर लिया। उसने तुर्कों से हिन्दू-तीर्थों की रक्षा करके उनको दिया जानेवाला 'तुरुष्क-दण्ड' बन्द कर दिया। उसने विद्वान् ब्राह्मणों को कई तुला दान दिये।

मतलब यह कि चन्द्रदेव केवल एक महान् विजेता ही नहीं था, वरन् अत्यन्त धर्मनिष्ठ हिन्दू भी था। और उसकी कन्नोज-विजय को देश को मुसलमानों के त्रास से मुक्त करने के लिए हिन्दुओं का प्रबल धार्मिक प्रयत्न ही मानना चाहिए। उसने कन्नोज को जीत कर तथा वहाँ सुदृढ़ राज्य की स्थापना कर हिन्दू राज्य की नीव ऐसी मजबूत कर दी कि हिंदू-भारत की आयु सौ वर्ष अधिक बढ़ गयी।

चंद्रदेव कीं मृत्यु सन् ११०३ ई० में हुई। उसके पश्चात् उसका पुत्र मदनपाल गद्दी पर आरूढ़ हुआ। इसके समय मे मसूद गजनवी ने कन्नोज पर आक्रमण करके उसे लूटा।

मदनचंद्र के बाद उसका पुत्र गोविंदचंद्र गद्दी पर बैठा। यह गहड़वाल राजवंश का सबसे प्रतापी राजा था। इसने सन् १११४ ई० से सन् ११५५ ई० तक राज्य किया। इसके समय के शिलालेखों में लिखा गया है कि—इसने नव स्थापित

राज्य को अपने वाहुबल से इस प्रकार स्थिर कर दिया मानो रस्सों से जकड़ दिया हो।'

मतलब यह कि गोविंदचंद्र ने अपना राज्य चारों दिशाओं मे फैलाया और वङ्ग, आंध्र तथा चेदि के राज्य की सीमाओं को बहुत संकुचित कर 'नरपति, हयपति, गजपति, राज्य विजेता' का विरुद उसने पहले पहल ग्रहण किया। बनारस के आस-पास के कई गांव उसने दान दिये। और ये सब दानपत्र बनारस से जारी किये गये थे। बनारस के पास एक स्थान पर २१ ताम्रलेख इकट्ठे मिले हैं। उनमें १४ गोविंदचंद्र के हैं। इनका समय सन् १११४ ई० से लेकर सन् ११५४ ई० तक है। इन्हें कील-हार्न ने 'एपी ग्राफिक इंडिया' जिल्द ४ में छपाया था।

इन लेखों से यह भी मालूम होता है कि गोविन्दचन्द्र ने बनारस में भी अपनी राजधानी स्थापित की थी। मुसलमानी इतिहासकारों ने इन्हें बनारस का राजा लिखा है। इससे कई इतिहासकारों का यह अनुमान हैं कि गहरवाल राजाओं की प्रधान राजधानी बनारस में ही रही होगी।

गोविन्दचंद्र को एक ओर पूर्व में गौड़ राजाओं से और दूसरी ओर पश्चिम में लाहौर के मुसलमानों से युद्ध करने पड़े। गोविंदचंद्र की युवराज-अवस्था के दान-पत्र में मुसलमानों के साथ हुए इस युद्ध का सरल और अतिशयोक्ति-रहित वर्णन है। लिखा है—

"गौड़-राज्य के दुर्निवार हाथियों के गण्डस्थलों को फोड़ने के कारण भयङ्कर दिखाई देने वाले तथा अपने असम युद्ध के द्वारा 'हम्मीद' को शत्रुता-त्याग के लिए विवश कर देने वाले गोविंदचंद्र ने अपने सदा घूमते रहने वाले घोड़ों की टापरूपी राजमुद्रा से अंकित पृथ्वी का राज्य सम्पादित किया।"

इस लेख से ऐसा मालूम होता है कि गोविंदचंद्र के पास घुड़सवारों की एक बहुत बड़ी सेना रहती थी और उसी सेना के बल पर उसने लाहौर के मुसलमानों (हमीद) और वङ्गाल के राजाओं को पराजित किया।

गोविंदचंद्र एक कुशल विजेता होने के साथ सुघड़ राजनीतिज्ञ भी था। बङ्गाल के पाल-राजाओं की कन्या कुमारदेवी से विवाह कर उसने कुछ समय के लिए पाल-राजाओं के साथ होने वाले विग्रह को शान्त कर दिया। इसी प्रकार चेदि, चन्देल, चोल और कश्मीर के राजाओं से भी उसने धीरे-धीरे मैत्री-सम्बन्ध कायम किये।

राजनीतिज्ञ और कुशल सेनापति होने के साथ-साथ गोविंदचंद्र विद्वान् भी था और अपने दरबार में विद्वानों को खुले दिल से सम्मान और आश्रय भी देता था। कहा जाता है कि उसके युद्ध-सचिव लक्ष्मीधर ने धर्मशास्त्र और व्यवहार विधि पर 'व्यवहार-कलाद्रुम' नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की थी। सन् ११५४ ई० में गोविंदचंद्र की मृत्यु हुई।

गोविंदचंद्र के बाद उसका पुत्र विजयचंद्र उसकी गद्दी पर बैठा। यह भी एक शक्तिशाली और योग्य राजा था। सन् ११६८ ई० के उसके लेख में मुशलमानों के साथ किये गये इसके युद्ध का वर्णन है, जिसमें इसने मुसलमानों को गहरी हार दी।

विजयचंद्र के पश्चात् उसका पुत्र जयचंद्र ३ जून सन् ११७० ई० को गद्दी पर बैठा। राजा जयचंद्र भी एक प्रतापी राजा था। मगर अजमेर के चौहानों से उसके सम्बन्ध शुरू से ही बिगड़ गये और 'चन्द' के पृथ्वीराज रासो के अनुसार पृथ्वीराज चौहान जयचन्द्र की पुत्री 'संयोगिता' को स्वयंबर-सभा के बीच से जबर्दस्ती हर कर ले गया। इसी प्रकार दिल्ली के सिंहासन के लिए कन्नौज के गहड़वालों और अजमेर के चौहानों की प्रतिस्पर्धा चलती रही। जिसके फलस्वरूप ऐसा कहा जाता है कि 'जयचन्द' 'मुहम्मदगोरी' को पृथ्वीराज के विरुद्ध उभाड़ कर लाया। पहले युद्ध में तो पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को पराजित कर दिया, मगर दूसरे युद्ध में पृथ्वीराज मारा गया और उसके एक साल बाद ही सन् ११९३ ई० में गोरी ने कन्नोज पर भी आक्रमण कर दिया और उस भयङ्कर युद्ध मे जयचन्द अपने हाथी के समेत गङ्गाजी मे डूब कर मर गया। और इस प्रकार इस प्रसिद्ध राजवंश का अन्त हो गया। और जयचन्द के वंशज भाग कर मारवाड़ चले गये। और वहां उन्होंने राठौर वंश की स्थापना की।

ग्रंथ साहिब (आदि ग्रन्थ)

सिक्खों का अत्यन्त पूज्य और धार्मिक महान् आदिग्रंथ। जिसमें सिक्ख मत के संस्थापक गुरु नानक देवने समय-समय पर जो अनेक पदों और साखियों की रचना की थी, उनके साथ दूसरे सिख-गुरुओ की रचनाएँ और उनके अतिरिक्त

कबीर साहब, नामदेव इत्यादि अनेक महान् पुरुषों की रचनाओं को मिलाकर गुरु अर्जुनदेव ने एक विशाल ग्रन्थ का निर्माण किया, जिसको गुरु ग्रन्थ-साहिब कहते हैं।

इस ग्रन्थ के लिए अर्जुनदेव ने अपने गुरुओं की असली रचनाओं का संग्रह करवाया। इसके उपरान्त उन्होंने भिन्न-भिन्न मतों के भक्तों के अनुयायियों को आमन्त्रित करके उनसे अपने-अपने श्रेष्ठ भजनों को चुनवाया, तथा उनमें से अपने संग्रह में उन पदों को स्थान दिया जो सिद्धान्त की दृष्टि से अपने गुरुओं की रचनाओं से मेल खाते थे।

पदों का चुनाव समाप्त हो जाने पर गुरु अर्जुनदेव ने सन् १६०४ ई० के भादों महीने की प्रतिपदा को इसे सम्पूर्ण करवा कर 'भाई बुड्ढा' के संरक्षण मे अर्पित कर दिया।

आदिग्रन्थ में ६२ पद सन्त नामदेव के रचे हुए है और करीब सवा दो सौ पद और ढाई सौ सलोक या साखियाँ कबीर साहब की बनाई हुई हैं। इसके अतिरिक्त सूफी सन्त शेख फरीद, धन्ना भगत इत्यादि और भी कई सन्तों की साखियों को इसमें संग्रह किया गया है। इस महान् ग्रंथ में सिक्ख सम्प्रदाय के आचार-विचार, रहन-सहन और धर्म-सिद्धांतों का पदों और साखियों के द्वारा बड़ा विशद विवेचन किया गया है। सिक्ख समाजमें यह ग्रंथ वेदोंकी तरह पूजनीय है और प्रायः सभी गुरुद्वारों में पूज्य आदिग्रंथ की तरह रखा जाता है।

ग्रहण (सूर्य्य-चन्द्र ग्रहण)

चन्द्र और सूर्य्य को गणित ज्योतिष के द्वारा निर्द्धारित किसी विशेष पूर्णिमा या अमावस्या को लगने वाला ग्रहण। यह ग्रहण चन्द्रमा को पूर्णिमा की रात्रि में और सूर्य्य को अमावस्या के दिनमें लगा करता है।

भारत की पौराणिक परम्परा के अनुसार जिस समय समुद्र मन्थन के पश्चात् अमृत प्राप्त हुआ और वह सब देवताओं को पिलाया गया, उस समय राहु नामक एक असुर ने भी देवता का रूपग्रहण करके उस अमृत को पी लिया। सूर्य्य और चंद्रमा ने असुर को पहचान कर उसका भेद बतला दिया। जब विष्णु को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने चक्र सुदर्शन का प्रहार करके उस असुर का सिर धड़ से उड़ा दिया। मगर अमृतपान से अमरत्व प्राप्त हो जाने के कारण सिर से धड़ अलग होजाने पर भी वह असुर मरा नहीं और उसका सिर राहु के नाम से और धड़ केतु के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही दोनों अशुभ ग्रहों के रूप में ग्रहों की गणना में आये।

यही राहू और केतु सूर्य्य और चंद्रमा के दुश्मन कहे जाते हैं और समय समय पर सूर्य्य और चंद्रमा को ग्रसते रहते हैं। जिस समय राहु के द्वारा सूर्य पर आक्रमण होता है उसी समय सूर्य ग्रहण और चंद्रमा पर आक्रमण होने पर चन्द्र ग्रहण होता है। सूर्य्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण के इस कथानक के कारण ग्रहण के समय सारा हिन्दू समाज सूतक का पालन करता है। भजन, कीर्त्तन होते हैं। और मुक्ति होने पर लाखों मनुष्य बड़े बड़े तीर्थ स्थानों में स्नान करके उस सूतक से शुद्धि प्राप्त करते हैं।

मगर आधुनिक विज्ञान ने इन सारी पौराणिक परम्पराओं को असत्य साबित करके बतलाया है कि जब चन्द्रमा सूर्य और पृथ्वी के बीच में आ जाता है तब चन्द्रमा की छाया सूर्य पर पड़ने से पृथ्वी पर सूर्य ग्रहण दिखलाई पड़ता है। चन्द्र ग्रहण में चन्द्रमा उस छाया में से गुजरता है जो ब्रह्मांड में पृथ्वी के कारण पड़ती है। सूर्य्य के बजाय चन्द्रमा के ग्रहण अधिक होते है और करीब आधी पृथ्वी के लोग उन्हें देख सकते हैं। सूर्य्यग्रहण पृथ्वी के केवल १।४०० भाग में दिखलाई पड़ता है।

मगर इन वैज्ञानिक शोधों के पूर्व ग्रहण सारी पृथ्वी में भय और आतङ्क का कारण समझे जाते थे और इस भय के कारण मानवीय इतिहास में कई बड़ी बड़ी घटनाएँ घटित हुई हैं।

सन् ६७१ की सात दिसम्बर को इस्लामी उमैय्या खिलाफत के खलीफा म्वाविया (Moa-wiyah) ने इस्लाम का तीर्थस्थान मदीना से उठा कर दमिश्क लेजाने का निश्चय किया था और चाहा था कि पैगम्बर की छड़ी और आसन को मदीना से हटा कर दमिश्क ले जाएँ। इसके लिए उसने आदेश भी जारी कर दिये थे मगर उसी दिन कार्रवाई के ऐन मौके पर पूर्ण सूर्य्य ग्रहण हो गया। एकाएक इतना अन्धेरा छा गया कि तारे दिखाई देने लगे। जिससे सब लोग बेतरह डर गये। सबने यही समझा कि म्वाविया कि इस कार्यवाही से खुदा नाराज हो गया है, और उसने दुनिया से सूरज को

छीन लिया है। फलस्वरूप पैगम्बर के छड़ी और आसन ज्यों के त्यों वहीं बने रहे।

चन्द्रग्रहण के इतिहास में एक दूसरी घटना भी बहुत मनोरञ्जक है। कोलम्बस जब नई दुनिया की खोज में निकला था तब जमैका में पहुँच कर एकाएक बीमार पड़ गया। उसकी बीमारी दस हफ्तों तक चली। इस समय में उनकी सारी खाद्य सामग्री समाप्त हो गयी और वहाँ के आदिवासियों ने उन लोगों को खाद्य सामग्री देने से इन्कार कर दिया। कोलम्बस अपने साथ कुछ ज्योतिष की पुस्तकें भी ले गया था और उनसे उसको पता था कि २९ फरवरी १५०४ को चन्द्रमा का ग्रहण लगने वाला है। तब उसने वहाँ के आदिवासियों को डराते हुए कहा कि "हम लोग ईश्वर के दूत हैं और यदि तुम लोग हमें खाने को नहीं दोगे तो मैं ईश्वर के पास खबर भेजूँगा कि धरती के लोग हमें खाना नहीं देते हैं इसलिए इन लोगों से धरती का चांद छीन लिया जाय।"

यह सुनकर आदिवासियों ने कोलम्बस का बहुत मजाक उड़ाया, मगर जब सचमुच ही रात को उन्होंने देखा कि चन्द्रमा पूरी तरह ग्रस लिया गया है तब हाहाकार करने लगे। और कोलम्बस के पास जाकर माफी मांगने लगे और उन्हें खूब खाने को दिया। तब कोलम्बस ने कहा कि अच्छा घबराओ नहीं मैंने ईश्वर को सन्देश भेज दिया है, कल तुम्हारा चन्द्रमा वापस आजावेगा।

प्रसिद्ध विजेता सिकन्दर महान् भी ग्रहण के फल पर पूर्ण विश्वास करता था। ई० सन् से पूर्व ३३१ में बीस सितम्बर को जो चन्द्र ग्रहण हुआ था, उसको सिकन्दर के ज्योतिषियों ने सिकन्दर के लिए बड़ा शुभ बतलाया था और उसके ठीक ११ दिन बाद सिकन्दर ने आरबेला के युद्ध मे ईरान् के सम्राट् दारा तृतीय को भारी पराजय देकर अपना साम्राज्य कायम किया था।

ग्रहण की गणना का ज्ञान बहुत प्राचीन काल से भारत, मिस्र, यूनान और बेबिलोनिया को था। मगर बेबिलोनिया के निवासी इस सम्बन्ध में बहुत आगे बढ़ गये थे। ईसा से करीब तीन हजार वर्ष पहले उन्होंने "सैरास" नामक युग का आविष्कार कर लिया था। यह युग २२३ चन्द्र मास या १८ वर्ष ११ दिन का होता था। ऐसे एक युग के ग्रहण, दूसरे युग में ठीक उसी दिन और उसी समय दिखलाई पड़ते हैं।

भारतीय ज्योतिष में भी सूर्य्य-सिद्धान्त (जिसका समय ईसा से पांच छः शताब्दी पूर्व माना जाता है।) और उसके पहले भी लोगों को सूर्य्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणियाँ करने का पूरा-पूरा ज्ञान था। और इन ग्रहणों का संसार के भविष्य पर और भिन्न २ राशियों के भविष्य पर क्या असर पड़ेगा, इसका भी हिसाब लगाने का उनको ज्ञान था।

सूर्य्यग्रहण को नङ्गी आंखों से देखने से मनुष्य के अन्धा हो जाने का भय रहता है इसका जिक्र ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी में यूनान के दार्शनिक अफलातून ने किया था। २० जुलाई १९६३ को भारत सरकार ने भी इस विषय की चेतावनी देते हुए जनता सूचित किया था कि दस सेकण्ड से अधिक समय तक सूर्य्यग्रहण को नङ्गी आँखों से देखने पर आँखों में स्थायी विकार उत्पन्न हो सकता है।

गॉग–विसेण्टवान

हॉलैण्ड का सुप्रसिद्ध चित्रकार। जिसका जन्म सन् १८५३ में और मृत्यु १८९० में आत्महत्या के द्वारा हुई।

गॉग यूरोप मे आधुनिक चित्रकला का जनक समझा जाता है। सन् १८८० में वह चित्रकला का अध्ययन करने के लिए ब्रुसेल्स गया। और सन् १८८५ में उसने एण्टवर्प की ऐकेडेमी में चित्रकला की शिक्षा ली। उसके बाद वह पेरिस में अपने भाई थेरो के पास रहा। थेरो भी एक चित्रकार था गॉग ने जापानी चित्रकला तथा डेलाकाओ और मोतेचोली की कृतियों का भी अध्ययन किया। उसके बाद वह प्रसिद्ध चित्रकार "सुरा" के साथ मिलकर काम करने लगा। कुछ ही दिनों में मस्तिष्क पर अधिक बोझ पड़ने से उसे पागलपन के दौरे आने लगे। मगर उस स्थिति में भी वह चित्रकला का अपना काम करता रहा। मगर अन्त में सन् १८९० में पागलपन के एक दौरे में वह आत्महत्या करके मर गया। उसका सारा जीवन अत्यन्त दुःखान्त और निराशापूर्ण रहा। न उसे किसी नारी का प्रेम प्राप्त हुआ और न उसके जीतेजी किसी ने उसकी कला की कदर की।

मगर उसके मरने के बाद उसकी कला की सारे यूरोप में भारी इज्जत हुई। उसके चित्रों की कई प्रदर्शनियाँ हुईं। चित्रकला के क्षेत्र में आज उसके चित्र प्रमाणभूत माने जाते हैं।

गागरौन

राजस्थान के झालावाड़ जिले का एक गाँव और किला जो पहले कोटा राज्य के कनवास जिले में पड़ता था।

गागरौन झालरापाटन से उत्तर पूर्व लगभग ढाई मील की दूरी पर काली सिंध और आऊ नदियों के संगम पर बसा हुआ हैं। गागरौन का किला एक मजबूत किला है। ऐसा कहा जाता है कि उसे ढोढ राजपूतों ने बनाया था। बारहवी सदी के अंत तक उस पर उन्ही का अधिकार रहा। उसके बाद यह किला खीची चौहानों के अधिकार में गया। सन् १३०० में खीची राजपूतो ने अपने राजा जेतसिंह के नेतृत्व में अला-उद्दीन खिलजी की सेना का सफलता पूर्वक अवरोध किया था। उसके बाद शायद यह किला मालवा के मुसलमान शासक के अधिकार में चला गया। सन् १४२८ में राजा अचलदास खीची ने इस पर अधिकार किया।

अचलदास खीची का विवाह मेवाड़ के राणा कुम्भा की बहन 'लाला' के साथ हुआ था। अचलदास के भाई का नाम 'पीपाजी' था जो भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध संत थे। कहा जाता है कि पीपाजी को १२रानियां थी। बड़ी रानी का नाम सीता था। संत अवस्था में ये काली सिंध और आऊ नदी के संगम पर एक गुफा मे रहते थे। उक्त स्थान पर अभी भी किसी पर्व पर मेला लगता है।

सन् १५१९ मे मुहम्मद खिलजी ने आक्रमण करके इस किले पर अधिकार किया। मगर थोड़े ही दिन के बाद मेवाड़ के राणा संग्राम सिंह ने मुहम्मद को हरा कर इस किले पर अधिकार किया और सन् १५३९ तक यह किला उनके अधि-कार मे रहा। उसके बाद यह मुगलों के अधिकार में गया। अठारहवी सदी तक यह मुगलों के अधिकार में रहा। उसके पश्चात् यह किला दिल्ली के बादशाह ने कोटा के महाराव भीमसिंह को जागीर मे दे दिया। और जालिम सिंह ने इस किले को और मजबूत बना दिया।

गागरोनका गाँव किलेसे अलग है। दोनों के बीच में एक मजबूत दीवार खड़ी है और चटानों में गहरी खाई खुदी हुई है। आने जाने के लिए पत्थर का एक पुल बना है।

गागरौन के तोते बड़े प्रसिद्ध होते हैं। यह सिखाने से बहुत जल्दी बोलने लगते हैं। पहले गागरौन में कोटा महाराज की टकसाल थी।

गाङ्गेयदेव—विक्रमादित्य

महाकोशल के कलचुरी राजवंश का एक सुप्रसिद्ध नरेश। जिसका राज्यकाल सन् १०१५ से १०४१ तक रहा।

कलचुरी-वंश में गांगेयदेव विक्रमादित्य अत्यन्त प्रतापी नरेश थे। उनके पिता कोकलदेव द्वितीय के समय में कलचुरी-राज्य की स्थिति कुछ कमजोर हो गयी थी। मगर गांगेयदेव ने उस स्थिति को संभाल कर अपने राज्य को काफी मजबूत कर दिया था। कन्नौज के प्रतिहारों की गिरती हुई दशा से लाभ उठा कर उसने उनके विस्तृत प्रदेशों को जीत लिया।

इसके बाद उसने चालुक्यों से 'चिर्कलिंग' अथवा तैलंगाना को भी जीत लिया। उसके बाद उसने पूर्व की ओर अपनी दृष्टि डाली और उत्कल तथा दक्षिण कोशल के राजाओं को हरा कर उनसे बहुत धन वसूल किया। मगध के राजा नय-पाल को भी उसने परास्त किया। इसके बाद उसने चन्देल राजाओं पर भी विजय प्राप्त की। इस प्रकार उसने अपने साम्राज्य का बहुत बड़ा विस्तार किया। अपने राज्य का विस्तार करके उसने "विक्रमादित्य"की विरुद ग्रहण किया। उसने सोने, चाँदी और ताँबे की कई मुद्राएँ ढलवाई थीं उनमे से अभी कई मिलती हैं। इन मुद्राओं पर एक ओर गांगेयदेव की और दूसरी ओर लक्ष्मी की मूर्ति है। इन मुद्राओं के अनुकरण पर बाद के कई पड़ोसी राजाओं ने तथा मुहम्मद गौरी तक ने अपनी मुद्राएँ ढलवाई। गांगेयदेव का एक लेख सन् १०३७ ई० का लिखा हुआ मिला है जिसे 'कील-हार्न' ने ऐपी० इंडिया ८ में उद्धृत किया है।

सन् १०३३ ई० मे जब 'नियालतगीन' ने बनारस पर आक्रमण किया, उस समय बनारस पर गांगेयदेव का शासन था। गांगेयदेव की लड़ाई धार के परमार राजा भोज से भी हुई थी, मगर इस लड़ाई में गांगेयदेव को पराजय का सामना करना पड़ा। फिर भी गांगेयदेव इतना कीर्तिशाली था कि प्रसिद्ध इतिहासकार 'अल्बेरूनी' ने भी अपने ग्रंथ में इसका उल्लेख किया है।

बृद्धावस्था में गांगेयदेव ने प्रयाग में रहना प्रारम्भ किया और वही पर २२ जनवरी सन् १०४१ ई० को उसका देहान्त हुआ। चेदि के एक लेख मे ऐसा कहा गया है कि उसके साथ उसकी १०० रानियाँ सती हुईं।

गाजियाबाद

उत्तर रेलवे की दिल्ली-मुगलसराय लाइन पर दिल्ली नगर से १० मील की दूरी पर बसा हुआ मेरठ जिले का एक नगर जिसकी जनसंख्या ७०४३८ है।

इस नगर की स्थापना दक्षिणी भारत के शासक 'आसफ जाह' के पुत्र गाजी-उद्दीन ने सन् १७४० ई० मे गाजिउद्दीन नगर नाम से की थी और यहां पर एक विशाल सराय बनवायी थी। उस समय इस नगर का नाम गाजीउद्दीन नगर रखा गया था जो बाद में गाजियाबाद हो गया।

सन् १८५७ ई० मे सिपाही विद्रोह के समय यह नगर विद्रोही कार्य कर्त्ताओं का एक प्रमुख केन्द्र बन गया था।

रेलवे की स्थापना के बाद इस नगर की विशेष तरक्की हुई और यह नगर व्यापार की एक प्रमुख मंडी और उद्योग धन्धों का केन्द्र बन गया।

यहां पर दुग्धेश्वर नाथ का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। इस मन्दिर का निर्माण १७ वी सदी के अन्त में हुआ था। यहां पर ६ मस्जिदें भी हैं।

गाजी-उद्दीन खाँ (फिरोज जंग)

सम्राट् औरंगजेब की सेना का एक विश्वसनीय सेनापति जो सबसे पहले ७० सवारों के ऊपर मनसबदार नियुक्त हुआ। बाद मे इसकी बहुत तरक्की हुई। सन् १७१० ई० मे इसकी मृत्यु हुई।

गाजीउद्दीन खां औरंगजेब का एक विश्वस्त सेनाधिपति था। इसने जोधपुर मे दुर्गादास के द्वारा किए हुए विद्रोह को चतुराई के साथ दबाया और 'जूनेर' के उपद्रवियों का दमन किया। इससे खुश होकर बादशाह औरंगजेब ने इसे गाजी-उद्दीन खां की उपाधि प्रदान की, जबकि इसका असली नाम 'शहाबुद्दीन' था।

छत्रपति संभाजी से युद्ध करके इसने 'राहिड़ी-दुर्ग' पर विजय प्राप्त की और इसके उपलक्ष मे उसे 'फिरोज जंग' की उपाधि प्राप्त हुई। इसने इब्राहिम गढ़ को जीत कर उसका नाम 'फिरोजगढ़' रखा। इसी के प्रयास से अदोनी दुर्ग की रियासत बादशाही राज्य में मिली और बादशाह ने इसे ७ हजारी का 'मनसब' प्रदान किया।

सिन्धिया के साथ लड़ाई करके इसने 'देवगढ़' पर विजय प्राप्त की और सिन्धिया का मालवा तक पीछा किया।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् बहादुर शाह ने इसको गुजरात का सूबेदार बनाया। वहीं अहमदाबाद में सन् १७१० मे इसकी मृत्यु हुई। इसकी लाश को दिल्ली में ले जाकर दफनाया गया।

गाजी-उद्दीन हैदर

अवध के सुप्रसिद्ध नवाब सआदतअलीखाँ के ज्येष्ठ पुत्र गाजी-उद्दीन हैदर, जिनका जन्म सन् १७६६ ई० में और मृत्यु सन् १८२७ ई० में हुई।

जिस समय नवाब सआदत अलीं की मृत्यु हुई, उस समय उनके छोटे पुत्र 'शम्शुद्दौला' ने लखनऊ की गद्दी, पर अधिकार करना चाहा, क्यों कि गाजी-उद्दीन हैदर अपने पिता के विशेष प्रिय पात्र न थे। शराबी और विलासी होने के कारण वे अपने पिता से २२ वर्ष से अलग रह रहे थे। जब सिंहासन पर शम्शुद्दौला ने अपने अधिकार का दावा किया तो 'गाजी-उद्दीन-हैंदर ने लार्ड हेस्टिंग्स की सहायता लेकर लखनऊ की गद्दी पर अपना अधिकार किया और सन् १८१४ ई० मे रिफत-उद्दौला' 'रफी-उल-मुल्क' की उपाधि धारण करके वे गद्दी पर बैठे। लार्ड हेस्टिंग्स ने इनको बादशाह की पदवी देकर दिल्ली-सम्राट् से उन्हें पूर्णत स्वतंत्र कर दिया। इसके उपलक्ष मे गाजी-उद्दीन-हैदर ने लखनऊ में एक बड़ा भारी दरबार किया जिसमें ३० हजार रुपये के हीरे-मोती लुटाये गये।

दिल्ली के शासन से स्वाधीन हो जाने पर भी गाजी-उद्दीन खां बाहर और भीतर से अंग्रेजो के हाथ की कठपुतली बने रहे।

इनके शासन-काल मे अवध का राज्य षड्यंत्रों का एक केन्द्र बन गया था। इनकी बड़ी बेगम, जो 'बादशाह-बेगम', के नाम से प्रसिद्ध थी मेंहदी अली खाँ की सहायता से इनके विरुद्ध षड यंत्र करती रहती थी। इनके प्रधान मंत्री आगा-मीर के व्यवहार ने वातावरण को और भी विषाक्त बना दिया था।

इन षड्यंत्रों के परिणाम,स्वरूप अंग्रेजों का अवध की आन्तरिक राजनीति में बराबर हस्तक्षेप बढ़ता गया और उसके परिणाम स्वरूप गवर्नर-जनरल ने अपने दिये हुए आश्वासनो के विरुद्ध एक करोड़ रुपये नेपाल युद्ध के लिए, एक करोड़ पचास लाख बरमा युद्ध के लिए और एक करोड़ रुपये उनके दीवान आगामीर को बचाने की शर्त पर कर्ज के रूप में वसूल किये थे।

चरित्र से पतित और विलासी होते हुए भी नवाब गाजी-उद्दीन को साहित्य, संगीत और कला से बड़ा प्रेम था। वे स्वयं अरबी, फारसी और उर्दू भाषा के जानकार थे। उनका दरबार 'मीर तकी' 'नासिख' 'मुसहफी, 'आतिश' 'इंशा', इत्यादि महान् कवियों से भरा रहता था। चित्र कला और स्थापत्य कला के भी वे बड़े शौकीन थे। उनके माता-पिता के मकबरे लखनऊ की स्थापत्यकला के सुन्दर उदाहरण है। गाजी-उद्दीन हैदर का हिन्दूओं के प्रति भी सदा सद्व्यवहार था। राजा बख्तावर सिंह उनके दीवान और राजा हजारी मल उनके कोषाध्यक्ष (खजाञ्ची) थे।

गाटशेड-जॉन क्रिस्टोफ़
(Johann Christoph Gottsched)

अठारहवी सदी के प्रारम्भ में जर्मन साहित्य का प्रसिद्ध नाटककार और कवि जिसका जन्म सन् १७०० में और मृत्यु १७६६ में हुई।

गाटशेड के समय मे 'लाइजिक' नगर जर्मन साहित्य का सबसे बड़ा केन्द्र बन रहा था। गॉटशेड उस समय के जर्मन साहित्य का नेता था। साहित्य क्षेत्र की उच्छृङ्खला का वह विरोधी था और शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार साहित्य के विकास का वह पक्षपाती था। जर्मन नाटकों और वहाँ के रङ्गमञ्च में भी आवश्यक परिवर्त्तन करने का वह पक्षपाती था।

फ्रेञ्च भाषा की तरह जर्मन भाषा में भी वह बहता हुआ प्रवाह पैदा करना चाहता था।

उसकी समालोचना ने तत्कालीन जर्मन साहित्य के स्तर को काफी ऊँचा उठा दिया। मगर भाषा और कविता को नाना प्रकार के बन्धनों में जकड़ देने के जो दुष्परिणाम होते हैं और जिनसे साहित्य का विकास रुक जाता है गाटशेड का भी वहीं असर जर्मन साहित्य पर भी होने लगा। जिसके परिणाम स्वरूप अनेक लेखकों ने उसके खिलाफ विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया।

गाडगिल (नरहरि विष्णु)

पूना विश्वविद्यालय के उप-कुलपति और कांग्रेस के वरिष्ठ नेता नरहरि विष्णु गाडगिल। जिनका जन्म सन् १८९६ में और मृत्यु सन् १९६६ में हुई।

नरहरि विष्णु गाडगिल का जन्म सन् १८९६ में राजस्थान में हुआ था। नीमच, बड़ौदा, पूना और बम्बई में उनकी शिक्षा हुई। वकालत की डिग्री लेकर उन्होंने पूना में प्रैक्टिस प्रारम्भ की।

अपने समयके सभी राष्ट्रीय नेताओंकी तरह वे भी भारतीय-स्वाधीनता के आन्दोलन में भाग लेने के लिए कांग्रेस के सदस्य हुए। १९२० में वे महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित हुए और कई बार जेल भी गये।

सन् १९३४ में वे केन्द्रीय असेम्बली के लिए चुने गये और कांग्रेस दल के सचेतक तथा मंत्री के रूप में उन्होने काम किया।

आजादी मिलने के पश्चात् श्रीगाडगिल लोकसभा के सदस्य चुने गये और केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में निर्माणकार्य, खान और विद्युत विभाग के मंत्री रहे। सन् १९४७ से १९५२ तक उन्होंने यह कार्य किया।

उसके पश्चात् प्रधान मंत्री पं० नेहरू से राज्य-पुनर्गठन के सम्बन्ध में मतभेद हो जाने के कारण वे मंत्रिमण्डल से अलग हो गये। सन् १९५८ से १९६२ तक वे पञ्जाब के राज्यपाल रहे। इस समय पञ्जाब राज्य की उन्होंने जो सेवा की उसके उपलक्ष्य में पञ्जाब विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डॉक्टर ऑफ लॉ' की उपाधि प्रदान की।

पूना वापस आने के पश्चात् वे पूना विश्वविद्यालय के उपकुलपति बनाये गये। श्रीगाडगिल एक उत्कृष्ट कोटि के लेखक और साहित्यकार भी थे। उन्होंने अर्थशास्त्र और राजनीति पर मराठी और अंग्रेजी में कुछ पुस्तकों की रचना की।

श्रीगाडगिल अपनी स्पष्टवादिता और स्वतंत्र विचारधारा के लिए प्रसिद्ध थे। जब कांग्रेस महाराष्ट्र में बम्बई के विलय के विरोध में थी तब भी उन्होंने महाराष्ट्र में बम्बई के विलय का जोरदार समर्थन किया था।

गाजीपुर

पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले का प्रधान शहर जिसकी जन संख्या ३७१४७ है।

किम्वदन्तियों के अनुसार प्राचीन युग में 'गाधि' नामक किसी राजा ने यहाँ पर गाधि नाम का एक दुर्ग वनाया था। और गजपुर के नाम से इस बस्ती को बसाया था। इस स्थान के आस-पास के स्थानों से मिले हुए मूल्यवान स्तम्भों और शिलालेखों से पता लगता है कि ईसा से पहले बौद्धयुग में यह क्षेत्र मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत बहुत समृद्धिशाली था।

अशोक के राज्यकाल में इस क्षेत्र में बौद्ध-धर्म का काफी प्रचार हुआ। चौथी से सातवीं शताब्दी तक यह प्रदेश गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। गुप्त-राजाओं के बनाए हुए स्तम्भ और सिक्के यहाँ पर पाये जाते हैं।

चीनी-यात्री ह्वएन-संग सन् ६३० ई० में इस प्रदेश में आया था। उस समय यहां बौद्ध और हिन्दू—दोनों धर्मों का प्रभाव था। उसने लिखा है कि—"चेन-चू राज्य की सीमा चारों ओर १६५ कोस है। गंगातीर पर उसकी राजधानी स्थापित हैं। यहाँ के निवासी समृद्धिशाली और भूमि उर्वरा है।"[1]

ह्वएन-संग के जाने के पश्चात् यहाँ पर 'भर' नामक जाति के लोगों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया। उत्तर-पश्चिम से मुसलमानों के अत्याचारों से त्रस्त ब्राह्मण और राजपूत लोग उधर से भागकर इस हिन्दू-राज्य में आकर वसने लगे, और यहीं पर जमीनें लेकर जमींदार बन गये।

कहा जाता है कि सन् १३३० ई० में महम्मद तुगलक के सामन्त मसऊद ने यहाँ के राजा को रण में मार डाला। इससे खुश होकर सम्राट् ने मसऊद को 'गाजी' की उपाधि दी और उन्हीं के नाम पर इस शहर का नाम गाजीपुर रखा।

सन् १३९४ से १४७६ तक यह प्रदेश जौनपुर के मुसलमानी शासकों के अधीन रहा। उसके बाद मुगल सम्राट् बाबर ने इस पर अपना अधिकार कर लिया। फिर बक्सर की लड़ाई में शेरशाह ने हुमायूँ को परास्त कर के इस प्रांत को अपने अधिकार में लिया। अकबर के समय में यह स्थान मुगल-साम्राज्य के इलाहाबाद सूबे में लगता था।

उसके बाद यह क्षेत्र अवध के नवाबों के अधिकार में आया। सन् १७३८ में नवाब सआदत खाँ ने शेख अब्दुल्ला नामक एक व्यक्ति को गाजीपुर का सूबेदार नियुक्त किया था। यहाँ पर उसके द्वारा बनाया हुआ इमामबाड़ा, मस्जिद, शहर पनाह, किला, नवाबबाग नामक बगीचा और 'चेहल-सन्तू' नामक ४० खम्भों का भवन देखने को मिलता है।

अब्दुल्ला के मरने पर उसका पुत्र फजलअली यहाँ का शासक हुआ, मगर बनारस के राजा बरिवण्ड सिंह ने उसको निकाल कर गाजीपुर प्रदेश को अपने राज्य मे मिला लिया। सन् १७७० ई० में बरिवण्ड सिंह के मरने पर उनकी जगह पर चेतसिंह राजा हुए।

उसके पश्चात् सन् १७८१ ई० में लार्ड वारेन-हेस्टिंग्स ने चेतसिंह को गद्दी से उतार दिया। उसी समय से यह क्षेत्र अंग्रेजी-राज्य में मिला लिया गया।

सन् १८०५ ई० में यहाँ पर भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस की मृत्यु हुई। इस घटना की स्मृति में 'कार्नवालिस-मानूमेंट' नाम की एक इमारत बनाई गयी, जिसमें ३२ खम्भे और बीच में एक गुम्बज है। इसमें लार्ड कार्नवालिस की अर्ध मूर्ति रखी गयी है।

गाजीपुर में उत्तर प्रदेश के अफीम विभाग का बड़ा केन्द्र है। यहाँ अफीम का एक विशाल कारखाना ४५ एकड़ भूमि पर स्थित है। इसके सिवाय गाजीपुर गुलाब के फूल, गुलाब के इत्र और गुलाब जल के लिए बहुत प्रसिद्ध है।

---

१. (कनिंगहम ऐन्शेंट ज्याग्रफी आफ इण्डिया पेज ४३६)

गाजीखाँ बदख्शी

एक मुसलमान सेनापति और कवि, इनका असली नाम गाजी-निजाम था।

इनकी विद्वत्ता से खुश होकर बदक्शां के सुलतान ने इनको गाजीखां की उपाधि दी थी। उसके बाद ये भारतवर्ष में आकर सम्राट् अकबर के यहां एक हजारी मनसबदार बनाए गये।

इन्होने मानसिंह के साथ राणाप्रताप के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था। और बिहार के विद्रोह को दबाने में भी इनका हाथ था। गाजीखां एक उत्तम सेनाध्यक्ष के साथ-साथ लेखक और कवि भी थे। इन्होंने सम्राट् अकबर के सामने 'सिजदा' करने की प्रथा का प्रचलन किया था।

गाड-फ्रे

ईसाइयों के प्रसिद्ध धर्म-युद्ध क्रूसेड की लड़ाइयों में एक सेना का नेता। जिसने सन् १०६६ ई० की वर्षतऋतु में प्रायः २० हजार सैनिकों के साथ 'जेरूसलेम' की ओर प्रस्थान किया। करीव दो महीने का घेरा डालने के पश्चात् उसने उस नगर को जीत लिया और वहाँ के निवासियों को मार डाला।

'गाड-फ्रे' जेरूसलेम का शासक नियुक्त किया गया और उसने अपना नाम 'पवित्र मंदिर का रक्षक' रखा। उसकी मृत्यु जल्दी हो गयी और सन् ११०० ई० में उसका भाई 'बाल्डविन' उसकी गद्दी का उत्तराधिकारी हुआ।

गाथ

एक प्राचीन जर्मन जाति का नाम। इस जाति का इतिहास ईसा की ४थी शताब्दी से प्रारम्भ होकर करीव ७वीं शताब्दी तक चला।

मध्य एशिया से जब हूण-जाति एक के बाद एक आक्रमण करती हुई यूरोप के समीप पहुँची, और उसने 'डैन्यूब' नदी के किनारे पर बसे हुए जर्मन लोगों को भगाया। तब इन लोगों ने नदी के इस पार आकर रोम साम्राज्य की शरण ली। यह जर्मन जाति इतिहास में 'गाथ' के नाम से प्रसिद्ध है। थोड़े दिनों में रोम-राज्य के कर्मचारियों से गाथ-जाति के सरदारों का झगड़ा हुआ। जिसके परिणाम-स्वरूप सन् ३७८ ई० में 'एड्रियानोपुल' की भयङ्कर लड़ाई हुई। इस लड़ाई में गाथ-जाति के लोगों ने रोम के तत्कालीन सम्राट् 'वालेंस' को पराजित करके मार ढाला। इस लड़ाई में पराजित होने के कारण रोम की प्रतिष्ठा बहुत गिर गयी। जिसके परिणाम-स्वरूप सन् ४११ ई० में 'आलेरिक' नामक सरदार ने 'इटली' पर हमला करके 'रोम' पर कब्जा कर लिया। मगर उसने किसी प्रकार की लूट-पाट नहीं मचाई।

आलेरिक के मरने के पश्चात् गाथ-जाति घूमती हुई गाल तथा स्पेन देशों में गयी। इससे कुछ ही पहले उत्तर से 'वांडाल' नामक जाति गाल तथा स्पेन देश में घुस आई थी। गाथ लोगों ने स्पेन में पहुँच कर रोम साम्राज्य की सहायता से वांडाल-जाति को भगा दिया। इससे प्रसन्न होकर रोम के सम्राट् ने गाथ-जाति को दक्षिणी गाल में बसने के लिए एक विशाल क्षेत्र दिया जहाँ पर इन्होंने अपने राष्ट्र की स्थापना की।

इसके पश्चात् 'युरिक' नाम के गाथ राजा ने स्पेन पर अधिकार करके वहाँ अपना राज्य स्थापित किया।

सन् ४७६ ई० में जर्मन सरदार 'ओडेसर' ने रोम के पश्चिमी सम्राट् को निकाल कर पश्चिमी रोम के राजछत्र-दण्ड आदि रोम के पूर्वी सम्राट् के पास 'कुस्तुन्तुनिया' भेज दिये और वह स्वयं उनके प्रतिनिधि के रूप में पश्चिमी रोम का शासन करने लगा। इसी लिए सन् ४७७ ई० का वर्ष पश्चिमी रोम-साम्राज्य के पतन का वर्ष समझा जाता है। और इसी वर्ष से योरोप में मध्ययुग का प्रारम्भ समझा जाता है।

कुछ ही वर्षों के पश्चात् पूर्वी गाथ के सरदार 'थियोडोरिक' ने 'ओडेसर' पर आक्रमण करके 'रावेना' नगर में उसे पकड़ लिया और ईसवी सन् ४६३ में थियोडोरिक ने अपने हाथों से ओडेसर का सिर काट लिया। थियोडोरिक ने भी पूर्वी रोम-सम्राट् के संरक्षण मे अपने राष्ट्र का निर्माण किया। उसने सिक्कों पर भी पूर्वी-रोम-सम्राट् की मूर्ति बनाई। पुराने कानून और पुरानी संस्थाओ को इसने कायम रखा। इसने चारों ओर शान्ति स्थापित रखी और बड़ी सुन्दर इमारतों से इसने अपनी राजधानी 'रावेना' को सुसज्जित किया।

सन् ५२६ ई० मे थियोडोरिक की मृत्यु हुई।

सन् ५२७ ई० में पूर्वी रोम-साम्राज्य की गद्दी पर 'जस्टीनियन' नामक् सम्राट् प्रविष्ठित हुआ। इसका सेनापति 'वेली-सीरियस' वड़ा युद्ध कला विशारद था। सन् ५३४ ई० में इसने उत्तरी अफ्रीका के वांडाल-राज्य को जीतकर साम्राज्य में मिला लिया और सन् ५५३ ई० में इसी सेनापति ने इटली के गाथ लोगों पर भी आक्रमण करके उन्हें इटली से निकाल दिया।

इस प्रकार गाथ-जाति के इस गाथ-राज्य का अन्त हुआ।

गाथा (सप्तशती)

आन्ध्र सातवाहन बंश के नरेश "हाल" के द्वारा प्राकृत भाषा की गाथाओं में रचा हुआ एक सुन्दर काव्य। जिसमें ७०० गाथाओं का संग्रह है और जिसकी रचना ईसा की पहली सदी से लेकर तीसरी सदी के बीच किसी समय हुई मानी जाती है।

गाथा-सतसई प्राचीन युग की प्राकृत गाथाओं का सबसे वड़ा संग्रह है। इसकी कई गाथाएँ तो स्वयं "हाल" नरेश की रची हुई है और कई उस समय के लोकगीतों से संग्रह की हुई है। इसकी अनेक गाथाएँ उस समय की कई नारी कवित्रियों के द्वारा रची हुई हैं।

गाथा सतसई में विशेष रूप से शृङ्गार और करुण दोनों रसों का वड़े ललित शब्दों में विवेचन हुआ है। कई गाथाओं में प्रणय, विरह और मिलन के प्रसङ्ग बड़ी रोमाण्टिक शैली में चित्रित हुए हैं।

इसके अतिरिक्त देहातों में रहनेवाली जनता के जीवन का चित्रण, ऋतुओं का वर्णन इत्यादि अनेक प्रकार के वर्णन इन गाथाओं में किये गये हैं।

इसी गाथा सतसई के आधार पर आगे जाकर और भी कई सतसइयाँ लिखी गई। हिन्दी की विहारी सतसई भी इसीके अनुकरण पर लिखी गई हैं। हालांकि उसकी मौलिकता और सौन्दर्य विहारी का स्वयं अपना है।

गान्धार

हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर सिन्धु नदी के पूर्व में बसा हुआ विस्तीर्ण प्राचीन प्रदेश, जिसमें वर्तमान अफगानिस्तान का बहुत-सा हिस्सा सम्मिलित था।

गान्धार प्रदेश का विवेचन हमारे प्राचीन ग्रन्थों में स्थान स्थान पर देखने को मिलता है। ऋग्वेद (१-१२-६७) अथर्ववेद (५-२२-१४) और छान्दोग्योपनिषद (६-१४-१) में इस जनपद का उल्लेख पाया जाता है।

बहुत प्राचीन काल से यह क्षेत्र हिन्दू राजाओं के अधिकार में रहा। सिन्धु नदी के पश्चिम तीर से वर्तमान अफगानिस्तान का बहुत सा हिस्सा गान्धार देश में सम्मिलित था। ऋग्वेद में गान्धार के निवासियों को गान्धारी कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् में भी गान्धार देश का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। महाभारतमें महाराज धृतराष्ट्रकी रानी पतिव्रता गान्धारी गान्धार देश के राजा सुबल की कन्या थी। सुवल का पुत्र शकुनी था, जो महाभारत का प्रधान नायक था।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार राजा दशरथ की रानी केकयी केकय-जनपद की कन्या थी। केकय जनपद गान्धार के पूर्व की ओर स्थित था। केकय-नरेश युधाजित के कहने से कैकेयी के पुत्र भरत ने गान्धार के अन्तर्गत गन्धर्वदेश को जीत कर वहाँ पर तक्षशिला और पुष्कलावती नामक नगरियों को बसाया था।

जैनियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ उत्तराध्यवन सूत्र में गान्धार के जैन-नरेश 'नगति' का उल्लेख पाया जाता है। इसी धर्म के 'अरिष्टनेमि' पुराण के अन्तर्गत गान्धार को एक पुण्यस्थान कहा गया है। प्राचीन यूनान के इतिहासकार 'हेरोडेटस' 'हेक्टेयस' और 'टालेमी' ने यहाँ के आदिवासियों का 'गान्दारी' और इस प्रदेश का 'गान्दीरीटीज' के नाम से उल्लेख किया है।

बौद्ध-युग के अन्दर इस प्रदेश ने बहुत महत्व ग्रहण किया था। यह सारा प्रदेश उस समय मौर्य्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। तक्षशिला का विश्वविद्यालय उस समय अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था। दूर-दूर देशों के विद्यार्थी यहाँ पर शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। राजनीति के धुरंधर आचार्य कौटिल्य और आयुर्वेद के धुरंधर आचार्य जीवक भी इसी विश्वविद्यालय के स्नातक थे।

मौर्य-साम्राज्य के पश्चात् कुशाण-साम्राज्य में इस क्षेत्र ने और भी उन्नति की। इस युग में सम्राट् 'कनिष्क' ने अपने राज्य की राजधानी इसी क्षेत्र के पुरुषपुर (पेशावर) नगर में बनाई थी। सम्राट् 'कनिष्क' के समय में गांधार बौद्ध धर्म का एक बड़ा केन्द्र बन गया था।

गान्धार-कला

कनिष्क युग में गांधार शिल्पकला का बहुत अधिक विकास हुआ। तक्षशिला के खण्डहरों से तथा उत्तर पश्चिमी सीमान्त की खुदाई से जो मूर्तियाँ, स्तंभ और पत्थर की बनी हुई चीजें प्राप्त हुई हैं, उनसे उस समय की गान्धार-कला का काफी परिचय प्राप्त होता है। इस काल में भारतीय और यूनानी संस्कृतियों का विचित्र मिश्रण देखने को मिलता है। यहाँ की शिल्पकला पर यूनानी कला ने अपना गहरा प्रभाव डाला था। जैसा कि तक्षशिला की प्राचीन इमारतों के देखने से प्रतीत होता है।

बौद्ध-कला पर यूनानी प्रभाव पड़ने से एक नई कला का जन्म हुआ जिसे गान्धार-कला कहते थे।

गान्धार-कला का सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण उदाहरण गौतम बुद्ध की प्रतिमा है। गान्धार-कला में बुद्ध एवं वोधिसत्व तथा उनसे संबंधित अनेक प्रतिमाओं का निर्माण, अत्यन्त सुन्दर काले पत्थरों से किया गया है। बुद्ध के जीवन पर इनसे बहुत प्रकाश पड़ता है। बुद्ध की प्रतिमा गान्धार-कला का एव उत्कृष्ट उदाहरण है। गान्धार की यह बुद्ध-प्रतिमा संसार की प्राचीनतम प्रतिमा है। यह मध्य एशिया और सुदूर पूर्व के अनेक कलाकारों के प्रेरणा का स्रोत भी रही है। इसलिए इस आदर्श प्रतिमा को, एशिया की सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि मूर्तिकला का उदाहरण बतलाया जाता है।

गान्धार-शिल्पकला के अन्तर्गत विशेष रूप से बुद्ध और उनके जीवन की घटनाओं का ही चित्रण किया गया है। यह शिल्प कला बुद्ध की जीवन-घटनाओं के दृश्य दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह हमारे सामने उपस्थित करती हैं। गांधार शिल्पकला को जो सफलता और ख्याति प्राप्त हुई, वह एशिया में बेजोड़ है। आज भी अनेक पाश्चात्य-कलाविदों के मत में गान्धार-कला ही ऐसी है जिसका स्थान विश्व के कला-साम्राज्य में अग्रगण्य है।

कुशाण-साम्राज्य के पश्चात् गान्धारदेश कुछ शताब्दियों तक यवन, शक इत्यादि जातियों के अधिकार में रहा। पर उन लोगों के शासन में भी वहाँ बौद्धधर्म का बोलबाला रहा, जो ७वीं शताब्दी तक चला।

नौवी शताब्दी में इस क्षेत्र में शाही वंश के 'लल्लीय' नामक राजा ने अपना राज्य स्थापित किया। यह शाही राजा ब्राह्मण-जति के थे। इनका निवास-स्थाम पञ्जाब, सीमाप्रान्त और अफगानिस्तान में था और ये मोहियाल नाम से प्रसिद्ध थे।

सन् ८७० ई० में मुसलमान सेनापति याकूब-एलेस ने शाही-राजवंश की राजधानी काबुल के किले पर अधिकार कर लिया। तब शाही राजाओं ने अपनी राजधानी पेशावर के समीप 'वाहिंड' नामक स्थान पर स्थापित की। वाहिंड पेशावर के समीप एक नगर था। इतिहासकार विंसेंटस्मिथ ने वाहिंड आधुनिक 'भटिंडा' को बताया है। मगर यह बात विश्वसनीय नही मानी जा सकती। क्यों कि भटिंडा 'काबुल' से बहुत दूरी पर है।

शाही-राजवंश में लल्लीय राज की चौथी पुश्त में 'जय-पाल' उसके बाद उसका पुत्र 'आनन्दपाल' और उसके बाद उसके पुत्र 'त्रिलोचन पाल' नाम के राजा हुए। जयपाल के समय शाही-वंश का राज्य गान्धार, सामीप्रान्त और पंजाब तक फैल गया था।

१०वीं शताब्दी में इस क्षेत्र पर मुसलमानी आक्रमण होना शुरू हुए। सबसे पहले 'सुबुक्तगीन' ने सन् ९८० ई० के आसपास जयपाल पर आक्रमण किया। उसके प्रश्चात् जब महम्मद गजनवी, गजनी का राजा हुआ तो उसने ईसवी सन् १००१ में पेशावर के मैदान में जयपाल के साथ चिर-स्मरणीय युद्ध किया। जिसमें जयपाल की भारी पराजय हुई और वह कैद कर लिया गया। उसके बाद जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने अनेक हिन्दू राजाओं के सहयोग से सन् १००८ में 'अटक' के निकट 'छच्छ' के मैदान में महम्मद गजनवी की सेनाओं के साथ निर्णायिक युद्ध किया। इस युद्ध में आनन्दपाल की तरफ से 'गक्खड-जाति' के लोगों ने बड़ी वीरता का प्रदर्शन किया जिससे मुसलमानों के पैर उखड़ने लगे। मगर उसी समय दुर्भाग्यवश आनन्दपाल का हाथी बाण तथा गोलियों की वर्षा से घबराकर भागने लगा। और सेनापति

को भागते देखकर युद्ध के मैदान से हिंदू-सेना भी भागने लगी और हिंदुओं की जीत हार में बदल गयी।

इसके पश्चात् यह सारा प्रदेश राजकीय और धार्मिक दोनों दृष्टियों से इस्लाम के अधीन हो गया।

गांधी मोहनदास करमचन्द

भारतवर्ष के एक इतिहास प्रसिद्ध संत, राजनीतिक नेता, समाज कल्याण के आचार्य, अहिंसा धर्म और सत्याग्रह के महान् प्रदर्शक, मौलिक विचारक, जिनका जन्म २ अक्तूबर सन् १८६६ई० को 'पोरबन्दर मे और मृत्यु ३० जनवरी सन् १६४८ ई० के दिन दिल्ली विड़ला-भवन मे नाथूराम गोडसे के द्वारा हुई।

महात्मा गांधी की शिक्षा राजकोट हाईस्कूल में हुई, जहां से सन् १८८७ ई० में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १८८८ मे ये वकालतकी शिक्षा ग्रहण करनेके लिए विलायत गये और सन् १८९१ में बैरिस्टर होकर भारत वापस आये।

सन् १८९३ में सेठ अब्दुल करीम जवेरी के साथ किसी केस के सम्बंध मे ये दक्षिण अफ्रीका गये। और वहाँ के भारतीयों की स्थिति खराब देखकर २२ मई सन् १८९४ को नेटाल में 'नेटाल-इण्डियन कांग्रेस' की स्थापना की।

उसके वाद सन् १९०४ में इन्होंने वहां से 'इण्डियन ओपोनियन' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला जो अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रभावकारी सिद्ध हुआ।

इन्ही दिनों महात्मा गांधी को 'रस्किन' की लिखी हुई 'अण्टू धिस लास्ट' नामक पुस्तक पढ़ने को मिली। इस पुस्तक ने इनके जीवन को एक महत्वपूर्ण मोड़ दिया। और इनके अन्दर सर्वोदय की भावना का जागरण हुआ।

१ जनवरी सन् १९०७ को ट्रांसवाल-सरकार ने प्रवासी भारतीयों के लिए हाथ-पांव आदि अगो को छापो से युक्त 'परवाना' रखने का आदेश दिया था। यह आदेश भारतीयों के लिए अत्यंत अपमानजनक था। इसी आदेश का प्रतिकार करने के लिए महात्मा गांधी ने पहले-पहल सत्याग्रह का प्रयोग किया और इसी सिलसिले में गांधी जी पहली वार जेल गये। उनके जेल जाने से वहाँ के जनआदोलन को वड़ा वल मिला और वहाँ की सरकार को समझौता करने के लिए मजबूर होना पड़ा। मगर सरकार ने समझौते को वारम्वार भंग किया। जिसके परिणाम-स्वरूप इन्हें दो वार और सत्याग्रह करना पड़ा। जनवरी सन् १९१४ में अन्तिम समझौता हुआ। और उसी वर्ष गांधीजी वहाँ से एक विजयी सत्याग्रही के रूप में भारतवर्ष आये।

सन् १९१५ में उन्होंने देश में घूम कर देश की स्थिति का अध्ययन किया। सन् १९१६ मे वे लखनऊ कांग्रेस में सम्मिलित हुए। इसी वर्ष वसंतपञ्चमी पर वायसराय लार्ड 'हार्डिञ्ज' ने वनारस में हिंदू-युनिवर्सिटी का शिलान्यास किया। इस अवसर पर महात्मा गांधी ने जो भाषण दिया, वह भाषा, शैली, विषय आदि सभी दृष्टियों से अद्‌भुत, अपूर्व और अकल्पनीय था। इसी मञ्च से पहली वार आर्त्त, दीन और ग्रामीण भारतीयों की आवाज सुनाई पड़ी। इस भाषण को सुनकर वाइसराय और तमाम देशी राजा स्तब्ध रह गये। और डा० एनी-बीसेंट तो क्षुब्ध होकर वहाँ से उठ कर चली गयीं।

इसी समय स्वामी श्रद्धानन्द ने यू० पी० के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन, शिरोल और कर्टिस की वनाई हुई भारतीय शासन सुधार के संबंध की एक योजना वतलाई। गांधीजी ने कांग्रेसी नेताओं के सामने इस योजना का भण्डाफोड़ कर दिया जिससे कांग्रेस और लीग के क्षेत्र मे क्षोभ की लहर फैल गयी और लोकमान्य 'तिलक' के गरम दल को इससे वहुत वड़ा बल मिला।

उस समय विहार के चम्पारन-क्षेत्र में नील की वहुत वड़ी खेती होती थी। और उस खेती मे किसानो के परिश्रम का सारा लाभ वहाँ पर वसे हुए गोरे लोग स्वयं उठा लेते थे। और किसानों पर वड़ा अत्याचार करते थे। इस अत्याचार को दूर करने के लिए महात्मा गांधी ने सन् १९१७ मे तिरहुत-कमिश्नर के आदेश की अवज्ञा कर मोतीहारी में प्रवेश किया और वहाँ की स्थिति का गम्भीर अध्ययन कर करीव ७ हजार किसानों के वयान लिए। इसके परिणाम-स्वरूप निलहे गोरों के अत्याचार की जाँच करने के लिए एक "कमीशन" नियुक्त हुआ। उस कमीशन की रिपोर्ट पर गवर्नर ने 'तिनकठिया-कानून' को रद्द कर दिया। इस प्रकार 'गांधी-राजनीति की पहली-पाठशाला' चम्पारन में वनी।

चम्पारन की इस विजय से गांधीजी की सारे भारतवर्ष में वहुत प्रसिद्धि हो गयी। इस समय 'गांधी-राजनीति' मे

नेताओं को बताया कि वे सब लोग स्वावलम्बी बनें। अपने कपड़े आप धोवें, अपने बर्तन आप माँजे, अपने कमरेमें आप भाड़ू दें इत्यादि। यदि बैरिस्टर गांधी यह सब कर सकता है और अपना बिस्तर अपने कन्धे पर उठा कर चल सकता है तो बिहार के वकील क्यों नहीं ऐसा कर सकते। इस प्रकार भारतीय राजनीति को राजनीतिक दलों और आराम कुर्सियों से हटा कर त्याग, बलिदान और स्वावलम्बन का स्वरूप देने का श्रेय गांधीजी को ही था।

इधर कांग्रेस में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और लोकमान्य तिलक के दल में संघर्ष चल रहा था। लोकमान्य का दल एनी-बीसेंट को कलकत्ता-कांग्रेस का अध्यक्ष बनाने को तैयार नहीं था। एनी-बीसेंट की 'होमरूल-लीग' का आन्दोलन बड़ी तेजी पर था। थियोसोफिस्ट भी राजनीति में उतर आये थे। मगर गांधीजी को इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं था। वे अपनी धुन में चम्पारन के गांवों में घूम रहे थे।

अगस्त सन् १९१७ में भारत-सचिव ने माण्टेग्यू चेम्स फोर्ड सुधार-योजना की जो घोषणा की, उसपर भी गांधीजीने कोई मत देने की आवश्यकता नहीं समझी। कलकत्ता कांग्रेस में वे केवल राष्ट्रभाषा-सम्मेलन तक ही सीमित रहे। सिर्फ उनकी बात को मानकर कुछ अंग्रेजीपत्रों ने और लोकमान्य के 'केसरी' पत्र ने प्रति सप्ताह हिन्दी में एक कालम का लेख देना स्वीकार किया।

इसी समय गुजरात प्रांतिक परिषद् गांधीजी को सक्रिय राजनीति में खींच लाई। इसके अध्यक्ष महात्मा गान्धी चुने गये। परिषद् के सामने उन्होंने माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना के खिलाफ एक लाख व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाने का प्रस्ताव रक्खा और भारत के लिए स्वराज्य की मांग करने की योजना बनाई। इस योजना से प्रभावित होकर सरदार पटेल भी सक्रिय रूप से गांधीजी के आन्दोलन में शरीक हो गये। बिहार के ब्रजकिशोर बाबू और राजेन्द्र बाबू इसके पहले ही इस आन्दोलन में सम्मिलित हो चुके थे। इसी वर्ष सन् १९१७ में गान्धीजी ने अहमदाबाद में साबरमती नदी के तीर पर सत्याग्रह आश्रम की नींव डाली।

इन सारी घटनाओं ने महात्मा गांधी का राजनैतिक दर्जा बहुत बढ़ा दिया और दिल्ली कांग्रेस ने बैरिस्टर जिन्ना के प्रस्ताव पर लो० तिलक, बैरिस्टर हसन इमाम और महात्मा गांधी का एक प्रतिनिधिमण्डल वर्साईसन्धि सम्मेलन में भेजना स्वीकार कर लिया। यह पहली कांग्रेस थी जिसमें किसान प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे और जो भारत की बदलती हुई मनोवृत्ति का परिचय दे रही थी।

इसी समय महायुद्ध के अन्दर दी हुई भारत की विशाल सहायता के उपहारस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने भारत पर "रौलेट कानून" के समान भयङ्कर कानून लादने का निश्चय किया और इम्पीरियल कौन्सिल ने उस बिल पर स्वीकृति की मुहर लगा दी। माननीय श्रीनिवास शास्त्री, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और मालवीयजी की ओजपूर्ण वक्तृताएँ कुछ नहीं कर सकी केवल प्लेटफार्म की वस्तुएँ साबित हुईं। जिन्ना, प्रेसिडेण्ट पटेल, मजरुलहक, मालवीयजी इत्यादि नेताओं के द्वारा कौन्सिल से इस्तीफा देने का भी कोई असर ब्रिटिश सरकार पर नहीं पड़ा। सशस्त्र प्रतिकार की भी उस समय कोई सम्भावना नहीं थी।

ऐसे समय में सारे देश की दृष्टि महात्मा गांधी की ओर लगी हुई थी जो साबरमती के किनारे अपना आश्रम बनाकर दधीचि की तपस्या कर रहा था। अचानक साबरमती में तूफान आया। महात्मा गांधी ने घोषणा की—

"लड़ाई के वास्ते कूच करने के लिए आत्मा को शुद्ध करो, मन को पवित्र करो, बुद्धि को निर्मल करो। इसके लिए उपवास करो, ईश्वर का भजन करो और पूर्ण हड़ताल रखो"

विश्व के इतिहास में यह पहला अवसर था, जब एक महान् सन्त ने राजनैतिक नेता का रूप लिया था और अपने सैनिकों को अस्त्र और शस्त्रों की जगह; त्याग, तपस्या, अहिंसा और सत्य का मार्ग बतलाया था।

केवल ब्रिटिश सरकार ही नहीं, सारा संसार इतिहास के इस अभूतपूर्व आन्दोलन को चकित दृष्टि से देख रहा था। यह पहला मौलिक प्रयोग था जो संसार के इतिहास में कोटि-कोटि जनता के ऊपर आजमाया जारहा था। जिस महान् शक्ति को, जर्मनी जैसी खूँखार शक्ति भी परास्त नहीं कर सकी थी, उस महान् शक्ति को सत्य, अहिंसा और तपस्या की विशाल शक्ति से दिया हुआ यह एक खुला चैलेञ्ज था।

जिसमें किसी प्रकार का छल नहीं था, दुराव नहीं था, गोपनीयता नहीं थी।

महात्मा गांधी की सेना गांव-मांव में फैली हुई थी, जहां थाने नही थे, डाकघर नही थे, आवागमन के सावन नही थे। सारे देश मे एक विचित्र, अभूतपूर्व विराट् जनशक्ति का उदय हो रहा था। जिसका सृष्टा और नियन्ता गांधी था। देश की भोपड़ी-भोपड़ी गांधी के जयनाद से गूंज रही थी। क्रांति की प्रवल लहर ऊंची अट्टालिकाओं से उतर कर भोपड़ियों में पहुंच गई थी।

२८ फरवरी १९१९ को वह ऐतिहासिक प्रतिज्ञा पत्र प्रकाशित हुआ जिसमें कानून को न मानने की घोषणा थी और ६ अप्रैल १९१९ का दिन हड़ताल, उपवास और सभाएँ करने के लिए निश्चित किया गया। गांधीजी ने बिना डिक्लेरेशन के 'सत्याग्रही' नामक पत्र प्रकाशित किया। १० अप्रैल को वे गिरफ्तार किये गये और बम्बई में ले जाकर छोड़ दिये गये। इससे सारे देश मे क्रोध का वातावरण छा गया, जिसके परिणाम स्वरूप देश में कई स्थानों पर दंगे हो गये। इसके परिणाम स्वरूप गांधीजी ने सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर प्रायश्चित रूप मे तीन दिन का उपवाश किया।

दूसरी ओर इस आन्दोलन का निर्दयतापूर्वक दमन करने के लिए पञ्जाब के गवर्नर माइवेल ओडवायर ने पञ्जाव में मार्शल-लॉ घोषित कर दिया। और उस आदेश के अन्तर्गत जनरल डॉयर ने जालियन वाला बाग में हो रही एक सभा को चारों ओर से घेर कर उस पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलाना प्रारम्भ किया। जिसमें बहुत से व्यक्ति मारे गये। और बचे हुए लोगों को अमृतसर की गलियों में पेट के बल रेंग कर जाना पड़ा। इससे सारे देश का वातावरण अत्यन्त उग्र और आतङ्कपूर्ण हो गया।

इसी समय देश में मौलाना मुहम्मद अलीने खिलाफत आन्दोलन का भी प्रारम्भ किया। और गांधीजी के सहयोग से खिलाफत और असहयोग आन्दोलन एक हो गये और चारों तरफ 'हिन्दू मुसलिम भाई भाई' के नारे लगने लगे।

सन् १९२० में नागपूर कांग्रेस के अन्तर्गत महात्मागांधी ने असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम पेश किया। इस आन्दोलन से सारे देश में एक संगठित जाग्रति की जोरदार लहर आई और वकीलों, छात्रों तथा पदवीधारियों ने अपनी वकालत, स्कूल और पदवियों को छोड़ कर इस आन्दोलन में सहयोग दिया। इस आन्दोलन का दमन करने के लिए सरकार ने हजारों आदमियों को गिरफ्तार किया मगर इससे आन्दोलन में कोई शिथिलता नहीं आई और महात्मा गाँधी सन् १९२१ में इस आन्दोलन के पूर्ण शक्ति प्राप्त डिक्टेटर बना दिये गये।

इसी आन्दोलन के सिलसिले में पुलिस के अत्याचारों से तङ्ग आकर गोरखपुर के समीप चोरी चौरा नामक स्थान की जनता ने पुलिस चौकी पर हमला करके २३ पुलिस मैनों को मार डाला और पुलिस चौकी में आग लगा दी। इस दुर्घटना से दुःखी होकर महात्मागांधी ने अपना आन्दोलन वापस ले लिया। इस प्रकार असहयोग आन्दोलन की पहली किश्त समाप्त हुई।

इस घटना से सारे देश में एक मृतक शान्ति छा गई। लोगों के मनसूबे खतम होगये। जेलों में देशबन्धुदास और मोतीलाल नेहरू जैसे नेता भी गांधीजी के इस निर्णय से तिल मिला उठे मगर गांधी जी का निर्णय अडिग था। उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ।

देशकी इस कमजोर मनः स्थिति का फायदा उठाकर सरकार ने गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया। उस समय उन्होने कोर्ट में अपना ऐतिहासिक बयान देते हुए कहा कि—

"मैं एक राजद्रोही हूँ, मैं जानता हूँ कि मैं आग के साथ खेल रहा हूँ, और यदि मुझे छोड दिया जाय तो मैंने जो कुछ किया है फिर वही करूँगा। यदि मैं ऐसा नही करूँ तो अपना फर्ज अदा नहीं करूंगा। मैं जानता हूं कि कभी कभी मेरे देश वासियों ने पागलपन से भरे काम किये है और उन कार्यों की जवाब दारी भी मेरे पर ही है। इस लिए यहाँ जो मैं खड़ा हूँ सो कोई मामूली सजा सुनने के लिए नहीं वल्कि कड़ी से कड़ी सजा पाने के लिए। मैं दया की प्रार्थना नही करता। मैं तो ऐसे काम के लिए, जो कानून की निगाह में जानबूझ कर किया गया अपराध है पर मेरे दृष्टिकोण से एक नागरिक का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कठोर से कठोर सजा चाहता हूँ।"

"विचारपति महोदय! आपके आगे इस समय दो ही मार्ग हैं या तो आप अपना पद छोड़ दें। या यदि आप समझते है कि जिस शासन व्यवस्था और जिस कानून के व्यवहार में

आप सहायता दे रहें है वह मंगल दायक है तो फिर मुझे बड़ो से बड़ी सजा दें।"

इस केस मे जज ने महात्मा गांधी को छः साल की सजा दी। गांधी जी के जेल में जाते ही सारे देश में एक नैराश्य पूर्ण वातावरण छा गया। इसी वातावरण में गया की कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस में ब्रिटिशशासन की कौसिलों में प्रवेश करना या नहीं इस प्रश्न पर दो दल हो गये। एक दल राजगोपालाचारी का था जो कौसिलप्रवेश का विरोधी था। दूसरा दल मोती लाल नेहरू का था जो कौसिल प्रवेश के पक्ष में था। कांग्रेस का निर्णय कौसिल प्रवेश के विरुद्ध होने पर मोतीलाल नेहरू ने देश बन्धुदास, सरदार बिट्ठल भाई पटेल आदि के सहयोग से अलग स्वराज्य पार्टी की स्थापना कर ली।

इसके पश्चात् सन् १६२६ ई० तक देश मे कोई महत्व-पूर्ण प्रगति नही हुई। टर्की मे 'कमाल पाशा' के द्वारा खिलाफत को समाप्त कर दिये जाने के कारण भारतवर्ष में भी खिलाफत आंदोलन का अन्त हो गया। जिससे देश के अनेक भागों मे हिंदू मुसलमानों मे जोरदार दंगे प्रारंभ हो गये।

सन् १६२२ ई० मे मुल्तान मे, सन् १६२३ मे बंगाल और पंजाब में और सन् १६२४ ई० में कोहाट के अन्दर हिंदू-मुसलमानों के भयंकर दंगे हुए। इन साम्प्रदायिक दंगों से गांधीजी को अत्यंत कष्ट हुआ और उसके प्रायश्चित्त स्वरूप १७ सितम्बर सन् १६२४ ई० से उन्होने २१ दिन का उपवास किया। लेकिन फिर भी हिंदू-मुसलमानों का तनाव प्रतिदिन बढ़ता ही गया और मि० जिन्ना का प्रभाव सारे मुसलमान-समाज मे व्यापक रूप ग्रहण करता गया।

सन् १६२६ में पं० जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर की कांग्रेस के अंतर्गत २६ जनवरी को रावी नदी के किनारे पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य घोषित किया गया।

सत्याग्रह का दूसरा दौर

सन् १६३० ई० के मार्च महीने में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का दूसरा दौर नामक सत्याग्रह के रूप में प्रारंभ किया। उन्होंने वाइसराय को एक लम्बा पत्र लिखकर १३ मार्च सन् १६३० ई० को अपने ७६ साथियों के साथ अहमदाबाद से १०० मील दूर 'दांडी' के लिये पैदल-यात्रा प्रारंभ कर दी। जहां पर पहुँच कर समुद्र के किनारे उनको 'नमक-कानून' को भंग करना था। कूच के समय ही गांधी जी ने घोषित कर दिया था कि स्वराज्य नहीं मिला तो रास्ते में या तो मर जाऊँगा या आश्रम के बाहर रहूँगा। नमक-कर नहीं उठा सका तो आश्रम में भी लौटने का इरादा नही है।

नमक-सत्याग्रह के साथ ही फिर इस बार जैसे जादू का डंडा सारे देश पर घूम गया। सारे देश में एक प्रबल नई जागृति की लहर दौड़ गई। हजारों आदमी सत्याग्रह करके जेल जाने लगे। २४ दिनों की यात्रा के बाद पांच अप्रैल को प्रातः काल ये लोग डांडी पहुँचे। और प्रार्थना कर के विधिवत् 'नमक-कानून' को भंग किया।

६ अप्रैल से सारे देश में एक छोर से दूसरे छोर तक एक ज्वालामुखी भड़क उठा। बड़े-बड़े शहरों में लाखों की उपस्थिति में बड़ी-बड़ी सभाएँ हुई। पेशावर में सेना की गोलियों से कई आदमी मारे गये।

इसके बाद गान्धी जी ने 'धरसाना' और 'सरढाड़ा' के नामक-भंडारों पर धावा करने की सूचना वाइसराय को दी। इस सूचना के पहुँचते ही ५ मई को महात्मा गांधी गिरफ्तार करके 'यरवदा' जेल में भेज दिये गये।

इस बार गान्धी जी की गिरफ्तारी से न केवल भारत में प्रत्युत सारे संसार के लोकमत में एक तहलका सा मच गया। अमेरिका के १०२ प्रभावशाली पादरियो ने इंग्लैंड के प्रधान मंत्री को एक लंबा तार भेजकर भारतवर्ष से समझौता करने की अपील की। मगर सरकार अपनी प्रतिष्ठा पर अड़ी रही और सारे देश में दमन का जोरदार चक्र उसने चला दिया। गुजरात मे तो यह दमन इतने जोर शोर से चालू हुआ कि उससे तंग आकर वहां के करीब ८० हजार किसान अंग्रेजी राज्य की सीमाओं को छोड़ कर देशी राज्यों की सीमाओं मे चले गये, मगर आन्दोलन की तीव्रता में कोई अन्तर नही आया।

जयकर-सप्रू इत्यादि मध्यस्थ लोगों के प्रयत्न से तथा लन्दन में गोलमेज कांफ्रेंस होने की सम्भावना से २६ जनवरी सन् १६३१ ई० को सरकार ने महात्मा गांधी और उनके सत्याग्रही साथियों को छोड़ दिया।

उसके तुरंत बाद महात्मा गांधी लार्ड 'इरविन' से मिले, जिसके फल स्वरूप इतिहास-प्रसिद्ध गान्धी-इरविन समझौता हुआ। इसमें सरकार ने गांधी जी को सन्तुष्ट करने के योग्य एक वातावरण तैयार कर दिया और गान्धीजी ने इसे स्वीकार कर अपना सत्याग्रह वंद कर दिया।

इसके बाद कराची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इन्हीं दिनों पञ्जाब सरकार ने सरदार भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी पर चढ़ाया। और इन्हीं दिनों कानपुर के हिन्दू मुसलिम दंगे में श्री गणेश शंकर 'विद्यार्थी' की हत्या हुई। इस शोक पूर्ण वातावरण में कराची का अधिवेशन हुआ।

इसके कुछ समय पश्चात् सितम्बर सन् १९३१ ई० में लन्दन की गोलमेजपरिषद् में महात्मा गान्धी को भेजा गया। यह परिषद् ११ सप्ताह तक चली। मगर इस गोलमेज-परिषद् की कार्यवाही से गांधी जी बिल्कुल असन्तुष्ट रहे। कोई समझौता न हो सका। वह परिषद् असफल हुई और अंत में गांधी जी ने सभापति को धन्यवाद देते हुए कहा—"अब हमें अलग-अलग रास्तों पर जाना होगा। मनुष्य-स्वभाव का गौरव तो इसी मे है कि हम जीवन में आने वाली आँधियों से टक्कर लें। मैं नहीं जानता कि मेरा रास्ता क्या होगा। फिर भी इतना निश्चय है कि भारत शासकों का रक्तपात करके स्वाधीनता नही चाहता, लेकिन स्वतंत्रता को प्राप्ति के लिए यदि आवश्यकता हुई तो हम भारतवासी अपने रक्त से गंगाजल को भी लाल कर देंगे।"

२८ दिसम्बर सन् १९३१ ई० को गांधी जी भारतवर्ष वापस आये, मगर उनके भारत पहुँचने के पहले ही सरकार ने युक्तप्रांत बंगाल, सीमाप्रांत इत्यादि स्थानों पर आर्डिनेंस निकाल कर बहुत से लोगों को गिरफ्तार कर लिया था जिनमें पं० जवाहर लाल नेहरू और पुरुषोतम दास टण्डन भी थे।

गांधी जी ने यहाँ पहुँचते ही स्थिति को देखकर लार्ड 'विलिंगडन' से पत्र-व्यवहार किया। मगर वाइसराय ने बड़ी सख्ती से उनके उत्तर दिये और ४ जनवरी सन् १९३२ को सबेरे महात्मा गांधी और सरदार पटेल को भी गिरफ्तार कर लिया और प्रांतीय तथा जिला कांग्रेस कमेटियों, आश्रमों और दूसरी राष्ट्रीय संस्थाओं को गैर कानूनी घोषित कर दिया। चारो तरफ आतंक और सर्वनाश का बोलबाला हो गया।

आमरण अनशन और पूना पैक्ट

इसी समय भारत-सरकार ने असेम्बली के निर्वाचनों में हरिजन लोगों के लिए पृथक् निर्वाचनों की घोषणा कर दी। जेल में महात्मा गांधी को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने सरकार को तुरंत नोटिस दे दिया कि—"यदि सरकार दलित जातियो के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था को बन्द नहीं करेगी तो २० अप्रैल सन् १९३२ ई० से मैं आमरण अनशन प्रारंभ कर दूंगा।"

मगर सरकार ने महात्मा गांधी की सलाह को मंजूर नहीं किया। फलस्वरूप गांधी जी ने अपना इतिहास-प्रसिद्ध अनशन चालू कर दिया।

इससे पहले ही महात्मा गांधी के निश्चय से सारे देश में खलबली मच चुकी थी और देश के तमाम बड़े-बड़े नेता और अछूत नेता पूना में इस समस्या को सुलझाने के लिये एकत्र हो चुके थे। यहीं पर सुप्रसिद्ध पूना-पैक्ट पास हुआ, जिसमें हरिजनों के लिए सरकार के पृथक् निर्वाचन प्रस्ताव में जितनी सीटें रखी गयी थी, उनसे भी अधिक सीटें इस पैक्ट में रख दी गयी और दोनों पक्षों के नेताओं ने इसकी स्वीकृति की सूचना सरकार को दे दी। सरकार ने भी इस पैक्ट को मानकर पृथक्-निर्वाचन के प्रस्ताव को रद्द कर दिया। तब २६ अप्रैल को महात्मा गांधी ने अपना उपवास तोड़ा।

इसके बाद ८ मई १९३३ ई० को गांधी जी ने आत्म-शुद्धि के लिए फिर २१ दिन का उपवास शुरू किया। इस उपवास से सारा देश आशंकित हो उठा। क्योंकि गांधी जी का स्वास्थ्य ऐसा नहीं था कि वे इतने लम्बे अनशन को सहन करलें। सरकार ने भी इस भयंकर खतरे को उठाना उचित न समझ कर उन्हें रिहा कर दिया। सारे देश में उनके दीर्घ जीवन के लिए प्रार्थनाएँ होने लगीं। प्रति दिन डाक्टर लोग अत्यन्त चिन्ता से उनकी सेवा शुश्रूषा करते हुए रिपोर्ट निकालने लगे। उनका ब्लड-प्रेशर बढ़ गया और स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरने लगा। सारे देश में चिंता का वातावरण उत्पन्न हो गया। इस चिंता पूर्ण वातावरण को देखकर एक दिन गांधी जी ने कहा कि—'आप लोग चिंतित न हों—मैं

इस उपवास से मरूँगा नहीं।" और डाक्टरों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उनकी प्रबल इच्छाशक्ति के बल से उनका गिरता हुआ स्वास्थ्य एक दम रुक गया। दूसरे दिन से डाक्टरों की आशा जनक रिपोर्ट प्रकाशित होने लगी। महान् इच्छाशक्ति की विजय हुई और २१ दिनों का उपवास पूरा करके तपे हुए सोने की भाँति प्रसन्न-वदन् से महात्मा गांधी लोगों के सामने आये।

१७ सितम्बर सन् १९३४ को गांधी जी ने कांग्रेस से अलग होने की घोषणा की। इन्होंने अपने वक्तव्य मे कहा कि—'शिक्षित कांग्रेस-जनों का बहुत बड़ा वर्ग मेरे उपायों, विचारों और उनपर आधारित प्रोग्रामों से ऊब गया है। मैं कांग्रेस के विकास में सहायक होने के बजाय बाधक हो रहा हूँ। यह संस्था मेरे व्यक्तित्व से बन्ध रही है। जन्म-जात लोकतंत्रवादी के लिए यह बात बड़ी ही अपमानजनक है। १४ वषो के प्रयेग के बाद अधिकांश कांग्रेसजनों के लिए 'अहिंसा' केवल एक नीति के रूप में स्वीकार्य है। मगर मेरे लिए वह धर्म है। मैंने इस प्रयोग के लिए अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया है और मुझे पूर्ण तटस्थता तथा कार्य की पूर्ण स्वाधीनता की आवश्यकता है।"

कांग्रेस से अलग होकर गांधीजी ने वर्धा के निकट सेवाग्राम में अपना आश्रम बनाया और वे ग्रामोद्योग तथा हरिजनोद्धार के कार्य में लग गये।

इसके पश्चात् कांग्रेस क्षेत्रों में निराशा का वातावरण छा गया और ऐसा दिखाई पड़ने लगा जैसे महात्मा गांधी का प्रभाव कम होता जा रहा है। इसका प्रमाण तब मिला जब 'त्रिपुरी' कांग्रेस के समय उसके अध्यक्ष पद के लिए महात्मा गाँधी के द्वारा खड़े किये गये उम्मीदवार पट्टाभि सीतारामैय्या सुभाषचन्द्र बोस के मुकाबले में बुरी तरह से पराजित हो गये। इस हार को गान्धी जी ने अपनी व्यक्तिगत हार माना था।

आन्दोलन का तीसरा दौर

मगर यह स्थिति अधिक समय तक कायम नहीं रही और दूसरे महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर सन् १९४१ के दिसम्बर में जापानी लोग भारत की सीमा पर आ पहुँचे। तब सन् ४२ में सर 'स्टैफर्ड क्रिप्स' समझौते का प्रस्ताव लेकर भारत आये। इस प्रस्ताव को गाँधीजी ने 'पोस्ट डेटेड चेक' (आगे की पड़ी हुई तारीख का चेक) कहकर अस्वीकार कर दिया।

इसके बाद सीमा पर खतरे के लक्षण देख कर गाँधीजी ने अंग्रेजों के सामने क्विट इण्डिया (Quit India) 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव रखा। ८ अगस्त सन् १९४२ को बम्बई में भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। उसके दूसरे दिन गान्धीजी तथा बम्बई मे उपस्थित सभी कांग्रेस के नेता गिरफ्तार कर लिए गये और कांग्रेस कमेटियाँ गैर कानूनी घोषित कर दी गयीं। उचित नेतृत्व के अभाव में देश में जगह-जगह हिंसा-काण्ड होने लगे। स्थान-स्थान पर रेलवे-स्टेशन, डाकघर, अदालतें और थाने जला दिये गये। रेलों और तारों की लाइनें काट दी गयीं। उधर सरकारी दमन ने जनता पर भयङ्कर गोलियों की वर्षा की। लोग घसीटे गये, पीटे गये, पेड़ों पर लटकाये गये। सामूहिक जुरमाने किये गये। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इस सारे काण्ड मे २४६३ व्यक्ति हताहत हुए और ६०-७० हजार लोग गिरफ्तार किये गये। १५ अगस्त को जेल में ही गान्धीजी के प्राइवेट सेक्रेटरी महादेव भाई देसाई का देहान्त हो गया।

सरकार के इस दमनचक्र के विरोध में गान्धीजी ने जेल में १० फरवरी १९४३ ई० से २१ दिनों का उपवास प्रारंभ कर दिया। इनके साथ ही कस्तूर बा, सरोजिनी नायडू और मीरा बहनने भी अनशन प्रारम्भ किया। २१फरवरी '४३ को गान्धीजी की स्थिति चिन्ताजनक हो गयी, मगर अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के बल पर वे इस अग्निपरीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गये। २२ फरवरी १९४४ ई० को गांधीजी की पत्नी श्रीमती कस्तूरबा का देहान्त आगाखाँ महल में ही हो गया। इससे गाँधीजी के स्वास्थ्य को बड़ा धक्का लगा। ६ मई को बिना शर्त वे जेल से मुक्त कर दिये गये।

उसके बाद उन्होंने १५ दिनों का मौन व्रत ग्रहण किया। तत्पश्चात् हिन्दू-मुसलिम समस्या को सुलझाने के लिये वे मुहम्मदअली जिन्ना के घर पर गये, मगर उसका कोई परिणाम न निकला। मि० जिन्ना ने मुस्लिमराज्य के अलग स्थापना करने के सिवाय किसी भी शर्त पर समझौता करने से इनकार कर दिया।

१४ जून को वाइसराय ने कांग्रेस कमेटी के सदस्यों को रिहा कर दिया और समझौते के लिए शिमला में नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया। गाँधीजी भी उसमें सलाहकार के रूप में

शामिल हुए। यह सम्मेलन २५ जून से १४ जुलाई तक चला, मगर मुस्लिमलीग के रुख के कारण कोई परिणाम नहीं निकला।

उधर इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट के चुनाव में विंस्टनचर्चिल को भारी पराजय देकर श्री एटली के नेतृत्व में मजदूर-दल इंग्लैण्ड के शासन पर आया। मि० एटली का रुख शुरू से ही भारत के अनुकूल रहा। उन्होंने कांग्रेस को पुनः कानूनी घोषित किया और प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा सभाओं के पुनः चुनाव करवाये। इसमें कांग्रेस की बहुत बड़ी विजय हुई। सन् १९४६ ई० के प्रारम्भ में एक ब्रिटिश मंत्रिदल भारत आया और यहाँ के नेताओं से वातचीत कर भारत-छोड़ने की नीति को स्वीकार करके एक अस्थायी सरकार के संगठन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। कांग्रेस ने इस अस्थायी सरकार का संगठन किया। मगर मुसलिम लीग ने इस योजना को अस्वीकार कर दी और बङ्गाल के मुख्य मन्त्री सुहरावर्दी ने १६ अगस्त को डाइरेक्ट एक्शन (Direct Action) का दिन निश्चित कर दिया। इस दिन कलकत्ते में भयङ्कर दङ्गा हुआ। हजारों व्यक्ति हताहत हुए और सैकड़ों दूकाने लूटी और जलाई गयीं। नोवाखाली में भी बड़ा भयङ्कर हत्याकाण्ड हुआ।

यह देखकर लार्ड वावेल ने अस्थायी सरकार में मुसलिम लीग के प्रतिनिधित्व को भी स्थान दे दिया। जिससे अस्थायी सरकार में भी कांग्रेस और मुसलिम लीग का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। नोआखाली की प्रतिक्रिया में विहार के अन्दर भी साम्प्रदायिक आग भड़क उठी। गृहयुद्ध की इस आशंका को देख कर महात्मागांधी 'नोवाखाली' की पैदल यात्रा को तैयार हुए और २० नवम्बर सन् १९४६ ई० से गांधीजी ने नोवाखाली की पैदल-यात्रा प्रारम्भ की। उनके प्रयत्नों से किसी प्रकार नोवाखाली और बिहार में शान्ति स्थापित हुई तो 'लीग' ने पञ्जाब और सीमाप्रान्त में इस आग को फैला दिया।

देश-विभाजन

इन सब घटनाओं के परिणाम-स्वरूप अंग्रेज-सरकार ने देश-विभाजन का प्रस्ताव रखा। गांधीजी की आत्मा इन सब घटनाओं से अत्यन्त त्रसित हो रही थी। देश का विभाजन उन्हे किसी भी रूप में स्वीकार न था। उन्होने एक बार कहा था कि—"मेरे शरीर के टुकड़े हो जायँ तो मुझे इसकी चिन्ता न होगी, मगर देश के टुकड़े होना मुझे सहन नहीं होगा।"

मगर इन सब घटनाओं ने जब अत्यन्त निराशापूर्ण वातावरण की सृष्टि कर दी और दूसरे नेता लोग उन पर विभाजन को स्वीकार करने के लिए जोर देने लगे तो उन्होंने अत्यन्त दुखी हृदय से उस प्रस्ताव को स्वीकार किया।

१५ अगस्त को भारत को स्वतन्त्रता मिली, मगर गांधी जी के हृदय पर कोई आनन्द या उल्लास नहीं था। जिस स्वराज्य या रामराज्य की स्थापना का वह स्वप्न देख रहे थे, वह स्वप्न चूर-चूर हो चुका था। उनके चित्त को शान्ति नहीं थी। वे अपने आप को अजीव उलझन में अनुभव कर रहे थे और ईश्वर से मार्गदर्शन की प्रार्थना कर रहे थे।

स्वाधीनता मिलने के पश्चात् ही चारों ओर साम्प्रदायिकता की आग भड़क उठी। ९ सितम्बर को गांधीजी ने पञ्जाब जाने का निश्चय किया। मगर वे वहाँ न जा सके। क्योकि दिल्ली के आस-पास और पञ्जाब के हिन्दू-क्षेत्रों में भी साम्प्रदायिकता की आग भड़क उठी थीं। इस अग्नि को शांत करने के लिए उन्होंने फिर १३ जनवरी १९४८ ई० को अनशन प्रारम्भ कर दिया। १८ जनवरी को दोनों सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों के अनुरोध पर उन्होंने अपना अनशन भङ्ग किया।

३० जनवरी सन् १९४८ ई० को जब गांधीजी बिड़ला-भवन में प्रार्थना सभा में प्रवचन करने के लिए मञ्च की ओर बढ़ रहे थे तब नाथूराम गोडसे नामक एक व्यक्ति ने लगातार तीन गोलिय? चला कर उनकी हत्या कर दी।

३० जनवरी सन् १९४८ ई० को ५ बजकर ४० मिनट पर इस महापुरुष महात्मा गांधी का देहान्त हो गया। यह समाचार बिजली की तरह सारे देश में फैल गया। सारे देश में अत्यन्त शोक का वातावरण छागया और इस महा पुरुष का नाम ईसा और सुकरात की तरह संसार महान् शहीदों में लिखा गया।

गांधी-जीवन-दर्शन

महात्मा गांधीं केवल एक राजनैतिक नेता ही नहीं थे और न भारत से अंग्रेजों को निकाल देना ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। यह सब चीजें तो उनके जीवन का एक आनुषांगिक पहलू मात्र थी।

उनके जीवन का चरमलक्ष्य संसार को—मानव समाज को जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में एक बिलकुल नवीन और मौलिक सन्देश देना था। जिसमें जीवन के एक एक पहलू पर विशुद्ध और मौलिक दृष्टिकोण से विचार किया गया हो। उनकी कल्पना में एक ऐसा समाज और एक ऐसा संसार था जिसमें हिंसा, युद्ध, अनैतिकता दम्भ और शोषण का अस्तित्व नहीं हो। जिसमें मानव-मात्रको फलने फूलने का समान अवसर मिले और जिसमें रामराज्य के समान कल्याण कारी राज्य की स्थापना हो।

इस स्वप्न को चरितार्थ करने के लिए उन्होंने बुनियादी रूप से दो तत्वों का सहारा लिया। ये दो तत्व सत्य और अहिंसा थे। उनका अटूट विश्वास था कि इन दो महान् तत्वों की आधारशिला पर जिस समाज का निर्माण होगा वह इतिहास का सर्वोत्कृष्ट समाज होगा।

गांधीजी का यह जीवन-दर्शन उनकी विशुद्ध मौलिक कल्पना थी। यद्यपि राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, टॉलस्टाय, रस्किन इत्यादि महान् पुरुषों के जीवन-दर्शन से उन्होंने प्रकाश ग्रहण किया था, मगर उन सब विचारों को अपने साँचे ढालकर उन्होंने उसे बिल्कुल मौलिक रूप दे दिया था।

सत्य और अहिंसा का कल्याणकारी सिद्धान्त आज का कोई नवीन सिद्धांत नहीं है। संसार के बहुत से महापुरुषों ने हजारों वर्षो से समाज मे दैवी-सम्पद के विकास के लिए सत्य और अहिंसा के रूप को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है, मगर उन महात्माओं ने किसी राजनैतिक और आर्थिक सिद्धि के लिए इन तत्वों का उपयोग कभी नहीं किया। महात्मा गांधी ने मानवीय इतिहास में पहली बार विशुद्ध मौलिक रूप से राजनैतिक उदेश्यों की सिद्धि के लिये इन तत्वों का प्रयोग किया। उन्होंने कहा कि—"न सिर्फ भारत प्रत्युत अखिल विश्व का कल्याण और भविष्य, सत्य और अहिंसा के जीवन-दर्शन में ही सुरक्षित है। अहिंसा की पद्धति जिस प्रकार से सर्वथा निर्दोष है, उसी प्रकार वह संसार के अत्याचार-पीड़ित समाज के समस्त राजनैतिक और आर्थिक सवालों को हल करने के लिए भी अमोघ अस्त्र है। मैंने अपने जीवन के आरंभ से ही यह समझ लिया है कि अहिंसा केवल साधुसंतों का ही गुण नहीं है, बल्कि व्यापक समाज के जीवन-यापन के लिए भी चिरंतर नैतिक विधान है। यदि मानव-समाज, मानवता के गौरव के अनुकूल जिन्दगी बसर करना चाहता है और यदि वह शान्ति और स्वतंत्रता का इच्छुक है, तो जीवन में उसको अहिंसा का ग्रहण करना ही पड़ेगा। युग युग से मानव जिस महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है, उसकी प्राप्ति सिर्फ अहिंसा के ही द्वारा हो सकती है।

इन्हीं तत्वों के प्रकाश में गांधी जीवन-दर्शन मानवीय इतिहास की नैतिक व्याख्या करता है। मार्क्स की तरह वह जीवन और जगत को गतिशील द्वन्द्वात्मक भौतिक बाद के रूपमें नहीं देखता बल्कि द्वन्द्वात्मक जीवन वादमें वह विश्वास करता है। वह जीवन, समाज और जगत को नैतिकता के आलोक में देखता है। इस जीवन-दर्शन का विश्वास है कि समाज यदि सच्चे हृदय से नैतिकता का मूल्यांकन करले और अपने साथ अपने पड़ोसी के कल्याण की कामना भी सच्चे हृदय से करने लग जाय और वह अपने जीवन की बुनियाद हिंसा और भोग की प्रवृत्ति से हटाकर अहिंसा और त्याग की वृत्ति पर स्थित कर दे तो समाज की सारी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और युद्ध संबंधी समस्याएँ अपने आप हल हो जाती हैं। यह एक ऐसी कुंजी है जिससे सामाजिक शान्ति के सब ताले अपने-आप खुल जाते हैं। इसके विपरीत यदि समाज, स्वार्थ, दम्भ लोलुपता, अहंकार और भोग की प्रवृत्ति तथा प्रभुता और शोषणकी नींवपर खड़ा किया जाता है तो फिर चाहे उसका नाम समाजवादसे, चाहे कम्युनिजम हो, चाहे और कोई नाम हो-वह कभी सुख और शान्ति का जनक नहीं हो सकता।

आर्थिक जीवन-दर्शन

गान्धी-जीवन-दर्शन का विश्वास है कि आर्थिक व्यवस्था का व्यक्ति और समाज पर सबसे अधिक प्रभाव होता है। फिर उससे उत्पन्न हुई आर्थिक और सामाजिक मान्यताएँ राजनैतिक व्यवस्था को जन्म देती हैं। गांधीजी का विश्वास था कि मशीन-युग की आधुनिक अर्थ-व्यवस्था पूँजी का केन्द्रीकरण कर देती है। जिससे समाज की अर्थव्यवस्था थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रीभूत हो जाती है और इस पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा के लिए शक्ति तथा अधिकार से

सम्पन्न राज्य-सत्ता आगे आती है। जिसके फलस्वरूप परिश्रम करने वाले समाज के बहुत बड़े श्रमजीवी अंग का शोषण और दोहन होता है। इस अव्यवस्था को दूर करने का एकमात्र उपाय आर्थिक व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण है। उत्पादन की प्रणाली, उत्पादन के साधन और पूँजी बड़े-बड़े उद्योगों से निकाल कर जब छोटे-छोटे ग्राम-उद्योगों में विकेन्द्रीकरण कर दी जायगी तभी यह समस्या हल होगी। और हर एक व्यक्ति को अपने परिश्रम का भोग स्वयं करने को मिलेगा। और इस प्रकार विकेन्द्रित उत्पादन और पूँजी के आधार पर बना हुआ समाज किसी वर्ग-विशेष के स्वार्थ का साधन न बन पायेगा। ऐसी विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्था में जब समाज की सब इकाइयाँ स्वावलम्बी हो जायंगी, तक किसी शस्त्र-शक्ति-सम्पन्न राजनैतिक सत्ता के हस्तक्षेप की आवश्यकता न होगी।

सामाजिक जीवन-दर्शन

सामाजिक समस्याओं के बारे में भी गान्धी-जीवन-दर्शन की विचार-धारा अत्यन्त सुस्पष्ट, सुलझी हुई और गंभीर अध्ययन के द्वारा परिपुष्ट की हुई है।

गांधीजी का विचार था कि जिस समाज में छुआछूत और दासत्व की भावनाएँ तथा स्त्रियों के प्रति पक्षपात पूर्ण व्यवहार का अस्तित्व है, वह समाज व्यवस्था कभी भी शांति प्रदायक नहीं हो सकती। उनका विश्वास था कि छुआछूत का रोग मानव-जाति के शरीर में कोढ़ के समान घिनौनापन पैदा करता है। यह एक ऐसा अभिशाप है जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव की दीवारें खड़ी करके मानवता का पतन कर देता है और समाज में स्थायी शान्ति का प्रादुर्भाव नही होने देता।

इसलिए महात्मा गांधी ने अपने जीवनका बहुत बड़ा भाग इसी समस्या को सुलझाने में लगाया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हर एक मनुष्य को जीवन का दैनिक कार्य करने में स्वावलंबी होना चाहिए। कपड़े धोना, झाड़ू लगाना, मलमूत्र की सफाई करना इत्यादि कामों मे परावलम्बी होने से समाज में इस प्रकार की परिस्थितियाँ पैदा होती हैं।

समाज में स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में भी उनके विचार बहुत मँजे हुए थे। उनके मत में पुरुषों की तरह स्त्रियों की भी शिक्षा-दीक्षा और सामाजिक स्थिति का निर्माण होना चाहिए। मगर अत्यधिक भोग प्रवृत्ति, विलास-वासना और फैशन की चटक-मटक से बचना उनके लिए भी परमावश्यक है। कुटुम्ब की अन्तरंग सुव्यवस्था के लिए पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का दायित्व अधिक विस्तृत है।

राष्ट्रभाषा

सामाजिक सुव्यवस्था के लिए हरएक राष्ट्र के लिए एक राष्ट्रभाषा का होना अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्रभाषा सम्बन्धी इस आन्दोलन में राजनीति में प्रवेश करने के पहले ही गान्धीजी प्रविष्ट हो गये थे और उन्होंने भाषा-विज्ञान सम्बन्धी सभी समस्याओं का अध्ययन करने के पश्चात् भारतीय राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी को ही चुना था और इस राष्ट्रभाषा-प्रचार के लिए वे जीवन भर उद्योग करते रहे।

महात्मा गांधी का कहना था कि "भारतवर्ष में अंग्रेज रहें इसमे हमें कोई आपत्ति नही है, मगर यहाँ पर जो अंग्रेजियत पैदा हो गयी है, उस अंग्रेजियत को निकालना हमारे लिए अनिवार्य है। उस अंग्रेजियत को निकाले विना हमारे राष्ट्रका कल्याण नहीं हो सकता।" और यह अंग्रेजियत बिना एक राष्ट्रभाषा को स्वीकार किये नहीं निकल सकती।

मद्य-निषेध

समाज-कल्याण की दृष्टि से गांधी-जीवन-दर्शन के अन्तर्गत मद्य-निषेध भी एक प्रमुख अंग है। गांधीजी का कहना था कि मदिरा के सेवन से मनुष्य अपने विवेक को खो बैठता है। उसकी पशु-प्रवृत्तियाँ-जागृत हो जाती है और वह ऐसे काम कर बैठता है, जो इन्सानियत के खिलाफ है। जब तक मद्य-पान का अस्तित्व है तब तक मानवता का सर्वाङ्गीण विकास होना बहुत कठिन है। इसलिए समाज से मद्य-पान के अभिशाप को मिटाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए सारे जीवन उन्होंने प्रयत्न किया।

आरोग्य और स्वास्थ्य

मनुष्य के आरोग्य और स्वास्थ्य के सम्बंध में महात्मा गांधी की विचारधारा प्राकृतिक चिकित्सा के पक्ष में थी। उनका विचार था कि मनुष्य यदि प्रकृति के संसर्ग में रहे और जिन तत्वों से उसके शरीर का निर्माण हुआ है, उसके रोगों की चिकित्सा भी उन्ही तत्वों से करे तो

उसका स्वास्थ्य अत्यन्त स्वाभाविक रह सकता है। चेचक का टीका, हैजे का टीका तथा सूई-चिकित्सा के वे सिद्धान्ततः विरोधी थे।

उपरोक्त सभी बातों के देखने पर पता चलता है कि महात्मा गांधी संसार के एक महान् क्रांतिकारी थे। सामाजिक जीवन के हर एक पहलू में वे क्रांति करना चाहते थे, मगर उनकी क्रांति के तरीके बिल्कुल मौलिक थे। मानवीय इतिहास में वे पहले क्रांतिकारी थे, जिनकी क्रांति की बुनियाद विध्वंस के बजाय रचना पर, हिंसा की जगह अहिंसा पर, अनैतिकता की जगह नैतिकता पर, और संघर्ष की जगह सहयोग पर आधारित थी। शोषण और असत्य के प्रति उनका खुला विद्रोह था। परन्तु विद्रोही के साथ वह महान् विचारक भी थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने प्रत्येक आदर्श को जीवन में सक्रिय रूप में स्थापित किया। हर एक आदर्श को उन्होंने व्यवहार में प्रयोग करके बतलाया—और इसी विशेषता ने उनको संसार के लोकोत्तर महान् पुरुषों की श्रेणी में रखा।

शासकों की आचार संहिता

भारत के स्वाधीन होने के साथ ही उनको सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की थी कि संसार की चकाचौंधपूर्ण सभ्यता में कहीं हमारे शासक पथ-भ्रष्ट न हो जायें। इसलिए १६ अप्रैल १९४७ ई० को महात्मा गांधी ने शासकों या मंत्रियों के लिए एक आचार-संहिता का निर्माण किया था। उसकी चौथी, पाँचवी और आठवीं धाराएँ इस प्रकार हैं—

(४) मंत्रियों का व्यक्तिगत जीवन इतना सादा होना चाहिए कि लोगों पर उसका प्रभाव पड़े। उन्हें देश के लिए एक घंटा नित्य शारीरिक श्रम करना ही चाहिए। भले ही वे घर में बैठकर चरखा कातें या अपने घर के आसपास साग-सब्जी या अन्न पैदाकर अपने देश का उत्पादन बढ़ावें।

(५) मोटर और बंगला तो होना ही नहीं चाहिए। आवश्यक हो वैसा और उतना साधारण मकान काम में लाना चाहिए। हाँ, दूर जाना हो तो जरूर मोटर काम में लाई जा सकती है। मगर उसका कम से कम प्रयोग होना चाहिए।

(८) आज जबकि देश में करोड़ों मनुष्यों को बैठने के लिए शतरंजी और पहनने को वस्त्र तक नहीं मिलते हैं, उस हालत में मंत्रियों को कीमती सोफा-सेट, चमकीले फर्नीचर और भड़कीली कुर्सियों का उपयोग नहीं करना चाहिए। ऐसे सादे, सरल और आध्यात्मिक विचार रखने वाले मंत्रियों या जनता के सेवकों की रक्षा जनता बड़े प्रेम के साथ करेगी। प्रत्येक मंत्री के बंगले के के पास ६ या उससे अधिक सिपाहियों का पहरा अहिंसक मंत्रिमण्डल के लिए बेहूदा लगना चाहिए।

प्रश्न यह है कि क्या गांधीजी का स्वप्न चरितार्थ हुआ? भारतीय जनता ने गांधी-जीवन दर्शन को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया?

वैसे तो गांधीजी ने १७ सितम्बर सन् १९३४ ई० के दिन कांग्रेस से अलग होते समय यह कहा था कि—"अधिकांश कांग्रेज जन अहिंसा का प्रयोग केवल एक नीति के बतौर कर रहे हैं, किन्तु मेरे लिए तो वह एक धर्म है।" उनके इस कथन से ही उनकी निराशा का कुछ-कुछ पता लग जाता है। मगर उनको भयानक वेदना तो तब हुई जब ठीक स्वाधीनता के पहले साम्प्रदायिक आधार पर देश के दो टुकड़े हुए तथा सारे देश में साम्प्रदायिक विप्लव होकर खून की नदियाँ बह गयी। रामराज्य और कल्याणकारी राज्य का उनका स्वप्न चूर-चूर हो गया और पहले किसी समय जो उन्होंने सवा सौ वर्ष तक जीवित रहने की कल्पना की थी, वह कल्पना भी निराशा के गर्त मे डूब गयी और उन्होंने अत्यन्त निराशापूर्ण स्वर में कहा कि—'इस दुर्दान्त परिस्थिति में अब मुझे अधिक जीने की आकांक्षा नहीं है" उसी साम्प्रदायिकता की वेदी पर अत्यन्त दुःखपूर्ण वातावरण में उनका बलिदान भी हो गया।

गांधी-विद्यामंदिर

राजस्थान के अन्तर्गत मरुभूमि के विस्तृत प्रदेश में बसे हुए सरदार शहर नामक शहर में स्थापित एक महान् और विशाल संस्था, जो मरुभूमि के उस बीहड़ प्रदेश में ज्ञान की अलख ज्योति को जगा रही है।

राजस्थान में बीकानेर से दिल्ली जाने वाली लाइन के

बीच रतनगढ़ नामक एक जंक्शन पड़ता है। रतनगढ़ से रेलवे-लाइन का एक छोटा सा टुकड़ा बालू के बड़े-बड़े टीलों के बीच होकर 'सरदार शहर' पहुँचता है। विशाल बालू के टीलों के बीच बसा हुआ यह नगर अपनी विशेष स्थिति रखता है।

इस नगर के निवासी श्री कन्हैयालाल दूगड़ बड़े शिक्षा-प्रेमी और भावुक व्यक्ति हैं। उन्होने इस बीहड़ प्रदेश मे शान्ति निकेतन और गुरुकुल कांगड़ी के आदर्श पर एक संस्था खोलने का विचार किया।

सन् १९५१ ई० में श्री भँवरलाल दूगड़ के सहयोग से इस संस्था के लिए उन्होंने ५ लाख रुपये नगद और १० वर्ष का समय दिया और महात्मा गांधी के ८३ वें जन्म-दिवस के उपलक्ष में उनकी ८३ इंच ऊँची प्रस्तर मूर्ति प्रतिष्ठित करके इस संस्था का शिलारोपण किया।

प्रारंभ मे इस संस्था का आरंभ छोटे पैमाने पर घास-फूस की झोपड़ियों मे किया गया था मगर आज वही संस्था उनके प्रयत्न से ३२ सौ बीघे के विस्तीर्ण क्षेत्र मे अनेक भव्य भवनों के रूप में साकार हो उठी है। और इसमें अनेक प्रकार के विद्यालय चालू हो गये हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) सन् १९५२ ई० में सबसे पहले बेसिक हाई स्कूलकी स्थापना हुई। शुरू से १३ छात्रों से यह संस्था प्रारंभ हुई। आज इस में ४०० से अधिक छात्र विद्यालाभ कर रहे हैं।

(२) सितंबर १९५३ ई० में छोटे बच्चों के लिये 'बालबाड़ी' की स्थापना हुई। जिसमे 'मांटेसरी-शिक्षा-पद्धति' के आधार पर मनोरञ्जन के साथ छोटे बच्चों को शिक्षा दी जाती है।

(३) सन् १९५४ ई० मे 'आयुर्वेद-विश्वभारती' के नाम से एक विशाल आयुर्वेद के विद्यालय की स्थापना की गयी। इस विद्यालय में आयुर्वेद की स्नातक और स्नातकोत्तर (भिषगाचार्य) तक की शिक्षा देने की व्यवस्था है। राजस्थान में यह पहली आयुर्वेद-संस्था है, जहां शवच्छेदन के द्वारा शरीर-शास्त्र की शिक्षा देने की व्यवस्था की गयी है।

(४) ९ अगस्त सन् १९५६ ई० को इस संस्था में 'बेसिक टीचर्स-ट्रेनिंग कालेज' की नींव पड़ी। इस संस्था में टीचर्स ट्रेनिंग की, स्नातक तथा स्नातकोत्तर शिक्षा की व्यवस्था है।

(५) सन् १९५८ ई० में महिलाओं की शिक्षा के लिए मीरां-निकेतन-महिला विद्यापीठ की स्थापना की गयी। इसमे कन्याओं के लिए हाई स्कूल के अलावा सिलाई, कताई, बुनाई, कढ़ाई और हिन्दी की उच्च परीक्षाओं की शिक्षा देने की व्यवस्था है।

(६) १२ जनवरी सन् १९५९ ई० को 'बुधमल दूगड़ डिग्री कालेज' की स्थापना की गयी।

(७) विद्यार्थियों के लिये शुद्ध दूध की व्यवस्था के लिए यहाँ पर एक गोशाला भी स्थापित है। इस गोशाला में गौओं की नस्ल सुधारने के लिए कई साँड़ भी रखे गये हैं।

श्री कन्हैया लाल दूगड़ ने अपना सर्वस्व इस संस्था को देकर और रात-दिन इसके लिए अलख जगाकर जो विशाल रूप दे दिया है, वह उनकी अमर-स्मृति के रूप में सदा जीवित रहेगा।

गॉवर-जॉन (John Gawer)

प्रारम्भिक युग का एक अंग्रेज कवि जान गावर जिसका जन्म सन् १३३० मे और मृत्यु सन् १४०० में हुई।

अंग्रेज कवि गावर महाकवि चासर का सम कालीन था। यह लैटिन और फ्रेञ्च भाषा मे अपनी कविताएं करता था। इसकी कविताएँ इसके जीवन काल में ही प्रसिद्ध होगई थीं। और चासर का समकालीन होने पर भी उसके पश्चात् दूसरे स्थान पर यही अंग्रेजी काव्य का उस काल में प्रतिनिधित्व करता था।

गामा पहलवान

भारतवर्ष का एक सुप्रसिद्ध पहलवान, जिसने पहलवानी इतिहास के रिकार्ड मे 'वर्ल्ड-चेम्पियन शिप' की डिग्री प्राप्त की।

गामा का जन्म सन् १८८२ ई० मे झांसी के समीप दतिया रियासत में हुआ था।

गामा के पिता का नाम अजीज पहलवान था, जो दतिया रियासतका राजकीय पहलवान था।

गामा पहलवान 'माधवसिंह पहलवान' का शिष्य बना और उससे कुश्ती के दाव-पेंचो की पूरी तरह शिक्षा ग्रहण की। गामा की पहली कुश्ती पहलवान 'रहीम सुल्तान' के साथ और दूसरी कुश्ती सन् १९०६ ई० में खलीफा 'गुलाम-मुही उद्दीन आफताबे हिन्द' के साथ लाहोर में हुई। इन दोनो कुश्तियों में इन दोनों प्रसिद्ध पहलवानों ने 'गामा' को चित करने की बहुत कोशिश की, मगर उन्हें सफलता नही हुई और दोनों कुश्तियां बराबरी पर छूटी।

सन् १९१० ई० में 'जानबुल वर्ल्ड-रेसलिंग-चैम्पियन शिप' के सञ्चालकों ने 'वर्ल्ड चैम्पियन शिप' के लिये संसार भर के पहलवानों को लन्दन मे बुलाया। इस प्रतियोगिता में शामिल होने के लिए भारत से 'गामा' 'इमाम बक्स' और 'अहमदबक्श' भेजे गये।

यह टोली जब लन्दन पहुँची तो इनके छोटे-छोटे कद को देख कर उक्त संस्था के सञ्चालकों ने इनका नाम लड़नेवालों की सूची में रखने से इनकार कर दिया। और कहा कि उनका कद और वजन बहुत कम है।

इस प्रतियोगिता में संसार भर के करीब ४५० पहलवान आये थे। जिनमें 'जविस्को' 'हेकन्श्मिद' 'मोरिसलेम' और 'डेरियज' जैसे विशालकाय और संसार-प्रसिद्ध पहलवान सम्मिलित थे। इन पहलवानों के सामने भारतीय पहलवान बहुत छोटे नजर आते थे।

गामा को अपनी शक्ति पर पूरा विश्वास था। मगर जब किसी प्रकार उसका नाम पहलवानों की लिस्ट में न आया तब उसने दो घोषणाएं एक साथ कीं। पहली घोषणा में उसने कहा कि "जो भी पहलवान अखाड़े में मेरे सामने ५ मिनट तक खड़ा रहेगा और नहीं गिरेगा उसे मैं ५ पौण्ड बतौर इनाम के दूंगा।" दूसरी घोषणा में उसने कहा कि मैं इंग्लैंड के चुने हुए २० पहलवानों को एक-एक करके सिर्फ एक घण्टे में चित कर सकता हूँ। जो भी चाहे मुझ से मुकाबला करले।

गामा की पहली चुनौती पर पहले दिन ३ पहलवान मुकाबले पर आये और उन तीनों को गामा ने तीन-तीन मिनट के अन्दर अखाड़े में चित कर दिया। दूसरे दिन १२ पहलवान आये—उन सबको भी उसने एक-एक कर चित कर दिया।

यह आश्चर्यजनक प्रदर्शन देख 'टूर्नमिण्ट कमेटी' ने गामा का नाम लड़ने वालों की सूची में दर्ज कर लिया।

दूसरे ही दिन गामा का मुकाबला विश्वविजयी पहलवान 'जेविस्को' के साथ हुआ। पूरे तीन घंटे तक कुश्ती चली, मगर हार-जीत का फैसला नहीं हुआ। इस कुश्ती पर टिप्पणी करते हुए लन्दन के प्रसिद्ध दैनिक 'टाइम्स' ने लिखा था कि—

'जेविस्को अखाड़े के एक कोने में पड़ा हुआ रेंग रहा था। तीन बार गामा के नीचे से निकलकर उसने उस पर असफल हमले किये, मगर गामा का हाथ उसके ऊपर था और साफ दिखाई दे रहा था कि वह जेविस्को से बढ़िया पहलवान है। जेविस्को उसके नीचे पड़े रहने में ही सन्तुष्ट था।"

टाइम्स ने आगे लिखा कि-"यह कोई कुश्ती नहीं थी। दर्शक भी उस कुश्ती का मजाक उड़ाने लग गये थे। गामा जेविस्को की पीठ पर सवार होकर बैठा था और उसे थपेड़े मार-मार कर उठने के लिए ललकार रहा था। कभी-कभी तो वह उसकी पीठ पर से उतर कर उसके इर्द-गिर्द चक्कर लगाता था ताकि जेविस्को उठ कर खड़ा हो जाय।"

आखिर हार-जीत का फैसला न होते देख कर 'टूर्नमिंट-कमेटी' ने यह कुश्ती अगले दिन के लिए स्थगित कर दी, पर अगले दिन जेविस्को अखाड़े में ही नहीं आया। फल स्वरूप कमेटी ने 'वर्ल्ड चैम्पियन शिप' की पेटी गामा को ही प्रदान की।

इस प्रकार सारे यूरोप में भारत का सिक्का जमा कर 'गामा' वापस भारत आया।

यहाँ आते ही उसका पहला प्रतिद्वन्दी रहीम पहलवान पुन: मुकाबलेके लिए तैयार हो गया। यह कुश्ती इलाहाबादमें हुई। भारत की कुश्ती के इतिहास में यह कुश्ती अभूतपूर्व थी। गामा के हर एक दाव को रहीम पहलवान तोड़ता जाता था। गामा की कोई चाल काम नहीं कर रही थी। तब गामा ने पूरी शक्ति लगा कर उसे एक दो थप्पड़ मारा उस चोट से कराहते हुए वह अखाड़े से बाहर निकल गया।

यह कुश्ती पूरी नहीं लड़ी गयी। फिर भी गामा को 'रुस्तमे-हिन्द' का खिताब दिया गया।

इसके बाद सन् १९२८ ई० में जेविस्को पहलवान अपना बदला चुकाने भारतवर्ष आया। उस समय गामा पटियाला महराज का दरबारी पहलवान था। इस बार गामा ने उसे २॥ सेकण्ड में चित कर दिया। तब 'जेविस्को' ने कहा कि गामा संसार का सर्वश्रेष्ठ पहलवान है।

सन् १९१२ ई० में 'गामा' ने अपनी शादी नवाब-बेगम के साथ कर ली। नवाब बेगम के मरनेपर उसने फिर अपनी शादीं उसकी छोटी बहिन नजीर-बेगम से कर ली।

सन् १९५३ ई० से वह बीमार पड़ा। ७ वर्ष की बीमारी में वह शारीरिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से बहुत बेजार हो गया। इलाज कराने के लिए उसके पास पैसे भी न रहे। श्रीजुगलकिशोर बिड़ला ने ऐसे समय में ५०००) रुपयों से उसकी सहायता की। अन्त में सन् १९६० ई० में संसार प्रसिद्ध पहलवान गामा की बड़ी दयनीय दशा में मृत्यु हो गयी।

(बलबीर सिंह 'कमल'—हिन्दी-नवनीत)

गायकवाड़-राजवंश

बड़ोदा का सुप्रसिद्ध राजवंश जिसकी स्थापना दामाजी गायकवाड़ नामक मराठा सरदार ने १८वीं सदी के प्रारम्भ में क़ी थी।

दामाजी के पश्चात् उनके भाई के पुत्र पिलाजी राव गद्दी पर आये। इनके समय में दिल्ली के बादशाह ने इनको गद्दी से उतार कर इनकी जगह जोधपुर के राजा अभयसिंह को बैठा दिया।

तब पिलाजी राव ने दिल्ली के बादशाह के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करके बादशाह की सेनाओं को परास्त किया और कई स्थानों पर कब्जा कर लिया। जब अभयसिंह ने देखा कि पिलाजी राव को लड़ाई में जीतना सहज नहीं सन् १७३२ ई० में उनकी गुप्त रूप से हत्या करवा दी।

पिलाजी राव के बाद उनके पुत्र दामाजी राव गायकवाड़ उनकी गद्दी पर आये। इसी वर्ष अर्थात् सन् १७३२ ई० में पिलाजी के भाई महाजी ने बड़ोदा नगर पर अधिकार कर लिया। तभी से बड़ोदा नगर गायकवाड़ राजवंश की राजधानी बना हुआ है।

सन् १७६१ ई० की ७ जनवरी को 'पानीपत' के मैदान में अहमद शाह अब्दाली के साथ मराठों की जो इतिहास-प्रसिद्ध लड़ाई हुई, उसमें दामाजी गायकवाड़ भी मराठों की ओर से लड़ने को गये थे। वहाँ उनकी सेना के अधिकांश सैनिक मारे गये और थोड़ी सी सेना लेकर ये वापस लौटे। यहाँ आने पर इन्होंने गुजरात के शासक जवाँमर्द खाँ से गुजरात राज्य का बहुत सा हिस्सा जीत लिया और 'ईडर' के राजा को भी अपना करद बना लिया।

दामाजी की मृत्यु सन् १७६८ ई० आस पास हुई। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके लड़कों में काफी झगड़े हुए और अन्त में आनन्दराव गायकवाड़ अपने मन्त्री रावजी अप्पाजो और अंग्रेजी फौज की सहायता से बड़ोदा की गद्दी पर बैठे और लेफ्टिनेण्ट कर्नल 'वाकर' वहाँ के रेसिडेण्ट और पोलिटिकल एजेण्ट नियुक्त हुए। इस समय बड़ोदा रियासत बड़े कर्ज में डूबी हुई थी। सन् १८१३ ई० में बड़ोदे में भयङ्कर अकाल पड़ने से यह कर्ज और भी बढ़ गया। सन् १८१९ ई० में आनन्द राव की मृत्यु हो गयी।

आनन्दराव की मृत्यु के पश्चात् सयाजी राव गायकवाड़ बड़ोदा की गद्दी पर बैठे। सयाजी के वक्त भी रियासत का कर्जा अदा नही हुआ और सन् १८२० ई० में यह कर्ज १ करोड़ ७ लाख और बढ़गया तब अंग्रेज सरकार ने गायकवाड़ राज्य के नोसारी और पिप्पलावद आदि कई स्थानों पर दखल कर लिया। सन् १८४७ ई० में सयाजीराव गायकवाड़ की मृत्यु हो गयी और उनके ज्येष्ठ पुत्र गणपति राव वहाँ की गद्दी पर आये।

इनके समय में बम्बई-बड़ोदा रेलवे की स्थापना हुई और उसके लिए उन्होने अंग्रेजी गवर्नमेंट को जमीन दी। सन् १८५६ ई० में गणपति राव गायकवाड़ की मृत्यु हुई। गणपतिरावके बाद खंडेराव और खंडेरावके बाद् मल्हारराव गद्दी पर आये, मगर इनकी अयोग्यता के कारण सन् १८७५ ई० में मल्हार राव को पदच्युत कर मदरास भेज दिया और उनकी जगह सयाजी राव को सन् १८७५ ई० को १२ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठाया और इनके प्रधान मन्त्री सुप्रसिद्ध सर टी० माधव राव के० सी० एस० आई० बनाये गये।

सयाजी राव गायकवाड़ का शासन-काल बड़ोदा की जनता और गवर्नमेंट दोनों के पक्ष में बहुत अच्छा रहा। अंग्रेज गवर्नमेंट से इन्हें कई विशिष्ट उपाधियाँ भी प्राप्त हुईं। सयाजी राव गायकवाड़ ने अंग्रेजों के समय में मराठा-राजनीति में काफी भाग लिया। इनके समय में बड़ोदा राज्य की शैक्षणिक और सांस्कृतिक उन्नति भी बहुत अधिक हुई।

गायना

दक्षिण अमेरिका का एक प्रसिद्ध राज्य। जिसका एक बड़ा भाग सन् १८१४ ई० से ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का एक प्रसिद्ध उपनिवेश बनकर रहा और २६ मई सन् १९६६ ई० को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के जुए से मुक्त होकर स्वतन्त्र राष्ट्रों की पंक्ति में आ गया।

१३६ वर्षों की दासतासे मुक्त होकर स्वाधीन बननेवाला ब्रिटिश "गायना" विभिन्न जातियों और धर्मोंका संगम-स्थान है। दिसम्बर सन् ६४ ई० की जन गणना के अनुसार गायना की आबादी ६३८००० है, जिसमें मूल निवासियों की कुल संख्या २६॥ हजार है। इन बाहरी लोगों में भारतवासी, पुर्तगाली, अंग्रेज और अमरीकी लोग शामिल हैं।

गायना का क्षेत्रफल एक लाख चौतीस हजार कीलोमीटर है। बाक्साइट नामक खनिज पदार्थ के उत्पादन में इस देश का नम्बर सारे संसार में चौथा है। इसके अलावा यहाँ सोना, मेगनीज, एल्यूमीनियम, लोहा, ताँबा इत्यादि खनिज पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं।

गायना उस विशाल क्षेत्र का एक भाग है, जिसका अनुसन्धान सबसे पहले कोलंबस ने किया था। उसके पश्चात् सर 'वाल्टर-रेले' ने इस क्षेत्र की पूरी खोज की। जिसके फल स्वरूप यूरोपीय साम्र ज्यवाद ने इसे अपने शिकञ्जे में ले लिया। और इस क्षेत्र को ५ भागों में बांटा गया। स्पेन-अधिकृत क्षेत्र का नाम 'ब्राजील', पुर्तगाल-अधिकृत क्षेत्र का 'वेनेजुवेला' फ्रांस-अधिकृत क्षेत्रका 'फ्रेंच गायना।' डच अधिकृत प्रदेशका नाम डच गायना और ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्र का 'ब्रिटिश-गायना' हुआ। ब्रिटिश गायना का सबसे सम्पन्न उसका तटीय क्षेत्र है। इस क्षेत्र में लगभग ५॥ लाख लोग रहते हैं और राजधानी 'जॉर्ज टाउन' भी इसी क्षेत्र में स्थित है।

इस समय ब्रिटिश गायनामें ३ प्रमुख राजनीतिक पार्टियाँ हैं। (१) डा० छेदी जगन की 'पीपुल्स प्रोग्रेसिव पार्टी' (२) डा० बर्नहम की पीपुल्स नेशनल कांग्रेस और (३) डा० 'अगयार' की 'युनाइटेड पार्टी। पीपुल्स-प्रोग्रेसिव पार्टी सबसे बड़ा राजनीतिक दल है। मगर स्वतन्त्रता देने के पूर्व ब्रिटेन ने वहाँ के संविधान में संशोधन करके आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली लागू कर दी। जिसके कारण सत्ता 'बर्नहम' और 'अगयार' की पार्टियों के संयुक्त नियंत्रण में चली गयी और बहुमत वाली डा० 'छेदी जगन' की पार्टी खाली रह गयी। इसलिए गायना के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री डा० छेदी जगन बहुत असन्तुष्ट हैं। उनका कहना है कि इस आजादी का यह अर्थ है कि अंग्रेजों ने अपने आधिपत्य से मुक्त करके गायना को अमरीकी साम्राज्यवाद के हाथों में दे दिया जो अधिक खतरनाक है।

डा० छेदीजगन के इस विरोध से गायना का राजनैतिक संकट आगे क्या रंग लायेगा यह नहीं कहा जा सकता। इस समय वहां पर आपत्कालीन स्थिति चालू है और "पीपुल्स प्रोग्रेसिव पार्टी" के २४ नेता जेल में हैं।

डच-गायना

सन् १८१४ ई० से डचों के आधीन है। इसकी भी भौगोलिक परिस्थितियाँ ब्रिटिश-गायना की तरह ही है। यहाँ का मुख्य नगर 'परामरींगो' 'सूरीनम' नदी के मुहाने पर स्थित हैं। यह राजधानी और मुख्य बन्दरगाह है।

फ्रेञ्च-गायना

सन् १८१७ ई० से फ्रांसीसियों के आधीन है। तटीय क्षेत्र को छोड़कर इसका सारा क्षेत्र महत्वहीन है। इस उपनिवेश का एक मात्र उपयोग आजीवन सजायाफ्ता अपराधियों को बसाने के लिए किया जाता है। ये अपराधी इस क्षेत्र में 'डेविल्स-आईलैंड' में बसाये जाते है। यहाँ के सभी निवासी आजीवन कारावास की सजा पाये हुए है।

गायत्री-मंत्र

वैदिक-साहित्य का एक सर्वमान्य महान्-मन्त्र, जिसके ऋषि विश्वामित्र और देवता सविता हैं।

गायत्री-मंत्र ऋग्वेद का एक सुप्रसिद्ध मन्त्र है। ऋग्वेद

के सम्पूर्ण १० हजार मन्त्रों में इस मन्त्र का महत्व सबसे अधिक माना गया है। इस मन्त्र में २४ अक्षर हैं और उनमें आठ-आठ अक्षर के ३ चरण हैं और शुरू में 'ॐ भूर्भुव: स्व:' मिलाकर इस मन्त्र का पूरा स्वरूप स्थिर हुआ है। इस मन्त्र का रूप इस प्रकार है—

'ॐ भूर्भुव: स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य, धी महि धियो यो न: प्रचोदयात्'।

बृहदारण्यक उपनिषद् में (५।१४।४) में गायत्री शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि 'गाय' शब्द का अर्थ 'प्राण' और 'गायत्री' शब्द का अर्थ 'प्राण रक्षा करने' वाला होता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यथा काल और यथा नियम विद्वान आचार्य के निकट यज्ञोपवीत के पश्चात् गायत्री मन्त्र में दीक्षित होते हैं। इसी समय इनका पुनर्जन्म माना जाता है और ये 'द्विज' कहलाने लगते हैं।

गायत्री-मन्त्र की महिमा इतनी क्यों है? इसकी मीमांसा करते हुए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं—

"गायत्री-मन्त्र एक ओर विराट् विश्व, दूसरी ओर मानव जीवन, एक ओर देव-तत्व, और दूसरी ओर भूततत्व, एक ओर मन और दूसरी ओर प्राण, एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर कर्म के पारस्परिक सम्बन्धों की पूरी व्याख्या कर देता है। इसी लिए यह मन्त्र वैदिककाल से लेकर आज तक वैदिक धर्मावलम्बियों का सर्वोत्कृष्ट महान् मन्त्र बना रहा है।

गारफील्ड-सोबर्स

वेस्ट-इण्डीज में क्रिकेट खेल का एक प्रसिद्ध खेलाड़ी, जिसने सन् १९५८ ई० में पाकिस्तान के विरुद्ध खेलते हुए तीसरे टेस्ट मैच में व्यक्तिगत रूप से ३६५ रन बनाकर विश्व के सर्वश्रेष्ठ खेलाड़ियों में अपना स्थान प्राप्त कर लिया है।

'गारफील्ड-सोवर्स' विश्व के ऐसे ७वें खिलाड़ी हैं, जिन्होंने 'क्रिकेट टेस्ट मैच' में ३ सौ से अधिक रन बनाने का श्रेय प्राप्त किया है। सन् १९३० ई०में इंग्लैण्ड के 'ऐंथी-सेंथम' ने वेस्टइंडीजके विरुद्ध 'किंग्सटन' (जमेका) के मैदान में ३ सौसे अधिक रन बनाने का गौरव प्राप्त किया था और उसके २८ वर्षोंके पश्चात् 'सोवर्स' ने उसी मैदान मे पाकिस्तान के विरुद्ध खेलते हुए वही गौरव प्राप्त किया।

गारो

एक मातृ-वंशमूलक पहाड़ी जाति। जो विशेषकर आसाम की गारो पहाड़ियों पर रहती है। गारो जाति में अभी भी मातृ-मूलक वंश-प्रथा जारी है। इसमें परिवार की वंशावली स्त्री से ही चलती है और सम्पत्ति की स्वामिनी भी स्त्री ही होती हैं। विवाह होने पर स्त्रियां अपने घर ही पर रहती हैं, सामान्यत: पुरुष बुवा की लड़की से विवाह करता है और वह अपने भानजे को अपनी लड़की दे सकता है।

यह जाति साल-जांग नामक एक आदिदेव की उपासना करती है जो सूर्य का प्रतिरूप है। इनके पुरोहित कमाल कहलाते हैं। कमाल लोग अनेक प्रकार के लक्षणों से किसी रोगी का निदान करते हुए बतलाते हैं कि किस अपदेवता के कोप से यह पीड़ा हुई और फिर पूजा, बलि इत्यादि व्यवस्था उसके दूर करने के लिए बतलाते है।

किसी की मृत्यु होने पर इस जातिके लोग मृतदेह को उत्तमोत्तम वेश-भूषा से सजा कर दो-तीन दिन तक रख छोड़ते हैं। तीसरे या चौथे दिन लाश जलाई जाती है। एक सप्ताह के पीछे उसकी राख को लेकर मृत-व्यक्ति के घर के पास गाड़ कर उसपर एक ध्वजा लगा देते है। इस प्रकारकी बहुत सी ध्वजाएँ गाँव में देखने को मिलती हैं।

सन् १८६६ ई० में गारो पहाड़ सबसे पहले अंग्रेजों के कब्जे में आया और कप्तान 'विलिगसन्' पहले डिप्टी कमिश्नर बनाए गये। सन् १८७२ ई० में गारो-जाति के लोगोंने अंग्रेजों के विरुद्ध एक बड़ा विद्रोह किया था। इस विद्रोह को सन् १८७२ ई० में कप्तान 'लाटूनी' ने दबाकर वहाँ शान्ति स्थापित की।

गारोदी

दक्षिण भारत की एक पर्वत-गुफा जो तेलगांव दाभाड़े से दस मील दक्षिण, समतल क्षेत्र से ५०० फुट ऊँची पहाड़ी पर बनी हुई है।

इस पर्वत पर ईसा की पहली शताब्दी में खुदे हुए कई एक बौद्ध गुफा-मन्दिर दिखाई पड़ते हैं। पहला गुफा-मन्दिर पहाड़ी की सबसे ऊँची चोटी पर बना हुआ है। इसका द्वार

दक्षिण पश्चिम मुखी है। यहाँ पर चढ़ने के लिए कोई सीधा रास्ता नहीं है।

दूसरी गुफा इससे कुछ नीची है। इसका मण्डप २९ फुट लम्बा और १० फुट चौड़ा है। इसके स्तम्भों के मस्तक पर सिंह, व्याघ्र, और हाथी की मूर्तियां खुदी हुई हैं। इन मूर्तियों की शिल्पकला बहुत सुन्दर है। इस गुफा में सन् १४३९ ई० का एक शिलालेख लगा हुआ है।

इसके सिवाय इस पहाड़ी पर ३-४ मन्दिर और भी बने हुए हैं। एक गुफा में आन्ध्र राजाओं के समय की दक्षिण देशीय ब्राह्मीलिपि में खुदी हुई एक प्रशस्ति भी दिखलाई देती है।

गार्दी-फ्रांसिस्को

इटली देश के 'वेनिस' नगर का एक प्रसिद्ध चित्रकार, जिसका जन्म सन् १७१२ ई० में और मृत्यु सन् १७९३ ई० में हुई।

गार्डी-फ्रांसिस्को ने अपनी कला का प्रकाश प्रसिद्ध चित्रकार 'कनालेट्टो' से ग्रहण किया था। इस चित्रकार के चित्रों में हल्के प्रकाश और मुक्त वायुमण्डल के चित्रण बहुत सफलतापूर्वक दिखलाये गये है। इस चित्रकला का यह सौन्दर्य आगे जाकर 'इम्प्रेशनिस्ट' चित्रकला के रूप मे विकसित हुआ।

गार्बोग-आर्नी

नारवे का एक प्रसिद्ध लेखक और कवि, जिसका जन्म सन् १८५४ ई० और में मृत्यु सन् १९२४ ई० में हुई।

गार्बोग ने उपन्यास, कविता, नाटक, निबन्ध इत्यादि सभी क्षेत्रों में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इनकी रचनाओं में 'हेमकोमिन्-सन्' 'बांडेस्तु-डेटा' 'फ्रेंड' इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

गार्सा-द-तासी

एक प्राच्य विद्या विशारद फ्रेंच विद्वान् जो १९वीं सदी में पेरिस में हिन्दुस्तानी उर्दू के अध्यापक थे। इनका जन्म सन् १७९४ में और मृत्यु १८७८ में हुई।

गार्सा-द-तासी उर्दू के पक्ष में हिंदी-भाषा के बड़े विरुद्ध थे। सन् १८६६ ई० में उन्होंने हिन्दुस्तानी-साहित्य का इतिहास लिखा था जिसमें उर्दू-कवियों के साथ कुछ हिंदी-कवियों का भी जिक्र था।

हिन्दी-उर्दू का झगड़ा उठने पर उन्होंने अपने मजहबी रिश्ते के ख्याल से उर्दू का पक्ष ग्रहण करते हुए कहा था कि "हिन्दी में हिन्दू धर्म का आभास है। वह हिन्दू-धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुसंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इस्लामी संस्कृति और आचार व्यवहार का सञ्चय है। इस्लाम भी सामी-मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धांत है। इसलिए वह ईसाई-धर्म के अधिक नजदीक है।"

गार्सा-द-तासी सर सैय्यद अहमद खाँ से बहुत प्रभावित थे और उन्हीं के सुर में सुर मिलाकर वे हिंदी का विरोध और उर्दू का समर्थन करते थे।

जब पञ्जाब में हिन्दी-भाषा के प्रसिद्ध समर्थक नवीनचंद्र राय ने हिंदी का समर्थन करते हुए अपने एक भाषण में उर्दू का विरोध किया, तो गार्सा-द-तासी फ्रांस में बैठे हुए भी बहुत झल्ला उठे और वहीं पर अपने एक व्याख्यान में उन्होने बड़े जोश के साथ हिन्दी का विरोध और उर्दू का समर्थन करके नवीन बाबू को कट्टर हिन्दू बतलाया। अब यह फ्रेञ्च विद्वान हिंदी से इतना चिढ़ने लग गया था कि उसकी जड़ पर ही उसमें अपना कुठार चलाने का प्रयत्न किया और मि० 'बीम्स' का हवाला देते हुए उसने कहा कि—"हिंदी तो एक तूरानी भाषा थी, जो संस्कृत से पहले प्रचलित थी, आर्यों ने आकर उसका नाश किया और जो कुछ बचे-खुचे शब्द रह गये, उनकी व्युत्पत्ति भी संस्कृत से सिद्ध करने का रास्ता निकाला।"

इसी प्रकार जहाँ भी कहीं हिंदी का नाम लिया जाता, तो 'तासी' बड़े बुरे ढङ्ग से उसके विरोध में कुछ न कुछ कह डालता।

मगर 'तासी' का स्वप्न पूरा न हुआ और हिंदी अपनी स्वाभाविक गति से बराबर उन्नति करती गयी।

(रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास)

गार्सी-लासो

स्पेन का एक प्रसिद्ध कवि और सैनिक। जिसका जन्म सन् १५०१ ई० में और मृत्यु सन् १५३६ में हुई।

स्पेन के सम्राट् ने 'गार्सी-लासो' को किसी अपराध में देश से निर्वासित कर दिया था। इसलिये इन्होंने इटली के 'नेपुल्स नगर' में जाकर के रहना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप इनकी कविताओं पर स्वाभाविक रूप से इटालियन प्रभाव पड़ा। इन्हीं के द्वारा स्पेनी कविता में इटालियन भावों का प्रवेश हुआ। इनकी कविताओं में विशेषकर निराश प्रेम की अभिव्यक्ति झलकती है।

गाल्दोज (Benito Perey Galdos)

उन्नीसवीं सदी में स्पेन का एक प्रसिद्ध कवि जो उन्नीसवी सदी के मध्य में हुआ।

गाल्दोज स्पेन का एक महान् साहित्यकार था। इसने करीब ३३ उपन्यासों की और वहुत सी कहानियों की रचना की। जिनमें उस समय के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन का क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से विवेचन किया है यह एक यथार्थवादी उपन्यासकार था। इसके उपन्यासों में 'ग्लोरिया' 'दोञां परफेक्ता' 'ला फामिलिया' डी ल्योनरोच' इत्यादि उपन्यास विशेष प्रसिद्ध है।

ग्रांड-जूरी

इंग्लैंड में राजा हेनरी द्वितीय के समय में न्याय के लिए स्थापित की हुई एक संस्था, जिसका नाम ग्रांड-जूरी था।

हेनरी द्वितीय सन् ११५४ ई० में गद्दी पर वैठा था। इसके गद्दी पर वैठनेके पूर्व इंगलैण्ड में वड़ी अराजकता मची हुई थी। इसने गद्दी पर वैठते ही वड़े साहस के साथ अराजकता कों दूर किया। और न्यायालयों का पूरी तरह सुधार किया। इसने यह प्रवन्ध किया कि सरकारी न्यायाधीश देश भर में भ्रमण करें ताकि प्रत्येक स्थान में प्रतिवर्ष एक वार वहाँ के सव मामले तय हो जायँ।

'हेनरी' के द्वारा स्थापित की हुई एक संस्था 'ग्रांडजूरी' थी। इस संस्था में स्थान-स्थान पर कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियों को न्यायाधीश की सहायता के लिए वैठाया जाता था। ये लोग अपराधियों के अपराधों पर विचार करके उसके निर्णय पर अपनी सम्मति देते थे।

इसके अतिरिक्त एक छोटी जूरी और होती थी। ये व्यवस्याएँ पहले से चली आई थी। मगर इनको नियमित कर के 'हेनरी' ने सर्वसाधारण के लिए खोल दिया। ग्रांड-जूरी के सदस्य पक्षपातहीन होकर अपनी राय देते थे। यह प्रथा कितनी अच्छी थी—इसका पता इससे चलता है कि आज तक कामन-ला के नाम से इसके किये हुए निर्णयों का आदर होता है।

गाल्स-वर्दी

इंग्लैंड मे विक्टोरिया युग का एक सुप्रसिद्ध उपन्यासकार, कवि और साहित्यकार। जिसका जन्म सन् १८६७ ई० में और मृत्यु सन् १९३३ ई० में हुई।

'गाल्स-वर्दी' इंग्लैंड के एक महान् साहित्यकार थे। इनका जन्म इंग्लैंड के 'फारसाइट' परिवार (उच्चमध्य कुल) में हुआ था। अपनी शिक्षा को समाप्त करके इन्होंने सारे संसार का भ्रमण किया और उसके वाद साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने कलम उठाई।

विक्टोरिया युग के अन्तर्गत इंग्लैंड में जो समाज-व्यवस्था और जो न्याय व्यवस्था थी, उसकी प्रतिक्रिया 'गाल्स वर्दी' के हृदय पर वड़ी प्रतिकूल हुई और उसी प्रतिकूल प्रतिक्रिया का प्रतिविम्ब उनके सारे साहित्य पर पड़ा।

गाल्सवर्दी ने करीब १४ उपन्यास, ५ नाटक, कई कहानियों, कई कविताओं और आलोचनात्मक निवन्धों की रचना की। गालसवर्दी की सबसे सुप्रसिद्ध रचना "दी फोर साइट-सागा' के नाम से प्रसिद्ध है। इस रचना के सिलसिले में उन्होंने करीव ९ उपन्यासो की रचना की। इन उपन्यासों में इंग्लैंड के तात्कालिक सामाजिक जीवन की मार्मिक आलोचना की गयी है। इंग्लैण्ड की न्याय व्यवस्था की आलोचना करते हुए उन्होंने वतलाया है कि इंग्लैंड की न्याय-व्यवस्था धनियों के लिए अलग है और गरीवों के लिए अलग। इस प्रकार की न्याय-व्यवस्था से समाज का कल्याण नहीं हो सकता।

गालसवर्दी के नाटक भी अंग्रेजी-साहित्य में चोटी का स्थान रखते हैं। 'दि सिल्वर वाक्स' और 'जस्टिस' नामक

नाटकों में उन्होंने मानव-स्वभाव की बड़ी सुन्दर और सूक्ष्म व्याख्या की हैं। उनके अनेक चरित्र अंग्रेजी-साहित्य के चिरस्मरणीय चरित्र बन गये है।

गाल्सवर्दी उच्चकोटि के निबन्ध-लेखक भी थे। इनके निबन्धों का संग्रह 'कैंडीलेब्रा' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

गाल्सवर्दी के समस्त साहित्य में सामाजिक स्थिति और मानवीय सम्बन्धों का गम्भीर और मर्मस्पर्शी अध्ययन झलकता है और यही अध्ययन उन्हें अंग्रेजी साहित्य के प्रथम श्रेणी के कलाकारों में स्थान प्रदान करता है।

गाल्फ

एक मनोरंजक और पुराना खेल, जिसकी उत्पत्ति स्कॉटलैंड से हुई ऐसा समझा जाता है।

स्कॉटलैंड में यह खेल १४ वी सदी में बड़े शौक से खेला जाता था और इस खेल में लोगों की इतनी अभिरुचि बढ़ गयी थी कि उसके कारण उनकी सैनिक शक्ति को धक्का पहुँच रहा था। इसलिए सन् १४५७ ई० में स्काट लैंड की सरकार ने एक आदेश निकाल कर इस खेल पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये थे। मगर जब इस आदेश का कोई प्रभाव नही पड़ा तो सन् १४९१ ई० में स्काटलैंड की सरकार ने गाल्फ का खेलना कानूनन मना कर दिया। इस आदेश की वजह से एक शताब्दी तक यह खेल बिल्कुल बन्द रहा, मगर उसके बाद पुनः चालू हो गया।

मध्य काल में इंग्लैंड के राजा लोग भी इस खेल के बड़े शौकीन थे। इङ्गलैंड का राजा 'चार्ल्स प्रथम' गाल्फ का बड़ा प्रेमी था।

उसी प्रकार "जेम्स द्वितीय' भी गाल्फका बड़ा उपासक था। गाल्फ के खेल में उसका साथी 'जान पैटसन,' नामक एक मोची था। इस मोची ने जेम्स द्वितीय के साथ गाल्फ की एक प्रति योगिता में विजय प्राप्त कर के बहुत सा धन कमाया और उस धन से 'गाल्फर्स लैंड' नामक एक भवन निर्माण करवाया।

गाल्फ का खेल खुले मैदान में खेला जाता है। यह खेल एक विशेष प्रकार के डंडे से गेंद के साथ खेला जाता है। खेल के मैदान में ४। इञ्च व्यास के १८ छेद बने हुए रहते हैं। डंडे से गेंद को मार कर इन छेदोंमें पहुँचा देने का नाम ही 'गाल्फ' है। खेल प्रारंभ हो जाने पर जब तक गेंद छेद में नहीं पहुंच जाता तब तक उसे हाथ या शरीर के किसी भाग से छूना मना रहता हैं। इस खेल में विजयी वही समझा जाता है जो कम से कम प्रहार में गेंद को 'टी' से पीटकर गड्ढे (Cup) में पहुंचा दे।

गाल्फ का डंडा (Club) भी विशेष प्रकार का होता है। पहले यह डंडा लकड़ी का बनाया जाता था। अब यह इस्पात का बनाया जाता है। इन डंडो के बनाने के लिए कई बड़े बड़े कारखाने भी स्थापित हो गये हैं।

गाल जाति और गाल प्रदेश

पश्चिमी योरोप में जिस स्थान पर इस समय फ्रांस देश बसा हुआ है—यही क्षेत्र प्राचीन युग में 'गाल प्रदेश' के नाम से प्रसिद्ध था। और इसमें बसने वाले लोग 'गाल-जाति के लोग कहलाते थे।

गाल-जाति के लोग मध्य एशिया से योरोप में आकर गाल प्रदेश में बसे थे। यह जाति असभ्य होते हुए भी अत्यन्त शूरवीर थी। ये लोग अपने गाँव के चारो ओर परकोटा नहीं बाँधते थे। पशु-पालन इनका प्रधान व्यवसाय था और घास की कमी हो जाने पर गाल लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते थे। शान्ति से जीवन निर्वाह करना इनके स्वभाव के विरुद्ध था। दूसरों के प्रदेशों पर चढ़ाई करना, लूटना-खसोटना इनका प्रधान काम था।

ईसवी सन् से ५२५ वर्ष पूर्व से ये लोग बराबर रोम की ओर बढ़ रहे थे। मगर बीच में 'इट्रूस्कन' जाति के लोगों से लड़नेमें इनके कुछ वर्ष बीत गये। ई०पू० ५०५ में इस जातिके सरदार 'ब्रेन्नस' ने रोम से सौ मील की दूरी पर स्थित 'क्लूसियम' नामक नगरपर चढ़ाई की, तब क्लूसियमके लोगोंने इन लोगो का मुकाबला करने के लिए 'रोम' से सहायता माँगी। सहायता देने के पूर्व रोम के लोगों ने गाल-जाति के सरदार को समझाने के लिये अपने प्रतिनिधि भेजे। रोम के प्रतिनिधियों ने ब्रेन्नस से कहा कि जब क्लूसियम के निवासियों ने तुम्हें कोई तकलीफ नहीं दी तो तुम्हें उनके प्रदेश पर चढ़ाई करने का क्या अधिकार है? गाल-सेनापति ने उत्तर दिया कि—'हम शूर लोगों का संसार की प्रत्येक वस्तु पर अधिकार है। और तलवार ही हमारा सत्व है।'

इसके बाद गाल-जाति और क्लूसियम के युद्ध में रोम के एक प्रतिनिधि ने एक गाल-सरदार को मार डाला। इस पर गाल-जाति के लोग आग बबूला होगये, और गाल-सरदार 'वेन्नस' बीच के सब क्षेत्रों को छोड़ता हुआ एक दम रोम की ओर बढ़ा।

ईसवी सन् से ५०४ वर्ष पूर्व रोमनगर से १२ मील दूर आलिया नदी के किनारे पर रोम की सेनाओं से गालजाति का एक भयंकर युद्ध हुआ। गालजाति की सेना में ७० हजार सुशिक्षित सैनिक थे, जबकि रोम की सेना में केवल ४० हजार अधकचरे सिपाही थे। परिणाम-स्वरूप गाल-लोगों ने बहुत शीघ्र रोमन लोगों को हरा दिया। बहुत से रोमन-सिपाही मारे गये--बहुत से 'टाइबर' नदी में डूबकर मर गए और बहुत से "वी" नगर में जाकर छिप गये।

इसके बाद गाल लोग रोमनगर के 'कोलाइन' नामक फाटक को तोड़ कर रोमनगर में घुस गये। मगर सारा नगर सूना पड़ा हुआ था। घरों के दरवाजे बन्द थे। और रोम के बहुत से लोग पहाड़ी पर बने हुए 'कैपिटल' नामक सुरक्षित् किलेमें जाकर छिप गये थे। केवल 'सीनेट' के सभा भवन में कुछ वृद्ध सभासद बैठे हुए थे। गाल लोगों ने उन सबको मार डाला और सारे नगर में आग लगादी। मगर कैपिटल का किला सुरक्षित था। कोशिश करने पर भी गाल लोग उसमें न घुस सके।

कुछ दिनोंके घेरे के बाद गाल सेना में अन्न की कमी हो गयी और रोग फैल जाने से बहुत से गाल सैनिक मर गये। ऐसी हालत में गाल सेनापति 'ब्रेन्नस' रोम निवासियों से कुछ हरजाना लेकर वापस लौटने का बिचार करने लगा।

इसी समय वी नगर में छिपे हुए रोमन सैनिकों ने रोम के मशहूर उद्धारक 'केमीलस' को—जो कि इस समय देश निकाले का दण्ड भुगता रहा था—फिर से सेनापति बनाकर गाल जाति के ऊपर हमला कर दिया और उनको बुरी तरह से पराजित कर वहाँ से भगा दिया।

गाल—जाति के इस आक्रमण का परिणाम रोम के लिए बहुत बुरा हुआ, उनका सारा साहित्य और इतिहास मन्दिरों में एकत्रित था और गाल लोगों ने उन मन्दिरों को जलाडाला था। इसलिए वह सुरक्षित साहित्य भी जल गया था। रोमनगर भी सारा खण्डहर हो गया था और उसको फिर से बनाना पड़ा।

इसके बाद भी गाल—जाति के लोग इधर-उधर हमले करते रहे। अन्त में रोम के महान् विजेता 'जूलियस-सीजर' ने ईसवी सन् से ५८ वर्ष पूर्व सारे गाल प्रदेश पर अधिकार करलिया। इस विजय का संवाद सुनकर रोमन लोग बहुत प्रसन्न हुए और इस महा विजय के लिए १५ दिन तक रोम में भारी उत्सव मनाया गया। आज तक ऐसा उत्सव रोम में कभी नहीं हुआ था। जूलियस सीजर ने गाल देश में जो लड़ाइयाँ लड़ी थीं—उसका वर्णन उसने स्वयं लिखा था। उसकी भाषा मनोहर तथा हृदय-ग्राही थी। अब भी लोग उसे बड़े चाव से पढ़ते हैं।

कुछ दिनों तक 'सीजर' ने गालदेश में रहकर वहां की सुन्दर व्यवस्था की। वहाँ पर सड़कों का निर्माण करवाया। सीजर के शासन-काल में ५ वर्ष तक गाल--देश में अटल शान्ति छाई रही।

इसके पश्चात् ईसा की ७ वीं शताब्दी के प्रारंभ में 'फ्रांक' जाति के लोगों ने राजा 'क्लोवियस' के नेतृत्व में रोमन सेना को पराजित कर गालदेश पर अधिकार कर लिया। और 'पेरिस' को अपनी राजधानी बनाया। उसी समय से फ्रांक-जाति के नाम पर इस देश का नाम फ्रांस प्रसिद्ध हुआ।

गालिब

उर्दू और फारसी के एक महान् कवि जिनका जन्म सन् १७९६ ई० में आगरे में और मृत्यु सन् १८६९ ई० के करीब हुई।

इनके पिता मिर्जा 'अब्दुल्लावेग' अलवर नरेश बख्तावर सिंह की नौकरी में थे। जिस समय गालिब सिर्फ ५ वर्ष के थे तभी इनके पिता एक लड़ाई में मारे गये। तब इनके चचा नसरुल्ला खां वेग ने इनका पालन पोषण किया। मगर वह भी इनको ९ वर्ष का छोड़ कर मर गये। तब इनके ननिहाल वालों ने इनका पालप पोपण किया।

१३-१४ वर्ष की उम्र से ही गालिब कविता करने लग गये थे। मगर 'अब्दुल सम्मद' नामक एक विद्वान् से, जो कि

फ़ारसी से मुसलमान हो गया था, इन्होंने दो वर्ष तक अरबी और फारसी की शिक्षा ग्रहण की। तभी से इनकी कविता में बहुत निखार आया।

अपनी कविताओं और गद्यकृतियों के कारण 'गालिब' उर्दू और फारसी के कविता और गद्य-साहित्य में एक प्रकाशमान नक्षत्र की भांति चमकते हैं। उर्दू-साहित्य के इतिहास में तो इनका स्थान और भी ऊँचा है। इनकी कविता में कला के साथ-साथ सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक अन्ध-श्रद्धाओं के प्रति चुटकियाँ लेने की और तीखे व्यंग्य करने की भी बड़ी विशेषता थी। स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, जीवन-मृत्यु आदि विषयों के ऊपर वह थोड़े शब्दों में ऐसी मार्के की बातें कह जाते थे जो दिल पर चोट करती हैं।

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन,
दिल के खुश रखने को, गालिब यह ख्याल अच्छा है।
जाहिद शराब पीने दे मस्जिद में बैठ कर,
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा नहीं।

गालिब का 'दीवान' जो इस समय प्राप्त है, उसमें १८०० शेर हैं, जो बड़े दीवान (कविता-संग्रह) का संक्षिप्त संस्करण माना जाता है।

बहादुर शाह द्वितीयकी आज्ञासे गालिबने 'मेहनीम रोज' नामक एक इतिहास लिखा जिसमें अमीर तैमूर से हुमायूँ तक का वृतान्त है। दूसरे भाग 'मेहानीम' में अकबर से लेकर बहादुरशाह तकका इतिहास लिखनेका विचार था, पर गदर के कारण वे उसे पूरा न कर सके। 'दस्तम्बू' नामक फारसी गद्य-रचना में इन्होने ११ मई सन् १८५७ ई० से १ जुलाई सन् १८५८ ई० तक के सिपाही-विद्रोह का आँखों देखा वर्णन लिखा है।

गालिब उर्दू गद्य के जनक माने जाते हैं। इन्होंने अपने पत्रों के संग्रह उद-ए-हिन्दी और उद-ए-मुअल्ला के द्वारा सरल और सुबोध गद्य लिखने का ढंग निकाला। इन पत्रों की भाषा अत्यन्त सरल, सुन्दर, तथा आकर्षक है और उस समय की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति का भी इनमें अच्छा चित्रण किया गया है।

मिर्जा गालिब अत्यन्त कोमल हृदय के भावुक और [illegible] व्यक्ति थे। इनकी विनोद-प्रियता के कुछ नमूने इस प्रकार है—

एक बार पञ्जाब-गवर्नर के मीरमुंशी पं० मोतीलाल मिर्जा साहबके मकान पर आये। बातचीतमें मिर्जा गालिबकी पेंशन की बात निकल गयी। क्योंकि गवर्नमेंट ने इनकी पेंशन सिपाही-विद्रोह में शामिल होने के सन्देह में जप्त कर ली थी मिर्जा ने कहा—

"तमाम उम्र में एक दिन शराब न पी हो तो काफिर, और एक दफा भी नमाज पढ़ी हो तो गुनहगार, फिर पता नहीं कि सरकार ने मुझे किस तरह बागी मुसलमानों में शुमार किया।"

मिर्जा गालिब के एक मित्र हकीम रजो-उद्दीन आम बिल्कुल नहीं खाते थे। एक दिन जब ये मिर्जा गालिब के मकान के बरामदे में बैठे थे—कि एक गधा गली में से निकला गली में आम के छिलके पड़े हुए थे। गधे ने उनको सूँघ कर छोड़ दिया। हकीम साहबने कहा कि देखिये—आम ऐसी चीज है कि जिसे गधा भी नहीं खाता। मिर्जा ने कहा "बेशक गधे आम नहीं खाया करते"।

एक दिन सरदार मिर्जा शाम को मिर्जा गालिब से मिलने चले आये। थोड़ी देर के बाद जब वह जाने लगे तो मिर्जा शमादान लेकर उनके साथ आये। उन्होंने कहा कि आपने क्यों तकलीफ फर्माई मैं तो अपना जूता आप ढूँढ लेता। मिर्जा गालिबने तुरत कहा कि "मैं आपका जूता दिखाने को शमादान नही लाया, बल्कि इसलिए लाया हूँ कि कहीं आप मेरा जूता न पहन कर चले जायँ।"

एक बार मिर्जा गालिब को जुआ खेलने के अपराध में तीन महीने की सजा हो गयी। जब वहाँ से छूट कर आये तो अपने एक मित्र 'काले खाँ' के यहाँ आकर रहे। वहाँ किसी ने उनको जेल से रिहाई पर मुबारकबादी दी तो बोले— "कौन भड़वा कैद से छूटा है, पहले गोरे की कैद में था, अब काले की कैद में हूँ।

इस तरह की बहुत सी घटनाएँ हैं, जिनसे मिर्जा गालिब की विनोदप्रियता का पता चलता है।

मिर्जा गालिबने इश्क, शराब, नीति, धर्म इत्यादि जीवन दर्शन के सभी विषयों पर कविताएँ की हैं। उसकी कविताओं के कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

मुँह न खुलने पर है वह आलम कि देखा ही नहीं
जुल्फ़ से बढ़कर नकाब उस शोख के मुँह पर खुला।
तेरे वादे पै जियें हम तो, यह जान झूठ जाना।
कि खुशी से मर न जाते, अगर जो इतबार होता।
इशरते कतरा है दरिया में फना हो जाना।
दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना॥
गालिब बुरा न मान जो वाइज बुरा कहे।
ऐसा भी कोई है कि सब अच्छा कहे उसे॥
अब तो घबरा के ये कहते है कि मर जायेंगे।
मरके भी चैन न पाया तो किधर जायेंगे॥
इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया।
वर्ना हम भी आदमी थे काम के॥

गाले-गास

पुर्तगाल अधिकृत 'वेनिजुवेला राज्य' का एक प्रसिद्ध उपन्यासकार, जिसका जन्म सन् १८८४ ई० में हुआ।

गाले-गास वेनिजुवेला का एक प्रसिद्ध उपन्यासकार है। इसके उपन्यासों में वेनिजुएला के सामाजिक जीवन की झांकी सजीव रूप में देखने को मिलती है। प्राचीनता और नवीनता के संघर्ष में नवीनता को ग्रहण करने में कितने तीव्र विरोध का सामना करना पड़ता है—इसका चित्रण उन्होंने बड़े सुंदर ढङ्ग में किया है। इनके उपन्यासों में 'डोना-बार्बरा' नामक उपन्यास बहुत प्रसिद्ध है। इस उपन्यास के कारण उनका स्थान अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाकारों में आ गया है।

गॉर्टर (Hermn-Gorter)

डच साहित्य का एक प्रसिद्ध कवि और लेखक जिसका जन्म सन् १८६४ में और मृत्यु सन् १९२७ मे हुई।

नैदर लैण्ड की साहित्यिक जागृति में सन् १८७० से लेकर सन् १९०० तक के तीस वर्ष बड़े महत्व पूर्ण माने जाते हैं। इन वर्षों मे साहित्य, कला, काव्य, पत्रकारिता इत्यादि सभी क्षेत्रों में नैदर लैण्ड के अन्दर बड़ी उन्नति हुई। इन्हीं दिनों वहाँ पर 'नीवे-गिड्स' नामक एक'' प्रसिद्ध पत्रका प्रकाशन एक युवक संघ ने सन् १८८५ से करना प्रारम्भ किया। इस पत्र के द्वारा साहित्य और कला के क्षेत्र में एक नव जीवन की लहर दौड़ गई।

गॉर्टर इस युवक संघ का सबसे महान् और प्रतिभाशाली कवि था। उसका प्रसिद्ध काव्य "मान्य" (my) डच साहित्य की उच्चतम कृतियों में से एक माना जाता है। गोर्ट समाज वादी विचार धारा का कवि था। और उसकी कविताओं का प्रभाव उसी की सम कालीन प्रसिद्ध कवियत्री -होल्स्ट" पर बहुत पड़। इसी की प्रेरणा से 'होल्स्ट' डच साहित्य में बहुत लोक प्रिय हो गई।

गिआर डिनो ब्रूनो

(Gior dino bruno)

इटाली का एक कॉमेडी (सुखान्त) नाटककार और दार्शनिक जिसका जन्म सन् १५४८ में हुआ और सन् १६०० में यह नास्तिकता के अपराध में जीवित जला दिया गया।

सोलहवी सदी में इटली के रंगमंचीय क्षेत्र में एक नया मोड़ आया। उस समय की कॉमेडी रचनाओं में अश्लीलता और यौन दुराचरण की बाढ़ आगई। गिआर डिनो ब्रूनो की प्रसिद्ध कॉमेडी 'इल काण्डेलाइओ' इसी प्रकार की भावनाओं की एक कृति थी।

नाटकीय क्षेत्र की तरह दार्शनिक क्षेत्र में इस लेखक की कृतियों में वहाँ की धर्म-अदालतों को नास्तिकता की बू आई और इसी अपराध में वह जीवित जला दिया गया।

गिजाली मौलाना

फारसी के एक प्रसिद्ध राज कवि, जिनका जन्म सन् १५२४ ई० में 'मसहद' के अन्तर्गत हुआ और मृत्यु सन् १५७२ ई० में अहमदाबाद में हुई।

मौलाना 'गिजाली' अपनी जन्मभूमि 'मसहद' से चल कर प्रारम्भ में दक्षिण के मुसलमानी शासकों के यहाँ गये। परन्तु वहाँ पर उचित क्षेत्र न मिलने पर ये जौनपुर के सुबेदार खाँजमा अलीकुली के पास चले गये। यहीं पर इन्होंने 'नक्शवदीय' नाम की कविता लिखी। इस कविता के प्रत्येक शेर पर नवाब ने उनको एक-एक अशर्फी इनाम दिया।

सन् १५६८ ई० में 'अकबर' के साथ होने वाले युद्ध में खाँजमा मारे गये तब मौलाना गिजाली ने अकबर के यहाँ नौकरी कर ली। सम्राट् अकबर ने उन्हें 'मालिक-उश-शुअरा'

(कविराज) की उपाधि प्रदान की। कहा जाता है कि भारत में यह उपाधि सबसे पहले इन्हीं को मिली थी।

इनकी रचनाओं में एक दीवान और 'किताव असरार' 'रिशहात-उल-हयात' और 'मिरत-उल-कायनात' नाम की तीन मस्नवियाँ उल्लेखनीय हैं। (वसु—विश्वकोष)

गिञ्जी

मद्रास प्रान्त के दक्षिणी अर्काट जिला में, पर्वतीय भूभाग पर बना हुआ एक पहाड़ी किला, जिसका निर्माण १४ वीं शताब्दी में हुआ, ऐसा समझा जाता है।

इस दुर्ग के तीन ओर राजगिरि, कृष्णगिरि और चन्द्रायण दुर्ग नामक तीन पर्वतीय दुर्ग बने हुए हैं। ये तीनों दुर्ग एक सुदृढ़ प्राचीर द्वारा आपस में मिला दिये गये हैं। पर्वत और प्राचीर को मिला कर इस दुर्ग की परिधि ७ मील के करीब पड़ती है।

सन् १३८३ ई० की विजयनगर के राज्य की एक प्रशस्ति में लिखा हुआ है कि इस दुर्ग से ही इस प्रदेश का नाम 'गिंजी' पड़ा। अतः मालूम होता है कि इस प्रशस्ति के समय से पूर्व ही यह दुर्ग बन कर तैयार हो गया था। इस किले में 'कल्याण-महल' 'जिमखाना' 'शस्त्रागार' 'ईदगाह' 'बारिक' 'मण्डप' और एक आठ मञ्जिला 'गुम्बज' बना हुआ है।

बहुत दिनों तक यह किला विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। उसके पश्चात् मैसूर के नायकों ने इस पर अधिकार किया। सन् १५६४ ई० में 'तालीकोट' की लड़ाई में यह किला मुसलमानों के अधिकार में गया। सन् १६३८ ई० में विजयपुर के सेना नायक ने मराठा सरदार साहजी की सहायता से इस पर अधिकार किया। सन् १६७७ ई० में यह किला छत्रपति शिवाजी के अधिकार में आया। उसके बाद औरङ्गजेब के सेनापति 'जुल्फिकार अली खाँ' ने एक लम्बी लड़ाई के बाद सन् १६९८ ई० इस किले पर अपना अधिकार किया। सन् १७५० ई० में फ्रांसीसी सेनापति 'मार्शल भ्रूसी' ने इस पर अधिकार किया। सन् १७८० ई० में यह किला 'हैदरअली' के हाथ में आया।

गिंजी से एक मील उत्तर पहाड़ पर 'तिरूनाथ कुंड' नामक स्थान की पर्वतशिलाओं पर २४ जैन-तीर्थंकरों की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। यहाँ से १॥ मील उत्तर-पश्चिम एक विष्णु-मन्दिर बना हुआ है, जो पहाड़ तोड़ कर बनाया गया है।

गिद्धौर

बिहार-प्रान्त में मुंगेर जिले का एक छोटा गाँव।

प्राचीन काल में यह गाँव बड़ा समृद्धिशाली रहा। इस गाँव के निकट एक बहुत प्राचीन किले के अवशेष दिखलाई पड़ते हैं। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह किला 'शेरशाह' ने बनवाया था। मगर कुछ लोगों के मत से किला पहले मौजूद था। शेरशाहने उसका जीर्णोद्धार करवाया था।

वर्तमान गिद्धौर-राजवंश के प्रतिष्ठाता बीरविक्रमसिंह चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे। इनके पूर्वज बुन्देलखण्ड के 'महोबा' नामक क्षेत्र के राजा थे। सन् ११६८ ई० में बीर विक्रमसिंह यात्रा के लिए परिवार सहित वैद्यनाथ धाम को आये और किसी स्वप्न से प्रेरित होकर यहीं पर उन्होंने 'गिद्धौर' राजवंश की स्थापना की।

इसी वंश के १०वें राजा 'पूरनमल' ने 'वैद्यनाथ' देव के मन्दिर का निर्माण करवाया। मन्दिर के भीतरी दरवाजे के ऊपरी भाग पर संस्कृत-भाषा में उनकी प्रशस्ति खुदी हुई है।

वीर विक्रम की १४ वीं पुश्त में 'दल्लनसिंह' नामक राजा हुए। इन्होंने बंगाल के सूबेदार को दबाने में सम्राट् शाहजहाँ की मदद की थी। इसलिए सम्राट् शाहजहाँ ने इनको राजा की उपाधि प्रदान की थी।

जब बंगाल और बिहार का शासनभार अंग्रेज सरकार के हाथ में आया, उस समय गिद्धौर के राजा 'गोपालसिंह' थे। सन् १८५५ ई० में गोपालसिंह के पौत्र 'जयमंगल सिंह' ने सन्थाल-विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की विशेष रूप से मदद की थी। इससे सन्तुष्ट होकर सन् १८५६ ई० में गवर्नर-जनरल ने उन्हें एक सनद और राजा की उपाधि प्रदान की।

इसके पश्चात् सिपाही-विद्रोह के समय में इन्होंने फिर अंग्रेजी-सरकार की मदद की। जिसके परिणाम-स्वरूप सन् १८५८ ई० में ब्रिटिश-सरकार ने इन्हें यावज्जीवन 'महराजा' और 'के० सी० यस० आई०' की उपाधि तथा एक बड़ी जागीर प्रदान की।

जयमंगल सिंह के पश्चात् राजा 'शिवप्रसाद' और राजा

'रावणेश्वर प्रसाद' गिद्धौर-राजवंश में हुए। इस समय यह कस्वा बहुत छोटी और गिरी हुई हालत में मुंगेर जिले में सम्मिलित है। (वसु—विश्वकोष)

गिनी

अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित, गिनी नामक खाड़ी पर वसा हुआ प्रदेश, जो 'पालमास अन्तरीप' से लेकर 'गेबुन एसचुरी' तक फैला हुआ है।

यह प्रदेश आधुनिक दुनियां की जानकारी में सन् १२७० ई० में जिनेवा के निवासी 'हेलैन्सलाटमेलो-सेलो' के द्वारा लाया गया।

इसका ग्रीनकास्ट नामक ४०० मील लम्बा तट पीपर और काली मिर्च के व्यापार के लिये प्रसिद्ध था। इसका दूसरा विभाग 'आईवरी कॉस्ट' हाथी-दांत के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। इसका एक विभाग 'गोल्डकांस्ट' के नाम से और एक विभाय 'स्लेव कॉस्ट' के नाम से प्रसिद्ध है।

गिनी-प्रदेश में अफ्रीका के घाना, लाइवेरिया, लियोन, आइवरीकोंट, टोगोलेंड नाइजीरिया राज्यों के भाग सम्मिलित हैं। इसके प्रमुख नगरोंमें घाना, इबादान, लागोस, फ्री टाउन इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

गिब्स (जोशिया गिब्स)

एक प्रसिद्ध भौतिक-शास्त्री वैज्ञानिक, जिनका जन्म सन् १८३९ ई० में 'न्यु हेवेन' में हुआ और मृत्यु भी उसी स्थान पर सन् १९०३ ई० में हुई।

गिब्स ने आधुनिक भौतिक-शास्त्र के विकास में उल्लेख-नीय योग दिया है। यद्यपि उनकी प्रसिद्धि अधिक नहीं हुई। उन्होंने हमेशा एकान्त जीवन बिताना ही पसन्द किया और विवाह करनेके झंझट मे भी वे नही पड़े। उन्होंने अपना सारा जीवन अध्ययन मे ही लगाया।

विज्ञान के इतिहास में अपने पत्र—व्यवहार से बहुत कम व्यक्तियों ने इतना प्रभाव डाला होगा जितना 'गिब्स' ने डाला है। इनसे पत्र-व्यवहार करने वालों में तीन वैज्ञानिक प्रमुख थे। प्रथम प्रसिद्ध ब्रिटिश भौतिकशास्त्री लार्ड 'केल्विन' थे, जिन्होंने 'न्यूटन' की मान्यताओं के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई थी। दूसरे डच-वैज्ञानिक 'हैन्ड्रिक-आरेंज' थे, जिनके समी-करणों के आधार पर ही बाद में जगत्-प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'आईन्स्टीन' ने अपने सापेक्षता के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। तीसरे 'मात्रा-सिद्धान्त' के आविष्कारक 'मैक्स प्लैंक' थे, जिन्होंने यह प्रमाणित किया कि 'विकीरण-उर्जा' एक सतत प्रवाह में प्रवाहित नहीं होती प्रत्युत वह लहरों में निकलती है।

गिब्स की दिलचस्पी प्रारंभ में दूसरी उर्जाओं के स्वरूप से ताप के सम्बन्ध मे थी। सन् १८७० ई० में उन्होने इस विषय पर एक निबन्ध प्रकाशित करवाया। इस लेख की तरफ वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इसके कुछ वर्षो के बाद उन्होंने ताप के संक्रमण के नियामक गणित-सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रकाशित करवाया। गिब्स के समीकरण प्रकाशित होने के बाद ही मैक्स प्लैंक ने उनसे पत्र-व्यवहार किया।

गिब्स की व्यवहारिक विज्ञानमें भी बड़ी दिलचस्पी थी। जिस समय 'सेम्युअल-लेंग्ली' अपने उड्डयन संबंधी यंत्रके विकास में लगे हुए थे, उस समय उचित परामर्श के लिए उन्होंने गिब्स को एक पत्र लिखा था। गिब्स ने उन्हें वायुगति-विज्ञान सम्बन्धी समीकरण के नियम लिखकर भेजे थे। इन्हीं समीकरणों को बाद में राइट-बन्धुओं ने अपनी खोज का आधार बनाया था। गिब्स ने एक रेलवे-ब्रेक का भी 'पेटेंट' करवाया था। इसी की सहायता से जॉर्ज वेस्टिंग्स हाउस' ने प्रसिद्ध 'एअर-ब्रेक' का आविष्कार किया था।

सन् १९५५ ई० में 'येल' में भौतिकशास्त्र, प्राणी-विज्ञान और वनस्पतिशास्त्र में उच्च शास्त्रीय अध्ययन के लिए इनकी स्मृतिमें 'जोशिया गिब्स रिसर्च लेबोरेटरी' की स्थापना कर उनका सम्मान किया गया।

गिबन-एडवर्ड (Edword Gibbon)

अंग्रेजी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासकार और गद्य-लेखक जिनका जन्म सन् १७३७ में और मृत्यु सन् १७९४ में हुई।

'एडवर्ड गिबन' ने "दी डिक्लाइन एण्ड दी फॉल ऑफ रोमन एम्पायर" नामक ग्रन्थ को लिख कर बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त

की। इस ग्रन्थ ने इतिहास के उस सुनहले भूतकाल का चित्र जनता के सम्मुख उपस्थित किया जिसके द्वारा प्राचीन के साथ नवीन इनिहास का मूल्यांकन सम्भव हो गया।

इस सुप्रसिद्ध रचना ने उनको इतिहास के क्षेत्र में अमर कर दिया। सन् १७७२ से लेकर सन् १७८७ ई० तक पूरे १५ वर्षों में उन्होंने इस ग्रन्थ को समाप्त किया।

इस ग्रन्थ में योरोप और उसके आस-पास के प्रदेशों का १४ शताब्दियों का सम्पूर्ण इतिहास अत्यन्त सुन्दर और ललित भाषा मे वतलाया गया है। इस ग्रन्थ में रोम की राज्य-व्यवस्था ईसाई-धर्म के प्रचार के पश्चात् योरोप पर पड़ने वाले उसके प्रभावोंका विश्लेषण 'विजन्तीन' में स्थापित रोम के पूर्वी साम्राज्य का विस्तृत वर्णन, इस्लाम के विश्व-व्यापी प्रचार का विश्लेषण, मध्य युग की धार्मिक अन्ध श्रद्धा और उसको तोड़ने वाले धर्म-सुधारकों का इतिहास—इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं का बड़ी रोचक भाषा में सिलसिलेवार वर्णन किया गया है। पूरी दो शताब्दियाँ बीतने और ऐतिहासिक जगत में कई नवीन अनुसन्धान हो जाने के पश्चात् भी इस ग्रंथ का महत्व ज्यों का त्यों बना हुआ है।

गिवनने अपनी ऑटोबॉयग्राफी या आत्मकथा भी लिखी जो उस समय के परिमार्जित गद्य का एक सुघड़ नमूना है। इस प्रकार अठारहवीं सदी के प्रसिद्ध इतिहासकारों और गद्य-लेखकों मे उसने अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया।

प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् 'फ्रीमेन' के मतानुसार "इतिहास में चाहे और कुछ पढ़ा जाय या न पढ़ा जाय 'गिवन' अवश्य पढा जाना चाहिए।"

गिरनार

सौराष्ट्र-राज्य में जूनागढ़ के समीप गिरनार पहाड़ पर बना हुआ जैनियों का सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान जो जैनियों के २२ तीर्थ कर 'नेमिनाथ' की निर्वाण-भूमि के रूप में प्रसिद्ध है।

जैन-परम्पराओं के अनुसार यादव-कुल में सुप्रसिद्ध कृष्णचन्द्र के भाई 'नेमिनाथ' बड़े तेजस्वी, वलवान और उदार पुरुष थे। कृष्ण से उनकी प्रतिस्पर्धा चलती रहती थी। नेमिनाथ का सम्वन्ध राजा उग्रसेन की पुत्री राजमती के साथ निश्चित हुआ था। जब नेमिनाथ की बारात ब्याह के लिए राजमती के यहाँ पहुंची, उस समय कृष्ण के षड़यंत्र से वहाँ की पाकशाला में वहुत से जीवों का वध करवाकर उनका मांस बनवाया गया।

नेमिनाथ विशुद्ध अहिंसक प्रवृत्ति के जैन-धर्म में श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति थे। जीव-हिंसा के इन दृश्यों को देखकर उन्हें अत्यन्त वैराग्य हो गया और वे उसी समय विना विवाह किए जैन-दीक्षा ग्रहण करने के लिये चले गये।

दीक्षा ग्रहण करके उन्होंने 'गिरनार' पर्वत पर कठिन तपस्या की। उन्हीं के स्मारक में इस तीर्थ की स्थापना हुई।

गिरनार पहाड़ की चोटी पर कई जैन-मन्दिर बने हुए हैं। यहाँ तक पहुँचने का मार्ग बड़ा दुर्गम और बीहड़ है। सबसे ऊँची टोंक पर पहुँचने के लिए ७००० सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। आधी दूर जाने पर एक सोरठ का महल और २७ मन्दिर बने हुए हैं। पास में ही नेमिनाथ की धर्मपत्नी राजमती की गुफा है, जहाँ पर उन्होंने तपस्या की थी। इस गुफा में राजमती की चरण-पादुकाएँ बनी हुई हैं।

यहाँ से और ऊँचे चढ़ने पर दो टोंकें मिलती हैं, जिन पर नेमिनाथ ने तपस्या की थी। यहाँ पर हिन्दू-धर्मावलंबियों का 'दत्तात्रेय' का सुप्रसिद्ध मन्दिर भी बना हुआ है। मुसलमान लोग इसे 'आदम बाबा' के नाम से पुकारते हैं। यहाँ से ऊपर सबसे ऊँची चोटी पर जाने पर दो टोंके और बनी हुई हैं। पहली टोंक पर तीर्थंकर नेमिनाथ को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी और दूसरी टोंक पर उनका निर्वाण हुआ था। यहाँ पर उनकी एक प्रतिमा और चरण-पादुका बड़ी सुन्दर बनी हुई हैं।

गिरनार पहाड़ पर एक मन्दिर गुजरात के एक सुप्रसिद्ध नरेश कुमारपाल का और दूसरा मन्दिर वस्तुपाल और तेजपाल नामक दो भाइयोंका वनवाया हुआ है—इसे 'मल्लिनाथ का मन्दिर' कहते हैं। यह सन् १२३७ ई० में बनकर तैयार हुआ। तीसरा सब से सुन्दर मन्दिर नेमिनाथ का बना हुआ है जो लगभग सन् १२७७ ई० में बन कर तैयार हुआ।

इन मन्दिरों के सभा-मण्डप, स्तंभ, शिखर, गर्भगृह आदि विशुद्ध संगमरमर के बने हुए अत्यन्त सुन्दर दिखाई देते हैं।

गिरनार पहाड़ पर कई ऐतिहासिक शिलालेख भी पाये गये है। इनमें एक विशाल चट्टान पर पाली भाषा में खुदी हुई अशोक की मुख्य धर्म-लिपियाँ और उसी चट्टान पर 'क्षत्रप रुद्रदामन' का संस्कृत का सुप्रसिद्ध अभिलेख भी खुदा हुआ है। इसमें रुद्रदामन के द्वारा दाक्षिणात्य नृपति को पराजित करनेका उल्लेख किया हुआ है। इसी विशाल लेख में सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य तथा उनके बाद मे होने वाले राजाओं के द्वारा निर्मित तथा जीर्णोद्धार किए हुए 'सुदर्शन-ताड़ाग' और 'विष्णु मन्दिर' का सुन्दर वर्णन है। राजा रुद्रदामन का यह लेख संस्कृत गद्य के विकास का एक प्राचीन उदाहरण माना जाता है। इसी शिलालेख की चट्टान पर सन् ४५५ ई० की शिलालिपि में 'सुदर्शन-कुण्ड' के बांध टूटने और उसका फिर से जीर्णोद्धार करने का उल्लेख है। यह लेख गुप्त सम्राट् 'स्कन्द गुप्त' के समय का है।

गिरनार (२)

सौराष्ट्र-प्रान्त के जूनागढ़ नगर से १० मील पूर्व में यह पहाड़ियां स्थित हैं। इनकी ऊँचाई करीब ३५०० फुट है। इसकी ५ चोटियाँ प्रमुख हैं।

(१) अम्बा माता (२) गोरखनाथ (३) अगाध शिखर (४) गुरु दत्तात्रेय और (५) कालिका।

इन में सबसे ऊँची चोटी गोरखनाथ की है। अम्बामाता का मन्दिर अम्बादेवी की चोटी पर स्थित है। यहां पर गोमुखी हनुमान-धारा और कमण्डल नामक तीन कुण्ड बने हुए हैं। प्राचीन युग में यहां पर 'अघोर-संप्रदाय' के लोग विशेष रूप से आते-जाते रहे।

इस प्रकार गिरनार का पर्वत जैनियों और हिन्दुओं दोनों का पवित्र तीर्थस्थान बना हुआ है।

गिरजा-घर (चर्च)

ईसाई-धर्म के उपासना-गृह जिनको गिरजा-घर या चर्च' कहते हैं और जिनका इतिहास बहुत पुराना है।

ऐसा समझा जाता है कि सबसे पहला गिरजाघर रोमके अन्तर्गत 'ईसा-मसीह' के प्रमुख शिष्य 'सेंट पीटर' के द्वारा स्थापित किया गया और वे ही इसके सबसे पहले विशप (पादरी) नियुक्त किये गये। इसीलिए रोम का चर्च संसार के सब चर्चों का जनक समझा जाता है। रोम के वचन सबसे पवित्र माने जाते थे। फिर रोम की नगरी भी उस समय संसार के सबसे बड़े साम्राज्य की राजधानी थी। इस कारण उसका और भी विशेष गौरव था।

शुरू की ४ शताब्दियों तक रोमन-चर्च का इतिहास सिलसिलेवार नहीं मिलता। क्योंकि उस समय तक रोम के सम्राटों ने ईसाई-धर्म नही ग्रहण किया था और वे ईसाई-धर्म मानने वालों को हर प्रकार का कष्ट देते थे।

सन् ३११ ई० में सबसे पहले रोम के सम्राट् 'उलेरियस' ने ईसाई-धर्म और रोम के प्राचीन धर्म को बराबरी का स्थान दिया। और उसके पश्चात् सन् ३३० ई० से विजन्तीन सम्राट् 'कांस्टेटाइन' ने स्वय ईसाई-धर्म ग्रहण करके चर्च के महत्व को बढ़ाया।

इसके पश्चात् चर्च का संगठन बाकायदा किया गया और इनके सबसे बड़े धर्माचार्य को 'विशप' और उसके नीचे के धर्माधिकारियों को 'डीकन' 'सब-डीकन' 'एकोलाइट' 'एक जहारसिस्ट' की संज्ञा दी गयी।

इसके पश्चात् रोमन-चर्च का तेजी से विकास होने लगा और बड़े-बड़े विद्वान धर्माचार्यों ने इस संस्था को संगठित करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। इन धर्माचार्यों में सबसे पहला नाम 'अथानीसियस' का आता है जिसने सच्चे चर्चके आचार-विचार आदि का निर्णय किया। मगर इन धर्माचार्यों मे सबसे प्रसिद्ध 'सेंट आगस्टाइन' हुआ। इसका समय सन् ३५४ ई० से सन् ४३० ई० तक था। इस महान् धर्माचार्य ने ईसाई-धर्म के प्रचार में बड़ा सक्रिय सहयोग दिया। इनके लेख ईसाई-साहित्य मे अभी तक प्रमाणभूत माने जाते हैं।

इसी समय से रोमन-चर्च ने धार्मिक-क्षेत्र के साथ साथ राजनैतिक क्षेत्र में भी प्रवेश किया। क्योंकि उस समय पश्चिमी रोम-साम्राज्य के अन्तर्गत बाहरी लोगों के आक्रमण से बड़ी अराजकता फैल चुकी थी। इसलिए वहाँ पर शान्ति स्थापित करने के लिए चर्च ने आगे कदम बढ़ाया। सन् ५०२ ई० में पहली बार रोमन-चर्च की एक सभा ने यह निश्चय किया कि ईश्वर ने संसार में अधिकार की दो तलवारें दी हैं। एक

राजा के हाथ में और दूसरी धर्माधिकारी के हाथ में। मगर धर्माधिकारी की शक्ति राजा की शक्ति से बढ़कर है। क्योंकि धर्माधिकारी ईश्वर के सम्मुख राजा के कार्यों का भी उत्तरदायी है। इसलिए जब धर्म और राज्य का झगड़ा हो, तब धर्माधिकारी का निर्णय ही अन्तिम माना जाना चाहिए।

इसी समय से रोमन-चर्च के बिशप को पोप' (Pope) की संज्ञा प्राप्त हुई। और इसके बाद से १००० वर्ष तक रोमन-चर्च योरोप की सबसे बड़ी शक्तिमान संस्था बन कर रहा।

रोमन-चर्च की उन्नति का सबसे बड़ा श्रेय 'ग्रेगरी महान्' को है जो सन् ५९० ई० में पोप की गद्दी पर बैठे। इन्होंने देश-देशान्तरों मे ईसाई-धर्म का प्रचार करने के लिए सैकड़ो धर्माचार्यों को भेजा। इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रान्स इत्यादि देशों में क्रिस्तान-धर्म का प्रचार करना और वहाँ की धर्म-संस्थाओं को पोप के नियन्त्रण मे लेना—इन्हीं के समय में हुआ।

इसके पश्चात् पोपों की परम्परा मे और भी कई इतिहास प्रसिद्ध पोप हुए जिन्होंने योरोप की राजनीति और धर्मनीति में बड़े महत्वपूर्ण खेल खेले।

ग्रीक-चर्च

सम्राट् कॉस्टेन्टाइन के समय में रोम–साम्राज्य के पूर्वी क्षेत्र में भी कुस्तुन्तुनियाँ के अन्तर्गत चर्च की स्थापना हुई जो "ग्रीक-चर्च' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस पूर्वीय और पश्चिमीय चर्च के विचारों में बड़ा मतभेद होने लगा। ग्रीक-चर्च के अनुयायी कुस्तुन्तुनियाँ के बिशप को सर्वश्रेष्ट मानने लगे। और लेटिन-चर्च के अनुयायी रोमन-चर्च को सर्वश्रेष्ट समझने लगे और इन दोनों चर्चो के अनुयायियों में बहुत झगड़े होने लगे। सन् ४४५ ई० में सम्राट् तृतीय 'वेलेंटाइन' ने एक आदेश जारी किया था कि—'रोम का बिशप सर्वश्रेष्ट समझा जाय और दूसरे सब बिशप उसके कानून का अनुसरण करें।' मगर इसके ६ वर्ष के पश्चात् 'चायलसीडन' नामक स्थान में एक धर्म-सभा ने यह निश्चय किया कि कुस्तुन्तुनियाँ के बिशप को भी रोमन-बिशप के समान ही अधिकार सम्पन्न समझा जाय और सारे संसार के क्रिस्तान-धर्म पर दोनों बिशपों का अधिकार समझा जाय, परन्तु इस निर्णय को पश्चिमीय धर्माचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। इसके बाद भी इन दोनों चर्चो में झगड़े चलते रहे।

कैंटरबरी-चर्च

ईसा की ६ठीं शताब्दी के अन्त में रोमन-चर्च के 'ग्रेगरी महान्' ने ४० पादरियों का एक दल इंगलैण्ड में भेजा। उस समय इंग्लैंड के 'केंट' नामक प्रदेश का 'ईथलबर्ट' नामक राजा था। इसकी रानी फ्रांस की राजकुमारी 'बर्था' पहले से ही ईसाई-धर्म को मानने वाली थी। राजा ईथलबर्ट ने इन पादरियों का बड़ा सम्मान किया और 'कैंटरबरी' गाँव के पुराने गिरजाघर में इनको ठहरने का स्थान दिया। वहीं पर एक धर्मशाला बनवाकर इन पादरियों ने अपना धर्म-प्रचार करना प्रारम्भ किया। तभी से कैंटरबरी का यह चर्च 'कैंटरबरी-चर्च' के नाम से प्रसिद्ध है। अभी भी इंग्लैंड का यह एक सुप्रसिद्ध चर्च है और वहाँ के पादरी 'लाट पादरी' कहे जाते हैं।

इसके पश्चात् ईसाई-धर्म के प्रचार के साथ-साथ संसार के सब देशों में गिरजाघरों की स्थापना हुई। १४वीं तथा १५वीं शताब्दी में 'मार्टिनलूथर' के द्वारा प्रोटेस्टेंट मत की स्थापना के साथ-साथ ये गिरजाघर रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट इन दो विभागों में विभक्त हो गये। प्राचीन धर्म के अनुयायी रोमन-कैथोलिक गिरजाघरों में अपनी उपासना करते हैं और प्रोटेस्टेंट-धर्म के अनुयायी प्रोटेस्टेंट-गिरिजाघरों में।

ईसाइयों के सारे धर्मकार्य—प्रार्थना, बिवाह, मृतक-संस्कार इत्यादि सभी कार्य इन गिरजाघरों में सम्पन्न होते हैं।

गिरजाघर 'नमक का'

दक्षिण अमेरिका में 'कोलम्बिया' नामक स्थान में ,नमक की पहाड़ी के अन्दर बना हुआ एक गिरजाघर जो जगत का एक महान् आश्चर्य है और जिसका निर्माण-कार्य पूरा हो जाने पर उसमें ५० हजार व्यक्ति एक साथ प्रार्थना कर सकेंगे।

१९वीं सदी के प्रारम्भ में दक्षिण अमेरिका का बहुत सा भाग स्पेन की गुलामी में कसा हुआ था और स्पेनी शासकों के अत्याचारों से त्रसित हो रहा था। ऐसे समय में 'साइमन-बोलीवर' नामक एक देश-भक्त ने कुछ देशभक्तों की सेना एकत्र करके स्पेन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया। सन् १८१९ ई० में यह देशभक्त २५०० सैनिकों की एक टुकड़ी लेकर 'एंडोज' और 'वेनजुला' होते हुए कोल-

म्विया पहुँचा। वगोहा के निकट पहुँचने पर इन्हें मालूम हुआ कि ५ हजार स्पेनी सैनिकों की एक सुशिक्षित सेना उनका मुकाबला करने के लिए तेजी से चली आ रही है। बोलीवस की सेना की दोनों तरफ पहाड़ियाँ खड़ी हुई थीं और स्पेनी-सेना से उनकी रक्षा करने का कोई उपाय दिखाई नहीं दे रहा था और चारों ओर निराशा का अन्धकार दिखाई दे रहा था। ऐसे कठिन समय में एक जङ्गली और असभ्य व्यक्ति ईश्वर के भेजे हुए दूत की तरह वहाँ पर आया और उसने एक तङ्ग रास्ते की ओर इशारा किया।

बोलीवर की सेना उस तङ्ग रास्ते की ओर रेंगती हुई आगे बढ़ी। कुछ दूर जाने पर वह संकरा रास्ता चौड़ा हो गया और आगे चल कर 'नमक की एक विशाल गुफा' नजर आई। 'बोलीवर' के आदेश से वह सारो सेना उस गुफा मे उतर गई और तीन दिन तक आराम से वहाँ छिपो रही। यहीं से बोलीवर ने अपने विश्वासपात्र सैनिकी को अपने मित्रों के पास भेजा, जिसके फलस्वरूप दो हजार सैनिकों की 'कुमक' उसे और मिल गई, जिसकी सहायता से उसने स्पेन की सेना को परास्त कर दिया। और यह नमक की गुफा उनके लिए एक पवित्र तीर्थस्थान के रूप में बन गयी।

सन् १८५० ई० के करीब वहाँ के 'रेड-इंडियन' लोगों ने स्पेन वालों को निकाल कर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। उसके बाद वहाँ के लोग छोटे-छोटे दल बाँध कर उस पवित्र गुफा मे जाने लगे और दीवारो को खोद-खोद कर सपाट वना डाला। और उन दीवारों मे सैकड़ों पूजा की वेदियाँ बना डालीं।

आज यह 'नमक का गिरजा घर' दुनियाँ के ७ आश्चर्यों में एक गिना जाता हैं। इसका गुंबज भीतरसे ३०० फुट ऊँचा है और अभी भी यहाँ १५ हजार लोग पूजा के लिए खड़े हो सकते हैं और जब यह पूरा हो जायगा, उस समय ५० हजार व्यक्ति इसमें खड़े हो सकेगें।

मगर इसके खोजने वाले साइमन-बोलीवर का अन्त बड़ा करुणाजनक हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्तिके बाद उसी को विश्वास-घाती ठहराया गया जिसके परिणामस्वरूप उसे देश छोड़ने के लिए वाध्य होना पड़ा। जब वह बन्दरगाह पर जहाज की राह देख रहा था, तभी बीमार पड़ गया और सन् १८३० ई० में एक मित्र के घर पर इसकी मृत्यु हुई। कफन का कपड़ा न होने से मित्र की कमीज में उसका शरीर लपेट कर दफनाया गया।

गिरधर बहादुर

सम्राट् महम्मद शाह के समय में मालवा का एक प्रसिद्ध सूबेदार, जिसको ३० अगस्त सन् १७२२ ई० को मालवा की सूबेदारी प्राप्त हुई।

'गिरिधर बहादुर' नागर ब्राह्मण था। इलाहाबाद के राजा छवीलेराम का वह भतीजा था। पहले वह अवध का सूबेदार रह चुका था। किन्तु जब सम्राट् ने सआदत अली खाँ को अवध की सूबेदारी देने का निश्चय किया तब गिरधर बहादुर को अवध से हटाकर मालवा भेज दिया।

जिस समय गिरधर-बहादुर मालवे में पहुँचा, उसी समय मालवे पर मराठों के आक्रमण प्रारंभ हो चुके थे।

सन् १७२३ में ई० निजाम ने गिरधर बहादुर को मालवा की सूबेदारी से हटा दिया। मगर उसके बाद सन् १७२५ ई० में सम्राट् ने फिर से गिरधर बहादुर को मालवे की सूबेदारी पर नियुक्त किया। इस बार वह अपने चचेरे भाई दया बहादुर को भी साथ ले आया। दयाबहादुर सेना-सञ्चालन की दृष्टि से बड़ा प्रवीण था।

मालवे मे आते ही गिरधरबहादुर और दयाबहादुर ने मराठा-आक्रमणकारियों को दबाना शुरू किया। दयाबहादुर ने इस तेजी के साथ मराठे आक्रमणकारियों का पीछा किया कि उसमें से बहुत से सेना-नायकों ने आत्मसमर्पण कर दिया और दयाबहादुर के नेतृत्त्व में शाही सेनाने मराठा आक्रमण कारियों को निकाल बाहर कर दिया।

इसके पश्चात् गिरधरबहादुर ने मालवा प्रान्त में मुगल शासन को सुदृढ़ और सुसंगठित बनाने के लिए भरसक प्रयत्न किया, मगर धन की कमी से उसे पूरी सफलता न मिली।

अक्टूबर सन् १७२८ ई० में पेशवा ने एक विशाल मराठासेना का संगठन करके चिमाजी-बलाल के नेतृत्व में मालवे पर आक्रमण करनेके लिए भेजा। शाही सेना गिरधर बहादुर और दया बहादुर के नेतृत्व मे मराठो का सामना करने को बढ़ी। 'अमझरा' के मैदान मे २९ नवंवर सन् १७२९ ई० को भयंकर युद्ध हुआ।

इस लड़ाई में गिरिधरबहादुर और दयाबहादुर दोनों मारे गये। शाही सेना की भयंकर पराजय हुई। इसी सयम से मालवा प्रान्त में मराठों का बोल बाला हो गया।

गिरजादत्त शुक्ल (गिरीश)

हिन्दी के एक प्रसिद्ध साहित्यकार और कवि जिनका जन्म सन् १९०० ई० के करीब और मृत्यु सन् १९५९ ई० में हुई।

सन् १९२२ ई० में पं० गिरिजादत्तशुक्ल ने प्रयाग विश्व विद्यालय से बी० ए० पास किया और उसके बाद 'लॉ ज्वाइन' करके वे युनिवर्सिटीके जैन-होस्टलमे रहने लगे। जैन होस्टल उन दिनो प्रयाग का एक साहित्यिक तीर्थ बना हुआ था और उन्हीं साहित्यिकों के संसर्ग से इनके अन्दर साहित्यिक प्रतिभा का जागरण हुआ।

इनके साहित्यिक जीवन का प्रारंभ इनकी 'रसालवन' नामक कृति से प्रारंभ हुआ। इसके पश्चात् इन्होने एक पुस्तक 'प्रसाद' पर, एक पुस्तक 'प्रेमचन्द' पर और ६०० पृष्ठों का एक ग्रन्थ भारतीय ज्योतिष पर लिखा। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई उपन्यासों की भी रचना की।

मगर इनकी सबसे बड़ी महान् कृति 'तारक-बध' महाकाव्य थी। जिसे इन्होंने २० वर्षके लगातार परिश्रम से लिखा था। यह महाकाव्य जब अप्रकाशित था, तभी इसकी चर्चा हिन्दी-संसार में काफी हो गयी थी। इसी के साथ साथ इनके 'बाबू साहब' और 'बहता पानी' उपन्यास भी प्रकाशित हुए। इन उपन्यासों ने हिन्दी-साहित्य में अच्छा आदर प्राप्त किया। इनकी उल्लेखनीय रचनाएँ इस प्रकार हैं—

महकाव्य—तारकबध।

खण्डकाव्य—रसाल-वन, प्रयाण, गृह-लक्ष्मी।

आलोचना—'महाकवि हरिऔध, 'गुप्तजी की काव्य-धारा'

उपन्यास—नादिरा, पाप की पहेली, प्रेम की पीड़ा, बाबूसाहब, लम्बोदर त्रिपाठी, बहता पानी इत्यादि।

गिरधर कविराय

हिन्दी भाषा की नीति विषयक कुंडलियो के एक सुप्रसिद्ध कवि, जिनका जन्म सन् १७१३ ई० में बाराबंकी जिले के एक ग्राम में हुआ था।

गिरधर कविराय ने अपनी सारी कविताएँ कुंडलिया छंद के अन्तर्गत की है। इनकी सारी कुण्डलिया नीति, व्यवहार और सामाजिक मर्यादाओं पर आधारित है। काव्य, अलङ्कार और अनुप्रास के चक्कर में न पड़कर सीधी-सादी भाषा मे जो बातें इनकी समझ में आई उनको तथ्यरूप से प्रकट कर दिया है। नीति सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए जो दृष्टान्त प्राप्त हुए उन्हें भी इन्होंने अपनी कविताओंमें देदिये। अत्यन्त सीधी-सादी और उपयोगी होने के कारण इनकी कुंडलियों का प्रचार शिक्षित और अशिक्षित, शहरी और ग्रामीण सभी क्षेत्रों में बहुत अधिक हुआ।

साईं बेटा बाप के, बिगरे भयो अकाज।
हरनाकुश अरु कंस को, गयो दुहुन के राज॥
गयो दुहुन के राज बाप-बेटा के बिगरे।
दुश्मन दावागीर भये महिमण्डल सिगरे॥
कह गिरधर कविराय जुगन याही चली आई।
पिता-पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई॥
रहिए लटपट काटि दिन, बरु घामहिं में सोय।
छाहँ न वाकी बैठिए, जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोका देहैं।
जा दिन बहे बयारि टूटि पुनि जड़ ते जैहैं॥
कह 'गिरिधर' कविराय छाहँ मोटे की गहिए।
पाता सब झरिजाय तऊ छाया में रहिए॥

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

संस्कृत-भाषा के एक सुप्रसिद्ध विद्वान्, महामहोपाध्याय, विद्यावाचस्पति पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, जिनका जन्म सन् १८८१ ई० में राजस्थान के जयपुर नगर मे हुआ।

पं० गिरिधर शर्माके पिताका नाम पं० गोकुलचन्द्र शर्मा था। संस्कृत-भाषा के प्रति बाल्यकाल से ही इनकी बड़ी

अभिरुचि थी। जिसके फलस्वरूप संस्कृत की प्रवेशिका-परीक्षा से लेकर आचार्य की उच्चपरीक्षा तक सब परीक्षाएँ इन्होंने प्रथम स्थानसे उत्तीर्ण कीं। इसके बाद इन्होंने जयपुर कालेज से वेदान्त की परीक्षा तथा पञ्जाब विश्वविद्यालय से शास्त्री की परीक्षा भी एक साथ पास की।

अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् इन्होंने कुछ समय तक विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में लेख लिखना प्रारम्भ किया। कुछ समय के पश्चात् इनकी नियुक्ति सहारनपुर के 'स्याद्वाद जैन महाविद्यालय' के प्रधानाचार्यके पद पर हुई। सन् १९०८ई० में ऋषिकुल-ब्रह्मचर्लाश्रम, ज्वालापुर के अधिष्ठाता की जगह पर चतुर्वेदीजी की नियुक्ति हुई। सन् १९१८ से सन् १९२४ ई० तक सनातन धर्म कालेज, लाहौर में इन्होंने अध्यापन का कार्य किया। सन् १९२५ ई० से सन् १९४४ ई० तक 'महाराजा संस्कृत कालेज जयपुर के ये प्रधानाचार्य रहे। और सन् १९५० ई०से सन् १९५४ ई० तक बनारस युनिवर्सिटीमें 'डाइरेक्टर ऑफ संस्कृत स्टडीज ऐंड रिसर्च' के पदपर इनकी नियुक्ति हुई।

पं० गिरिधर शर्मा ने अपने जीवन में कई पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों का सम्पादन किया है। इनके द्वारा सम्पादित और रचित ग्रंथों में गीता-विज्ञान भाष्य, बालाम्बा-परिणय चम्पू, शतपथ ब्राह्मण, महाकाव्य संग्रह, ब्रह्म-सिद्धान्त, पाणिनीय-परिचय, वेद-विज्ञान बिन्दु, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति इत्यादि, हिन्दी तथा संस्कृत की अनेक रचनाएँ उल्लेखनीय है।

इनकी विद्वत्ता और साहित्य सेवासे प्रभावित होकर भारत सरकार ने इन्हें 'महामहोपाध्याय' की, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी ने वाचस्पति' की, हिन्दी साहित्य-सम्मेलनने साहित्य-वाचस्पति' की और भारत धर्म महामण्डल ने महामहोपदेशक की सम्मानपूर्ण उपाधियाँ प्रदान कीं।

अ० भा० संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली की स्थापना का श्रेय भी चतुर्वेदीजी को ही प्राप्त है। इस संस्था की भारत के अनेक प्रदेशों मे शाखाएँ हैं। इस संस्था के अखिल भारतीय कई अधिवेशनों के आप सभापति भी रहे हैं।

सन् १९५६ ई० में महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा की 'हीरक-जयन्ती' अ० भा० संस्कृत सम्मेलन के द्वारा दिल्ली में बड़े समारोह के साथ मनाई गयी। उस अवसर पर दरभंगा के नरेश स्वर्गीय कामेश्वर सिंह ने आप को अभिनंदन पत्र भेंट किया था।

८६ वर्ष की आयु हो जाने और शरीर की शक्ति और नेत्रों की ज्योति मन्द पड़ जाने पर भी आप अपना दैनिक कार्य, उपासना, ग्रंथ-लेखन तथा विभिन्न संस्थाओं में योगदान इत्यादि सभी कार्य नियमित रूप से करते रहते हैं।

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न'

हिन्दी और संस्कृत के एक सुप्रसिद्ध कवि पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' जिनका जन्म सन् १८८० ई० के आसपास हुआ था।

पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' वैसे गुजराती ब्राह्मण थे मगर शुरू से ही झालावाड़ नरेश के राजकवि की तरह झालरापाटन में रहते थे। हिन्दी के प्रारम्भिक युग में मालवा और राजपूताने के अन्तर्गत हिन्दी-साहित्य के प्रचार में इन्हो ने बड़ा योग दिया। इनकी कविताए 'सरस्वती' में बराबर छपती रहीं।

इन्होंने विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'गीताञ्जलि' का और माघ के 'शिशुपालवध' के दो सर्गो का तथा जैनियों के भक्ताभर, कल्याण मन्दिर इत्यादि कई काव्यों का सुंदर हिन्दी खड़ी बोली मे सुंदर पद्यानुवाद किया था। इसके अतिरिक्त गुजराती के सुप्रसिद्ध कवि नानालाल दलपतराम की 'जया-जयन्त' और 'ऊषा' नामक कृतियों का भी सुन्दर हिन्दी में अनुवाद किया था।

पं० गिरिधर शर्मा हिन्दी के साथ ही संस्कृतके भी अच्छे कवि थे। 'गोल्ड स्मिथ' के 'हरमिट' (Hermit) नामक काव्य का इन्होंने संस्कृत श्लोको में अनुवाद किया था। राजपूताने से निकलने वाले 'विद्या भास्कर' नामक पत्र का भी कुछ दिनों तक इन्होंने सम्पादन किया था। इनकी मृत्यु सन् १९६१ में होगई।

गिरीशचन्द्र घोष

बंगला-साहित्य के एक महान् नाटककार और कवि, जिनका जन्म सन् १८४४ ई० मे और मृत्यु सन् १९१२ ई० मे हुई।

'गिरीशचन्द्र घोष' का महत्व वंगला रंगमञ्च तथा बंगला नाटक-साहित्य में अद्वितीय है। इनके पहले बंगला के अधिकांश रंगमञ्च राजाओं और अमीर घरानों के व्यक्तिगत रंगमञ्च थे। जिनमें साधारण जनताको प्रवेश करनेका अधिकार नही होता था। गिरीशचन्द्र घोष ने एक सार्वजनिक रंगमञ्च स्थापित करने का संकल्प किया। और बाग-वजार में एक छोटी नाटक-मण्डली स्थापित की। इससे बंगाली नाटक-साहित्य में एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ।

सन् १८६१ ई० में इस नाटक मण्डली में मधुसूदनदत्त का 'शर्मिष्ठा' नामक नाटक खेला गया। इसका संगीत स्वयं 'गिरीश वाबू' ने बनाया था। यह नाटक बहुत सफल रहा। इसके पश्चात् गिरीशचन्द्र घोषने बड़े परिश्रमसे 'नेशनल-थियेटर' नामक एक स्थायी रंगमञ्च की स्थापना थी। इस थियेटर में सन् १८७१ ई० मे दीनबन्धु रचित 'लीलावती' नामक नाटक खेला गया। इससे 'नेशनल-थियेटर' की बड़ी प्रसिद्धि हो गयी। नेशनल थियेटर पहला थियेटर था, जो एक व्यवसायिक रंगमञ्च के रूप में बंगाल के अन्दर स्थापित हुआ। इसके वाद तो बहुत से रंगमञ्च स्थापित हुए।

उसके बाद गिरीश बाबू 'ग्रेट नेशनल थियेटर' में वैतनिक प्रबन्धक नियुक्त हो गये और उन्होंने नाटक लिखने का नियमित क्रम अपना लिया। इन्होंने भिन्न-भिन्न शैलियों में लगभग ८० नाटकों की रचना की।

गिरीशचन्द्र घोष का विशेप महत्व इस लिए है कि इन्होंने बंगला रंगमञ्च को सम्भ्रान्त कुलो के क्षेत्र से निकाल कर साधारण जनता के लिए सुलभ बनाया और स्वयं अपने अभिनय के द्वारा वंगला-रंगमञ्च की कला को ऊंचे स्थान पर पहुँचा दिया। इन्होंने कई स्त्री अभिनेत्रियों को भी रंगमञ्च पर आने के लिए उत्साहित किया। इन अभिनेत्रियो में 'सुकुमारी दत्त' और तारासुन्दरी' के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

गिरीशचन्द्र घोष वंगला-नाटक-साहित्य के इतिहास में एक नवीन युग के प्रवर्तक माने जाने हैं।

(डा० सत्येन्द्र बंगला-साहित्य का इतिहास)

गिरीशचन्द्र राय

बंगाल प्रान्त में 'नवद्वीप' के राजा-ईश्वरचन्द्र के पुत्र, जिनका जन्म सन् १७८६ ई० में और मृत्यु सन् १८४१ ई० में हुई।

गिरीशचन्द्र राय छोटी उमर से ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इन्होंने कृष्णनगर में 'आनन्दमयी काली' और 'आनन्दमय शिव' के मन्दिर बनवाये थे। गंगा के किनारे जमीन में से इनको एक गोपालजी की मूर्ति प्राप्त हुई थी। इस मूर्ति को बड़े समारोह के साथ ले जाकर इन्हें 'नवद्वीप-नाथ' के नाम से स्थापित किया। इन धार्मिक कार्यों में बहुत द्रव्य खर्च हो जाने से इनकी आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर हो गयी और जमींदारी के ८४ परगनों में से केवल ७ परगने बच गये। ऐसे आर्थिक कष्ट में भी इन्होने नवद्वीप में दो बड़े मन्दिरों का निर्माण करवाता। एक मन्दिर में 'भवतारणी' के नाम से काली की प्रतिमा को और दूसरे मन्दिर में 'भवतारण' के नाम से शिव की विशाल प्रतिमा को स्थापित किया।

शिरीशचन्द्र राय की साहित्य और संगीत में विशेष अभिरुचि थी।

गिलगिट

काश्मीर-राज्य का एक जिला और उपत्यका, जो इस समय अवैधानिक रूप से आजाद कश्मीर के अधिकार में है।

यह नगर और जिला काश्मीर मे सिन्धु नदी की सहायक 'गिलगिट नदी' के किनारे पर सिन्धु नदी से २४ मील की दूरी पर बसा हुआ है।

इस स्थान का प्राचीन नाम 'सगिन' था, जो बदल कर गिलगिट नदी के नाम पर 'गिलगिट' रखा गया। पहले यह नगर ८ दुर्गों से परिवेष्ठित था, मगर 'यसीन' और 'चित्राल' वाले राजाओं के आपस मे लड़ने से इन दुर्गों का विध्वंस हो गया। उसके बाद यह उपत्यका सिक्खों के अधिकार में चली गयी। पुराने मन्दिर और बौद्ध कला के ध्वंसों के देखने से मालूम होता है कि १५वी शताब्दी से पहले यहाँ पर हिन्दुओं का राज्य था। हिन्दू राजवंश के अन्तिम राजा का नाम 'श्रीवद्दत' था जी आदमखोर के नाम से मशहूर था।

किसी मुसलमान आक्रमणकारी ने युद्ध में इस राजा को मारकर उसकी कन्या से विवाह कर लिया। इस कन्या की सन्तानें "एरवने" वंशके नामसे अभिहित हुई थी राजा श्रीवद्दत के समय में चित्राल, यसीन, तंगीर, दरेल, चिलास, गोर, अस्तोर, दूनजा, नागर, हरमोज इत्यादि स्थान गिलगिट-रांज्य के अन्तर्गत थे।

इस पार्वत्य-प्रदेश में असंख्य उपत्यकाएँ और बहुत सी पर्वत चोटियाँ नजर आती हैं। ये चोटियाँ १८ हजार फुट से लेकर २६ हजार फुट तक की ऊँची हैं। इसके निम्न प्रदेश में बहुत से जंगली भैंसे, कुत्ते, लाल रीछ और स्थान परिवर्तन करने वाले पक्षी पाये जाते हैं। गिलगिट नगर और सिन्धु नदी के मध्यवर्ती स्थान में 'वागरोत' उपत्यका हैं। इस उपत्यका में बहुत से समृद्धशाली गाँव बसे हुए हैं। इस क्षेत्र में विशेष कर शीन-वंशी लोग रहते हैं। इनकी भाषा, शीनभाषा कहलाती है।

सन् १८६८ ई० मे यह जिला काश्मीर राज्य के अधिकार में आया। गिलगिट वजारत में कुल २६४ गाँव हैं।

गिल्क्राइस्ट

सुप्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् जिनको उर्दू-गद्य का पिता कहा जाता है। इनका जन्म सन् १७५९ ई० में 'एडिन्बरा' में हुआ और मृत्यु सन् १८४१ ई० में पेरिस के अन्दर हुई।

सन् १७८४ ई० में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के सर्जन होकर ये कलकता आये। भारतीय भाषाओं के अध्ययन में इनको बड़ी दिलचस्पी थी। भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्होंने स्वयं उत्तरी भारत का भ्रमण करके वहाँ की बोल चाल की भाषाओंका अध्ययन किया और संस्कृत तथा फारसी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया।

सन् १८०० ई० में कलकत्ते में 'फोर्ट-विलियम कालेज' की स्थापना हुई और डा० गिल्क्राइस्ट उसके पहले प्रिंसिपल बनाये गये। लार्ड 'वेलस्ली' ने हिन्दी और उर्दू की पाठ्य-पुस्तकों की रचना का कुल भार इनको सौंपा, जिसे इन्होंने पूरी सफलता के साथ सम्पूर्ण किया। इसी समय में इन्होने इंगलिश और हिन्दुस्तानी की 'डिक्शनरी' दो भागों में और हिन्दुस्तानी व्याकरणकी रचनाकी। कप्तान 'अब्राहमक्लोकट' प्रोफेसर जे० डब्ल्यू टेलर और डा० 'हंटर' के सहयोग से डा० गिल्क्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू के गद्य कोएक सुन्दर और सरल रूप देने का सफल प्रयत्न किया। इसी से इनको उर्दू गद्य का पिता भी कहा जाता है।

सन् १८०४ ई० में स्वास्थ्य अच्छा न रहने के कारण डा० गिल्क्राइस्ट वापस विलायत चले गये। वहाँ पर एडिनबरा विश्वविद्यालय ने इन्हे एल्०-एल० डी० की डिग्री प्रदान की। लन्दन में ओरियण्टल इंस्टिट्यूशन के खुलने पर सन् १८१८ से १८२६ ई० तक उसमें ये हिन्दुस्तानी के अध्यापक रहे। सन् १८४१ ई० में पेरिस में इनका देहान्त हुआ। इनकी स्मृति मे कलकत्ते में गिल्क्राइस्ट एजूकेशन ट्रस्ट की स्थापना हुई।

इनकी रचनाओं में (१) इंग्लिश-हिन्दी डिक्शनरी (२) ग्रामर ऑफ दी हिन्दुस्तानी लैंग्वेज (३) दी ऐंटी जारगोनिस्ट (४) दी स्ट्रेंजर्स ईस्ट इण्डियन गाइड टू दि हिन्दुस्तानी और (५) दी हिन्दी-स्टोरी टेलर नामक रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।

सन् १८२५ ई० में उन्होंने अपनी सब रचनाओं का संग्रह 'दी ओरियण्टल आक्सीडेण्टल ट्यूशनरी पायोनियर' के नाम से प्रकाशित किया।

गिलगमेष

सुमेरियन और वेबिलोनियन नामक अत्यंत प्राचीन सभ्यताओं के अंतर्गत ईसा से करीव बारह सौ वर्ष पहले लिखा हुआ एक महान् वीरकाव्य। जो क्यूनीफार्म या कीलाक्षरी लिपि में बारह ईटों पर खुदा हुआ है। और जिसमे उसी प्रकार जल-प्रलय की कहानी अङ्कित की गई है जैसी वाईविल, प्राचीन भारतीय साहित्य और अन्य प्राचीन सभ्यताओं के साहित्य में भी पाई जाती है।

अत्यन्त प्राचीनकाल में ईसा से करीब पाँच हजार वर्ष पूर्व से लेकर कई हजार वर्षों तक मेसोपेटोनिया की दजला और फरात नदियों की घाटियों में सुमेरियन, वेबिलोनियन और असीरियन इन तीन महान् सभ्यताओं का विकास हुआ। इन प्राचीन संस्कृतियों की छाया में मनुष्य ने जीवन के हरएक क्षेत्र मे साहित्य, काव्य, ज्योतिप, गणित, कानून, धर्म शास्त्र इत्यादि सभी क्षेत्रों में काफी उन्नति करली थी।

उस समय का ऐतिहासिक वर्णन उस समय की कीलाक्षरी लिपी में बड़ी बड़ी ईंटों के ऊपर खोदा जाता था। इस साहित्य का अधिकांश भाग समय के प्रबल आघातों से और मनुष्य के द्वारा किये हुए महान् विध्वंस की चपेट में आकर नष्ट हो गया।

मगर मानव जाति के सौभाग्य से ईसा से सातवीं सदी पूर्व प्रसिद्ध असीरियन सम्राट् असुर-बनिपाल के द्वारा संगृहीत किया हुआ एक पूरा भण्डार आधुनिक पुरातत्वज्ञों को उपलब्ध हो गया है। इस भंडार में उस समय के साहित्य की हजारों ईंटे सुरक्षित हैं। जिनके द्वारा हमें इन प्राचीन सभ्यताओं का पूरा पूरा इतिहास सिनेमा की फिल्म की तरह दिखाई देने लगा है।

प्रारम्भ में बहुत समय तक यह लिपि पुरातत्ववेत्ताओंके पढ़ने में नहीं आई। मगर अन्तमें प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ ग्रोण्टेफेण्ट और रालिन्सनके प्रयत्नोंसे इस लिपिका रहस्योद्घाटन हो गया और इस साहित्य के अध्ययन ने समग्र मानवीय इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया।

"गिल्गमेष" इसी लिपि में लिखा हुआ एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। समझा जाता है कि यह महान् जल प्रलय ईसा से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व हुआ था जिसकी कहानियाँ बाइबिलमें भी अङ्कित है और भारत वर्षके प्राचीन साहित्य में भी वर्णित है। बाईबिल में इस जल प्रलय से बच कर सृष्टि का पुनर्निर्माण करने वाला नूह, भारतीय संस्कृति में इस जल प्रलय से बचकर सृष्टि का पुन निर्माण करने वाला मनु और सुमेरियन संस्कृति में इस जल प्रलय का नायक "जिऊसद्दू" है। एक २ ईंटमें काव्य का एक एक सर्ग लिखा हुआ है।

इस काव्य की बारह ईंटो में से पहली ईंट पर काव्य की भूमिका बांधते हुए बतलाया गया है कि गिल्गिमेष पिता लुगालबन्दा आधा मानव और आधा देव है। गिल्गिमेष की माता निन्सुन देवी है। इनके शासन में प्रजापर बड़े अत्याचार होते हैं। सारी प्रजा राजकीय त्रास से व्याकुल होकर देवताओं की शरण में जाती है। देवता उस अत्याचारी व्यक्तिका अन्त करने के लिए "एकिन्दू" नामक ऐसे प्राणी की सृष्टि करते हैं जो रीछ की तरह बालों से भरा हुआ वनपशु की तरह है मगर अत्यन्त भीमकाय और दुर्गम है।

यह भीषण बन पशु वन में तहलका मचा देता है। तब वहाँ के शिकारी उसकी शिकायत "गिल्गमेष" से करते हैं। जिस प्रकार भारतीय साहित्य में ऋषियों की तपस्या को भंग करने के लिए इन्द्र अप्सराओंको भेजा करता था। उसी प्रकार गिलामेष भी उस भयङ्कर बनमानव का चारित्रिक पतन करने के लिए एक अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा को भेजता है।

उस सुन्दरी देव कन्या के मोहपाश में पड़कर 'एकिन्दू' का पतन हो जाता है और बन के पशु उससे घृणा करने लगते हैं तब एकिन्दु उस देव कन्या के साथ जंगल से हटकर उसके नगर में आ पहुँचता है।

इसके पश्चात् दूसरी ईंट प्रारम्भ होती है जिसमें वह देव कन्या एकिन्दू को मानव समाज की सारी सभ्यता से परिचित करती है। इसके बाद एकिन्दू का गिल्गमेष के साथ भयङ्कर युद्ध होता है जिसमे दोनों अपराजित रहते हैं और परस्पर एक दूसरे के मित्र हो जाते हैं।

इसके पश्चात् तीसरी ईंट पर इन दोनों महाबलशाली मित्रों के द्वारा सीरिया के दारु वन पर किये हुए आक्रमण का वर्णन है। इस दारुवनकी रक्षा "हुँबाबा" नामक एक दानव करता था। इस दानवकी भयङ्कर शक्तिके कारण गिल्गमेषकी माता और उसके सब हितचिंतक उसे वहाँ जाने से मना करते हैं।

चौथी ईंट टूट गई है। मगर उसके कुछ भाग से पता चलता है कि गिल्गमेष अपने मित्र एकिन्दू के साथ दैत्य पर आक्रमण करने दारुवन पहुँचता है।

पांचवी ईंट में बतलाया गया है कि इस समय गिल्गमेष को कई भयङ्कर स्वप्न आते हैं। वह उन स्वप्नों का फल एकिन्दू से पूछता हैं। एकिन्दू बतलाता है कि इन स्वप्नों से प्रतीत होता है कि हम लोग इस दैत्य का संहार करने में सफल होंगे। अन्त में सूर्यदेव की सहायता से वे उसका नाश कर डालते हैं हैं।

छठी ईंट मे दोनों वीरों के विजयी होकर लौटने का काव्यमयी शैली में वर्णन है। इनकी इस विजय से मुग्ध होकर वनस्पतियों की देवी "इनिन्ना" जिसके और भी कई प्रेमी थे

गिल्गमेष पर मोहित हो जाती है। मगर गिल्गमेष उसकी प्रणय-याचना को ठुकरा देता है।

इससे क्रुद्ध होकर देवी "इनिश्ना" अपने पिता "अन्न-देवता" से एक दिव्य वृषभ का सृजन करने को कहती है। जो गिल्गमेष का संहार कर दे। दिव्य वृषभ का सृजन होता है। वह बहुत से आदमियों को मार डालता है। मगर अन्त में "एकिन्दू" उसके सींग पकड़ कर उसे पछाड़ देता है। देवी इनिश्ना बहुत अपमानित होती है मगर असहाय है। इस दिव्य वृषभ के सींगों से साठ मन तेल प्राप्त होता है। जिसे एक ज्ञान-दीप में भर कर गिल्गमेष लुगाल-बन्दा के मन्दिर में जलाता है।

सातवीं टूटी हुई ईंट से पता चलता है कि दिव्य-वृषभ को मार डालने के अपराध में देवता लोग "एकिन्दू" को मृत्युदण्ड देते हैं। और वह एक भयङ्कर स्वप्न में यमलोक देखता है। इसके पश्चात् काव्य में यमलोक का वर्णन उसी प्रकार किया गया है जैसा भारतीय साहित्य में पाया जाता है।

आठवीं ईंट में गिल्गमेष अपने मरणासन्न मित्र को धीरज बंधाता है। मगर अन्त में एकिन्दू की मृत्यु हो जाती है और अपने मित्र के वियोग में मर्मस्पर्शी शब्दों में गिल्गमेष विलाप करता है।

इसके पश्चात् गिल्गमेष को भगवान् बुद्ध की तरह या कठ उपनिषद् के नचिकेता की तरह यह प्रश्न सताता है कि क्या अपने मित्रकी तरह एक दिन वह भी मर जावेगा। क्या दुनियाँ के हर एक व्यक्ति को इसी प्रकार मरना होता है? तब जिस प्रकार अमरता की खोज में नचिकेता यम-राज की शरण में गया था उसी प्रकार वह भी उस समय अमरता का भेद जानने वाले "जिऊसद्दू" की तलाश मे जाता है। जल-प्रलय के पश्चात् जिउसद्दू को देवताओं से अमरता का भेद मालूम हुआ था।

नवी ईंट में गिल्गमेष की उस भयङ्कर यात्रा का वर्णन है जो 'गिल्गमेष' ने जिऊसद्दू की खोज में की थी। वह बड़े-बड़े भयानक पर्वतों पर जाता है जहाँ की रक्षा दैव-वृषभ करते हैं।

दसवीं ईंट में वह 'मृत्यु के समुद्र' में पहुंचता है। इस मृत्यु-समुद्र में नाव चलाने वाला केवट उसकी भयङ्करता का वर्णन करके उसे वापस लौटने की सलाह देता है। मगर गिल्गमेष वहाँ पहुँचने के लिए अपना दृढ़ निश्चय प्रकट करता है और अन्त में वह जिऊसद्दू के पास पहुँच जाता है।

ग्यारहवीं ईंट में जिऊसद्दू उसे "जल-प्रलय" की भयङ्कर कहानी कहता है जो इस काव्य के अन्तर्गत दूसरा उपकाव्य है।

जिउसद्दू को अमरता कैसे प्राप्त हुई इसका भेद बतलाते हुए वह कहता है कि फरात नदी के किनारे बसे हुए प्राचीन नगर "शुरुप्पक" में रहने वाले देवता एन्लिल ने वहाँ के निवासियों से क्रुद्ध होकर जल-प्रलय करने का निश्चय किया। मगर दूसरा देवता एंकी जो बड़ा दयालु था इस जल-प्रलय के विरुद्ध था। इस देवता ने उस देवता के संकल्प को नरकट की एक झोपड़ी में सोते हुए जिउसद्दू को सुनाते हुए कहा कि ऐ शुरुप्पक के इन्सान! अपने सब माल असबाब को यहीं छोड़ कर अपनी जान बचाने की फिक्र कर और एक नौका बना कर उस पर सब जीवों के बीजों को चुन कर रख ले। उसके कहने के अनुसार जिउसद्दू ने एक मजबूत नाव बनाई और उसे जीवों के बीजों से और भोजन से खूब भर लिया। और स्वयं अपने को तथा अपने परिवार को उसमें चढ़ा कर उसे चारों ओर से बन्द कर लिया।

जल प्रलय का प्रारम्भ भयङ्कर तूफान के साथ हुआ। चारों तरफ घोर अन्धकार छा गया, और भयङ्कर तर्जन-गर्जन के साथ जल बढ़ने लगा। सारी सृष्टि में चारों ओर जल ही जल हो गया। फिर छोटे-छोटे पर्वतों के शृङ्ग उसमें डूबने लगे, बड़े-बड़े पर्वत शृङ्ग भी उसमें विलीन होने लगे। पृथ्वी और आकाश में कोई भेद नही रहा, देवता स्वर्ग में एक दूसरे से चिपके हुए भय से पत्तों तरह थर-थर कांप रहे थे। वहाँ की मातृदेवी इनन्ना प्रसव पीड़ित नारी की भांति चीख रही थी।

सात रात और छः दिनों तक लगातार बाढ का पानी उमड़ता रहा। दैत्याकार जल तरङ्गोंके बीच अपनी नौका में बैठा हुआ जिऊसद्दू भय से थर-थर कांप रहा था। अन्त में उसकी नौका एक अत्यन्त ऊँचे पर्वत शिखर के साथ लग जाती है। उसी पर्वत शिखर पर से जिउसद्दू प्रलय के भयङ्कर दृश्य को देखता रहा।

सतवें दिन उसने एक कबूतर उड़ाया। कबूतर उड़ता-

उड़ता वापस वहीं आ गया, उसे कहीं बैठने को जगह नहीं मिली। फिर उसने एक दूसरा और तीसरा पक्षी उड़ाया। तीसरे पक्षी कौए ने सूचना दी कि अब जल घट रहा है। इसके बाद जिऊसद्दू ने देवताओं को बलि चढाई। वहां सब देवता इकट्ठा हुए। और उन्होंने प्रलय के कर्त्ता एन्लिल देवता को बहुत बुरा भला कहा। कहा कि—ऐ देवता! यदि किसी ने पाप किया हो तो उसका दण्ड पापी को देना चाहिए। किसी ने मर्यादा भङ्ग की हो तो उसकी सजा उसी को मिलना चाहिए। सारी सृष्टि पर जल प्रलय लाना बहुत बुरा है। इससे तो अच्छा है कि सिंह और भेड़ियों को भेज कर प्रजा का नाश कर दे।

इस पर एन्लिल देवता बहुत लज्जित हुआ। उसने नाव में जाकर जिउसद्दू और उसकी पत्नी को निकाला और उन्हें देवता बनने का बरदान दिया और अमरता का रहस्य बतलाया।

इस प्रकार जल-प्रलय की कथा सुना कर जिउसद्दू, गिलगमेष को अमरता का रहस्य बतलाते हुए कहता है कि अमरता समुद्र के तल में पैदा होने वाली एक औषधि से प्राप्त होती है। इस औषधि में कांटे होते हैं। तब गिल्गमेष पैरों में भारी पत्थर बांध कर समुद्र के तल में पहुँचता है और वहाँ से उस औषधिको प्राप्त कर वापस ऊपर आता है। उसके बाद मर्त्य जगत् में आकर वह उस औषधि को किनारे पर रख कर स्नान करने के लिए सरोवर में प्रवेश करता है। उसी समय कहीं से एक सांप वहाँ आता है और वह उस अमरता की औषधि को लेकर भाग जाता है। अपने परिश्रम की इस व्यर्थता से गिलगमेष अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगता है। और एक दम बूढ़ा हो जाता है।

बारहवें सर्ग में बूढा गिलगमेष व्याकुल होकर परलोक की व्यवस्था जानने के लिए अपने मित्र एकिन्दु की प्रेतात्मा का आह्वान करता है और उससे परलोक के विधान को पूछता है। एकिन्दु का प्रेत कहता है कि परलोक में चारों ओर दुःख ही दुःख है। प्रेत लोग इधर उधर घूमते हुए मैला खाते और नालियों का जल पीते रहते हैं। केवल उन्हो को परलोक में शान्ति मिलती है। जिनकी कब्र पर उनके वंशधर उत्तमोत्तम आहार और पेय चढ़ाते रहते हैं।

इस प्रकार अत्यन्त निराशाजनक स्थिति में गिलगमेष की मृत्यु होती है।

इस काव्य की भाषा इतनी सुंदर और वर्णन करने का ढङ्ग इतना मनमोहक है कि संसार की अनेक भाषाओं में इस काव्य के अनुवाद हो चुके हैं।

जल प्रलय की कहानी, गिलगमेष द्वारा अमरता की खोज तथा और अनेक बातें इस साहित्य में ऐसी है जो भारतीय पुराणों में वर्णित कहानियों से बहुत मिलती जुलती हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि वेबीलोनियन साहित्य किसी न किसी रूप में भारतीय साहित्य से प्रभावित था।

डॉ० भगवद्‌शरण—विश्वसाहित्य की रूपरेखा
नागरी प्रचारणी—विश्वकोष
चिरञ्जीलाल पाराशर—विश्व सभ्यता का विकास।

गिल्बर्ट-विलियम

इंग्लैंड में एलिजाबेथ-युग के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक, जिनका जन्म सन् १५४० ई० में और मृत्यु सन् १६०३ ई० में हुई।

गिल्बर्ट ने कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय से 'डॉक्टर ऑफ मेडीसन' की उपाधि प्राप्त की और महारानी एलीजाबेथ ने इनको अपना राजकीय डाक्टर नियुक्त कर दिया।

मगर विलियम गिल्बर्ट की औषधि-विज्ञानके क्षेत्रमें विशेष ख्याति नही हुई। उनकी विशेष ख्याति वैज्ञानिक क्षेत्र में चुम्बक-शक्ति के विश्लेषक के रूप में हुई। उनके जिस अन्वेषण ने वैज्ञानिक जगत में हलचल मचा दी, वह यह था कि—"यह पृथ्वी स्वतः ही एक बहुत बड़ा चुम्बकीय तत्व है"।

गिल्बर्ट तथा उनके उत्तरवर्ती वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाले कि पृथ्वी की चुम्बक-शक्ति का यह फल है कि 'कुतुबनुमा' की सूई हमेशा उत्तर और दक्षिण में ही अपनी स्थिति रखती है। इसी का यह फल है कि सूई की नोक दिगन्तसम होकर डुबकी लगाती है। यह सूई उत्तर-दक्षिण की स्थिति क्यों धारण करती है और क्यों यह डुबकी लगाती है? इस बारे में गिलबर्ट के अनुसंधान के पूर्व बहुत से लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुमान लगाते थे। कोलम्बस का अनुमान था कि आकाश के किसी नक्षत्र से यह सूई आकर्षित होती है।

'गिल्बर्ट' के अनुसन्धान ने चुम्बकीय विज्ञान को एक सुव्यवस्थित रूप दे दिया। आधुनिक वैज्ञानिकों की सम्मति में गिल्बर्ट की खोज अपने ढङ्ग की अपूर्व खोज थी। उनके

सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "दी मैग्नेट" में चुम्बक सम्बन्धी जितना साहित्य उपलब्ध हो सकता था, वह सब दे दिया है। गिल्बर्ट पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने यूनानी शब्द 'इलेक्ट्रान' के आधार पर 'इलेक्ट्रीसिटी' शब्द का प्रयोग किया। यूनानी शहर मैग्नेशिया के नाम पर ही, जहां से प्राचीनकाल में लोहे की कच्ची धातु का निर्यात होता था—अंग्रेजी शब्द 'मैग्नेट' की उत्पत्ति हुई।

गिल्बर्ट-हम्प्री

सुप्रसिद्ध ब्रिटिश नाविक, जिन्होने अमेरिका में ब्रिटिश उपनिवेश की सबसे पहले स्थापना की।

सन् १५८३ में 'गिलबर्ट-हम्प्री' ने महारानी एलिजाबेथ का आशीर्वाद लेकर ५ जहाजों के साथ 'प्लाई माउथ' बन्दरगाह से प्रस्थान किया। ३० जुलाई को ये न्युफाउंड-लैण्ड के पास तथा ३ अगस्त को सेंट-जॉन्स द्वीप पर पहुँचे। ५ अगस्त से अमेरिका में इन्होंने प्रथम अंग्रेज उपनिवेश की स्थापना प्रारम्भ की।

१५ सितम्बर सन् १५८३ ई० को जहाजी दुर्घटना में इनकी मृत्यु हो गयी।

गिल्बर्ट-हेनरी

इंग्लैंड के एक कृषि-विद्या-विशारद और फसलों के लिए कृत्रिम ऊर्वरकोंके आविष्कर्ता। जिनका जन्म सन् १८१८ ई० में और मृत्यु सन् १९०१ ई० में हुई।

'गिल्बर्ट' ने 'लॉज' नामक कृषि-विशारद के साथ 'राथम स्टेड एक्सपेरिमेंटल सेण्टर' की स्थापना की। इस प्रयोगशाला में मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए उर्वरकों पर प्रयोग किये जाते थे। इनके समस्त प्रयोगों का विवरण 'रायेमस्टेड मेमोरीज' के नाम से १० भागों में संकलित कर दिया गया है। इन निबन्धों के मतानुसार बिना दाल वाले अन्नों को नाइट्रोजन से युक्त यौगिकों की आवश्यकता पड़ती है। बिना इन यौगिकों के फसलों का समुचित विकास नही हो सकता। इन कृत्रिम यौगिकों के द्वारा भूमि की उर्वराशक्ति को बढ़ाया और स्थिर रखा जा सकता है। चाहे वह कुछ ही वर्षों के लिए क्यों न हो। भूमि को समय तक पड़ती रखने से उसकी उर्वराशक्ति बढ़ जाती है और उसमें नाइट्रोजन की मात्रा भी अधिक हो जाती है।

कृषि-सम्बन्धी अन्वेषण और कृत्रिम खादों के क्षेत्र में डा० गिल्बर्ट के अनुसन्धान बहुत महत्वपूर्ण समझे जाते हैं।

गिलोटीन (Guillotine)

फ्रांस की सुप्रसिद्ध राज्य क्रांति के समय में अपराधी को मृत्यु दण्ड देने के लिए आविष्कृत किया गया एक यन्त्र। इसका आविष्कार सन् १७८९ ई० में हुआ।

इस यन्त्र का आविष्कार तत्कालीन विधान सभा के अध्यक्ष डा० गिलटीन ने किया था। इसका उद्देश्य अपराधी को मृत्यु दण्ड के समय कम से कम यन्त्रणा पहुँचाने का था।

पेरिस के क्रान्ति-चौक (स्कायर ऑफ दि रिवोल्युशन) मे गिलोटिन की सैकड़ों 'टिकटियाँ' खड़ी रहती थीं। क्रान्तिकारी न्यायालय जिन अपराधियों को मृत्युदण्ड देता था, वे सब यहाँ पर लाये जाते थे और इस गिलोटिन यन्त्र के द्वारा उनके सिर धड़ से अलग कर दिये जाते थे।

अनुमान किया जाता है कि अकेले पेरिस में ही करीब ५ हजार व्यक्तियों के सिर इस गिलोटिन-यन्त्र के द्वारा काटे गये, जिनमें रानी 'मेरी आंतुवानेत' ओरल्यांका ड्यूक, मैडम रोलाँ तथा जिरोंदिस्त दल के कई प्रमुख सदस्य भी थे।

इस प्रकार गिलोटीन का यह यन्त्र फ्रांस की राज्य क्रांति के समय सारे यूरोप में प्रसिद्ध हो गया था।

गिलका

रूस का एक प्रसिद्ध संगीतकार जिसका जन्म सन् १८०६ ई० में और मृत्यु सन् १८५७ ई० में हुई।

'गिलड्का' ने शुरू में पश्चिमी-सङ्गीत की कला में प्रवीणता प्राप्त करके उसके बाद रूसी-जन-सङ्गीतको अपनाया और यह घोषणा की कि रूस की राष्ट्रीय संगीत कला अन्य किसी भी सङ्गीत-कला से पीछे नही है। पश्चिमी सङ्गीत के उपासक सम्भ्रान्त कुल के व्यक्तियों ने उसका मजाक उड़ाने में कोई कसर नहीं रखी। ऐसे लोग उसे गाड़ीवानों के गीत रचने वाला कहते थे। लेकिन गिलड्का ने इसकी परवाह नहीं

की। और इवान के सुसानिन जैसे एक सुप्रसिद्ध देशभक्त को नायक बनाकर उसने अपने 'ओपेरा' की रचना की। इससे लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ और वह शीघ्र ही सङ्गीत-कला का आचार्य माना जाने लगा।

काव्य और साहित्य के क्षेत्र मे जो स्थान 'पुश्किन' का माना जाता है, वही स्थान संगीत और रंगमञ्च के क्षेत्र मे ग्लिका का है।

गिलोम-डी-लारीज

(Guillaume-De-Larris)

फ्रान्स मे मध्य कालीन साहित्य का एक साहित्यकार जिसका समय ई० सन् १२३० के आसपास था। फ्रान्स की प्रसिद्ध मध्य कालीन रचना "गुलाब का रोमान्स" का पहला-खण्ड इसी के द्वारा लिखा गया था। इस काव्य ने पश्चात् वर्ती यूरोपीपय साहित्य पर बड़ा प्रभाव डाला।

ग्रिमेल्स हाउसेन

जर्मन साहित्य का एक प्रसिद्ध साहित्यकार जिसका जन्म करीब सन् १६२४ में और मृत्यु सन् १६७२ के करीब हुई।

उस समय जर्मनी तीस वर्षीय युद्ध में फंसा हुआ था और सारे देश में एक अजीब वीराना पन छा रहा था। साहित्य का क्षेत्र भी उसे समय प्रकाश हीन था। ऐसे ही समय में ग्रिमेस्स हाउसेन का जन्म हुआ। केवल तेरह चौदह साल की उम्र में डाकुओंने उसका अपहरण कर लिया और उसके बाद वह स्थान स्थान की ठोकरें खाता हुआ जर्मन जनता की दुर्दशा को अपनी आंखो से देखता रहा। युद्ध समाप्त होने पर वह एक छोटे कस्बे मे जाकर रहने लगा। और जीवन भर मे देखी हुई सब घटनाओं को एक उपन्यास के रूप में लिख डाला। इस उपन्यास का नाम "सिम्पली सिसीमस' है तीस वर्षीय युद्ध मे होने वाले भयङ्कर विनाश, रक्तपात और मानव के द्वारा किये हुए अमानवीय कृत्यों का जैसा जीता जागता, लोम हर्षक वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। वह अभूत पूर्व है। इस ग्रन्थ में उसने समाज के एक अयथार्थ, भयङ्कर, और पाशविक जीवन का चित्रण कर एक ऐसे समाज की स्थापना की कामनाकी है। जो इन बाधाओं से मुक्त हो।

ग्रिबोये दोव

Alcksander sergeyeuyeh Griboyedov

रूसी साहित्य का प्रसिद्ध कवि और व्यङ्ग नाटककारे जिसका जन्म सन् १७९५ में और मृत्यु सन् १८२९ में हुई।

रूसके अन्तर्गत सन् १८२५ के दिसम्बर में जार अलेक्षेण्डर प्रथम के मरने के बाद इतिहास प्रसिद्ध विद्रोह हुआ। जो दिसम्बर विद्रोह के नामसे प्रसिद्ध है। इस विद्रोह के परिणाम स्वरूप सम्राट् कान्स्टेण्टाइन को गद्दी छोड़नी पड़ी और 'निकोलस' जारकी गद्दीपर बैठा।

इस दिसम्बर विद्रोह का रूसके साहित्य क्षेत्र पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। और वहाँ के साहित्यकारों की प्रवृति राजनीति से हटकर दर्शन और कविता की अनुगामिनी हुई।

ग्रिबोये दोव की इसी युग का कवि था यह रूस के विदेश विभाग का एक अधिकारी था। और ईरान की राजधानी तेहरान में रूसी राजदून के रूप में भी रहा था। इसकी प्रसिद्ध रचना। 'गोरे आज उमा नामक कॉमेडी आज भी रूसी साहित्य की एक मूल्यवान् सम्पति मानी जाती है। इसमें मास्को के तत्कालीन पश्चिम-प्रभावित जीवन पर बहुत ही कठोर ताना कशी और व्यङ्ग किये गये हैं। इसके चरित्र चित्रण, इसकी भाषा और इसकी वर्णन शैली अत्यन्त स्वाभाविक, मर्म स्थान पर चोट पहुंचाने वाली और एक दम मौलिक है। इस कॉमेडीने उससमय के रूसी साहित्य क्षेत्र में बड़ी हल चल मचा दी थी।

ग्रिबोये दोवकी सन् १८२९ में तेहरान में ही जब वह वहां राजदूत था हत्या करदी गई।

ग्रामोफोन

ध्वनि को ग्रहण करके उसका विस्तार करने वाला एक यंत्र। जिसके आविष्कार का श्रेय अमेरिका के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'एडीसन' को सन् १८७६ ई० मे प्राप्त हुआ।

मगर ध्वनि-विषयक इन सिद्धांतों का ज्ञान मोटे रूप में प्राचीन युग के लोगों को भी था।

ऐसा कहा जाता है कि बहुत प्राचीन काल में चीन के अन्तर्गत एक अधिकारी ने कोई गुप्त सन्देश २ हजार मील की दूरी से एक पेटी में आवाज भर कर चीन के शाहंशाह के पास भेजा था। जब शाहंशाह ने उस पेटी को खोला तो पेटी के एक कोने में से उस अधिकारी की आवाज सुनाई पड़ने लगी। और यह सारा गुप्त भेद शाहंशाहको भलीभाँति मालूम हो गया। मगर इस सम्बन्ध के नाम और काल सम्बन्धी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि चीन को इस कला का किसी रूप में ज्ञान था। चीन के प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के बहुत से उदाहरण पाये जाते हैं।

मिस्र में भी इस प्रकार की कला का ज्ञान किसी रूप मे था।

योरोप के अन्दर मध्य युग में 'रोजर-बेकन' नामक एक वैज्ञानिक ने सन् १२६४ ई० में कई वर्षों के अनुसन्धान के पश्चात् एक ऐसी मूर्ति बनाई। जिसमें फिट की हुई भिन्न-भिन्न चाभियों को दबाने से भिन्न भिन्न प्रकार की आवाज सुनने को मिलती थीं।

सन् १५८० ई० में 'पार्टा' नामक वैज्ञानिक ने एक ऐसी नली बनाई जिसमें बोले हुए सब्दों को संग्रह करने की शक्ति और उन शब्दों को वापस निकालने की शक्ति थी।

सन् १७६१ ई० में 'लियोनार्ड-ह्वीलर' नामक एक गणित-शास्त्री ने 'फोनोग्राफ' के सिद्धांतों पर कई लेख लिखे। इन लेखों से फोनोग्राफ के सिद्धांत पर वैज्ञानिकों की रुचि जागृत हुई। जिसके परिणाम स्वरूप 'लीयन-स्कॉट' नामक वैज्ञानिक ने सन् १८५७ ई० में इस विषय की जानकारी प्राप्त करके 'फोनटोग्राफ' नामक यंत्र का आविष्कार किया, जिसके द्वारा ध्वनि का अभिलेखन किया जा सकता था।

पर ग्रामोफोन की शोध का सम्पूर्ण यश तो अमेरिकन वैज्ञानिक एडीसनको ही मिला। सबसे पहले 'साउण्डबाक्स' अनुसन्धान इन्होने ही किया।

एक बार 'टेलीफोन' के एक यन्त्र को सुई की सहायता से 'एडीसन' सुधार रहे थे। उस सूई की रगड़ से कुछ शब्द उत्पन्न हुआ। इससे एडीसन को यह ख्याल हुआ कि सुई के कम्पनों के द्वारा किसी पत्तर में कम्पन उत्पन्न करके शब्द उत्पन्न किया जा सकता हैं।

इस सिद्धान्त के ऊपर उन्होंने साऊँण्डवक्स का निर्माण किया। एडीसन ने जो सबसे पहले फोनोग्राफ बनाया था, वह बहुत भारी और भद्दा था। उन्होंने पहले पहल बहुत पतली पत्ती पर जो कि एक चूड़ीनुमा गिलास पर चिपकी रहती थी—शब्द को अंकित किया था। आवाज सुनने के लिए चूड़ी हाथ से घुमानी पड़ती थी। पीछे जाकर इस यन्त्र में बड़ी उन्नति हुई। चूड़ियों के स्थान में तवे और 'रेकार्ड' काम आने लगे। और यांत्रिक बल से ग्रामोफोन चलाया जाने लगा।

एडीसन के पश्चात् सन् १८८७ ई० में 'एमाइल-बर्लिनर नामक वैज्ञानिक ने और सन् १९२५ ई० में 'हेरीसन' ने इस ग्रामोफोन मैशीन के अन्दर और भी कई उपयोगी सुधार किये।

इस प्रकार क्रमागत विकास की कई मञ्जिलों को पार करते हुए 'ग्रामोफोन' आज की स्थिति में पहुँचा है।

ग्रिग नार्डल

नार्वे के साहित्य का एक सुप्रसिद्ध कवि, उपन्यासकार और नाटककार जिकका जन्म सन् १९०२ ई० में और मृत्यु सन् १९४३ ई० में हुई।

ग्रिग नार्डल ने अपना जीवन और अपना साहित्य समाज के दलित वर्ग की सेवा में लगाया। इनकी तमाम रचनाओं में समाज में होने वाले शोषण और अन्याय के प्रति गहरी अनुभूति प्रदर्शित होती है।

इनकी कविताओं का संग्रह 'नारवे इन आवर हार्ट्‌स' के नाम से प्रकाशित हुआ, जिसमें विश्व-प्रेम की ओर प्रभाहित होने वाली राष्ट्रीय भावनाओं का सुन्दर विवेचन मिलता है।

जिस समय जर्मनी ने नार्वे पर आक्रमण किया, उस समय ग्रिगनार्डल ने साहित्यकार का रूप छोड़ कर सैनिक का रूप धारण कर लिया और नार्वे की रक्षा के लिए यह सेना में सम्मिलित हो गये।

सन् १९४३ ई० में जर्मनी पर हवाई हमले के समय इनकी मृत्यु हो गई।

ग्रिम जेकब

जर्मन भाषा के एक सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री और इतिहास-कार जिनका जन्म सन् १७८५ में हुआ था।

'ग्रिम जेकब' और उनके भाई विलियम दोनों की भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध मे बड़ी अभिरुचि थी। जर्मनी के प्राचीन महाकाव्यों और लोक-गाथाओं का वैज्ञानिक अध्ययन कर सन् १८१५ ई० मे इन्होंने जर्मन-लोकगाथाओं का एक विवेचनात्मक संग्रह प्रकाशित किया। इस प्रकाशन से जर्मनसाहित्य में इनकी अच्छी कीर्ति हो गयी।

इसके अतिरिक्त इन्होंने जर्मन-भाषा के व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उसका तुलनात्मक अध्ययन कर एक विशाल रचना कई खण्डों मे प्रकाशित की। जर्मन भाषा के शब्दकोश की भी इन्होंने रचना की। इन सब बातों से जर्मन भाषा-विज्ञान के इतिहास मे ग्रिम-जेकब ने अपना एक महत्व-पूर्ण स्थान बना लिया।

ग्रियर्सन जॉर्ज

भारतीय भाषा के एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान्। जिनका जन्म आयरलैण्ड के 'डब्लिन' नामक स्थान पर सन् १८५१ ई० मे और मृत्यु सन् १९४१ ई० में हुई।

१७ वर्ष की उम्र से ही उन्होने डब्लिन में संस्कृत और हिन्दुस्तानी भाषा का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। सन् १८७३ ई० मे वे 'इण्डियन सिविल सर्विस' के कर्मचारी के रूप में कलकत्ता आये और यहाँ आने पर उन्होने ने भारतीय भाषाओं का अध्ययन प्रारम्भ किया। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, बिहारी, बंगला इत्यादि कई भाषाओ की विशेष योग्यता उन्होंने प्राप्त की।

सन् १८८५ ई० में प्राच्य-विद्या-विशारदों की एक अन्तर्राष्ट्रिय कांग्रेस 'वीएना' के अन्तर्गत हुई। इस कांग्रेस ने भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण की आवश्यकता बतलाते हुए भारत की अंग्रेज-सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। जिसके फलस्वरूप सन् १८८८ ई० में भारत सरकार ने डा० ग्रियर्सन की अध्यक्षता में एक भाषा 'सर्वेक्षण-कमेटी' की स्थापनाकी। १५ वर्ष तक कठोर परिश्रम करके इस कमेटीने भारतवर्ष की १७९ भाषाओं और ५४४ बोलियों का सविस्तर वर्णन इस रिपोर्टमें किया। यह रिपोर्ट कुल २१ जिल्दोंमें प्रकाशितहुई। ग्रियर्सन के इस महान् कार्य ने भारतीय साहित्य के इतिहास में उनको अमर कर दिया। इस रिपोर्ट का नाम 'लैंग्वेस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' है। रोजाना बोलचाल में काम आने वाली भाषाओं और बोलियों का इतना सूक्ष्म और परिमार्जित अध्ययन ग्रियर्सन के पहले और उनके बाद भी कभी नहीं हुआ।

इस महान् रचना के अतिरिक्त बंगाल के लोकगीतों, मैथिल भाषा के व्याकरण, मैथिली भाषा के परिचय, काश्मीरी भाषा के व्याकरण और कोष, बिहारी कृत सतसई और तुलसीदास पर विशेष अध्ययन और भारतवर्ष के आधुनिक साहित्य पर उन्होने कई महत्वपूर्ण रचनाएं विशेष कर अंग्रेजी भाषा में कीं।

ग्रियर्सन को भारतीय भाषाओं, भारतीय सभ्यता और यहाँ के निवासियों के प्रति अगाध प्रेम था। भारतीय भाषा-विज्ञान के वे महान् पण्डित थे। इनकी सेवाओं के पुरस्कार के रूप में भारत सरकार ने सन् १८९४ ई० में इनको सी० आई०ई० की और १९१२ ई० में सर की पदवी प्रदान की।

सन् १८९४ ई० में जर्मनी की 'हले युनिवर्सिटी' ने उन्हें पी० एच० डी० की और सन् १९०२ ई० में डब्लिन के 'ट्रीनिटी-कालेज' ने उनको डी० लिट् की उपाधियाँ प्रदान की। (ना० प्र० विश्वकोष)

गीकी आर्कीवाल्ड

ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध भूगर्भशास्त्री, जिनका जन्म सन् १८३५ ई० में और मृत्यु सन् १९२४ ई० में हुई।

एडिनबरा-विश्वविद्यालय में अपनी शिक्षा समाप्त करके सन् १८५५ ई० में 'गीकी' ने भूगर्भ सर्वेक्षण-विभाग में अपनी सेवाएँ प्रारम्भ कीं। सन् १८६७ ई० में इनको स्कॉटलैण्ड में भूगर्भ-सर्वेक्षण-विभाग की शाखा का सञ्चालक बनाया गया। साथ ही एडिनबरा विश्वविद्यालय मे जियोलोजी और मिनरालोजी के अध्यापन का कार्य भी ये करते रहे। सन् १८८१ ई० में ग्रेट-ब्रिटेन के प्रधान भूगर्भ-सर्वेक्षण-विभाग के 'डाइरेक्टर-जनरल' के पद पर इनकी नियुक्ति हुई। सन् १८९२ ई० में ये ब्रिटिश एसोसियेशन के सभापति और सन् १९०९ ई० 'रायल सोसायटी' के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

डा० गीकी ने भूगर्भ-विद्या पर कई पुस्तकों की रचना की। इनकी लिखी हुई 'टेक्सटबुक ग्रॉफ जियालौजी' एक रिफरेंस बुक की तरह ग्रभी भी प्रमाणभूत मानी जाती है।

गीजेर

स्वीडेन के एक प्रसिद्ध इतिहासकार ग्रौर संगीत-शास्त्री, जिनका जन्म सन् १७८३ ई० मे ग्रौर मृत्यु सन् १८४७ ई० में हुई।

श्री 'गीजेर' का लिखा हुग्रा 'संवेस्का फोकेरटस स्टोरिया' नामक विशाल ग्रंथ तीन भागों में प्रकाशित हुग्रा। इसके ग्रन्दर स्वीडेन के इतिहास पर इन्होने व्यापक रूप से प्रकाश डाला। इस ग्रंथ से इनकी काफी कीर्ति हुई।

स्वीडेन के कविता-साहित्य में इन्होने 'गाथिक कला' का विकास करके वहां की काव्यधारा को एक नवीन मोड़ दिया। संगीत के क्षेत्र में भी इनका ग्रच्छा नाम हुग्रा।

गीत-गोविन्द

महाकवि जयदेव द्वारा रचित संस्कृत का ग्रत्यन्त प्रसिद्ध ललित ग्रौर सुन्दर काव्य। जिसकी रचना १२ वीं शताब्दी में बंगाल के ग्रन्तिम पालनरेश 'लक्ष्मणसेन' के राजत्वकाल में हुई।

संस्कृत-भाषा में कितना लालित्य, कितना माधुर्य ग्रौर कितनी रस-व्यञ्जना उत्पन्न की जा सकती है--इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'गीतगोविन्द' में देखने को मिलता है।

महाकवि 'जयदेव' ने ग्रष्टपदी छन्दो के द्वारा रस ग्रौर लालित्य की जो ग्रविरल धारा गीतगोविन्द के गीतों में वहा दी है, वह संसार के साहित्य में देखने की वस्तु है। इस काव्य की शैली संस्कृत-परम्परा में मिलने वाले काव्यों मे सबसे ग्रधिक संगीतपूर्ण हैं। एक ग्रोर वन्य-प्रदेश, सरितातट पर छाई हुई चांदनी, वसन्त की सम्पूर्ण मोहकता के साथ ग्रत्यन्त सुंदर गीतों मे छान कर रख दी है तो दूसरी ग्रोर राधा ग्रौर कृष्ण के रूप मे नर-नारी के सौन्दर्य, लावण्य ग्रौर प्रेम का चरम विकास, रसकल्लोलिनी की तरह इन गीतो में वहता हुग्रा दिखलाई देता है। एक ग्रोर पर्वतों की ढाल पर उगने वाली पुष्पलतिकाग्रों के मकरन्द की सुगन्ध से भरपूर पवन बह रहा है, दूसरी ग्रोर चन्दन से सुवासित नीलवदन पीताम्वरधारी कृष्ण सुन्दर पुष्पों के हार से सुशोभित सामने उपस्थित हैं। ऐसी स्थिति में मानिनी राधा का मान कैसे टिक सकता है। सखी उसे समझाती हैं--

हे प्रिये! माधव से मान मत करो। कोमल-कमल की पंखुड़ियों से सुशोभित शीतल-शय्या पर हरि का ग्रवलोकन करके ग्रपने नेत्रो को कृतकृत्य करो।'

वसन्त ऋतु का वर्णन करते हुए गीतगोविंद में महाकवि जयदेव लिखते हैं—

ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करंबित कोकिल, कूजित-कुञ्ज-कुटीरे।
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते!
नृत्यति युवति जनेन समं सखि, विरहि जनस्य दुरन्ते!

इत्यादि

कृष्ण के नखशिख का वर्णन करते हुए महाकवि लिखते हैं—

चन्दन चर्चित नील कलेवर, पीतवसन वनमाली।
केलिचलन्मणि कुण्डलमण्डित, गण्डयुगस्मित शाली॥

गोपिकाग्रों का प्रेम-वर्णन करते हुए गीतगोविन्द में कहा है—

पीन पयोधर-भार-भरेण, हरिं परिरम्य सरागम्।
गोप-वधूरनुगायति काचिदुदञ्चित पञ्चम रागम्।
कापि विलास-विलोल विलोचन-खेलनजनितमनोजम।
ध्यायति मुग्धवधूरधिकं मधुसूदन वदन-सरोजम्।
कापि कपोलतलेमिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले॥

इत्यादि।

महाकवि जयदेव का गीत-गोविन्द ग्रत्यन्त लोकप्रिय रहा है। बाद के ग्रनेक कवियों ने इसके ग्रनुकरण पर कई रचनाएँ की। इन रचनाग्रोमे-राजशेखर रचित 'गीतगङ्गाधर' भानुदत्त रचित 'गीत गौरीपति' गोविन्ददास-रचित 'संगीत-माधव' हरिशंकर-रचित 'गीतमाधव' ग्रौर मैसूर के राजा चिक्कदेव राय के द्वारा १७ वी सदी में रचित 'गीतगोपाल' नामक काव्य विशेष उल्लेखनीय हैं।

'गीतगोविन्द' पर व्याख्याएँ ग्रौर टीकाएँ भी वहुत हुई हैं। इन व्याख्याग्रों मे मेवाड़ के सुप्रसिद्ध महाराणा कुंभा के

द्वारा १६वीं शताब्दी में की हुई व्याख्या तथा १८वीं शताब्दी में शंकर मिश्र के द्वारा की हुई व्याख्याएं बहुत सुंदर हैं।

जब उड़ीसा के प्रसिद्ध राजा राजेन्द्रचोड़ गंगदेव ने जगन्नाथपुरी के विशाल मन्दिर की स्थापना की तो इस मंदिर में संगीत और नृत्य का भी एक विभाग खोला गया। इस नाट्य-मन्दिर में गीत-गोविंद का ही संगीत गाया जाता था। दूसरे गाये जाने वाले गीत, गीतगोविंद के मुकाबले में धीरे-धीरे अप्रिय होते गये। जिसके परिणामस्वरूप ईस्वी सन् १४६७ में राजा प्रतापरुद्रदेव ने तो यह आदेश दे दिया कि मन्दिर में होने वाले नृत्य और संगीत का कुल आधार जयदेव कवि के गीतगोविंद से ही लिया जाय।

संसार की दूसरी भाषाओं में भी गीतगोविंद के बहुत से अनुवाद हुए हैं। सबसे पहले 'सर विलियम जॉन्स' ने अंग्रेजी में इसका अनुवाद किया। उसके बाद 'लासन' ने लेटिन-भाषा में 'रूफर्ट' ने जर्मन भाषामें और 'एडविन आर्नल्ड' ने अंग्रेजी कविता में इसका अनुवाद किया और इस ग्रंथ पर अपने विचार प्रदर्शित किए।

सर विलियम जॉन्स ने जयदेव के गीतों पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा कि—"यह काव्य मानव-आत्मा के पार्थिव और दिव्य प्रेम के प्रति एकान्तरत आकर्षण का रूपक है, किन्तु अन्त मे सम्पूर्ण ऐंद्रिक संवेदन-शीलताओ से मुक्त हो गया है।"

'लासन' ने जयदेव के नायक कृष्ण को मनुष्यरूप मे अवतरित दिव्यात्मा माना है जो संसार की माया की ओर आकर्षित होते हुए भी अन्त में चिरन्तर आनन्द और सत्य के स्रोत को प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

चैतन्य महाप्रभु भी जयदेव कवि की रचनाओं का गान करते-करते आनन्द में विभोर हो जाते थे और वे जयदेव को अपनी परम्परा का ही एक व्यक्ति मानते थे।

इस प्रकार जयदेव का गीतगोविंद भारतीय साहित्य में शृङ्गार मूलक भक्ति-परम्परा का, धार्मिकता की प्रतिध्वनिसे युक्त एक अत्यन्त सुन्दर काव्य माना जाता है।

मगर कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो गीतगोविंद को विशुद्ध शृङ्गार-रस से ओतप्रोत एक काव्य मानते हैं। भक्ति और धार्मिकता के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही समझते।

अंग्रेज विद्वान् और इतिहासकार 'कीथ' ने लिखा है कि—"यह काव्य भारतीय परम्परा के उस मिथ्या ग्रहण से उत्पन्न हैं, जो धार्मिक भावनाओं के लिए कामप्रतीकों के प्रयोग से पूर्णतया अभ्यस्त थी। ईसाई-परम्परा के 'सॉंग ऑफ सॉंग्स' मे इसकी समानता मिलती है।

संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् 'कृष्ण चैतन्य' का कथन है कि—'नायक नायिका के रूप में राधा और कृष्ण के चुनाव के अतिरिक्त इस काव्य के उद्देश्य मे ऐसा कुछ नही, जिसमें धार्मिकता की प्रतिध्वनि हो। जब कि भागवत के अन्तर्गत इसी प्रकार के शृंगारमूलक स्थानों में धार्मिक भावना का निश्चित रूप से समावेश पाया जाता है।"

गीताञ्जलि

विश्व के महान् कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की सुप्रसिद्ध काव्यकृति। जिस पर उनको सवा लाख रुपये का अन्तर्राष्ट्रीय नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

'रवीन्द्रनाथ टैगोर' ने समय-समय पर बंगला-भाषामें जो बहुत से गीत लिखे थे, उनमें से २०३ उत्कृष्ट गीतों का स्वयं संकलन करके उन्होने स्वयं उनका अंग्रेजी-भाषा में अनुवाद किया और उन अनुवादों को श्री ऐंड्रूज की प्रेरणा से उन्होंने 'नोबुल प्राइज कमेटी' को भेज दिया। इस संग्रह पर उन्हे ८ हजार पौण्ड का पुरस्कार प्राप्त हुआ और इसी काव्य ने उनको विश्व के महान् कवियों में स्थान दे दिया।

जिस युग मे इन गीतों की रचना हुई, बंगाल में वह सामाजिक क्रांति का युग था। इस युग मे पूर्व और पश्चिम को सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में मिलाने का काफी प्रयत्न हुआ। रवीन्द्रनाथ ने अपने गीतों में पूर्व और पश्चिम को मिलाने की चेष्टा नही की, वल्कि आध्यात्मिक धरातल पर पश्चिम को ऊपर उठा कर पूर्व की गरिमा का सन्देश दिया। यह विश्व-साहित्य के लिए उनकी अनुपम देन थी। 'नोबुल पुरस्कार' के रूप में विश्व ने इसको स्वीकार भी किया।

संसार की क्षण भंगुरता के कण-कण में अनन्त की उपलब्धि के दर्शन से कवि का सारा काव्य ओतप्रोत है। इसी भावना के विविध रूपांतर और विविध व्याख्याएँ कवि की वाणी से काव्य की धारा के रूप में बहती हुई दृष्टिगोचर

होती है । मनुष्य के अहंकार की तुच्छता प्रदर्शित करते हुए महाकवि प्रभु से प्रार्थना करते हैं—

मेरा मस्तक अपनी चरण-धूलि तक झुका दे !

प्रभु ! मेरे समस्त अहङ्कार को आंखो के पानी मे डुबो दे !

अपने झूठे महत्व की रक्षा करते हुए मैं केवल अपनी लघुता दिखाता हूँ ।

अपनी ही परिक्रमा करते-करते मैं प्रतिक्षण जर्जर होता जा रहा हूँ ।

मेरे समस्त अहंकार को आँखों के पानी मे डुबा दे ।

मैं अपने सांसारिक कार्यो मे अपने को व्यक्त नही कर पाता ।

प्रभु ! मेरे जीवन-कार्यों मे तू अपनी ही इच्छा पूरी कर

मैं तुझसे चरम शांति की भीख माँगने आया हूँ !

मेरे जीवन में अपनी उज्ज्वल कांति भर दे ।

मेरे हृदय-कमल की ओट मे तू खड़ा रह ।

प्रभु ! मेरा समस्त अहङ्कार आँखो के पानी मे डुबा दे !

महाकवि संसार की विपत्तियों से डर कर उन विपत्तियों से त्राण पाने की हीन भावना को लेकर अपने प्रभु के पास नहीं जाता । वह कहता है—

प्रभो ! विपत्तियों से रक्षा करो ! यह प्रार्थना लेकर मैं तेरे द्वार पर नही आया ।

विपत्तियों से भयभीत न होऊँ, यही वरदान दे !

अपने दुख से व्यथित चित्त को सान्त्वना देने की भिक्षा नही माँगता ।

दुखों पर विजय पाऊँ, यही आशीर्वाद दे—यही प्रार्थना है ।

तेरी सहायता मुझे न मिल सके तो भी यह बर दे कि दीनता स्वीकार करके अवश न बनूँ ।

मुझे बचाले, यह प्रार्थना ले कर मैं तेरे दर पर नही आया ।

केवल संसार-सागर मे तैरते रहने की शक्ति माँगता हूँ ।

मेरा भार हल्का कर दे—

यह याचना पूर्ण होने की सांत्वना नही चाहता ।

यह भार वहन करके चलता रहूँ, यही प्रार्थना है ।

सुख भरे क्षणों मे नतमस्तक हो, तेरे दर्शन कर सकूँ ।

किंतु दुःख भरी रातों मे जब सारी दुनियाँ मेरा उपहास करेगी—

तब मैं शंकित न होऊँ । यही बरदान चाहता हूँ ।

गीताञ्जलि के अनुवाद

विश्वकवि की गीताञ्जलि के अनुवाद संसार की प्रायः सभी भाषाओं में हो चुके हैं । इसके जर्मन-अनुवाद की ५० लाख से अधिक कॉपियाँ बिक चुकी हैं ।

अंग्रेजी मे इसका पहला अनुवाद सन् १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ था । तब से अब तक उसके पचीसों संस्करण हो चुके हैं ।

हिन्दी-भाषा में इसका पद्यबद्ध अनुवाद सबसे पहले सम्भवतः पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' का लिखा हुआ प्रकाशित हुआ था । इस अनुवाद में हर एक पद्य का एक पद्य में अनुवाद किया गया था । इसके बाद इसके और भी कई गद्य-पद्य अनुवाद हुए ।

सब से ताजा अनुवाद पं० सत्यकाम विद्यालङ्कार के द्वारा किया गया । जो शहादरा के 'पाकेट-बुक-सीरीज' ने प्रकाशित किया । इस अनुवाद में 'गीताञ्जलि' का बड़े सुंदर और भावपूर्ण गद्य में अनुवाद किया गया है । इसी अनुवाद से हम दो गीतों का अनुवाद ऊपर उद्धृत कर चुके हैं ।

सन्दर्भ डा० सत्येन्द्र—बंगला साहित्य का इतिहास ।
सत्यकाम विद्यालङ्कार—गीताञ्जलि हिन्दी अनुवाद ।

गीता (श्रीमद्भगवद्गीता)

आर्य्य-सभ्यताका, मनुष्य के समस्त जीवन-दर्शन की सूक्ष्म रूप से व्याख्या करने वाला एक महान् ग्रन्थ । जिसको महाभारत के समय अर्जुन को निर्देश करके भगवान् कृष्ण ने कहा था । महाभारत का समय ईसा से करीब सोलह सदी पूर्व माना जाता है ।

जिन विलक्षण संयोगों के बीच गीता का निर्माण हुआ, ऐसे विलक्षण संयोग समग्र संसारमें आज तक किसी भी काव्य-रचना को प्राप्त नही हुए । और उन विलक्षण संयोगो के बीच में भी जीवन के महान् दर्शन की जैसी व्याख्या इस छोटे से ग्रन्थ मे हुई—ऐसी संसार के किसी भी दूसरे ग्रन्थ में नही हुई ।

वे विलक्षण संयोग क्या थे ? कुरुक्षेत्र के विशाल मैदान में महाभारत के विशालयुद्ध की मोर्चेबन्दी होरही है। समस्त भारतवर्ष के चुने हुए धनुर्धर महारथी अपनी-अपनी सेनाओं के साथ रणक्षेत्र में डटे हुए हैं। एक ओर कौरवों का विशाल सैन्य-जमाव है जिसका नेतृत्व पितामह भीष्म कर रहे हैं, दूसरी ओर पाण्डवों के सैन्य-जमाव का नेतृत्व धृष्टद्युम्न के हाथ में है।

प्रथम अध्याय—इस महायुद्ध के आंगन में पाण्डव पक्ष के महारथी अर्जुन का रथ प्रवेश करता है जिसका सञ्चालन श्रीकृष्ण कर रहे हैं। रथ युद्धक्षेत्र में पहुंचता है। अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं कि हे अच्युत ! मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीच में ले जाकर खड़ा करो। जिससे मैं देख सकूँ कि मुझे इस युद्ध में किनके साथ लड़ना है। तब श्रीकृष्ण ने रथ को दोनो सेनाओं के बीच में लाकर खड़ा कर दिया। वहां अर्जुन देखते हैं कि सेना के कर्णांधार के स्थान पर भीष्मपितामह खड़े हैं जिन्होंने उनको गोद मे लेकर खिलाया था। एक ओर द्रोणाचार्य खड़े हैं जो उनके गुरु हैं और जिन्होंने अस्त्र-शस्त्र-विद्या की सम्पूर्ण शिक्षा देकर उनके जीवन का निर्माण किया है। एक ओर शल्य खड़े हैं जो उनके मामा हैं, एक ओर महारथी कर्ण हैं जो उनके मां जाये भाई हैं।

अर्जुन सोचते हैं इन्हीं सब स्वजनों के साथ मुझे युद्ध करना है, किस लिए, एक भूमिखण्ड के लिए, इस छोटे से जीवन में एक छोटा सा राज्य प्राप्त करने के लिये ? नहीं मुझे ऐसे राज्य की आवश्यकता नहीं। अर्जुन की आत्मा तिलमिला उठती है। उनका हृदय अपने स्वजनो के लिए हाहाकार कर उठता है। अत्यन्त दीन वाणी से वे कह उठते हैं।

न कांक्षे विजयं कृष्ण, न च राज्यं सुखानि च
किं, नो राज्येन, गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा

हे कृष्ण ! मुझे विजय की इच्छा नही, न राज्य चाहिए और न सुख ही। हे गोविन्द ! हमें राज्य, भोग और जीवन से क्या प्रयोजन है।

वे कहते हैं "लोभ से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है उन्हें कुलक्षय के भय से होने वाला दोष और मित्रद्रोह का पातक दिखाई नही पड़ता। किन्तु हे जनार्दन। कुलक्षय का दोष मुझे तो स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। इसलिए मैं तो यह युद्ध नहीं करूँगा। इस प्रकार कह कर अर्जुन धनुष-वाण को रथ में डालकर अत्यन्त कातर हृदय से निश्चेष्ट होकर बैठ जाता है।

कैसी विचित्र स्थिति है, एक ओर महाभारत के सारे धनुर्धारी इन्तिजार कर रहे हैं कि अर्जुन गाण्डीव पर प्रत्यञ्चा चढ़ावे, इधर वह निश्चेष्ट हो रहा है। क्या ऐसी विलक्षण परिस्थिति संसार के और भी किसी काव्य की रचना का मूलस्रोत बनी है !

ऐसी ही विलक्षण परिस्थिति में इस ग्रन्थ का निर्माण होता है। भगवान कृष्ण के समान जीवन का महान् सारथी ऐसे विलक्षण समय में जीवन-दर्शन के सारे ताने-बाने खोल कर जीवन का वास्तविक स्वरूप, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान, अनासक्ति और निष्काम कर्म तथा अकर्म, ज्ञान और भक्ति के सारे ताने बाने खोल कर अर्जुन को वास्तविक ज्ञान के दर्शन करवाता है, वही ज्ञान गीता है।

दूसरा-अध्याय—अर्जुन को इस प्रकार मोहग्रस्त देख कर भगवान् कृष्ण गीता के दूसरे अध्याय में कहते है—

अशोच्यानन्व शोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगता-सुश्च, नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

हे अर्जुन ! जिनका शोक न करना चाहिए तू उन्हीं का शोक कर रहा है और ज्ञान की बातें कर रहा है। किसी के प्राण चाहे जाय चाहे रहें ज्ञानी पुरुष उनका शोक नहीं करते।

कृष्ण कहते है हे अर्जुन ! तू क्यों मोह में पड़ा हुआ है। इस शरीर में चैतन्य रूप जो आत्मा है उसे न कोई मार सकता न वह मर सकता है।

य एनं वेत्ति हन्तारं, यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
वासांसि जीर्णानि यथाविहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि
तथा शरीराणि विहाय, जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानिदेही

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नवीन वस्त्रोंको धारण करता है उसी प्रकार शरीर का स्वामी यह आत्मा भी पुराने शरीर को त्याग कर नये शरीर को धारण करता है। इसलिये जो मारने वाला व्यक्ति समझता है कि मैं मारने वाला हूं और मरने वाला समझता है कि मैं मारा जा रहा हूँ—उन दोनों को ही सच्चा ज्ञान नही है। क्यों कि वह आत्मा न तो मारता है और न मरता है।

इसके पश्चात् अर्जुन को उसकी कर्त्तव्य बुद्धि का भान दिलाते हुए कृष्ण कहते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य, न विकम्पितु मर्हसि
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वार मपावृतम्
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि

यदि स्वधर्म की ओर देखें तो भी इस समय हिम्मत हारना तुझे उचित नहीं है। क्यों कि धर्मोचित युद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय को और कुछ श्रेयस्कर नहीं है। और हे पार्थ ! यह युद्ध आप ही आप खुला हुआ स्वर्ग का द्वार ही है। अतएव यदि तू धर्मानुमोदित यह युद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म की कीर्ति खोकर पाप ही का संचय करेगा।

हतोवा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वाव भोक्ष्यसेमहीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृत निश्चयः
सुख दुःखे समेकृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ
ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पापमवाप्स्यसि

अगर इस युद्ध मे तेरी मृत्यु हो गयी तो स्वर्ग में जायगा और अगर जीत गया तो पृथ्वी भोगेगा। इस लिए हे अर्जुन ! तू युद्ध का निश्चय करके उठ। सुख, दुःख, हानि, लाभ और जीत, हार को एक समान मानकर हे अर्जुन ! तू युद्ध में लग जा। ऐसा करने से तुझे कोई पाप लगने का नहीं।

इस प्रकार युद्ध के लिए प्रेरित करके भगवान् कृष्ण अर्जुन को कर्मयोग की महत्ता समझाते है।

भगवान् कहते हैं कि सृष्टि के रहस्य को देखने से पता चलता है कि आत्मज्ञानी पुरुषों के लिए जीवन विताने के दो मार्ग चले आ रहे हैं (गीता ३-३) आत्मज्ञान सम्पादन करने पर शुक के समान महापुरुष संसार छोड़ कर आनन्द के साथ भिक्षा मांगते फिरते हैं तो जनक सरीखे दूसरे आत्मज्ञानी ज्ञान के पश्चात् भी स्वधर्मानुसार लोगों के कल्याण के लिए अपना कर्म करते रहते हैं। पहले मार्ग को सांख्य या सांख्य-निष्ठा कहते हैं और दूसरे मार्ग को कर्मयोग कहते हैं।

कर्मयोग की व्याख्या करते हुए भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, माफलेषु कदाचन
मा कर्मफल हेतुर्भूर्माते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते

हे धनञ्जय ! मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करने का है। कर्म के फल का अधिकार मनुष्य को नही है। इसलिए फल की आसक्ति को छोड़ कर, तथा उसकी सिद्धि या असिद्धि में समान भाव रख कर योगस्थ होकर जो कर्म करता है वही सच्चा कर्मयोगी है। कर्मयोग का यही महान् सिद्धान्त अनासक्ति योग सम्पुष्ट होकर संसार को गीता का सन्देश दे रहा है।

कर्मजं बुद्धियुक्ताहि फलंत्यक्त्वा मनीषिणः
जन्मबन्ध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्
यदाते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च

बुद्धि से युक्त जो ज्ञानी पुरुष कर्मफल का त्याग करते हैं वे जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त करते हैं। जब तेरी बुद्धि मोह के गन्दे आवरण से पार हो जावेगी तब उन बातों से तू विरक्त हो जावेगा जो सुनी हैं और सुनने की है।

इसके पश्चात् अर्जुन के प्रश्न करने पर भगवान् स्थिति प्रज्ञ का लक्षण बताते हुए कहते हैं—

हे पार्थ ! जब मनुष्य मन की समस्त कामनाओं और वासनाओं को छोड़ कर, सुख, दु.ख में समभावी होकर भय एवं क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेता है वही स्थितिप्रज्ञ मुनि कहलाता है।

तीसरा-अध्याय—तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन फिर प्रश्न करता है। हे जनार्दन ! यदि तुम्हारा यही मत है कि कर्म की अपेक्षा साम्यबुद्धि ही श्रेष्ठ है (२-४९) तो हे केशव ! मुझे युद्ध के घोर कर्म में क्यों लगाते हो और ऐसे सन्दिग्ध भाषण करके मेरी बुद्धि को क्यों भ्रम में डाल रहे हो। तुम मुझे एक ही असन्दिग्ध और निश्चय बात बतलाओ।

कृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन ! कर्मों का प्रारम्भ न करने से ही मनुष्य को नैष्कर्म्य की प्राप्ति नही हो जाती, और कर्मों का प्रारम्भ न करने से ही सिद्धि नही मिल जाती, क्यों कि कोई मनुष्य कर्म किये विना क्षण भर भी नही रह सकता। प्रकृति के गुण प्रत्येक मनुष्य को कर्म करने में लगाये ही रहते हैं। जो मूढ़ हाथ-पैर इत्यादि कर्मेन्द्रियों को रोक कर मनसे

इन्द्रियोके विषय का चिंतन करता रहता है, वह मिथ्याचारी और अहंकारी है। परन्तु हे अर्जुन ! वह व्यक्ति श्रेष्ठ है जो मन से इन्द्रियों का आकलन करके कर्मेन्द्रियो के द्वारा अनासक्त भावसे कर्म करता है। हे पार्थ ! इस प्रकार चलाये हुए कर्म के चक्र को जो इस जगत मे आगे नही चलाता उसकी आयु पाप रूप है। उस इन्द्रिय-लम्पट का जीवन व्यर्थ है। इसलिए तू भी फल की आसक्ति छोड़ कर अपने कर्त्तव्य कर्म को बरावर कर। आसक्ति छोड़ कर कर्म करने वाले मनुष्य को परम गति प्राप्त होती है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः
अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते
तत्ववित् महाबाहो गुणकर्म विभागयोः
गुणागुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते

प्रकृति की क्रियाओ से संसार मे सब कर्म हुआ करते है पर अहङ्कार से पराभूत मनुष्य समझता है कि करने वाला मैं हूँ। परन्तु हे महावाहो ! "गुण और कर्म दोनो ही मुझसे भिन्न हैं। इस बात को जानने वाला यह समझ कर इनमें आसक्त नही होता कि गुणों का यह खेल आपस में हो रहा है--

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्म चेतसा
निराशी निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः।

इसलिए हे अर्जुन ! मुझमे अध्यात्म वुद्धि से सब कर्मो को अर्पण करके, फल को आशा और ममता को छोड़ तू निश्चिन्त हो करके युद्ध कर।

चौथा-अध्याय--चौथे अध्याय में ज्ञान, कर्म और सन्यासयोग का निरूपण किया गया है। इस अध्याय में जन्म-रहित परमात्मा माया के योग से कब दिव्य जन्म लेकर अवतार ग्रहण करता है यह बतलाते हुए कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

हे भारत ! जब-जब संसार मे धर्म के प्रति ग्लानि और अश्रद्धा की प्रबलता होती है तब धर्म का पुनरुत्थान करने के लिए मैं जन्म लिया करता हूँ। साधुओं की रक्षा, दुष्टो का दमन और धर्म की संस्थापना के लिए मैं युग-युग में जन्म लिया करता हूँ।

आगे फिर कर्मयोग का महत्व बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि—"कर्मफल की आसक्ति को छोड़ कर जो सदा तृप्त और अनासक्त है—वह कर्म करने में निमग्न रहने पर भी कुछ नही करता। फल की वासना छोड़ कर चित्त को नियमित करने वाला और सर्व संग से मुक्त पुरुष केवल शरीर से कर्म करने पर पाप का भागी नही होता।"

इसके पश्चात् ज्ञान की महिमा बतलाते हुए भगवान् कहते है कि --"हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ हैं। क्योंकि हे पार्थ ! सब प्रकार के समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान मे होता है।"

फिर कहते हैं--

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन !
ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि, भस्मसात्कुरुते तथा।

जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि ईंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! ज्ञान-रूप अग्नि सब कर्मों को जला कर भस्म कर देती है। इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र सचमुच और कुछ नही है। काल पाकर उस ज्ञान को वह पुरुष आप ही अपने में प्राप्त कर लेता है, जिसका योग सिद्ध हो गया है।

लेकिन जिसे न स्वयं ज्ञान है और न श्रद्धा ही हैं, उस संशयग्रस्त मनुष्य का नाश हो जाता है।

पांचवा-अध्याय--ज्ञान, कर्म और सन्यास की द्विधा में पड़ा हुआ अर्जुन फिर प्रश्न करता है--

सन्यासं कर्मणां कृष्ण, पुनर्योगञ्च शंससि !
तच्छ्रेय एतयोरेकं, तन्मेब्रूहि सुनिश्चितम्।

हे कृष्ण ! तुम एक बार सन्यास को और दूसरी बार कर्मयोग को उत्तम बतलाते हो। अब निश्चय कर के मुझे एक ही मार्ग बतलाओ जो इन दोनों में श्रेष्ठ हो।

कृष्ण कहते हैं—

सन्यासः कर्मयोगश्च, निःश्रेयस करावुभौ-
तयोस्तु कर्म सन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।

कर्म-सन्यास और कर्मयोग—दोनों मार्ग मोक्ष को प्राप्त कराने वाले हैं, पर इन दोनों में कर्म-सन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही विशिष्ट है।

हे अर्जुन ! मूर्ख लोग कहते हैं कि सांख्य (कर्मसन्यास) और योग (कर्म योग) भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु पण्डित लोग ऐसा नही कहते । किसी भी एक मार्ग का भली भांति आचरण करने से दोनों का फल मिल जाता है । हे महाबाहु ! योग अर्थात् कर्म के विना सन्यास को प्राप्त कर लेना कठिन है । जो मुनि कर्मयोग-युक्त हो गया, उसे ब्रह्म की प्राप्ति होने में विलम्ब नही होता ।

छठा-अध्याय—कृष्ण फिर कहते हैं—

अनाश्रितः कर्मं फलं, कार्यं कर्म करोति यः ।
स सन्यासो च योगी च, न निरग्निर्नचाक्रियः ॥
यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसन्यस्त संकल्पो, योगो भवति कश्चन ॥

कर्मफल का इन्तजार न करके जो अपने विहित कर्तव्य-कर्म करता है, वही सन्यासी और वही कर्मयोगी है । कर्मों को छोड़ देने वाला निष्क्रिय व्यक्ति सच्चा सन्यासी नहीं है । हे पाण्डव ! जिसे सन्यास कहते है—उसीको कर्मयोग समझो ! क्योंकि संकल्प अर्थात् काम्यबुद्धिरूप फल की आशा का सन्यास (त्याग) किए बिना कोई भी कर्मयोगी नही हो सकता ।

इसके पश्चात् इस अध्याय में ध्यानयोग का वर्णन किया गया है । ध्यानयोग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगावे जो न बहुत ऊंचा हो और न बहुत नीचा हो । उस पर पहले दर्भ, फिर मृगछाला और फिर वस्त्र बिछा कर चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर, मन को एकाग्र करके आत्म शुद्धि के लिए आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करे । काय अर्थात् पीठ, मस्तक और गर्दन को सम करके अर्थात् सीधी खड़ी रेखा मे निश्चल करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमा कर निडर, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्य और मन संयमित करके मुझ मे ही चित्त लगाकर जो हमेशा ध्यान करता है, उस योगी को मुझ मे रहने वाली और अन्त मे निर्वाणपद को देने वाली शांति प्राप्त होती है ।

सातवाँ-अध्याय—सातवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान का योग बतलाया गया है । सृष्टि का रहस्य बतलाते हुए कहा गया है कि—"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इन आठ प्रकारों में मेरी प्रकृति विभाजित है । यह अपरा अर्थात् निम्न श्रेणी की प्रकृति है । हे महाबाहु ! इससे अलग जगत्को धारण करनेवाली परा अर्थात् उच्च श्रेणी की जीवनस्वरूप मेरी दूसरी प्रकृति है । इन्हीं दोनों से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं । सारे जगत् का मूल और अन्त मैं ही हूँ । हे धनञ्जय ! मुझसे परे और कुछ नहीं है । धागे में पिरोये हुए मणियो के समान मुझमें यह सब गुँथा हुआ है ।

इसके पश्चात् भक्ति तत्व का विश्लेषण करते हुए (१) आर्त (२) जिज्ञासु (३) अर्थार्थी और (४) ज्ञानी—इन चार प्रकार के भक्तों का विवेचन किया गया है ।

आठवाँ-अध्याय—आठवें अध्याय में कर्मयोग के अन्तर्गत अक्षर ब्रह्मयोग की व्याख्या की गयी है । अर्जुन का प्रश्न है कि—"हे पुरुषोत्तम । वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है । अधिभूत और अधिदेव क्या है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर कृष्ण ने इस आठवें अध्याय मे दिया हैं ।

नवाँ-अध्याय—नवें अध्याय में राजविद्या और राजगुह्य योग का विवेचन किया गया है । बतलाया गया है कि—"ज्ञान-विज्ञानयुक्त भक्ति का मार्ग प्रत्यक्ष और सुलभ होने के कारण मोक्ष का राजमार्ग है । जो मुझे भक्ति से एक पत्र, पुष्प, फल अथवा थोड़ा सा जल भी अर्पण करता है—उस नियतचित्त पुरुष को भक्ति की भेंट को मैं बड़े आनन्द से ग्रहण करता हूँ ।"

हे कौन्तेय ! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, दान करता है, तप करता है, वह सब मुझे अर्पण किया कर ।

इस प्रकार कर्मों के शुभ और अशुभ बन्धनो से तू मुक्त रहेगा ।

दसवाँ-अध्याय—१० वें अध्याय मे विभूतियोग विवेचन, ११ वें अध्याय मे विश्वरूप-दर्शन योग, १२वें अध्याय मे भक्तियोग, १३ वें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग योग, १४ वें अध्याय में सत्व, रज और तम—इन तीनों गुणोके विभाग का योग १५ वें अध्याय में पुरुषोत्तम योग, १६ वें अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पदा के लक्षणोंका योग, १७ वे अध्याय में तीन प्रकार की श्रद्धा और १८ वें अध्याय मे मोक्ष-संन्यास योग पर विवेचन किया गया हैं ।

इस प्रकार महाभारत के रणक्षेत्र में अर्जुन को कर्मयोग

का प्रतिबोध देते हुए भगवान् कृष्ण ने जीवन और सृष्टि के सारे रहस्यों को, ज्ञान, कर्म, भक्ति, वैराग्य, संन्यास, योग आदि सभी विषयों के ताने-बाने बुन कर इस लघुकाय ग्रंथ को इतना विशिष्ट बना दिया कि ज्ञान के उपासक ज्ञानयोग की, कर्म के उपासक कर्मयोग की, भक्ति के उपासक भक्तियोग की और सांख्य (सन्यास) के उपासक सांख्ययोग की पूर्ण झलक इस ग्रंथ के अंदर देखते हैं।

लोक० तिलक लिखते हैं कि--"श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रंथों में एक अत्यंत तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिंड-ब्रह्माण्ड-ज्ञान सहित आत्मविद्या के गूढ़ और पवित्र तत्व को थोड़े में स्पष्ट रीति से समझा देने वाला, उन्हीं तत्वों के आधार पर मनुष्य मात्र को पुरुषार्थ की और आध्यात्मिक पूर्णावस्था की पहचान करा देने वाला, भक्ति और ज्ञान का मेल करा के, इन दोनों का शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देने वाला और निष्काम कर्म के आचरण को व्याख्या करने वाला—गीता के समान बाल-बोध ग्रंथ संस्कृत की कौन कहे—सारे संसार के साहित्य में कहीं नहीं मिल सकता।"

गीता प्रमुखरूप से कर्मयोग को प्रतिपादित करता है या ज्ञानयोग को, या भक्तियोग को ?--इसके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न आचार्यो के भिन्न-भिन्न मत हैं।

गीता के भाष्य

जगद्गुरु शंकराचार्य ने अपने शांकर भाष्य में गीता के प्रवृत्ति-विषयक स्वरूप को निकाल कर उसे विशुद्ध निवृत्ति-मार्ग के सांचे में ढाल दिया है।

विशिष्टाद्वैत के संस्थापक रामानुजाचार्य ने अपने भाष्य में कहा है कि गीता में यद्यपि ज्ञान, कर्म और भक्ति का वर्णन है तथापि तत्वज्ञान की दृष्टि से विशिष्टाद्वैत और आचार दृष्टि से वासुदेव की भक्ति ही गीता का सारांश है। कर्मनिष्ठा कोई स्वतन्त्र वस्तु नही, वह केवल ज्ञाननिष्ठा की उत्पादक है। इस प्रकार रामानुजाचार्य ने शांकर-सम्प्रदाय के अद्वैत ज्ञान के बदले विशिष्टाद्वैत और सन्यास के बदले भक्ति की गीता में स्थापना की।

द्वैत-सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीमध्वाचार्य ने गीता का भाष्य करते हुए कहा कि— "यद्यपि गीता में निष्काम कर्म के महत्व का वर्णन है तथापि वह केवल साधन है और भक्ति ही अन्तिम निष्ठा है। भक्ति की सिद्धि हो जाने पर कर्म करना और न करना बराबर है। परमेश्वर के ध्यान अथवा भक्ति की अपेक्षा निष्काम कर्म करना श्रेष्ठ है इत्यादि गीता के कुछ वचन इस सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ते है। इसके सम्बन्ध में माधवाचार्य का कहना है कि इन वचनों को अक्षरश: सत्य न समझ कर अर्थवादात्मक ही समझना चाहिए।"

इसके बाद बल्लभाचार्य का नम्बर आता है जो पुष्टि मार्ग के संस्थापक हैं। इस सम्प्रदाय के 'तत्वदीपिका' आदि गीता सम्बन्धी ग्रंथों में निर्णय किया गया है कि भगवान ने अर्जुन को पहले सांख्य ज्ञान और कर्मयोग बतलाया है, पर अन्त में उसे भक्ति का अमृत पिला कर कृतकृत्य किया है। इसलिए ईश्वर की भक्ति ही गीता का प्रधान तात्पर्य है। और इसी लिए भगवान ने गीता के अन्त में यह उपदेश किया है कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

हे अर्जुन सब धर्मों को छोड़ कर केवल मेरी शरण ले।

इसी प्रकार निम्बार्काचार्य, काश्मीरी भट्टाचार्य इत्यादि आचार्यों ने भी गीता पर अपने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं।

महाराष्ट्र के अन्दर गीता की सर्वोत्तम विवेचना महात्मा ज्ञानेश्वर ने अपनी 'ज्ञानेश्वरी टीका' में की है। इसमे कहा गया है कि गीता के प्रथम ६ अध्यायों में कर्म, बीच के ६ अध्यायों में भक्ति और अन्त के ६ अध्यायों में ज्ञान का प्रतिपादन किया है। इस ग्रंथ में गीता का मूल अर्थ अनेक सरस दृष्टान्तों के साथ समझाया गया है।

आधुनिक युग में गीता के ऊपर सबसे विस्तृत टीका 'गीता-रहस्य' के नाम से लोकमान्य पं० बालगङ्गाधर 'तिलक' ने की है। यह टीका पूर्ववर्ती सभी टीकाओं से भिन्न एक स्वतन्त्र विचार पद्धति का समर्थन करती है और विशुद्ध कर्म-योग की दृष्टि से गीता का अर्थ करती है। और गीता में वर्णित किये गये ज्ञान, भक्ति और सन्यास योग को कर्मयोग की पुष्टि में बतलाये गये योगों की तरह मानती है।

यह एक महत्वपूर्ण बात है कि भारत में हिन्दू धर्म या वैदिक सम्प्रदाय में जितने अवतारी विभूति वाले महान् पुरुष हुए, और जिन्होंने अपनी महान् प्रतिभा से वैदिक तत्वज्ञान में स्वतन्त्र विचारधाराओं की स्थापना की उनमें से सभी ने गीता पर अपने-अपने विचारानुसार भाष्य लिखे। परिणाम स्वरूप गीता पर आज तक जितने भाष्य और टीकाएँ हुईं वे किसी दूसरे ग्रन्थ पर नहीं हुई। इसका कारण यह है कि

जीवन में जिस सत्य का उन्होंने दर्शन किया, उस सत्यकी रूप रेखा उन्हें गीता के अन्तर्गत दिखलाई पड़ीं।

इस प्रकार गीता एक ऐसे ज्ञान-सरोवर की तरह सिद्ध हुई कि इसमें जिसने ज्ञान की खोज में डुबकी लगाई उसे ज्ञान की प्राप्ति हुई, जिसने उसमें भक्ति को ढूंढना चाहा उसे भक्ति प्राप्त हुई, जिसने उसमें कर्म की खोज की उसे अनासक्ति के जल से धोये हुए शुद्ध कर्म की प्राप्ति हुई। जिसमें उसने प्रवृति को ढूंढा उसे विशुद्ध प्रवृत्ति की ओर निवृत्ति को ढूंढने वाले को निवृत्ति की प्राप्ति हुई।

फिर भी यह तो माननाही पड़ेगा जिन विलक्षण संयोगों में गीता की सृष्टि हुई। 'वे संयोग कर्मयोग के उपदेश की ही अपेक्षा कर रहे थे। निश्चेष्ट और निराश बने हुए अर्जुन के हाथों में शस्त्र ग्रहण करवा कर, उसे युद्ध के लिए प्रवृत्त करना ही इसका मूल उद्देश्य था और इस उद्देश्य की सिद्धि अनासक्त कर्मयोग से ही प्राप्त हो सकती थी और वही उपदेश भगवान् ने अर्जुन को स्थान-स्थान पर दिया और साथ ही भक्ति, ज्ञान और वैराग्य भी उसी कर्मयोग के समर्थक हैं—यह बताने के लिए उन्होंने इन तत्वों की भी गम्भीर व्याख्या कर के इस उपदेश को एक पूर्णशास्त्र का रूप दे दिया।

अन्य गीताएँ

भारतीय धर्मशास्त्र में "गीता" का नाम इतना अधिक प्रचलित हुआ कि और भी कई विद्वानों ने और पुराण-कारों ने इस नाम से और-और रचनाएँ कीं। ऐसी अन्य गीताओं में महाभारत के शान्ति पर्व में मोक्षपर्व के फुटकर प्रकरणों में एक 'हंसगीता' कही गई है। इसी ग्रंथ के अश्व-मेघ प्रकरण में एक "ब्राह्मणगीता" कही गई है। इसी प्रकार अवधूत गीता, अष्टावक्र गीता, ईश्वर गीता, उत्तरगीता, कपिल गीता, गणेश गीता, देवगीता, पाण्डव गीता, ब्रह्मगीता, यमगीता, व्यास गीता, सूर्य गीता इत्यादि अनेक गीताएँ प्रसिद्ध हैं।

इनमें से कई गीताएँ तो स्वतन्त्र रूप से रची गईं और कई भिन्न-भिन्न पुराणों से ली गई हैं। जैसे गणेश पुराण के अन्तिम क्रीड़ा खण्ड में गणेश गीता कही गयी है। कूर्म पुराण के उत्तर भाग के पहले ग्यारह अध्यायों में ईश्वर गीता हैं। और उसके बाद व्यास गीताका उदय हुआ है। स्कन्द पुराण में ब्रह्म गीता और सूत गीता कही गई है। यम गीता के तीन रूप हैं एक विष्णु पुराण में, दूसरा अग्नि पुराण में और तीसरा नृसिंह पुराण में दिखलायी पड़ता है।

इन सब गीताओं की रचना भगवद्गीता के जगत् प्रसिद्ध होने के पश्चात् प्राय: उसी के अनुकरण पर हुई हैं। जिस तरह भगवान् ने भगवद्गीता में अर्जुन को विश्व रूप बतला कर ज्ञान का स्वरूप समझाया है। उसी प्रकार शिव गीता, देवी गीता और गणेश गीता में भी वर्णित है। ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो इन गीताओं में भगवद्गीता की अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं है। फिर भी अपने-अपने पुराण और पन्थ का गौरव बढ़ाने के लिए सभी लोगों ने इन भिन्न भिन्न गीताओं की रचनाएँ कीं।

गीता-रहस्य

लोकमान्य 'तिलक' के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता पर किया हुआ विस्तृत भाष्य, जिसको कर्मयोग शास्त्र भी कहते हैं।

गीता- रहस्य का यह सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'लोकमान्य तिलक' ने मण्डाले नगर की जेल में २ नवम्बर सन् १९१० ई० को लिखना प्रारम्भ किया और ३० मार्च सन् १९११ ई० के दिन केवल पाँच महीनों में करीब एक हजार पृष्ठ के इस अत्यन्त गम्भीर एवं दार्शनिक ग्रन्थ को लिख कर समाप्त कर दिया।

गीता के ऊपर महान् विद्वानों के द्वारा रचे हुए अनेक भाष्यों के विद्यमान होते हुए भी इस ग्रंथ की रचना क्यों की गयी—इसका उल्लेख करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं कि—

"गीता के अनेक संस्कृत भाष्य, अन्यान्य टीकाएँ और मराठी तथा अंग्रेजी में लिखे हुए अनेक विद्वानों के विवेचन पढ़ने के पश्चात् हमारे दिल में यह शङ्का हुई कि जो गीता उस अर्जुन को युद्ध मे प्रवृत्त करने के लिए बतलाई गयी थी कि जो अपने स्वजनों के साथ युद्ध करने को बड़ा भारी कुकर्म समझ कर खिन्न हो गया था उस गीता में ब्रह्मज्ञान से या भक्ति से मोक्ष प्राप्ति की विधि का—निरे मोक्ष-मार्ग का—विवेचन क्यों किया गया है! यह शंका इसलिए और भी दृढ़ होती गयी कि गीता की किसी भी टीका में इस विषय का योग्य उत्तर ढूंढ़ने पर भी न मिला………। इसके बाद हमने गीता की समस्त टीकाओं और भाष्यों को लपेट कर एक

ओर रख दिया और फिर गीता के ही विचार पूर्वक अनेक पारायण किये। ऐसा करने पर टीकाकारोंके चंगुल से छूटे। और यह बोध हुआ कि गीता निवृत्ति प्रधान नहीं है, वह तो कर्म प्रधान है। और अधिक क्या कहें, गीता में अकेला योग शब्द ही कर्मयोग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत वेदांतसूत्र, उपनिषद् और वेदान्त शास्त्र विषयक अन्यान्य संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा के ग्रंथों के अध्ययन से भी यह मत दृढ़ होता गया ········ ·· । तब इन विचारों को लिख कर ग्रंथ रूपमें प्रकाशित करने का विचार हुआ।

······मगर जब तक प्राचीन टीकाकारों के समस्त मतों का संग्रह करके उनकी सकारण अपूर्णता दिखला देना एवं अन्य धर्मो तथा तत्वज्ञान के साथ गीताधर्म की तुलना करना कोई ऐसा साधारण काम न था, जो चटपट हो जाय।"

लोकमान्य तिलक को सन् १९०८ ई० मे अंग्रेज सरकार ने सजा देकर मंडालेके जेल में भेज दिया। जेल में इनको ग्रंथ लिखने की सामग्री पूने से मंगा लेने की अनुमति भी मिल गयी। वहीं पर उन्होने इस महान् ग्रंथ को तैयार किया।

इस ग्रन्थ में उन्होंने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि—"गीता शास्त्र के अनुसार इस जगत् में प्रत्येक मनुष्य का पहला कर्तव्य यही है कि वह परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर के अपनी बुद्धि को जितनी हो सके निर्मल और पवित्र कर ले। परन्तु यह गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। युद्ध के आरम्भ में अर्जुन इस कर्तव्य-मोह मे फँसा था कि "युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म भले ही हो, परन्तु कुल-क्षय का घोर पातक होने से जो युद्ध मोक्ष-प्राप्ति रूप आत्म-कल्याण का नाश कर डालेगा, उस युद्ध को करना चाहिए अथवा नहीं।" अतएव हमारा यह अभिप्राय है कि उसमें मोह को दूर करने के लिए शुद्ध वेदान्त के आधार पर कर्म-अकर्म का और साथ ही साथ मोक्ष के उपायों का भी पूर्ण विवेचन कर इस प्रकार निश्चय किया गया है कि एक तो कर्म कभी छूटते ही नहीं हैं और दूसरे उनको छोड़ना भी नही चाहिए। एवं गीता में उस युक्ति का ज्ञान मूलक, भक्ति प्रधान, अनासक्त कर्मयोगका ही प्रतिपादन किया गया है जिससे कर्म करने पर भी पाप नहीं लगता और उसी से मोक्ष भी मिल जाता है।"

गीता-रहस्य मे कुल १५ प्रकरण और १६ वाँ परिशिष्ट प्रकरण दिया गया है। पहले प्रकरण में विषय-प्रवेश करते हुए, गीता पर हुए अब तक के भाष्यों का, जिनमें श्रीशङ्करा-चार्य, मधुसूदन, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बार्क, श्रीधर स्वामी, ज्ञानेश्वर इत्यादि के द्वारा किए हुए भाष्यों का विवेचन और उनकी संक्षिप्त आलोचना की गयी है। दूसरे प्रकरण में कर्म-जिज्ञासा का, तीसरे में कर्मयोग शास्त्र का, चौथे में आधिभौतिक सुखवाद का, पाँचवें में सुख-दुःख-विवेक का,छठे में आधिदैविक पक्ष और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार का, सातवें प्रकरण में कपिल-सांख्यशास्त्र अथवा क्षराक्षर विचारका, आठवें में विश्व की रचना और संहार का, नवें में अध्यात्मवाद का, दसवें में कर्म-विपाक का और आत्म स्वातंत्र्य का, ग्यारहवें में सन्यास और कर्मयोग का, बारहवें में सिद्धा-वस्था और व्यवहार का, तेरहवें में भक्ति मार्ग का और चौद-हवें में गीताध्याय सङ्गति का विवेचन किया गया है। पन्द्र-हवाँ प्रकरण उपसंहार का है। इसमें देशी और विदेशी विचारधाराओं के साथ गीताशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और अन्तिम परिशिष्ट प्रकरण में गीता की वहिरङ्ग परीक्षा की गई है।

इस प्रकार लोकमान्य 'तिलक' के द्वारा कर्मयोग-शास्त्र का रचा हुआ यह महान् ग्रंथ विश्व-साहित्य को उनकी अपूर्व देन है। ज्ञानयोग, भक्तियोग और सन्यास-योग पर गीता के ऊपर अनेक भाष्यों की रचनाएँ हो चुकी हैं, मगर गीता के मूल आधार-भूत स्तम्भ कर्मयोग के ऊपर इतना विस्तृत और तर्कपूर्ण दृष्टि से रचा हुआ यह प्रथम महाभाष्य है।

गीता-ज्ञानेश्वरी

सुप्रसिद्ध सन्त महात्मा ज्ञानेश्वर के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता पर किया हुआ सुप्रसिद्ध भाष्य। जिसका निर्माण और प्रवचन सन् १२९० ई० में उन्होंने सिर्फ १५ वर्ष की उम्र में किया।

महाराष्ट्र-सन्तों की परम्परा में सन्त ज्ञानेश्वर का स्थान शायद सबसे महत्वपूर्ण है। सन्त ज्ञानेश्वर अपनी छोटी सी उम्र में बहुत उच्च कोटि के तत्वज्ञानी, योगी, भक्त और लेखक थे। उन्होंने केवल २१ वर्ष और ३ महीने की आयु पायी। मगर इस छोटी सी उम्र में ही उन्होंने दर्शन-शास्त्र, योगशास्त्र और भक्तिशास्त्र के सम्बंध में जो गहन विवेचन किया, उसको देख कर इनके अवतारी पुरुष होने में किसी

प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। गीता के तत्वज्ञान और उसकी विवेचना-प्रणाली पर सन्त ज्ञानेश्वर की अटूट श्रद्धा थी। गीता का महत्व बतलाते हुए उन्होंने लिखा है—

"इस असीम गीता तत्व का आकलन भला कैसे किया जा सकता है। इस अलौकिक प्रचण्ड तेज को भला कौन उज्ज्वल कर सकता है। एक मच्छर अपनी मुट्ठी में आकाश को कैसे ले सकता है। मगर गुरुदेव और सरस्वती की यदि कृपा हो जाय तो गूँगे में भी बोलने की शक्ति आ जाती है। इसी कृपा के आधार पर मैं इस ग्रंथ की रचना करने को उद्यत हुआ हूँ।"

गीता की अब तक जितनी टीकाएँ हुई हैं, उनमे 'ज्ञानेश्वरी' का महत्व विशेष रूप से माना जाता है। इसका कारण यह है कि इसकी भाषा बहुत सुन्दर, स्पष्ट, शुद्ध, ओजस्विनी और प्रसाद गुण से युक्त है। इसके अतिरिक्त इसकी विवेचन-शैली बड़ी ही मनमोहक और प्रशंसनीय है। इतने गम्भीर और दार्शनिक विवेचन को सन्त ज्ञानेश्वर ने ऐसे सरल और सुबोध ढङ्ग से समझाया है कि पढ़ने वाले मुग्ध हो जाते हैं।

वैसे संत ज्ञानेश्वर महान् योगी और ज्ञान के उपासक थे। उनकी टीका में योग और ज्ञानयोग की प्रधानता होना स्वाभाविक है। फिर भी जहाँ पर कर्मयोग का वर्णन आया है, वहाँ पर उन्होने कर्मयोग की विवेचना भी पूरी उदारता के साथ की हैं। गीता के निम्नलिखित दो श्लोकों का अनुवाद ज्ञानेश्वर ने इस प्रकार किया है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य, न विकम्पितु मर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयो ऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
यदृच्छया चोपपन्नं, स्वर्गद्वार मपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥

हे अर्जुन! तुम क्या सोच रहे हो। जिस स्वधर्म से तुम्हारा तारण होने का है, उसी स्वधर्म को तुम भूल रहे हो······। हे अर्जुन! यदि तुम्हारा अन्तःकरण इस समय दया से द्रवित हो गया हो तो ऐसा होना, इस युद्ध के समय में नितांत अनुचित् है। गौ-का दूध बहुत अच्छा होता है। फिर भी यह नही कहा गया है कि जिसे ज्वर आता हो उसे दूध का पथ्य दो! यदि नये ज्वर के किसी रोगी को दूध दिया जाय तो वह विष हो जाता है। इसी प्रकार प्रसङ्ग को ध्यान में न रख कर जो कार्य किया जाता है—उससे कल्याण का नाश होता हैं। इसलिए हे अर्जुन! अब तुम होश में आओ! जिस स्वधर्म के अनुसार आचरण करने पर त्रिकाल में भी कोई दोष नहीं होता, उसी स्वधर्म को तुम देखो। हे अर्जुन! स्वधर्म के अनुसार आचरण करने से समस्त कामनाएँ सहज में सिद्ध होती है। इसलिए तुम यह बात समझ लो कि तुम क्षत्रियों के लिए संग्राम को छोड़ कर और कुछ करना कभी उचित नही हो सकता। इसलिए तुम निश्चित होकर खूब अच्छी तरह जम कर लड़ो। हे अर्जुन! तुम यह समझ रखो कि इस समय जो युद्ध तुम्हारे सामने उपस्थित है—उससे मानो तुम्हारे सौभाग्य और धर्माचार का द्वार ही खुल गया है। इसे तो संग्राम कहना ही ठीक नहीं है। संग्राम के रूप में तुम्हें तो यह स्वर्ग ही प्राप्त हुआ है।

जब क्षत्रिय लोग विपुल पुण्य का संग्रह करते हैं तब कही जाकर उन्हें इस प्रकार के संग्राम का अवसर मिलता है। ऐसे संग्राम को छोड़ देना और व्यर्थ की बातों के लिए रोना मानों अपना ही घात करना है।

६वें और ७वें अध्याय की टीका में संत ज्ञानेश्वर ने योग-शास्त्र की बड़ी सूक्ष्म व्याख्या की है।

इसी प्रकार बिना किसी साम्प्रदायिक मताग्रहता को रखे हुए जहां जैसा अवसर आया है, वहाँ कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, सन्यासयोग इत्यादि सब योगों की बड़ी सुंदर और मर्मस्पर्शी व्याख्या की है। गीता के प्रेमियों को इस टीका का अध्ययन करने से बड़ी शांति और आनन्द प्राप्त होता है।

ग्रीनविच

टेम्स नदी के दक्षिणी तट पर स्थित लण्डन का एक प्रसिद्ध उपनगर, जो अपनी 'आबजर्वेटरी' या वेधशालाके लिए लिए प्रसिद्ध है। यहाँ का निकाला हुआ 'टाइम' सब दूर 'स्टैंडर्ड टाइम' के नाम से स्वीकार किया जाता है।

सन् १६७५ ई० में यहाँ की सुप्रसिद्ध वेधशाला का निर्माण नाविक-ज्योतिष की प्रगति के लिए किया गया था। प्रतिदिन रात्रि को १ बजे यहाँ से सम्पूर्ण देश के मुख्य नगरों को विद्युत-संकेत के द्वारा ठीक समय का ज्ञान कराया जाता है। इसी स्थान को शून्य अंश मान कर भूगोलवेत्ता पूर्व तथा

पश्चिमी देशांतरों की गणना करते हैं। यहाँ से होकर जाने वाली देशांतर रेखा 'ग्रीनविच रेखा' कहलाती है।

गीशा

भारतवर्ष में प्रचलित देव-दासियों की तरह नाचने गाने वाली कुमारी लड़कियों के एक वर्ग को जापान के अन्तर्गत 'गीशा' कहा जाता है।

ऐसा मालूम होता है कि धर्मस्थानों के लिए इस प्रकार गाने और नाचने वाली लड़कियों की व्यवस्था कई देशों के अन्दर विभिन्न रूपों में स्वीकृत की गयी थी।

भारतवर्ष मे यह प्रथा देवदासी के रूप में स्वीकार की गयी थी। यह देवदासी-प्रथा विशेष करके दक्षिण भारत के मन्दिरों में विशेष रूप से प्रचलित हुई। इन देवदासियों का लग्न मन्दिर के देवता के साथ हुआ है—ऐसा समझा जाता था। इस लग्न के प्रतीक स्वरूप सोने की माला (ताली) उस कन्या के गले में बाँध दी जाती थी। इन देवदासियों में ध्वजस्तम्भ के समीप नृत्य करने वाली 'राजदासी' सामाजिक उत्सव के समय नृत्य करने वाली 'अलङ्कार दासी' और मंदिर के अन्दर नियमित नृत्य करने वाली 'देवदासी' कहलाती थी।

उड़ीसा के जगन्नाथपुरी के मन्दिर में भी यह प्रथा प्रचलित थी। यहाँ पर देवदासियों को 'माहरी' कहते थे।

बेबीलोनियाँ की प्राचीन सभ्यता में मन्दिरों को ये देवदासियाँ 'ऐन्तू' के नाम से प्रसिद्ध थीं।

इसी प्रकार जापान में ऐसी लड़कियों को 'गीशा' के नाम से सम्बोधित करते हैं। बचपन से ही इनको नाचने-गाने और सामाजिक शिष्टाचार की शिक्षा दी जाती है फिर भी भारत की देवदासी प्रथा से जापान की गीशा-प्रथा में कई मौलिक भेद हैं। देवदासियाँ जहाँ सिर्फ मन्दिरों में देवताओं के सम्मुख नृत्य करती हैं—वहाँ गीशा सामाजिक उत्सवों और कॉफी-घरों और चाय-घरों में भी नाच-गाकर लोगों का मनोरञ्जन करती हैं।

इस प्रकार देवदासी की अपेक्षा गीशा का सामाजिक स्थान निम्न श्रेणी का समझा जा सकता है फिर भी जापान के अन्तर्गत गीशा किसी भी स्थिति मे पतिता नहीं समझी जाती।

ग्रीनलैण्ड

अमेरिका महाद्वीप और आइसलैंड नामक द्वीप के बीच में अवस्थित एक बड़ा द्वीप, जिसका उत्तरी भाग हमेशा वर्फ से ढका रहता है और दक्षिण तट पर आबादी बसी हुई है।

इस द्वीप का पूरा क्षेत्रफल ८२ हजार वर्गमील और आबादी वाले क्षेत्र का क्षेत्रफल ४६७४० वर्गमील है। इस द्वीप के दक्षिणी भाग की आबादी २७१०१, पश्चिमी भाग की २४६६० और पूर्वी भाग की १६८६ है।

जब से वैज्ञानिक लोगो ने उत्तरी ध्रुव की खोज करना प्रारम्भ की, तभी से ग्रीनलैंड का इतिहास शुरू होता है। इस द्वीप की खोज नार्वे के गुनुजर्न विलसन नामक व्यक्ति ने सब से पहले की। आइसलैंड का 'एरिक' नामक व्यक्ति इस द्वीप का 'ग्रीनलैंड' नामकरण करके इसके दक्षिणी-पश्चिमी तट पर उपनिवेश बसाने के विचार से वहाँ बस गया।

इसके पश्चात् शीघ्र ही वहां और भी कुछ उपनिवेश बसे। सन् ११२१ ई० में यहाँ पर ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए मि० 'आर्नल्ड' नामक व्यक्ति 'विशप' होकर गये और उन्होंने वहाँ ईसाई-धर्म का प्रचार किया। जिसके फल-स्वरूप वहां के सब लोगों ने ईसाई-धर्म ग्रहण कर लिया।

पहले यह द्वीप 'नार्वे' के सम्राट् के द्वारा शासित होता था। मगर सन् १६०५ ई० में 'डेनमार्क' के राजा चतुर्थ क्रिश्चियन ने ग्रीनलैंड को विजय करने के लिए अपने जहाजी सेनापति 'लिंडेनो' को ५ जहाजों के साथ भेजा था। उसके बाद सन् १८२६ ई० में डेनमार्क के राजा 'छठे फ्रेडरिक' ने 'कप्तान ग्रे' को ग्रीनलैंड में भेजा था। तभी से ग्रीनलैंड डेनमार्क का उपनिवेश बना हुआ है।

सन् १६४१ ई० में जब जर्मन फौजों ने डेनमार्क पर अपना अधिकार कर लिया, तब ग्रीनलैंड की अस्थायी व्यवस्था अमेरिका के हाथ में आई। उस अवधि में अमेरिका ने वहाँ पर कई हवाई अड्डे बनाये। दूसरे विश्वयुद्ध में अमेरिका ने इस द्वीप का अपनी कारखाइयों के लिए काफी उपयोग किया।

सन् १६५१ ई० में अमेरिका और डेनमार्क के बीच जो सुरक्षा-सन्धि हुई, उसमें इस द्वीप पर अमेरिका का भी हस्तक्षेप हो गया। सन् १६५३ ई० में नवीन संविधान के अनुसार

ग्रीनलैंड का औपनिदेशिक स्वर समाप्त हो गया और वह डेनमार्क शासन का अविच्छिन्न अंग बन गया। इसके लिए डेनमार्क सरकार का एक गवर्नर वहाँ शासन के लिए नियुक्त रहता है और प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से यह सम्पूर्ण द्वीप पूर्वी-उत्तरी और पश्चिमी तीन भागों में विभक्त है। इसके उत्तरी भाग में ४ महीने तक सूर्य दिखलाई नही देता। तटवर्ती कुछ भागों को छोड़ कर यह सम्पूर्ण द्वीप एक हजार फुट मोटी बर्फ की तहों से ढँका रहता है।

यहाँ के खनिज पदार्थों में शीशा, जस्ता और क्रियोलाइट पाये जाते हैं।

ग्रीन-टामस

इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध अस्तित्ववादी दार्शनिक, जिनका जन्म सन् १८३६ ई० में और मृत्यु सन १८८२ ई० में हुई।

ग्रीन-टामस निरीश्वरवाद या नास्तिकता के सिद्धान्त के प्रबल विरोधी थे। उनके मत से विश्व मे एक ऐसे तत्व का निश्चित अस्तित्व अवश्यंभावी है, जिससे सब सम्बन्ध सम्भव होते हैं। परन्तु जो स्वयं उन सम्बन्धों के द्वारा निर्धारित नहीं है। एक ऐसी नित्य शक्ति-सम्पन्न और आत्मबोध युक्त चेतना का अस्तित्व है, जिसे सब कुछ समष्टि रूप से ज्ञात है, पर हम लोगों को उसके थोड़े से अंश का ही पता है।

'प्रोलेगोमेन टू एथिक्स' नामक अपने ग्रंथ में इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए 'ग्रीन' ने बतलाया है कि—इस प्रकार की आध्यात्मिक चेतना पर ही नीति दर्शन की सुदृढ़ नींव रखी जा सकती है। इस आत्मबोध तथा आत्मचिन्तन से मनुष्य को अपनी सामर्थ्य, कर्म और उत्तरदायित्व का बोध होता है।"

ग्रीन ने दर्शन-शास्त्र के उन सिद्धान्तों का प्रबल विरोध किया जो नास्तिकता से सम्बन्ध रखते हैं और प्राणी जगत् को प्राकृतिक शक्तियों का परिणाम बतलाते हैं। उनका कथन है कि—"इन सिद्धान्तों का अनुकरण करने से समस्त नीतिशास्त्र अर्थहीन हो जाता है। उनका कथन है कि नैतिक आदर्श की प्राप्ति केवल ऐसे समाज में हो सकती है जो व्यक्तियों की व्यक्तिगत महत्ता को सुरक्षित रखते हुए उन्हें सामाजिक जीवन के अनुकूल बना सके। व्यक्ति अपने स्वरूप को समाज के सहयोग के बिना प्राप्त नहीं कर सकता और समाज भी व्यक्तियों के सहयोग के बिना अपने स्वरूप का विकास नहीं कर सकता।

ग्रीस (यूनान)

योरोप का एक अत्यन्त प्राचीन राज्य। जहाँसे एक सर्वतोमुखी उन्नतिशील सभ्यता का विकास हुआ। जिसका इतिहास ईसासे करीब तीन हजार वर्ष पहले से प्रारम्भ होता है।

संसार की प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास में 'ग्रीस' या 'यूनान' की सभ्यता अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। इस सभ्यता ने अपने सर्वांगीण विकास से सारे यूरोप और एशिया के एक बहुत बड़े भूभाग को प्रभावित किया था।

संसार की इस प्राचीन सभ्यता का केन्द्र ग्रीस या यूनान भौगोलिक दृष्टि से एक अनोखा देश है। एक झालर की भाँति कटावदार शक्ल में समुद्र, इस देश में दूर तक प्रवेश करता है। इसके पूर्व में 'ईजियन' नामक खाड़ी और कालासागर है, दक्षिण मे भूमध्य सागर और एड्रियाटिक खाड़ी है। इसी ईजियन खाड़ी में क्रीट और साइप्रस जैसे द्वीपों के अतिरिक्त ५०० छोटे-छोटे टापू और हैं।

इसके एक ओर ९७५४ फुट ऊँचा "आल्पस्" पर्वतमालाओं का पहाड़ी प्रदेश है। जिसका पुराना नाम 'हेलास' था। इन पर्वतमालाओं में बहुत सी उपत्यकाएँ हैं। इस देश की नदियाँ उथली होने के कारण सिंचाई के योग्य नहीं हैं। मैदान कटे-फटे होने के कारण खेती के योग्य नही हैं। सिर्फ भूमध्य सागर की जलवायु के कारण यहाँ फल बहुतायत से पैदा होते हैं, जिनमें प्रधानतः अंगूर, सेब, नासपाती, सन्तरे, अखरोट, अञ्जीर इत्यादि हैं।

'हेलास' नामक पहाड़ी प्रदेश होने के कारण इसके निवासियों ने अपने देश का नाम भी 'हेलास' ही रखा था। उसके बाद रोम के निवासियों ने इस देश का नाम 'ग्रीस' और अरब के विद्वानो ने इसका नाम 'यूनान' रखा।

यूनान के प्रान्तों को मकदूनियाँ, इपारस, थेसाली, मध्य ग्रीस और द्वीप समूह इन पांच भागों में बांटा जा सकता है।

ग्रीस की प्राचीन सभ्यता का इतिहास ईसा से करीब ३ हजार वर्ष से प्रारम्भ होता है। यूनान की पौराणिक परम्पराओं के अनुसार प्राचीन युग में इस क्षेत्र मे 'पेलासगो' नामक असभ्य जाति के लोग रहते थे। उस समय 'युरेनस' नामक मिस्र के किसी राजपुत्र ने यहाँ आकर अपना छोटा सा राज्य स्थापित किया।

युरेनस के बाद उसके पुत्र 'सिटारस' और उसके बाद उसके पुत्र 'जुपिटर' ने यहाँ राज्य किया। जुपिटर ने अपने राज्य को अपने भाई 'नेपचून' और 'प्लूटो' को बाँट दिया। ये लोग बड़े विलक्षण तरीके से राज्य का शासन करते थे। 'थेसेली' के निकट 'ओलिम्पास' पर्वत के ऊपर इनका न्याय-भवन बना हुआ था। ग्रीक-काव्यों में 'युरेनस' 'सीटारस' 'जुपिटर' इत्यादि लोगों का वर्णन देवताओं के वर्णन की तरह किया गया है और ओलिम्पास पर्वत के शिखर, देवताओ के वासस्थान की तरह बतलाए गये हैं। प्राचीन यूनान में इन देवताओं की पूजा जाति-देवताओं की तरह होती थी।

ईसवी सन् पूर्व १५०० से लेकर ईसवी सन् १०९० तक ग्रीस की मुख्य भूमि पर 'माई-नो-अन' सभ्यता का दौर-दौरा रहा। इस सभ्यता के संस्थापक 'क्रीट' द्वीप से ईजियन-सागर के द्वीपों मे बढ़ते हुए यूनान प्रायद्वीप में पहुँचे। इन लोगों ने यूनान में आकर 'माईकीन' नामक एक बस्ती बसाई। बढ़ते-बढ़ते यह व्यापारिक नगरी एक विशाल नगर के रूप में बदल गयी।

इसी माईकीनी सभ्यता के समय मे ईसवी सन् पूर्व १५५६ के करीब 'एथेन्स' नामक नगर की, ईसवी सन् पूर्व १५२० में 'स्पार्टा' या 'लेसीडेमन नगर' की और ईसवी सन् पूर्व १४९३ में 'थीबिस' नामक नगरकी स्थापना हुई। माईसीनो युग में ही 'होमर' के प्रसिद्ध काव्य 'ईलियड' में वर्णित 'ट्राय' नगर का प्रसिद्ध युद्ध हुआ था। यह युद्ध ईसवी पूर्व १२वीं शताब्दी में लड़ा गया था।

ट्राय-युद्ध के करीब ८० वर्ष पीछे डोरियाई जाति के 'हरक्यूलस' के वंशधरों ने ग्रीस पर आक्रमण करके यहाँ की पुरानी सभ्यताको नष्ट करदिया और 'पोलो-अोनेसस' में अपना केन्द्र बनाया। इसके पश्चात् ईसवी सन् से करीब एक हजार वर्ष पूर्व एशिया खण्ड के किसी क्षेत्रसे 'हेलीनीस' लोगों ने ग्रीस में आकर अपना आधिपत्य जमाया। हेलोनिक लोग एशिया-खण्ड के किस क्षेत्र से आये—इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद हैं। परन्तु इस बात को सब लोग मानते हैं कि यह जाति एशिया के ही किसी भाग से यहाँ पहुँची थी।

यूनान के सुप्रसिद्ध इतिहासकार 'हेरोडोटस' ने इस जाति का वर्णन करते हुए लिखा हे कि "सबेरे-शाम अपने हाथ-मुँह धोने वाले, लम्बी दाढ़ी और ढीले कपड़े पहननेवाले, इन लोगों ने अपने गरम देश से इस ठंडे देश में क्या किया?" हेरोडोटस लिखता है कि—"यह जाति युद्ध-विद्या में कुशल होने के साथ साथ धार्मिक विश्वासों में भी बहुत दृढ़ है। उनके देवता का नाम 'हर' है, जो नशे का सेवन करता है और बाघ-चर्म पर त्रिशूल सामने गाड़ कर बैठता है।'

हेरोडोटस के इस कथन से तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि ग्रीस में आने वाली यह हेलोनिक जाति भारतकी आर्य्य जाति की कोई शाखा थी। इसी आधार पर सुप्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल 'टाड' ने भी ग्रीस की हेलोनिक जाति को आर्य्य जाति की ही एक शाखा माना है।

हेलेनिक युग

इस प्रकार इस जाति ने ग्रीस के अन्दर आकर वहाँ पर एक नवीन युग का प्रादुर्भाव किया। जो प्राचीन ग्रीस के इतिहास में 'हेलोनिक-युग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी युग में ग्रीक सभ्यता का सभी दृष्टियों से सर्वतोमुखी विकास हुआ। इसी युग में ग्रीस के अन्तर्गत नगर राज्यों की स्थापना हुई। कुछ ही समय में ये लोग यूनानी लोगों से घुल-मिल गये और इस मिश्रित सभ्यता का नाम ही यूनानी सभ्यता पड़ा।

कुछ समय बाद इस सभ्यता के लोगों ने ग्रीस से भी आगे बढ़ना शुरू किया और ईजियन खाड़ी के टापुओं को आबाद करते हुए खाड़ी के उस पार पहुँच गये। वही पर इनका 'ट्राव' नगरवालों से इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसका वर्णन 'होमर' ने अपने कहाकाव्य 'ईलियड' में किया है।

ग्रीसके अन्दर प्राचीन युगमें कोई संगठन न होनेसे बाहर के आक्रमणकारी वहाँ पर आकर लूट पाट मचाते थे। इस लूट-पाट से बचने के लिए और वहाँ की जनता को एकता के बन्धन में बाँधने के लिए वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों ने मिलकर 'ओलेम्पियन' (Olympian) नामक एक महान् उत्सव का

प्रारम्भ किया। ईसा से ७७६ वर्ष पहले सबसे पहला ओलेम्पिकी उत्सव शुरू हुआ। इस जलसे में बड़े-बड़े राजपुरुषों से लेकर साधारण नागरिक तक सभी शामिल होते थे। ग्रीस के ग्रंथकार, कवि, मल्ल, योद्धा, अश्वारोही सभी इस उत्सव में सम्मिलित होकर वहाँ की प्रतिस्पर्धाओं में भाग लेते थे। विजयी लोगों का बड़ा सम्मान होता था और कवि अपनी शक्ति भर उसकी प्रशंसा करते थे। संसार प्रसिद्ध 'ओलेम्पिक' खेलों का प्रारम्भ भी इसी उत्सव से हुआ था। ग्रीस के इतिहास में यह युग वीर–पूजा युग के नाम से मशहूर है और इस युग का प्रतिनिधित्व महाकवि 'होमर' ने अपने काव्यों में किया है।

हेलेनिक युग में शुरू-शुरू में नगरराज्यों का शासन राजाओं के द्वारा होता था। धीरे-धीरे यह राजतन्त्र, कुलीनतंत्र में परिवर्तित हुआ। मगर इस कुलीनतंत्र के अन्दर भी जनता को सुख-सुविधा नहीं थी। प्रजा की इस दुखद अवस्था को देख कर ईसवी सन् पूर्व ६२१ में 'ड्रेको' नामक एक शासक ने अपनी सूझ-बूझ से कुछ कानूनों का निर्माण किया। इसके पश्चात् ईसवी पूर्व सन् ५९५ में 'सोलन' नामक एक अधिकारी ने इन कानूनों में उदारतापूर्वक काफी संशोधन किये।

ईसवी पूर्व ६०० से लेकर ईसवी पूर्व ५०० तक ग्रीस के प्रमुख नगर 'एथेन्स' में क्रांतियों और प्रतिक्रांतियों का दौरदौरा रहा। ईसवी सन् पूर्व ५६० में 'पिसिस्ट्रटस' नामक सैनिक अधिकारी ने अपनी शक्ति के बल पर राज्यसभाओं को भंग करके पूर्ण निरङ्कुश शासन की स्थापना की। उसके बाद ईसवी पूर्व ५१० में कुलीनवर्ग ने जन-साधारण और स्पार्टा की सहायता लेकर इस निरङ्कुश शासन को समाप्त किया। और फिर से कुलीनतंत्र की स्थापना की। इस कुलीन तंत्र का अध्यक्ष 'क्लिस्थेनीज' नामक इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ जो यूनानी लोकतंत्र का पिता समझा जाता है। इस व्यक्ति ने पद पर आते ही ग्रीस के कुलीनतन्त्र को लोकतंत्र में बदल दिया। इसने शासन के लिए एक कौंसिल की स्थापना की, जिसके सदस्यों की संख्या ५०० रखी गयी और इस कौंसिल में कुलीन वर्ग की अपेक्षा साधारण जनता को अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया।

क्लिस्थेनीज का शासन ५१० ईसवी पूर्व से ४९३ ईसवी पूर्व तक रहा। उसके पश्चात् 'थीमेस्टोक्लीज' नामक व्यक्ति यूनानी लोकतंत्र का प्रधान बना। २० वर्ष के इसके शासनकाल मे यूनानियों को विशाल ईरानी-साम्राज्य के साथ बड़ी भयङ्कर लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी। इनमें पहली लड़ाई ईसवी पूर्व ४९० में हुई जो 'मराथान' युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। इस युद्ध में ईरानियों को पराजय का मुँह देखना पड़ा।

दूसरी लड़ाई ईसवी पूर्व ४८० में हुई। यह लड़ाई 'सालमिस' के जलयुद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। इस युद्धमें शुरू-शुरू में यूनानी सेना की पराजय हुई और ईरानी सेना ने मध्य यूनान में घुस कर 'एथेंस' पर अधिकार कर लिया। और वहाँ के सारे मन्दिरों को जला डाला। मगर इसके साथ ही जलयुद्ध में सालमिस की खाड़ी में यूनानी बेड़े ने ईरानी बेड़े पर आक्रमण करके उसके २०० जहाजों को डुबो दिया। ईरानी बेड़ा भाग कर 'फलेरन' को ओर चला गया।

तीसरी लड़ाई ईसवी पूर्व ४७९ में 'प्लेटिया के मैदान' में हुई। इस लड़ाई में यूनानी सेना ने ईरानी सेना को जल और थल दोनों ही मैदान में भयङ्कर पराजय देकर यूनानी राज्यो को ईरान की दारुता से हमेशा के लिए मुक्त कर लिया।

स्पार्टा

इसी समय से ग्रीस के दो प्रसिद्ध नगरराज्यों 'स्पार्टा' और 'एथेन्स' के बीच भी प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष की भावनाएँ प्रबल हो गयी। स्पार्टा और एथेन्स— दोनो यूनान के नगर राज्य थे। मगर इन दोनों नगरराज्यों की सभ्यता के आदर्शों में मौलिक अन्तर था। एथेन्स की सभ्यता, दर्शन, राजनीति, साहित्य और कला की सभ्यता थी जिसने संसार को कई बड़े-बड़े दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, साहित्यकार और कलाकार प्रदान किये। मगर स्पार्टा की सभ्यता विशुद्ध सैनिक सभ्यता थी।

स्पार्टा की सभ्यता का सुप्रसिद्ध नेता 'लाइकर्गस' नामक व्यक्ति था। इसने स्पार्टा के सैनिक संविधान का निर्माण किया। इस संविधान के अनुसार स्पार्टा की शासन-व्यवस्था में दो राजा और तीस सदस्यों की एक 'कौंसिल ऑफ एल्डर्स' होती थी। इस कौंसिल का नियन्त्रण कुलीन वर्गों के ५ प्रभावशाली व्यक्ति करते थे। इनको इफोर (Ephor) कहते थे। स्पार्टा की समाज-व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर

वीरत्व का भाव जागृत रखने और उत्तम सन्तान पैदा करने के लिए कई विशेष नियमों की व्यवस्था की गयी थी। इस व्यवस्था के अनुसार—

(१) स्पार्टा मे किसी बच्चे के पैदा होते ही उसकी शारीरिक शक्ति की परीक्षा के लिए उसे शराव में स्नान कराया जाता था। इसके बाद भी वह बच्चा यदि बच जाता तो उसकी और शारीरिक परीक्षाएँ करके माता-पिताओं से उस बच्चे को लेकर उसके पालन-पोषण का भार राष्ट्र अपने ऊपर ले लेता था।

दुर्वल और कमजोर बच्चों को 'अपोथेटी' नामक गुफा में फेंक दिया जाता था। तीन दिन बाद फिर उसको वहां देखने के लिए जाते थे और यदि वह बच्चा वहां जीवित मिल जाता तो उसे वापस लाते थे।

(२) सब बच्चे राष्ट्र की सम्पत्ति माने जाते थे। उनका पालन-पोषण राष्ट्र की ओर से किया जाता था। और उनके शारीरिक संगठक और मानसिक विकास की पूर्ण व्यवस्था राष्ट्र की ओर से की जाती थी।

(३) हर एक व्यक्ति के विवाह अनिवार्य समझा जाता था। अविवाहित पुरुष निन्दा के पात्र होते थे।

(४) पति-पत्नी सुंदर तथा स्वस्थ सन्तानें पैदा करने के लिए एक दूसरे की आज्ञा लेकर अन्य पुरुषों और स्त्रियों से भी संसर्ग कर सकते थे। इस प्रकार से पैदा हुई सन्तान वहाँ पर साधारण पैदा हुई सन्तान की अपेक्षा विशेष आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। पतिव्रत और पत्नीव्रत का कोई मूल्य नहीं था।

(५) वहां के लोग हल्के बाल रखते थे। नंगे पैर रहते थे और सादे वस्त्र पहनते थे। साज-शृङ्गार करना वहाँ पाप समझा जाता था। इसी प्रकार संगीत, काव्य, नृत्य इत्यादि कलाओं पर भी वहाँ प्रतिवन्ध था।

इन प्रतिवन्धों की वजह से स्पार्टा के अंदर सैनिक शक्ति का बहुत अधिक विकास हुआ। और एथेन्स के साथ स्पार्टा-संघके संघर्ष भी कई बार हुए। ये संघर्ष'पेलोपोनेशियाई'संघर्ष के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इन संघर्षोंमें पहला संघर्ष ईसवीपूर्व ४५९मे, दूसरा संघर्ष ईसवी पूर्व ४३१मेऔर तीसरा संघर्ष ईसवी पूर्व ४१३ में हुआ। ये संघर्ष कई-कई वर्षो तक चलते रहे और इसमें एथेन्स को पराजय का मुँह भी देखना पड़ा और उसकी जनहानि भी बहुत हुई।

पैरेक्लीज युग

पर इस युग में एथेन्स को 'पैरेक्लीज' नामक महान् नेता भी प्राप्त हुआ जिसने अपनी योग्यता, उदारता और चतुराई के बल पर एथेन्स में एक स्वर्ण युग की स्थापना की। पैरेक्लीज की शताब्दी एथेन्स के इतिहास में एक गौरवपूर्ण शताब्दी है। जिसके अन्तर्गत एथेन्स ने 'सुकरात' 'प्लैटो' 'अरस्तू' 'जेनोफेन' 'आईसोक्रेटस' इत्यादि महान् विचारकों को पैदा किया। जिन्होंने दर्शन-शास्त्र राजनीति, समाज शास्त्र, विज्ञान इत्यादि सभी विषयों में इतनी मौलिक और महत्वपूर्ण देनें संसार को दीं, जो हजारों वर्ष बीत जाने के पश्चात् आज भी संसार का पथ-प्रदर्शन कर रही हैं। इन सब दार्शनिकों का परिचय इनके नामों के साथ इस ग्रन्थ में पढ़ना चाहिए।

पैरेक्लीज के समय में एथेन्स की न्याय-व्यवस्था भी बहुत उत्तम थी। वहाँ की राज्यसभा 'एकेलेशिया' के नाम से प्रसिद्ध थी जिसमें ४०० सभासद होते थे। कानून बनाने, सन्धि-विग्रह करने इत्यादि सब बातों का निर्णय करने का काम यही सभा करती थी।

गुलामी प्रथा

इन सब बातों के होते हुए भी एथेन्स और स्पार्टा में गुलामी प्रथा पूरे जोर-शोर से चालू थी। पराजित देशों के पुरुषों और स्त्रियों को पकड़ कर गुलाम बना लिया जाता था। घर के और खेत के सब काम इनसे निर्दयता-पूर्वक कराये जाते थे। शासन और समाज-व्यवस्था में इनका कोई भाग नहीं था। प्लेटो के समान महान दार्शनिक ने भी इन गुलामों के साथ मानवी न्याय का उपयोग नहीं किया। अकेले एथेन्स में इस युग में गुलामों की संख्या ८० हजार थी। आबादी की दृष्टि से प्रति ४ व्यक्तियों के पीछे एक गुलाम था।

पैरेक्लीज के पश्चात् एथेन्स की शासन-व्यवस्था बहुत बिगड़ गयी। प्रजातन्त्र के नाम पर वहाँ ३० आततातियों—जिनको 'थर्टी टेरेंट्स' कहा जाता है—का शासन हो गया। इन्ही के शासनकाल में सुकरात के समान महान् दार्शनिक की हत्या जहरका

प्याला पिला कर की गयी। इन्हीं के अत्याचारी शासन को देखकर अफलातून प्रजातन्त्र पद्धतिके बहुत विरुद्ध होगया था। जिसके परिणाम स्वरूप अपने महान् ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में उसने जनतन्त्र की कठोर आलोचना की है।

इसके पश्चात् ग्रीस का 'मकदूनिया' नामक राज्य इतिहास के रङ्गमञ्च पर आता है। ईसवी पूर्व ३५६ में वहाँ पर 'फिलिप द्वितीय' नामक शासक का शासन प्रारम्भ होता है। फिलिप बड़ा महत्वाकांक्षी शासक था। इसने ग्रीस के कई नगर-राज्यों को जीत कर 'कोरिन्थ' और 'थीबीज' में अपने सैनिक अड्डे बनाए।

फिलिप का पुत्र संसार-प्रसिद्ध विजेता 'सिकन्दर महान्' था। इसका समय ईसवी पूर्व ३३६ से ३२३ तक रहा। सिकन्दर ने प्रारम्भ में नगर-राज्यों में विखरे हुए सारे ग्रीस को अपने झंडे के नीचे एकत्रित कर लिया। उसका स्वप्न सारे संसार को एक राज्य और एक संस्कृति में देखने का था। इस स्वप्न को चरितार्थ करनेके लिए इस महान् विजेता ने अपनी दिग्विजय यात्रा प्रारम्भ की। उस यात्रा मे उसने ईरान के समान विशाल साम्राज्य को पराजित कर मिस्र को जीत कर भारत के एक भाग पर अधिकार कर लिया।

उसके वाद वह वेबीलोनियाँ को विजय करने के लिए गया और वहीं पर ३३ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका सारा साम्राज्य उसके तीन सेनापतियों में बंट गया।

सिकन्दर की शक्ति के पतन के साथ ही योरप में रोमन साम्राज्य का विकास हुआ और रोम ने ग्रीस और मकदूनियाँ को भी ई० पूर्व दूसरी शताब्दी में अपने साम्राज्य मे मिला लिया। रोमन काल में भी ग्रीस की साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्ता ज्यों की त्यों वनी रही।

इसके वाद ग्रीस का इतिहास अपने गौरव की मंजिल से उतर कर साधारण गतिसे चलने लगा। जब रोमन-साम्राज्य दो भागों मे विभक्त हो गया तव ग्रीस 'वैजंटाइन' साम्राज्य का एक अंग हो गया।

उसके वाद जव उस्मानी तुर्कों ने वेजेंटाइन साम्राज्य को पराजित कर कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लिया तव ग्रीस भी धीरे-धीरे टर्की-साम्राज्य मे विलीन हो गया।

मगर फ्रांस की राज्य क्रांति के पश्चात् ग्रीस के उत्साही देशभक्तों ने रूस, ब्रिटेन और फ्रांस की सहानुभूति से तुर्कों के विरुद्ध १० वर्ष तक लम्बा संघर्ष करके तुर्की के जुए को उतार फेंका और सन् १८३२ ई० में बवेरिया के राजकुमार को 'ओटो प्रथम' के नाम से सम्राट् बनाया। मगर ओटो वहाँ की जनता को सन्तुष्ट न कर सका तव सन् १८४३ ई० में वहाँ की जनता ने उसके विरुद्ध आन्दोलन करके जनतन्त्रवादी संसदीय परम्परा की स्थापना की। मगर इस परम्परा में भी सम्राट् के पद को कायम रखा गया। जिसके परिणाम-स्वरूप सन् १८६३ ई० में डेनमार्क का राजकुमार 'विलियम जार्ज' वहाँ का सम्राट् बनाया गया। मगर साम्राज्य की सारी शक्ति सम्राट् के हाथ से निकल कर जन-प्रतिनिधियों के हाथ में आ गयी।

इसके वाद ग्रीस मे कभी जनतन्त्र और कभी राजतन्त्र की विजय होती गयी। दूसरे महायुद्ध के समय इटालियन-सेनाओं ने ग्रीस पर आक्रमण किया, मगर इस युद्ध में ग्रीस ने इटालियन सेनाओं को करारी पराजय दी और उसके २० हजार सैनिकों को वन्दी बना लिया। लेकिन कुछ समय वाद जर्मन-सेनाओं ने ग्रीस को रौंद डाला।

सन् १९४६ ई० में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर ग्रीस में आम चुनाव हुए। जिसमें अनुदार दलका वहुमत हुआ और सम्राट् जार्ज द्वितीय के भाई 'पाल' को शासनाध्यक्ष वनाया, पर वह भी जमकर शासन न कर सका। और सन् १९४७ ई० से लेकर सन् १९४९ ई० तक वहां पर १० सरकारें वदलीं।

सन् १९५४ ई० मे 'एथेन्स' और 'साइप्रस' में ब्रिटिश हस्तक्षेप के विरुद्ध विद्रोह हुआ और उसके पश्चात् १९५९ ई० में 'लन्दन-ज़ूरिक' समझौते के अनुसार ग्रीक के शासन में कुछ स्थिरता आई।

ग्रीस की प्राचीन चित्रकला

यह वतलाने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन ग्रीस ने चित्रकला, मूर्तिकला, सङ्गीत, साहित्य इत्यादि सभी क्षेत्रों में बड़ी अद्भुत प्रगति की थी।

प्राचीन ग्रीस की खुदाइयों मे जो मिट्टी के वर्तन, फूलदान, शराव के प्याले इत्यादि अभी उपलब्ध हुए हैं उन पर की गयी चित्रकारी को देख कर यह मालूम होता है कि उस

काल में यूनानी लोगों को चित्रकला का बहुत अच्छा ज्ञान था। इन बर्तनों पर देवपूजा, वीरपूजा, प्रेमालाप, मद्यपान, जल में स्नान करती हुई स्त्रियाँ इत्यादि तरह-तरह के भाव-पूर्ण चित्रों के दृश्य देखने को मिलते हैं।

ईसा से ७०० वर्ष पूर्व ग्रीस के चित्रकारों में 'एक्सीयस' 'क्लाइटस' तथा 'ब्राइगस' नामक चित्रकारों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ग्रीस की चित्रकारी के क्षेत्र में यह युग 'दर्पण युग' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मगर इस युग में यूनान के चित्रकार केवल दो ही रङ्गों का प्रयोग करते थे। काला और लाल—इसी से प्राचीन मिस्र और ईरान की चित्रकला से ग्रीक चित्रकला कुछ हलकी समझी जाती थी।

ईसा से ५०० वर्ष पूर्व इन रङ्गों में सफेद और बैगनी रङ्ग का भी प्रयोग किया जाने लगा। इस युगके चित्रकारों में 'युफ्रेनियस' 'ड्यूरिस' 'पेम्फी'इत्यादि चित्रकारोंके नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। इसी युग के प्रसिद्ध चित्रकार 'ब्राइडस' ने साकी और मधुशालाओं की कामुकतापूर्ण क्रीड़ाओं के चित्रण मे सभी कलाकारों को मात कर दिया।

इसके पश्चात् इटली की भड़कीली चित्रकला की स्पर्धा में ग्रीक-चित्रकला का पतन हो गया।

ग्रीक मूर्तिकला और स्थापत्य कला

चित्रकला से भी अधिक मूर्तिकला तथा भवन निर्माण कलाके क्षेत्र में ग्रीक-कलाकारों ने अपनी कला की पूर्ण पराकाष्ठा का प्रदर्शन किया। इस कला के द्वारा उन्होंने कई बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण किया। इन मन्दिरों में ग्रीक-स्थापत्य-कला और मूर्तिकला का चरम विकास देखने को मिलता है। इन मन्दिरों में 'पार्थेनन' 'एक्रापालिस' 'एथीना' इत्यादि के मन्दिर ग्रीक स्थापत्य-शैली के विशिष्ट उदाहरण हैं।

पार्थेनन की कला-कृतियाँ कला के क्षेत्र में मानवीय सफलता का सर्वोच्च प्रमाण है। एथीना का मन्दिर भी इस प्रकार की स्थापत्यशैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एक्रा-पालिस पर स्थित 'प्रोपाइलिया' का तोरण-द्वार भी ग्रीक स्थापत्यकला का एक आदर्श उदाहरण है।

यूनानी मूर्तिकारों में 'फिडियास' नामक मूर्तिकार का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इस मूर्तिकार ने 'एजीना देवी' की एक विशाल मूर्ति का निर्माण किया था। इस महान् मूर्ति की लम्बाई ३९ फीट के लगभग थी। और यह सारी मूर्ति हाथी दाँत और सोने के मिश्रण से बनाई गई थी। ग्रीक मूर्तिकला के इतिहास में यह मूर्ति एक महान् आश्चर्य की तरह मानी जाती थी।

फिडियास के पश्चात् ग्रीक मूर्ति-कला के इतिहास में 'माईराइन' का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इसके द्वारा बनाई हुई 'डिस्कोबोलस' की प्रसिद्ध मूर्ति गतिशील मानव-शरीर का एक उत्कृष्ट निरूपण है। यह मूर्ति कांसे की धातु से बनाई गयी थी। माईराइन की बनाई हुई एक दूसरी मूर्ति 'एथीना देवी' की भी बहुत प्रसिद्ध है।

इसी युग का प्रसिद्ध मूर्तिकार 'पाली क्लिटस' था जो मानव शरीर की रूपरेखा को हूबहू अभिव्यक्त करने में बड़ा सिद्धहस्त था। उसकी प्रसिद्ध कृतियों में 'डोरी फोरस' 'अमे-जान' और 'डाएड्र मीनांस' की मूर्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

ग्रीक मूर्तिकला के दूसरे युग में नग्न और कामोत्तेजक मूर्तियों के निर्माण का युग आया। यह युग ईसासे पूर्व चौथी सदी का युग था। इस युगमें 'प्रेक्सोटोलीज' नामक मूर्तिकार का नाम बहुत प्रसिद्ध है। यह मूर्तिकार 'थीबीज'की अवगुण्ठ-नवती, परम सुन्दरी 'फ्राइनी' नामक गणिका का प्रेमी था। फ्राइनी की प्रेरणा से उसने प्रेम की देवी 'वीनस' की एक अत्यन्त सुन्दर नग्न मूर्ति बनाई। जिसका चेहरा फ्राइनी से बहुत मिलता जुलता था। इस मूर्ति को 'क्नाइडस' के लोगों ने खरीद कर अपने मन्दिर मे स्थापित किया। इस मूर्तिकार को अन्य कृतियों में 'अपोलो' और 'हरास' की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

प्रेक्सीटोलीज का शिष्य 'लियोकोरस' भी अपने समय का महान् मूर्तिकार था। इसकी बनाई हुई नग्नमूर्तियाँ यूनान में बहुत लोकप्रिय हुई। इन मूर्तियों में 'वीनस ऑफ आलिस' 'वीनस ऑफ मेलास' इत्यादि मूर्तियाँ विशेष प्रसिद्ध थीं।

इसके पश्चात् मूर्तिकला के क्षेत्र में 'स्कोपास' और 'लीसीयस' के नाम आते हैं। ये मूर्तिकार सिकन्दर के सम-कालीन थे। लीसीयस ने सिकन्दर की कई मूर्त्तियों का निर्माण किया था। इस मूर्तिकार ने यूनान की इस कहावत पर कि 'समय को अगले बालो से और उसके मस्तक पर बल खाती

हुई लटों से पकड़ों।' पर भी एक मूर्ति का निर्माण किया था। इस मूर्ति का 'कैलिस्ट्राटस' नामक विद्वान् ने बड़ी रोचक भाषा में वर्णन किया है।

लीसियस के पश्चात् ही यूनानी मूर्तिकला का पतन प्रारंभ हो गया।

ग्रीक साहित्य

संसार की ऐसी विशिष्टतम साहित्य शृङ्खला में जिसने अपने वैभव और अपनी विशिष्टता से समग्र विश्वसाहित्य को प्रभावित किया, ग्रीक साहित्य भी एक विशिष्टतम कड़ी है।

किसी-किसी देश की भूमि और आवहवा में ही रत्न-प्रसूता होने की खूबी रहती है। जिस प्रकार भारत की रत्न-प्रसूता भूमि ने बुद्ध, महावीर, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, धनवन्तरि, कौटिल्य, आर्यभट्ट, पाणिनी इत्यादि अमर साहित्य के रत्नों को पैदा कर विश्वसाहित्य को प्रभावित किया, जिस प्रकार चीन के कनफ्यूशस, लाओत्से, मो—त्सो, मैंसियस इत्यादि महान् व्यक्तियों ने विश्वसाहित्य को अपनीं महान् देनें अर्पित कीं और जिस प्रकार ईरान ने जरथोस्ट, फिरदौसी, शेखसादी, जामी और ऊमरखैयाम के द्वारा विश्व-साहित्य में अपना स्थान कायम किया, उसी प्रकार प्राचीन यूनान ने भी जीवन-दर्शन के सभी अङ्गों पर बड़े-बड़े महान् व्यक्तियों को पैदाकर साहित्य, विज्ञान, राजनीति, इतिहास, ज्योतिष, गणित इत्यादि सभी विषयों पर अपनी बहुमूल्य भेंटें विश्वसाहित्य को अर्पित कीं।

जीवन-दर्शन का कोई भी अंग ऐसा अछूता नहीं रहा जिस पर ग्रीक तत्वचिंतकों ने विचार न किया हो। जिस प्रकार पूर्व में भारतीय मनीषियों ने जीवन के हर एक विभाग पर गम्भीर चिन्तन करके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष हर वस्तु की थाह लगाने का प्रयत्न किया। उसी प्रकार पश्चिममें यूनानी तत्वचिन्तकोंने चिन्तन करके आगे आनेवाले विचारकोंके लिए उर्वर भूमि तैयार कर दी। आज सारा यूरोपीय साहित्य, चाहे कितनी ही प्रगतिशील स्थिति में पहुँच गया हो मगर ग्रीक विचारधारा से अपने को ऋणमुक्त नहीं कह सकता। होमर, सुकरात, सोफोक्लीज, हेरोडोटस, प्लेटो, अरिस्टोटल, पायथागोरस, एपीक्यूरियस इत्यादि यूनान की महान् विभूतियों का विश्व-साहित्य पर और विशेष कर यूरोपीय साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

यूनानी साहित्य का प्रारम्भिक काल ईसा से नौ सौ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होता है और प्रारम्भमें ही यूनानी भूमि पर हम—

होमर-युग

के दर्शन करते हैं। इस युग को हीरो-वर्शिप या वीर-गाथा काल भी कहा जाता है। यह वह युग था जिसके कुछ समय पूर्व सारे यूनान पर क्रीट की मिनोअन सभ्यता का प्रभाव छाया हुआ था। ईसा से करीब १५०० वर्ष पूर्व हिंदी-यूरोपीय आर्य्यों की एक शाखा ने मिनोअन सभ्यता के नगरों पर आक्रमण करके उसे तहस-नहस कर डाला। और वे ग्रीस में जम कर बैठ गये। इनकी अन्तिम शाखा डोरियन ग्रीकों की थी जो ईसा से १२०० वर्ष पूर्व ग्रीस पहुँची। इसी ग्रीक राजवंश में स्पार्टा के राजा मेनेलास की पत्नी हेलेन अत्यन्त सुंदरी और कमनीया थी। ट्राय का युवराज पेरिस भी काम-देव की तरह सुन्दर था और उसे प्रेम की देवी अफ्रेदितो के द्वारा हेलेन से प्रणय करने का वरदान मिल चुका था। एक दिन स्पार्टा के राजा की अनुपस्थिति मे पेरिस हेलेन का अपहरण करके भाग गया। उसी हेलेन का उद्धार करने के लिए ग्रीस और स्पार्टा की सेनाओं ने मिल कर ट्रायनगर पर दस बरस तक घेरा डाला और उसका विध्वंस कर दिया।

इसी घटना पर होमर का सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'इलियड' (पूरा वर्णन 'इलियड' नाम के साथ इस ग्रंथ के दूसरे भाग में देखें) आधारित है।

इसी प्रकार होमर का दूसरा काव्य 'ओडेसी' भी यूनानी पुराण-कथाओं पर आधारित है। होमर की भाषा इस प्रकार के वीरकाव्यों के लिए बड़ी सशक्त थी और इसी कारण जिस प्रकार राजस्थान के चारण डिंगल भाषा के वीर रस पूर्ण काव्यों को राजस्थान में गाते है और जिस प्रकार उत्तर प्रदेश में आल्हा खण्ड का परायण होता है। उसी प्रकार होमर के वीर रसपूर्ण काव्यों को गाने वालों की उस समय चारणों की तरह एक जाति ही बन गई थी। जो 'होम रीडी' के नाम से प्रसिद्ध थी।

होमर के करीब एक सदी पश्चात् इसी वीरगाथा युग में 'हेसियाड' नामक एक कवि का और नाम आता है। इसका समय ईसा से आठवीं सदी पूर्व माना जाता है। इसने

अपनी नीति मूलक कविताओं में भी होमर के वीर-छन्द का अनुकरण किया है पर उसने अपनी कविताओं में उच्च और सभ्रान्त वर्ग का चित्रण न कर किसानों और मजदूरों के जीवन का चित्रण किया है। अपनी "थियोगोनी" मे उसने ग्रीक पौराणिक विश्वासों का अध्ययन किया। इसकी रचनाओं का भी आने वाली पीढ़ी पर काफी प्रभाव पड़ा।

ईसा से पूर्व सातवी सदी में यूनान के अन्तर्गत नगर-राज्यों का उदय हुआ। इन नगरराज्यों में कहीं राज्यतन्त्र कहीं गणतन्त्र और कहीं प्रजातन्त्र की स्थापना हुई।

साहित्य और कविता पर इस बदली हुई राजनैतिक परिस्थिति का प्रभाव पड़ा। और कविता के क्षेत्र में इसके फलस्वरूप 'लिरिक' काव्य का जन्म हुआ। यद्यपि दार्शनिक क्षेत्र में अभी भी वीर छन्द का काफी प्रयोग होता था।

इन लिरिक काव्यों की प्रधान विशेषता यह थी कि इनकी भाषा अलङ्कार पूरक न होकर सरल, सहज और बोधगम्य होती थी। और इसी भाषा मे प्रणय और विरह, आनन्द और विषाद, संयोग और वियोग सभी भावनाओं को बड़ी खुबी और सुन्दरता के साथ चित्रण किया जाता था। ये लिरिक दो प्रकार के होते थे। एक व्यक्ति के द्वारा गाये जाने वाले लिरिक 'सोलो' और कई व्यक्तियों के द्वारा गाये जाने वाले लिरिक 'कोरस' कहलाते थे।

सैफ़ो—ईसा से पूर्व सातवीं सदी के मध्य में लिरिक काव्य के क्षेत्रमें 'सैंफो' नामक महिला बड़ी प्रसिद्ध हुई। इसका समय ईसा से ६५० वर्ष पूर्व के आस पास था। यह नारी प्रेम की देवी "अफोदिते' की परम भक्त थी और उसी की स्तुति के लिए यह अपनी कई महिला सांगिनियों के साथ मधुर स्वर में वातावरण को कम्पित करती हुई लिरिकों का गायन करती हुई सब दूर घूमती रहती थी। इसके जीवन के साथ उस समय की प्रथा के अनुसार कई अलौकिक कहानियाँ भी जुड़ी हुई हैं। उसकी आवाज में आध्यात्मिकता और प्रेरणा का झरना बहता था। सैंफोके लिरिक करीब पचास वर्ष या उससे अधिक समय तक ग्रीक कविता के प्रेरणास्रोत रहे।

इसी युग मे 'अल्किउस' अनाक्रियन 'काटुलस' इत्यादि और भी कई लिरिककार हुए।

इसके बाद ई० पू० पाँचवी सदी में ज्ञान, विज्ञान की धारा यूनान के प्रसिद्ध नगर एथेन्स में आकर केन्द्रित हो गई। एथेन्स में नाटक, दर्शन शास्त्र, चित्रकला, इतिहास सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई।

एस्किलस—यूनान में ट्रेजिडी नाटकों का सबसे पहला प्रवृत्तक एस्किलस माना जाता है। हालांकि इससे पहले भी "थेस्पिस" नामक व्यक्ति ने ग्रीक ट्रेजिडी को प्रारम्भिक रूप दे दिया था। एस्किलस का समय ई० पू० ५२५ से ई० पू० से ४५५ तक था। एस्किलस ने प्राचीन पौराणिक आख्यानों और वीर काव्यों के आधार पर अपने दुःखान्त नाटकों की रचना की। उसने ईरानी सम्राट् क्षयार्श को यूनानियों द्वारा दी गई पराजय पर 'पर्शियन' नामक एक नाटक की रचना की थी। इन नाटकों को उस समय 'ट्रिलोजी' कहा जाता था।

सोफोक्लीज—ग्रीक नाटक-कला में 'एस्किलस' का विकास सोफोक्लीज में हुआ। सोफोक्लीज का समय ई०पू० ४९७ से ई० पू० ४०५ तक था। एस्किलस ने अपने नाटकों में जहाँ सार्वदैशिक नैतिक सिद्धान्तों को अपना आदर्श बनाया वहाँ सोफोक्लीज ने अपने नाटकों में पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और नाना प्रकार के भावावेगों का चित्रण करने में बहुत सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त कथावस्तु की एकता, भाषा का सौन्दर्य्य, चरित्रचित्रण की स्वाभाविकता और नाट्यकला की सुरुचि की दृष्टि से भी उसकी रचनाएँ एस्किलस से आगे बढ़ी हुई थीं। कई विषयों में आज के नाटककार भी उसकी महत्ता को स्वीकार करते हैं।

यूरिपिडीस—प्राचीन ग्रीकनाट्य क्षेत्रमें तीसरा नाटककार यूरिपीडीस हुआ। इसका समय ई० पू० ४८५ से ई० पू० ४०६ तक था। यह भी सोफोक्लीज का समकालीन था। इसने एस्किलस और सोफोक्लीज की परम्परागत प्रणाली को छोड़ कर ग्रीक नाट्यकला में एक नवीन पद्धति का प्रारम्भ किया। उसने अपने नाटकों में मानव-भावावेगों और मानव हृदयमें उठने वाली, प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, धार्मिक आवेग इत्यादि भावनाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण करना प्रारम्भ कर तत्कालीन नाट्यकला को एक नया मोड़ दे दिया। इसीलिए युरिपिडिस ग्रीक साहित्य में अपने समकालीन नाट्यकारों से आगे बढ़ गया। इसने १७ ट्रेजिडी नाटक और व्यङ्ग नाटकों की रचना की। इन नाटकों में 'मीडिया' के अन्तर्गत घृणा की भावनाओं का, 'फीड्रा' में प्रेम की भावनाओं का

और आगावे में मनुष्य की धार्मिक सङ्कीर्णता की भावनाओं का अच्छा चित्रांकन हुआ है।

अरिस्टोफेनिस— ग्रीक नाट्यकला में ट्रेजिडी के साथ-साथ कॉमेडी (सुखान्त) नाटकों का भी निर्माण हुआ। अरिस्टोफेनिस सुखान्त नाटकों का रचनाकार था। इसकी ग्यारह कॉमेडी इस समय उपलब्ध हैं। इसका समय ई० पू० ४५०से ई०पू० ३८५ तकका था। यह वह समय था जब एथेन्स और स्पार्टा के बीच भयंकर संघर्ष (पेलोपोनेसियन वॉर) चल रहे थे। इसने अपने इन नाटकों मे युद्धलोलुप शक्तियों पर प्रबल प्रहार करते हुए शान्ति के पक्ष का समर्थन किया है।

मिनाण्डर—ग्रीक कॉमेडी का दूसरा सफल नाटककार मिनाण्डर था। इसका समय ई० पू० ३४२ से ई०पू० २९१ तक था। इसने तत्कालीन कॉमेडी को भाण्डों की नकल से उठाकर एक व्यवस्थित रूप दिया। इन नाटकों में उसने दैवी चित्रों का चित्रण बन्द करके, मानवीय चित्रों का स्वाभाविक चित्रण कर सामाजिक जीवन के यथार्थरूप का निरूपण प्रारम्भ किया।

मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास के लिए साहित्य और कला की तरह वक्तृत्वशक्ति की भी अत्यन्त आवश्यकता होती है। सामाजिक जीवन के विकास और क्रान्ति में साहित्य और कला का जहाँ किसी हद तक अप्रत्यक्ष योगदान होता है वहाँ जोशीली और गम्भीर वक्तृताओ के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में जनसमाज के मानस को बदल दिया जा सकता है। नेताओं की प्रभावशाली वक्तृताओं से बड़ी-बड़ी क्रान्तियां उत्पन्न होती हैं।

प्राचीन ग्रीस में भी वक्तृत्वकला का काफी विकास हुआ। इस कला का विकास करने के लिए वहाँ पर 'ओरेटरी' नामक प्रभावशाली संस्था की स्थापना की गई थी। इसका संस्थापक ईसाक्रेटीज नामक वक्ता था। इस संस्था में तीन प्रकार की वक्तृताओं का अभ्यास कराया जाता था। (१) न्यायालय में बहस करते समय कानूनी तथ्यों को सजीव भाषा में वर्णन करना (२) राजनीति के रंगमंच की वक्तृता और (३) धार्मिक उत्सवों की वक्तृता।

ग्रीस में उस समय के सुप्रसिद्ध वक्ताओ में 'एण्टिफोन' "लिसियस" 'डिमास्थेनीज" इत्यादि के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें एण्टिफोन कानूनी क्षेत्र की वक्तृताओं के सम्बन्ध में और डिमास्थेनीज, राजनैतिक वक्तृताओं के क्षेत्रमें बहुत प्रसिद्ध थी। उसने मकदूनिया के राजा फिलिप (सिकन्दर महान् का पिता) के द्वारा ग्रीक नगरराज्यों पर किये हुए प्रहार से व्याकुल होकर ग्रीक जनता के राष्ट्रीय जागरण के लिए वक्तृता की। जिस परम्परा को उसने जन्म दिया वह संसार के इतिहास में बेजोड़ मानी जाती है।

दर्शन शास्त्र और राजनीति के क्षेत्र में भी उस समय के यूनान ने संसार को अत्यन्त महत्व पूर्ण और महान् सामग्री प्रदान की जो हजारों वर्ष बीत जाने पर भी आज तक राजनीति के क्षेत्र में प्रकाश-स्तम्भ का काम करती है।

इन क्षेत्रों में सुकरात, प्लेटो, अरिस्टोटल, एपीक्यूरियस इत्यादि नाम आज भी संसार के इतिहास में प्रकाशमान नक्षत्रों की तरह चमक रहे हैं।

प्लेटो की महान् कृति 'रिपब्लिक' और अरिस्टोटल की 'पालिटिक्स' राजनीति के क्षेत्र में आज भी नींव के पत्थर का काम कर रही है। अरिस्टोटल ने जीवन-दर्शन के सभी अंगों पर गम्भीर अध्ययन करके अपने विचारों की रचना की। (प्लेटो और अरिस्टोटलका विस्तृत वर्णन इस ग्रंथके प्रथम खंड में "अफलातून" और "अरस्तू" नाम के अन्तर्गत देखें और "एपीक्यूरियस" का परिचय दूसरे खण्ड में "एपीक्यूरियस" नाम के साथ देखें।)

महान् सिकन्दर की विश्वव्यापी विजयों के पश्चात् एथेंस के ज्ञान विज्ञान का क्षेत्र मिस्र में सिकंदर के द्वारा नवनिर्मित "सिकन्दरिया" नामक नगर में आ गया। सिकन्दर के सेनापति मिस्र के शासक 'टॉलेमी' ज्ञान, विज्ञान और कला का बड़ा शौकीन था। उसने सिकन्दरिया में तत्कालीन संसार के सबसे बड़े पुस्तकालय की स्थापना की। यह पुस्तकालय उस समय संसार का सब से बड़ा पुस्तकालय था। इसी पुस्तकालय के अन्दर ज्ञान और विज्ञान की खोज के लिए उसने एक ऐकेडमी या शोधकेन्द्र की भी स्थापना की। वह विद्वानों का बड़ा आश्रयदाता था। उसकी कीर्ति को सुनकर ऐथेन्स के अनेकों विद्वान सिमट कर सिकन्दरिया में आ गये।

इस युग में ग्रीक साहित्य में कालीमेकस और अपोलोनियस के नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये दोनों साहित्यकार परस्पर विरोधी परम्पराओ के अनुयायी थे। अपोलोनियस

होमर की प्राचीन परम्परा का अनुयायी और वीरकाव्यों का प्रशंसक था और कालीमेकस रोमांटिक कविताओं का समर्थक था। आगे आने वाले रोमन कवियों ने कालीमेकस का अनुकरण कर रोमाण्टिक शैली को अपनाया और इस काव्य परम्परा ने आगामी यूरोपीय साहित्य को भी प्रभावित किया। इसी काल की बहुत सी सुन्दर कविताओं का संग्रह "ग्रीकएन्थालॉजी" के नाम से संगृहीत किया गया।

इतिहास और विज्ञान के क्षेत्र में भी इस हैलोनिक युग के अन्दर काफी रचनाएँ लिखी गईं। इतिहास के लेखकों में इस युग में 'पोलीवियस' (Pollybius) विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इसका समय ई० पू० २०१ से ई० पू० १२० तक था। इसने वैज्ञानिक परम्परा से इतिहास लिखना प्रारम्भ किया।

इसके बाद ग्रीस का राज्य रोमन साम्राज्य के जबड़े में विलीन हो गया। फिर भी इसकी साहित्यिक प्रगति चालू रही। इस युग मे इतिहास के क्षेत्र में "प्लूटार्क" बहुत ही प्रसिद्ध हुआ। इसका समय ई० सन् ४६ से १२७ तक था। प्लूटार्क ने ग्रीस और रोम के कई महापुरुषों की ऐतिहासिक जीवनियाँ वास्तविक तथ्यों के प्रकाश में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ लिखीं। जो आज भी तत्कालीन इतिहास की प्रमाणभूत सामग्री समझी जाती है। इसी प्रकार इस युग में "लूसियस" (१२०-१८०) डायोनिसियस और लाआइंस नामक विद्वान् विशेष प्रसिद्ध है। इसके वाद सन् ५२६ ई० में रोमन सम्राट् जस्टीनियन ने एक घोषणा के द्वारा समस्त ग्रीक ज्ञानपीठों को बन्द कर दिया और तभी से ग्रीक साहित्य का अन्त हो गया।

ग्रीक राजनीति-शास्त्र

योरोप को व्यवस्थित रूप से राज दर्शन और दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने का श्रेय भी यूनान के तत्ववेत्ताओं को ही है।

दर्शन शास्त्र और राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में यूनान के अन्तर्गत, पायथागोरस, सुकरात, प्लेटो, अरिस्टोटल, आइसोक्रेटस इत्यादि महान् विद्वानों के नाम इतिहास में प्रसिद्ध हैं जो हजारों वर्ष बीत जाने पर भी पुराने नही पड़ते और आज भी संसार के राजनीतिज्ञों का पथ-प्रदर्शन कर रहें हैं।

प्लेटो के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'रिपब्लिक' में राजनीति शास्त्र, समाज शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र और न्याय शास्त्र का भी समावेश हो गया है। इसलिए इस ग्रंथ का नाम कन्सर्निङ्ग जस्टिस (Concerning Justice) भी दिया गया है। रिपब्लिक के अतिरिक्त प्लेटो की दूसरी महत्वपूर्ण रचनाएँ 'स्टेट्समैन' और 'लॉज' हैं। ये उसके उत्तर जीवन की कृतियाँ हैं इन सब का वर्णन 'अफलातून' नाम के अन्तर्गत इस ग्रंथ के पहले भाग में पढ़ना चाहिये।

प्लेटो का विकास उसके शिष्य 'अरिस्टोटल' में हुआ जो सुप्रसिद्ध दार्शनिक राजनीतिज्ञ, विचारक, समाजशास्त्री और यूनान की तत्कालीन महान् शिक्षा संस्था 'लेसियस' का संथापक था। इसका जन्म ई० पू० ३८४ और मृत्यु ई० पू० ३२२ मे हुई।

अरस्तू की सब से महान् और संसार-प्रसिद्ध रचना 'पॉलिटिक्स' नामक ग्रंथ है। यह ग्रंथ ८ खण्डों में विभक्त है। इस ग्रंथ में राजनीति, दर्शन शास्त्र, संविधान इत्यादि सभी विषयों पर बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया गया है, जिसका पूरा परिचय 'अरस्तू' नाम के साथ इस ग्रंथ के प्रथम खण्ड में पढ़ना चाहिए।

ग्रीक गणित-शास्त्र

कला और साहित्य की तरह ही प्राचीन यूनान को विज्ञान के क्षेत्र में भी कई महान् विभूतियाँ पैदा करने का श्रेय प्राप्त है। गणित शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र के इतिहास मे भी प्राचीन यूनान ने संसार का पथ-प्रदर्शन किया था।

यूनानी गणितशास्त्र के इतिहास में 'पायथागोरस' 'इराटोस्थेनीज' 'आर्कीमेडीज' 'एपोलोनियस' 'नीकोमेकस' 'डाइफेंटस' 'यूक्लिड' 'सिपाक्रेटीज' 'आर्काइटस' 'थीटेस' 'टालेमी' 'एंटीफोन' इत्यादि गणितकारों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं।

पायथागोरस—इन गणितकारों में पायथागोरस का का नाम सबसे पहले आता हैं। पायथागोरस का जन्म ईसवी पूर्व ५३२ के लगभग माना जाता है। पायथागोरस गणितज्ञ के साथ-साथ एक महान् दार्शनिक भी था। उसके दार्शनिक सिद्धान्त ऐसे मौलिक और नवीन थे कि वहाँ की प्राचीन परिपाटी के लोगों को वे सहन नहीं हुए जिसके फलस्वरूप

पायथागोरस और उसके अनुयायियों पर बड़े अत्याचार हुए। उनके भवनों में आग लगा दी गयी।

पायथागोरस अंकगणित और ज्यामेट्री का बड़ा भारी विद्वान था। उसके सिद्ध किये हुए रेखागणितीय प्रमेय 'पायथागोरस-प्रमेय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। हालांकि इन प्रमेयों को उससे भी पहले भारत के गणितज्ञों ने सिद्ध कर लिये थे।

इराटोस्थेनीज—यह भी यूनान का एक प्रसिद्ध गणितज्ञ था। इसका समय ई० पू० २७६ से ई० पू० १९४ तक था। इसने अविभाज्य संख्याओं (Prime Numbers, को निकालने की एक विधि का आविष्कार किया। यही विधि अंक गणित को उसकी सबसे बड़ी देन थी। यह विधि सीव आॉफ इराटोस्थेनीज (Sieve of Eratosthenes) के नाम से प्रसिद्ध है। इराटोस्थनीज को गणितीय भूगोल का जन्मदाता भी कहते हैं। उसीने शायद पृथ्वी के व्यास और परिधि का नाप सबसे पहले दिया।

आर्कीमेडीज—यह भी यूनान का एक सुप्रसिद्ध गणित शास्त्री था। अंक-गणित और रेखा-गणित के क्षेत्र में उसके अनुसंधान अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसने मिलावट किये हुए सोने में से असली सोने का वजन उसे पानी में तौल कर निकालने की विधि का आविष्कार किया।

एपोलोनियस—अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ कॉनिक्स (Conies) की वजह से रेखा-गणित के क्षेत्र में यह अमर हो गया। इसका जन्म ई० पू० २६२ के लगभग हुआ था।

हिपाक्रेटिज—इसका समय ई० पू० ५ वीं शताब्दी में माना जाता है। ज्यामेट्री के क्षेत्र में इसका भी नाम बहुत प्रसिद्ध है।

आर्काइटिस—इसका समय ई० पू० ४२९ से ई० पू० ३४७ तक माना जाता है। यह पाइथागोरस सम्प्रदाय का माना जाता था। गणितकार के साथ ही यह बहुत बड़ा दार्शनिक और नीतिशास्त्री भी था।

यूक्लिड—रेखा गणित के क्षेत्र में यूक्लिड का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसका समय ई०पू० ३०० के आसपास था। इसके सिद्धान्त रेखा-गणित के क्षेत्र में अभी भी बहुत मान्य समझे जाते हैं। यूक्लिडके सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एलीमेंट्स (Elements) के सन् १८८२ ई० से लेकर अभी तक करीब एक हजार संस्करण निकल चुके थे। इसी प्रकार त्रिकोणमिति गणित के अन्दर 'हरोन' (Heron) मेनीलॉज (Menolous) के नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

ग्रीक-ज्योतिष

प्राचीन यूनान ने गणित-शास्त्र की तरह ही ज्योतिष-शास्त्र के इतिहास में भी कई महत्वपूर्ण प्रतिभाओं को पैदा किया। इनमें 'पायथागोरस' और 'अपोलोनियस' का परिचय हम ऊपर दे चुके है।

ईसवी पू० ३२० से ई० पू० २६० तक 'अरिष्टीलस' और 'टिमोरिस' ने तारों की स्थितियाँ नाप कर तारों की सूचियाँ बनाई।

मगर यूनानी ज्योतिष के इतिहास में 'हिपार्कस' और 'टालमी' के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। हिपार्कस का समय ई० पू० दूसरी शताब्दीं में समझा जाता है। हिपार्कस ने ज्योतिष के प्रमुख ध्रुवांको को निर्धारित कर दिया था। उसने नक्षत्र वर्षों की लम्बाइयाँ, चान्द्रमास की लम्बाई, ५ ग्रहों के संयुति-काल, रविमार्ग का तिरछापन इत्यादि विषयों पर अपने अनुसन्धान किये थे। हिपार्कस के आविष्कारों में 'अयन' का पता लगाना अत्यन्त महत्वपूर्ण था। जब वसन्त ऋतु में दिन रात बराबर होते हैं तब खगोल पर तारों के बीच सूर्य की स्थिति को 'वसन्त-विपुव' कहते हैं। वसन्त-विपुव तारों के बीच स्थिर नहीं रहता। वह चलता रहता है। इसी चलने की क्रिया को अयन कहते हैं।

हिपार्कस ने तारों की भी सूची बनाई थी जिसमें लगभग ८५० तारों का उल्लेख था और इसमें प्रत्येक तारे की स्थिति भोगांश (लॉंजीट्यूट) और शर (लेटीट्यूड) लेकर बतलाई गयी थी।

टालमी-मगर ग्रीक-ज्योतिष शास्त्र के इतिहास में टालमी का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। कुछ लोग इसको मिस्र देश के अलेक्जेंड्रिया का निवासी बताते हैं और कुछ लोग टालेमेइ नामक यूनानी नगर का निवासी बताते हैं। इसका समय ईसा की दूसरी शताब्दी में माना जाता है। सन् १२७ से १५१ तक इसने अलेक्जेंड्रिया की वेधशाला में वेध का कार्य किया। इसका सुप्रसिद्ध ग्रंथ, जिसने इसके नाम को गणित-शास्त्र और ज्योतिष-शास्त्र के इतिहास मे अमर कर

दिया—वह 'सिनटेक्सिस' या 'अल्मेजेस्ट' हैं। यह १३ विशाल खण्डों में पूर्ण हुआ है। इस ग्रंथ में पृथ्वी, उसका रूप, खगोल शास्त्र, आकाशीयपिंडों का वृत्तों में चलना, सूर्य और चन्द्रमा की गति का वर्णन, ज्योतिष-यन्त्रों की रचना इत्यादि सभी सूक्ष्म विषयों का ऐसा गहन विवेचन किया है कि अगले १४०० वर्षों तक कोई भी विद्वान् उससे आगे नहीं बढ़ सका।

'अल्मेजेस्ट' यूनानी ज्योतिष का उच्चतम शिखर था। 'टालमी' के बाद १५०० वर्षों तक उसके मुकाबले का कोई दूसरा ज्योतिषी नहीं हुआ।

सन्दर्भग्रंथ—

चिरञ्जीलाल पाराशर—विश्व सभ्यता का इतिहास
भगवद्शरण उपाध्याय—विश्व साहित्य की रूपरेखा
डा० ब्रजमोहन—गणित का इतिहास
डा० गोरख प्रसाद—भारतीय ज्योतिष का इतिहास
वसु—विश्वकोष
नागरी प्रचारिणी—विश्वकोष

ग्रीन रावर्ट (Robert Green)

अंग्रेजी साहित्य का एक प्रसिद्ध कॉमेडियल (सुखान्त) नाटक पर जिनका जन्म सन् १५६० में और मृत्यु १५९२ में हुई।

रावर्ट ग्रीन अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार 'कीड' का समकालीन था। कीड' और 'मार्लो' ने अंग्रेजी नाटक साहित्य में उसके ट्रेजिडी (दुखान्त) अंग को संवारा। उसी प्रकार रावर्ट ग्रीन ने उसके 'कॉमेडी' (सुखान्त) विभाग को नवजीवन प्रदान किया। एक नाटककार होने के साथ-साथ ग्रीन कवि और गद्य लेखक भी था। अपने नाटक और प्रहसनों में उसने तत्कालीन इंग्लैंड के भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्गों और प्रथाओं का बड़ा मनोरञ्जक चित्रण किया है। ग्रीन ने अंग्रेजी रंगमंच को सुघड़ रूप देने में भी बड़ा परिश्रम किया। इसकी कृतियों में फ्रायर वेकन एण्ड फ्रायर बंगे और स्कॉटिश हिस्ट्री ऑफ जेम्स विशेष प्रसिद्ध हैं।

गुइटोन-द-अरेभो
(Guittone-De-Arezzo)

इटालियन भाषा की 'टस्कनी' शैली के प्रारम्भिक कवि जिनका जन्म सन् १२२५ में और मृत्यु १२९३ में हुई।

तेरहवीं सदी के मध्यमे इटालियन साहित्य में टस्कनीभाषा के अन्तर्गत एक साहित्यिक आन्दोलन चला। यह प्रोवेन्कल के दरबारी प्रणयवाद और फ्रेन्च रहस्यवाद का समन्वय था। इस शैली में इश्कमजाजी (मानवीय प्रेम) क्रमशः इश्क-हकीकी (ईश्वरीय प्रेम) में रूपान्तरित होता था। यह शैली अपनी मधुरता के कारण वहाँ पर बड़ी लोकप्रिय हो गई थी और इसका नाम ही 'डोल्से-स्टिल-नुओवो' अर्थात् नवीन मधुर शैली पड़ गया था।

गुइटोन-द-अरेभो इसी शैली का पहला कवि माना जाता हैं। यद्यपि उसकी कविताओं में इस शैली का पूर्ण मधुर रूप अभिव्यञ्जित नहीं हो सका। फिर भी इस शैली का प्रथम कवि होने के नाते उसका अपना स्थान है।

गुइडो गुइनी जेल्ली
(Guido Guini Zelli)

इटालियन भाषा की टस्कनी शैली का प्रसिद्ध कवि, जिसका जन्म सन् १२४० में और मृत्यु १२७६ में हुई।

गुइडो गुइनीजेल्ली टस्कनी शैली का एक लोक प्रसिद्ध कवि था। अपनी उत्कृष्ट भावनाओं और सरस भाषा के कारण सिसलीके दरबारी कवियोंसे वह बहुत आगे बढ़गया। करीब एक शताब्दी तक फ्लोरेन्स के कवियों ने उसकी शैली का अनुकरण किया। इटली का महान् कवि दांते, 'कावलकाण्टी' 'लेयोजियानी' इत्यादि कवि प्रायः इसी परम्परा के अनुयायी थे।

गुड़गांव

पूर्वी पञ्जाब का एक जिला और शहर। जिसके उत्तर में रोहतक, दक्षिण मे मथुरा और राजस्थान और उत्तर पूर्व में दिल्ली है।

गुड़गांव नगर का इतिहास बहुत प्राचीन है। ऐसा समझा जाता है कि महाभारत काल में यह नगर "गुरु ग्राम"

के नाम से प्रसिद्ध था। क्योंकि इस नगर और इसके आस पास के कुछ भाग को महाराज युधिष्ठिर ने अपने गुरु द्रोणाचार्य्य को गुरुदक्षिणा में दे दिया था और यहीं पर द्रोणाचार्य्य ने पाण्डवों और कौरवों को धनुर्विद्या में पारङ्गत किया था।

मुसलमानी काल में यह जिला 'मेवात' के नाम से प्रसिद्ध था। क्योंकि यहाँ पर मेवात जाति के लोग रहते थे। और ये दिल्ली तथा आस पास के स्थानों में लूट मार किया करते थे। सन् १८०३ मे लार्डलेक की विजय के वाद यह जिला अंग्रेजों के अधिकार में आया।

सन् १८५७ में विद्रोह के समय फर्रुखनगर के नवाब ने विद्रोहियों का साथ दिया तब मेवात जाति और यहाँ के राजपूतों ने भी उनका साथ दिया। सन् १८५८ में नबाब की सारी सम्पत्ति अंगरेजों ने जब्त कर ली।

सन् १७८३ से लेकर सन् १८६९ तक इस जिले में जल की कमी से ७ भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़े। जिसमें सन् १७८३ के दुर्भिक्ष की भयङ्करता का वर्णन तो अभी भी किम्बदन्तियों के रूप में होता है।

इस जिले में फरीदाबाद इस समय सबसे बड़ा औद्योगिक केन्द्र है। यहाँ पर कई प्रकार के छोटे वड़े उद्योग स्थापित हो गए हैं। इसके अतिरिक्त रेवाड़ी में धातु के वर्तन, हसनपुर में दरी, गलीचे और कम्बल, फिरोजपुर फिरका में लोहे के सामान और सोहना में चूड़ियों के उद्योग स्थापित हैं।

इस जिले के प्रधान नगरों में फरीदाबाद, रेवाड़ी और गुड़गांव प्रमुख है। जिले की कुल जलसंख्या १२,४०,७०६ और यहां का क्षेत्रफल २३६७ वर्गमील है।

गुड़िया

लड़के और लड़कियों के प्रतिरूप में बनाये हुए छोटे खिलौने। जो बिल्कुल बालक और बालिकाओंके छोटे-छोटे रूप में बनाये जाते हैं। लड़की की प्रतिकृत्ति को गुड़िया और लड़के की प्रतिकृति का गुड्डा कहा जाता है।

भारतवर्ष के कई प्रान्तों में छोटे-छोटे बालक गुड्डे और गुड़िया को सजा-सजा कर परस्पर-उनका विवाह रचाते हैं। ऐसे विवाहों के द्वारा उन्हें गृहस्थाश्रम, की कई बातों का जैसे घर सजाना, शृङ्गार करना इत्यादि वातों का प्रारंभिक ज्ञान होता है। गुड़िया वाली पार्टी गुड्डे की पार्टी को खिलाती, पिलाती तथा दहेज वगैरह देकर, वैसा ही आचरण करती है जैसा शादी के समय होता है।

गुड़िया का यह खेल बहुत प्राचीन काल से संसार की सभी सम्यताओं में किसी न किसी रूपमें चलता रहा हैं। और चीजों की तरह गुड़िया का प्रचार भी सबसे पहले भारतवर्ष में होने के प्रमाण पाये जाते हैं। 'मोहन जोदड़ो' और 'हड़प्पा' की खुदाई में बहुत सी गुड़ियाएँ प्राप्त हुई हैं जिनका समय यहां की सम्यता के समय के साथ-साथ ही माना जा सकता है, जो कि ईसासे ५ हजार वर्ष पूर्व अनुमान किया जाता है।

इसी प्रकार 'कौशाम्बी' 'पटना' 'मथुरा' इत्यादि प्राचीन राजधानियों में भी मौर्य्य, कुषाण और सातवाहन युगों की मिट्टी की बनाई हुई गुड़ियाएँ प्राप्त हुई हैं।

भारत की ही तरह प्राचीन मिस्र, यूनान और रोम में भी ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व से लेकर ईसा से पूर्व चार सौ वर्ष तक की गुड़ियाएँ पाई गयी हैं। भारतवर्ष की तरह रोम और यूनान की लड़कियाँ भी अपनी शादी से पहले गुड़ियाओं से खेलती थीं।

मध्य युग में फ्रांस के अन्दर गुड़ियाओं के खेल का विशेष रूप से प्रचार हुआ। सन् १३९० ई० में इंग्लैंड की रानी को भिन्न-भिन्न पोशाकों में सजी हुई फ्रांस की अनेक गुड़ियाएँ भेंट की गयी थी। इंग्लैंड की सम्राज्ञी विक्टोरिया के पास भी भिन्न-भिन्न प्रकार की गुड़ियाओं का बहुत बड़ा संग्रह था।

ईसा की १५ वीं शताब्दी में जर्मनी का 'नूरेम्बर्ग' नगर गुड़ियाओं और उनके घरौदोंके लिए प्रसिद्ध था। उस समयकी गुड़ियाएँ और घरौंदे अभी भी जर्मनी और इंग्लैंड के कई संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

आधुनिक युग में तो अब जर्मनी, अमेरिका, इंग्लैंड, जापान इत्यादि देशों में खाती-पीती और रोने-गाने वाली गुड़ियाएँ बनने लग गयी हैं। ये गुड़ियाएँ मिट्टी और लकड़ी की जगह प्लास्टिक, रबर, चीनी और काँच की भी बनाई जाती हैं।

ऐसा मालूम होता है कि भारतवर्ष में गुड्डे और गुड़िया का खेल बालकों को वैवाहिक जीवन का पूर्वरूप और गृहस्थाश्रम की पूर्व शिक्षा देने के लिए निर्मित किया गया था। इन

गुड़ियाओं के विवाह में लड़कियों को गीत गाना, तथा तरह-तरह का भोजन बनाने की शिक्षा मिलती है। राजाओं से लेकर साधारण जनता के बालक भी गुड्डा-गुड्डी का ब्याह कराने में बड़ी प्रसन्नता से भाग लेते थे। और उनके पालक भी इस काम में उनका सहयोग करते थे।

उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात इत्यादि प्रान्तों में इस प्रकार गुड्डे-गुड्डियों के ब्याह बहुत रचाये जाते हैं और गुड़िया पक्ष वाले की तरफ से गुड्डा-पक्ष वाले को छोटे-छोटे बर्तन, पलङ्ग इत्यादि दहेज में दिये जाते थे।

भारतवर्ष में बहुत से पर्वों के साथ भी गुड़ियाओं के खेल का बड़ा सम्बन्ध है। दक्षिणी भारत में दशहरे पर सभी सम्पन्न घरों में बच्चे गुड़ियाओं को सजाते हैं और अपने इष्ट-मित्रों को आमन्त्रित करते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में नाग-पञ्चमी पर गुड़ियाओं को नदी में विसर्जित किया जाता है। इसे गुड़िया का मेला भी कहते हैं।

जापान में भी गुड़ियों का पर्व 'हिनामातसुरी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह पर्व बड़े ठाट-बाट से फल-फूलों की मौसम में मनाया जाता है। इस पर्व पर वहाँ के बाजारों में छोटे-छोटे साइज की मिठाइयां भी आकर बिकती हैं।

गुजरानवाला

पश्चिमी पाकिस्तान का एक जिला और नगर जो लाहौर से ४० मील की दूरी पर बसा हुआ है। इस नगर की जन-संख्या सन् १९५१ ई० में १,२५,४६० थी।

महाराजा रणजीत सिंह के समय में इस शहर की बहुत प्रसिद्धि हुई। रणजीत सिंह का जन्म सन् १७८० ई० यहीं पर हुआ था और लाहौर के पहले उन्होंने अपनी राजधानी भी यहीं पर बनायी थी। यहाँ पर रणजीतसिंह और उनके पिता की समाधियाँ भी बनी हुई हैं।

सन् १८६७ ई० में यहाँ पर म्युनिसिपैलिटी की स्थापना हुई। कुछ समय के लिए अमृतसर के साँसी-जाटों ने यहाँ बस कर इस नगर का नाम 'खानपुर' रख दिया था। मगर बाद में फिर वही पुराना नाम प्रचलित हो गया।

इस शहर में हाथी दाँत की चूड़ियाँ बहुत अच्छी बनती है और इस इस उद्योग के लिए इसकी बड़ी प्रसिद्धि है।

गुजरात

भारतवर्ष का पश्चिमी समुद्र-तटवर्ती एक प्रदेश, जिसका इतिहास बहुत प्राचीन काल से प्रारम्भ होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से जब गुजरात का विवेचन किया जाता है तो उसका मतलब सौराष्ट्र काठियावाड़ से युक्त पश्चिमी समुद्र तटवर्ती उस समस्त प्रदेश से है जिसकी उत्तरी सीमा सिन्धु प्रान्त को स्पर्श करती है। पूर्वी सीमा मेवाड़, राजस्थान और मालवा को गुजरात से जोड़ती है और दक्षिणी सीमा महाराष्ट्र और कोंकण से मिलती है। इस प्रान्त का गुजरात नाम बहुत पीछे ग्यारहवी, या बारहवीं सदी में पड़ा, ऐसा समझा जाता है। पहले यह प्रदेश "सारस्वत मण्डल" कहलाता था।

जैन-परम्पराओं के अनुसार इसी प्रान्त में स्थित सुप्रसिद्ध शत्रुञ्जय-पर्वत पर जैनियों के प्रथम तीर्थंकर 'ऋषभदेव' ने तपस्या की थीं और उनके प्रधान गणधर पुण्डरीक ने इसी शत्रुञ्जय पर्वत से निर्वाण लाभ किया था। तभी से शत्रुञ्जय पर्वत जैन-धर्म का एक पवित्र तीर्थ माना गया है।

इसके पश्चात् जैनियों के २२ वें तीर्थंकर 'नेमिनाथ' ने इसी प्रान्त के गिरनार नामक पर्वत पर निर्वाण लाभ किया था। तभी से यह पहाड़ जैनियों का तीर्थस्थान बना हुआ है और तभी से जैन-परम्पराओं में इस स्थान का इतिहास प्रारम्भ होता है।

इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने द्वारिका नगरी में अपनी राजधानी स्थापित कर यहाँ पर शासन किया था। और सोमनाथ पट्टन का अत्यन्त प्राचीन सुप्रसिद्ध मन्दिर भी इसी सुप्रसिद्ध क्षेत्र में होने से हिन्दुओं के लिए भी गुजरात का क्षेत्र बहुत प्राचीन इतिहास से सम्पन्न माना जाना है।

गुजरात प्रान्त का स्वतन्त्र इतिहास मैत्रक-वंश के राजाओं से प्रारम्भ होता है। इसके पहले यह प्रान्त मौर्य्य, शुंग और गुप्त सामाज्य का अङ्ग था। गुप्त साम्राज्य में जाने के पहले इस क्षेत्रपर शक-क्षहरात वंशके नहपान नामक राजा ने और भद्रचष्टनवंश के रुद्रदामनने शासन किया था। मैत्रक वंश सन् ४६५ के करीब गुप्तवंशसे स्वतंत्र हो गया। इस वंश की पाँचवीं पुश्तमें शिलादित्य बड़ा प्रतापीराजा हुआ। शिला-दित्य की राजधानी 'वल्लभी नगरी' में थी। शिलादित्य प्रथम

जिसको जैनाचार्यों ने अपने धर्म की रक्षा करने के कारण 'धर्मादित्य' की उपाधि दे दी थी—बड़ा प्रतापी राजा था। यह राजा 'ध्रुवसेन द्वितीय' का पुत्र और उत्तराधिकारी था।

जैनाचार्य धनेश्वर सूरि और मल्लसूरि शिलादित्य के समकालीन थे और उन्होंने शिलादित्य को बौद्ध-आचार्यों के प्रभाव से निकाल कर जैन-धर्म के प्रति श्रद्धालु बना लिया था।

शिलादित्य प्रथमके पश्चात् उसका भतीजा 'ध्रुवसेन द्वितीय' वल्लभी की गद्दी पर बैठा। इसके साथ कन्नौज के सम्राट् हर्ष वर्धन की पुत्री का विवाह हुआ था। अपने श्वसुर के प्रभाव से इस राजा ने 'महायानी' बौद्ध-धर्म को ग्रहण कर लिया था। उस समय वल्लभी नगरी बौद्ध धर्म का एक विशाल केन्द्र बनी हुई थी। सन् ६९५ ई० में चीनी यात्री 'इत्सिंग' ने अपने यात्रा-वर्णन में लिखा है कि वल्लभी नगरी उस समय 'नालन्दा' की तरह ही बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र बनी हुई थी। इस शताब्दी मे गुणमति, स्थिरमति, जयसेन इत्यादि प्रमुख बौद्धाचार्य वल्लभी में हुए।

इसके बाद इसवी सन् ७७० के करीब सिन्धु देश के मुसलमान शासक अमर-बिन-जमाल ने वल्लभी पर आक्रमण करके राजा 'शिलादित्य षष्ठ' को मार डाला और बल्लभी को लूट-खसोट कर नाश कर दिया।

वल्लभी नगर के खण्डहरों में काले पत्थरों की बनी हुई शिवजी और नन्दी बैलों की कितनी ही मूर्तियां पाई जाती हैं। ये मूर्तियां आकार में बहुत बड़ी-बड़ी हैं। इससे पता चलता है कि इन राजाओंका राजधर्म शैव था मगर जैन धर्म के प्रति भी इनकी अटूट श्रद्धा थी।

जैन-परम्पराओं के अनुसार वल्लभी नगरी के विनाश का समय ईसवी सन् ३१९ के करीब था, तभी से वल्लभी संवत्सर चला। इस प्रकार इन दोनों समयों में करीब ४॥ सौ वर्षो का अन्तर पड़ता है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वल्लभी सम्वत् का प्रारम्भ वल्लभी के नाश से नहीं, बल्कि वल्लभी-राजवंश की स्थापना के समय से हुआ होगा।

चावड़ा-राजवंश

वल्लभी का नाश होने के पश्चात् कुछ समय तक गुजरात देश सौराष्ट्र के 'सैन्धव' भड़ोच के 'गुर्जर' सौरमण्डल के 'वराह' लाट के 'चालुक्य' और अनहिलवाड़े के 'चावड़ा' इत्यादि छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था।

मगर इसी समय पञ्चासर के 'जयशेखर' चावड़ा के पुत्र 'वनराज' चावड़ा ने एक नवीन राज्य की स्थापना कर ईसवी सन् ७४६ में 'अणहिलपुर' नामक सुप्रसिद्ध नगर को बसा कर वहाँ पर अपनी राजधानी बनाई।

राज्य-स्थापन के पूर्व वनराज का लालन-पालन जंगल में हुआ था और जैनाचार्य 'शीलांक सूरि', के उपाश्रय में इसका बाल्यकाल व्यतीत हुआ था। उसकी माता 'रूपसुन्दरी' भी धार्मिक नियमों का पालन करते हुए वहीं रह रही थीं। राज्य स्थापित होने के पश्चात् वनराज अपनी वृद्धा माता, धर्म गुरु और जिस मूर्ति की वे पूजा करते थे—उन सब को अणहिलपुर में लाया और एक मन्दिर बनवा कर उस मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई और उसका नाम 'पञ्चसर पारसनाथ' रखा। इस मन्दिर की प्रदक्षिणा के स्थान पर लाल राजछत्र सहित राजा वनराज की मूर्ति भी उपासक की दशा में वहाँ पर स्थापित की गयी।

वनराज का प्रधान मन्त्री 'चम्पा' जैनवणिक था; जिसने 'चाँपानेर नगर' को बसाया।

वनराज ने ६० वर्ष तक राज्य किया। वनराज के बाद चावड़ा-राजवंश मे योगराज (सन् ८०६ से ८३६) योगराज के बाद उसका पुत्र क्षेमराज (८३६ से ८६६) और उसके बाद क्रमशः भूवड़, वेरी सिंह और रत्नादित्य नामक राजा गद्दी पर बैठे।

रत्नादित्य सन् ९२० ई० में सिंहासन पर बैठा। यह बड़ा पराक्रमी, साहसी और दृढ़ प्रतिज्ञ था। सन् ९३५ ई० मे इसकी मृत्यु हुई। इसके बाद इसका पुत्र सामन्त सिंह गद्दी पर बैठा। यही इस वंश का अन्तिम राजा था। इसके साथ ही चावड़ा राजवंश का अन्त हो गया।

आईने-अकबरीमें 'चावड़ा-वंश' की वंश सुची इस प्रकार दी गयी है—

१—वनराज (राज्यकाल ६० वर्ष) २—योगराज (राज्य काल ३५ वर्ष) ३—क्षेमराज (२५ वर्ष) राजा पीथू (१९ वर्ष) ५—राजा विजय सिंह (२५ वर्ष) ६— राजा रावत सिंह (१५ वर्ष) और ७—राजा साँवतसिंह (७ वर्ष) इस प्रकार चाँवड़ा राजवंश ने १९६ वर्ष तक राज्य किया।

सोलङ्की-राजवंश

चावड़ा-राजवंश के राजा सामन्त सिंह के कोई सन्तान न होने से उसका भानजा मूलदेव सोलङ्की अणहिलपुरकी गद्दी पर बैठा। यह बड़ा प्रतापी और वीर राजा था। कुछ इतिहासकारों के मत से यह सोलङ्की वंश दक्षिण के चालुक्य-राजवंश की एक शाखा थी। मूलराज ने थोड़े ही समय में सौराष्ट्र के राजा 'ग्राहरिपु', कच्छ के राजा 'लाखा', लाट के राजा 'द्वारप' इत्यादि सब राजाओं को हरा कर गुजरात देश मे एकछत्र राज्य की स्थापना की। अन्त में वह चौहान नरेश 'विग्रहराज' द्वितीय के साथ की लड़ाईमें सन् ६६७ ई० में मारा गया।

मूलराज सोलङ्की ने सन् ६४२ ई० से ६६७ ई० तक राज्य किया। मूलराज के पश्चात् उसका पुत्र 'चामुण्डराय' (६६७-१०१०) गद्दी पर बैठा। इसने युद्ध में धार के परमार राजा 'सिन्धुराज' को परास्त किया।

चामुण्डराजके बाद उसका पुत्र 'दुर्लभराज' राजाहुआ। उसने अणहिलावाड़ा में 'दुर्लभ सरोवर' नामक एक तालाब बनवाया। दुर्लभराज ने जैनाचार्य जिनेश्वर सूरि से जैन-धर्म के व्रत ग्रहण किये।

दुर्लभराज के पश्चात् 'भीमदेव प्रथम' गुजरात की गद्दी पर बैठा। इसका समय सन् १०११ से १०६२ तक रहा। भीमदेव के समय मे ही श्रीमालवंशी पोरवाड विमलशाह अणहिलवाड़े का पहला नगरसेठ बनाया गया। आबू का विश्व प्रसिद्ध 'आदिनाथ' का मन्दिर सन् १०३२ ई० मे विमलशाह ने लाखों रुपये खर्च करके बनवाया था।

भीमदेव के समय मे ही सोमनाथ के मन्दिर पर सन् १०२४ ई० मे मुहम्मद गजनवी का सुप्रसिद्ध आक्रमण हुआ था। इस युद्धमें भयानक लड़ाई के पश्चात् भीमदेव को भागना पड़ा और मुहम्मद गजनवी ने 'सोमनाथ' की मूर्ति और मंदिर को तोड़-फोड़ कर नष्ट कर दिया और असंख्य सम्पत्ति को लूट कर वहाँ से ले गया।

इसके बाद भीमदेव ने इस मन्दिर का पूर्नर्निर्माण करवाया। भीमदेव ने अपने शासनकाल में सिन्ध देश और चेदि राज पर आक्रमण करके वहाँ के राजाओं को वश में किया और बहुत सी भेंट उनसे ली।

भीमदेव के समय में धार के परमार राजा 'भोज' से उसकी बड़ी प्रतिस्पर्धा चलती थी। एक बार जब भीमदेव सिन्ध पर आक्रमण करने में व्यस्त था, तब राजा भोज ने 'कुलचन्द्र' नामक एक सेनापति की अध्यक्षता में एक सेना गुजरात पर आक्रमण करने के लिए भेजी। कुलचन्द ने अणहिलवाड़े में घुस कर खूब लूट मार की।

इससे सोलङ्कियों और परमारों का बैर और भी पक्का हो गया। जिसके परिणाम स्वरूप राजा भोज की मृत्यु के पश्चात् चेदि के राजा 'कर्ण' और गुजरात के राजा 'भीमदेव' ने मिलकर धारा नगरी पर चढ़ाई की और वहां खूब लूट-पाट मचाई।

भीमदेव के पश्चात् उसका पुत्र 'कर्ण' सोलङ्की गुजरात की गद्दी पर बैठा। इसका समय सन् १०६३ से १०६३ ई० तक रहा। कर्णदेव का प्रधान मन्त्री गुजरात का इतिहास-प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ जैन-श्रावक 'मुंजाल' था। जिसने गुजरात की राजनीति में कई महत्वपूर्ण खेल खेले।

राजा कर्ण ने गुजरात की आदिम जातियों के सरदार 'आशा' नामक भील पर चढ़ाई करके उसे भयङ्कर युद्ध में परास्त करके मार डाला। आशा नामक भील गुजरात की लुटेरी जातियों का सरदार था और उसी के नाम से उसका गाँव 'आशावल्ली' के नाम से प्रसिद्ध था। जो आजकल 'आशावल' के नाम से अहमदाबाद के पास स्थित है। राजा कर्ण ने उसी स्थान पर 'कोचर देव' के मन्दिर का निर्माण करवाया। वहाँ पर उसने 'कर्णसागर' नाम का एक सरोवर भी बनवाया। और 'कर्णावती' नाम की नगरी की भी स्थापना की जो आज कल अहमदाबाद के नाम से प्रसिद्ध है।

'कर्ण' सोलङ्कीका विवाह दक्षिण के राजा 'जयकेशी'की पुत्री 'मीनल देवी'के साथ हुआथा। (कर्णका विशेष परिचय कर्ण सोलंकी के नाम से इस ग्रन्थ के तीसरे भाग में देखिए)

मीनलदेवी से कर्णराज को सिद्धराज-जयसिंह नामक पुत्र हुआ जो गुजरातका सबसेअधिक प्रतापी और महान् नरेशथा।

सिद्धराज जयसिंह

जिस समय राजा कर्ण की मृत्यु हुई, उस समय सिद्धराज जयसिंह की उम्र बहुत थोड़ी थी। इसलिए राज्य की पूरी

सत्ता उसकी माता मीनल देवी के हाथ में आई। महामंत्री मुञ्जाल और मन्त्री उदयन तथा सान्तू मीनलदेवी को उसके राजकाज में सहयोग देते थे। बीरम गाँव के पास 'मीनलसर', तथा धोलका के समीप 'मीनल-तलाब' नामक सरोवर रानी मीनल देवी ने अपने नाम पर बनवाये थे।

सन् १०९४ ई० में 'सिद्धराज' गद्दी पर बैठा और इसने सन् ११४३ ई० तक राज्य किया। यह अत्यन्त शक्ति-शाली, विजेता, धर्मात्मा, दानी और सर्व धर्म-सहिष्णु राजा था। इसने शैव-धर्म और जैन-धर्म—दोनोंके प्रति अत्यन्त श्रद्धा और उदारताका व्यवहार किया। उसने एक ओर 'रुद्रमाल' नामक एक विशाल शिवालय का निर्माण करवाया। दूसरी ओर महावीर स्वामी के एक विशाल मन्दिर की भी रचना की। उसने शत्रुञ्जय-तीर्थ की यात्रा करके वहाँ के आदिनाथ मन्दिर को १२ ग्राम भेंट किये।

सिद्धराज-जयसिंह ने धारा नगरी के परमार राजाओं के साथ १२ वर्ष तक युद्ध करके 'अवन्तिनाथ' का विरुद धारण किया और सोरठ के राजा खेंगार को परास्त करके 'चक्रवर्ती' का पद ग्रहण किया।

सिद्धराज-जयसिंह का दरबार विद्वानों और साहित्यकारों से भरा रहता था। ज्ञान और कला का वह बड़ा प्रेमी था। भोज की धारा नगरी की भाँति ही सिद्धराज ने अणहिलपुर पाटण को ज्ञान का प्रमुख केन्द्र बनाने का निश्चय किया। और वहाँ एक विशाल विद्यापीठ की स्थापना की। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य 'हेमचन्द्र' को सिद्धराज ने साहित्यिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के नेतृत्व का भार सौंपा। आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी उत्कट प्रतिभा से 'त्रिशिष्ट-शलाका महापुरुष' द्वयाश्रय' काव्य, सिद्धहेम व्याकरण, योगशास्त्र, अभिधान-चिन्तामणि इत्यादि अनेकानेक ग्रंथों की रचना करके साहित्यिक और धार्मिक क्षेत्र में अपनी अद्भुत क्षमता का परिचय दिया।

सिद्धराज के युग मे ही कक्कल-कायस्थ व्याकरण के क्षेत्र में, वाग्भट अलङ्कार-ग्रन्थो के क्षेत्र में, हेमचन्द्र सूरि के शिष्य रामचन्द्र नाटकों के क्षेत्र में तथा आनन्द सूरि, महेन्द्र सूरि, अमरचन्द्र सूरि, वर्धमान गणि, गुणचन्द्र, देवचन्द्र इत्यादि अनेक जैनाचार्यों और विद्वानों ने धार्मिक क्षेत्र में अपनी प्रतिभाओं का उत्कृष्ट परिचय दिया। सिद्धराज-जयसिंह ने इन सब का अपने दरबार में काफी सम्मान किया।

सिद्धराज जयसिंह के जीवन में जगदेव परमार का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। जगदेव परमार मालवा के राजा उदयादित्य परमार की 'सोलङ्किनी' रानी के गर्भ से पैदा हुआ था। मगर राजा उदयादित्य जगदेव की सौतेली माँ 'बाघेली' रानी के प्रभाव में थे। बाघेली रानी जगदेव से बड़ी घृणा करती थी। इससे दुखी होकर जगदेव परमार नौकरी की तलाश में सिद्धराज जयसिंह के दरबार में पहुंचा। सिद्धराज जयसिंह ने इसकी प्रतिभा और तेजस्विता को देख कर एक हजार रुपया प्रतिदिन के वेतन पर अपने दरबार में रख लिया।

गुजरात के साहित्य में सिद्धराज जयसिंह और जगदेव परमार के सम्बन्ध में कई विचित्र किम्बदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। जिनके अनुसार सिद्धराज जयसिंह के जीवन की रक्षा के लिये इस बीर परमार ने अपने और अपने परिवार के शिर भी काट कर देवी को अर्पण कर दिये थे और फिर पुनर्जीवन की प्राप्ति की थी। उसके सम्बन्ध में यह दोहा भी प्रचलित है—

सम्बत् ग्यारह चौहतरा, चैत तीज रविवार।
शीश कंकाली भाट ने, दियो जगदेव उतार॥

इसी आशय का एक दोहा धार-राज्य के इतिहास में इस प्रकार दिया हुआ है—

संवत् ग्यारह सौ इक्यावन, चैत सुदी रविवार।
जगदेव शीश समर्पियो, धारा-नगर पंवार॥

यद्यपि इन दोहों के समय में २३ वर्ष का अन्तर है, फिर भी इस घटना के सम्बन्ध में सभी लेखक एकमत हैं।

यही जगदेव आगे जाकर राजा उदयादित्य का उत्तराधिकारी हुआ और इसने ५२ वर्ष तक मालवे पर राज्य किया।

कुमारपाल

सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु सन् ११४३ ई० या सम्वत् १२०० में हुई। उसके कोई पुत्र न होने से राजा भीमदेवकी एक गणिका बकुलादेवीसे उत्पन्न क्षेमराजके प्रपौत्र कुमारपाल को गुजरातकी राजगद्दी प्राप्त हुई। कुमारपालको गद्दी दिलाने मे जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरी और राजपुरोहित देवश्री का विशेष हाथ था। इसीके फलस्वरूप कुमारपाल ने जीवन भर आचार्य

हेमचन्द्र का पूज्य गुरु की तरह आदर किया और राज्य के हर एक कार्य मे वह उनकी सलाह लिया करता था। कुमार पाल ने सन् ११४३ ई० से सन् ११७३ तक ३० वर्ष राज्य किया। अपने राज्यकाल में उसने गुजरात राज्य की सर्वतो-मुखी उन्नति एवं अभिवृद्धि की। उसके समय में गुजरात-राज्य ने एक साम्राज्य का रूप धारण कर लिया।

इस साम्राज्य में उस समय १८ देश सम्मिलित थे और उसका राज्य बहुत विस्तृत हो गया था। उसके राज्यकाल में प्रजा ने अभूतपूर्व शान्ति, समृद्धि और सुख का अनुभव किया। इसने जैनाचार्य हेमचन्द्र की सलाह से सोमनाथपट्टन का पुनर्निर्माण कराया। चित्तौड़ के लाखन मन्दिर में मिले हुए एक शिलालेख में कुमारपाल के सम्बन्ध में लिखा है—'कैसा था वह, जिसने अपनी विलक्षण प्रतिभा के प्रताप से सारे शत्रुओं को जीत लिया था। पृथ्वी के दूसरे राजाओं ने जिसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य किया था। जिसने शाकंभरी के राजा को अपने चरणों मे झुका लिया और स्वयं शस्त्र धारण करके 'शिवालक' तक चढ़ाई करता गया और बड़े-बड़े गजपतियों यहाँ तक कि शालपुरा के लोगों को भी उसके आगे झुकना पड़ा।"

यह शिलालेख विक्रम सम्वत् १२७७ का हैं।

राजा कुमार पाल ने अपने शान्तिपूर्ण जीवन में सब युद्धों से निवृत्त होकर, कई जैन-मन्दिरों और शिव-मन्दिरों का निर्माण करवाया। उसने अणहिलपुर में कुमारपालेश्वर महादेव का विशाल मन्दिर बनवावा। इसके साथ ही उसने तीर्थंकर पारसनाथ का भी एक विशाल मन्दिर बनवाया और उसका नाम 'कुमार विहार' रखा। देवपट्टण में उसने जैन धर्म का एक ऐसा सुंदर और विशाल मन्दिर बनवाया जिसके दर्शन के लिए हजारो यात्री आने लगे। हेमचन्द्राचार्य्य की जन्मभूमि धुन्धुका नगर में भी "झोलिका विहार" नामक चैत्यका कुमारपाल ने निर्माण करवाया। इसके पश्चात् कुमारपाल ने शत्रुञ्जय का एक विशाल संघ निकाला और वहाँ पर एक सड़क बनवाने में उसने बहुत धन व्यय किया। सन् ११७३ में कुमारपाल की मृत्यु हो गई।

कुमारपाल के पश्चात् उसका भतीजा अजयपाल गद्दी पर बैठा। यह कट्टर शैवमतावलम्बी और जैन धर्म का कट्टर दुश्मन था। इसने जैन विद्वानों और आचार्यों को भयङ्कर यंत्रणा देकर उनकी हत्या करवाई। अन्त मे सन् ११७७ में उसके एक द्वारपाल ने उसकी हत्या कर डाली।

अजयपाल के पश्चात् भीमदेव द्वितीय सन् ११७७ में गद्दी पर बैठा। यद्यपि यह बालक था मगर इसका सेनापति "सज्जन" नामक जैन श्रावक बड़ा कुशल और साहसी व्यक्ति था। आबू की तलहटी में इसने शाहबुद्दीन गौरी को बुरी तरह से पराजित किया और उसके बाद सन् ११९५ ई० में कुतुबुद्दीन-ऐबक की सेनाओं को भी उसने हराया। मगर सन् ११९७ ई० में कुतुबुद्दीन-ऐवक ने उसे पराजित कर दिया, और गुजरात को कुतुबुद्दीन की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। भीमदेव द्वितीय के मंत्री सुप्रसिद्ध वस्तुपाल और तेजपाल नामक दो जैन भ्राता थे। मन्त्री वस्तुपाल ने गुजरात की स्वतन्त्रता को बचाने के लिए कई बार युद्ध की भूमि में गुर्जर सेना का सञ्चालन किया था। इसी वस्तुपाल ने सन् १२३२ इ० में 'आबू' के विश्वविख्यात कलापूर्ण 'नेमिनाथ' के जैन-मन्दिर का निर्माण करवाया था और कई वैष्णव तथा शैवतीर्थों को भी दान दिये थे।

भीमदेव द्वितीय के पश्चात् मूलराज द्वितीय और त्रिभुवन पाल राजा हुए। इस समय सोलंकी राजवंश का सूर्य अस्ताचल पर पहुंच चुका था। सन् १२४३ ई० में बघेला-वंश के 'वीसलदेव' नामक एक व्यक्ति ने 'त्रिभुवन पाल' को गद्दीसे उतार कर गुजरात पर बघेला-वंश का शासन स्थापित किया। बघेला-वंश का शासन सन् १२९८ ई० तक चला। इसी वर्ष अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति ने गुजरात पर आक्रमण करके 'कर्ण बघेला' को पराजित कर दिया और गुजरात मुसलमानी शासन में चला गया। कर्ण बघेला ने राज्य के साथ-साथ अपनी अत्यन्त सुन्दरी रानी कौला को भी खोया जो अलाउद्दीन के हरम में जाकर उसकी मुख्य बेगम बनी।

मुसलमानी अधिकार में आने के पश्चात् मुसलमान शासकों में—उदय खां ने २५ वर्ष, सुल्तान मुजफ्फर ने १८ वर्ष, सुल्तान अहमद ने ३२ वर्ष, सुल्तान कुतुबुद्दीन ने १० वर्ष, सुल्तान दाऊद खाँ ने ३६ वर्ष और बहादुर शाह ने १० वर्ष तक राज्य किया। इनमेंसे सुल्तास अहमद ने 'कर्णावती' नगरी को अहमदाबाद का नाम देकर बसाया और वहीं अपनी राजधानी स्थापित की।

सन् १५६० ई० में गुजरात के शासक मुजफ्फर शाह हुए। इन्हीं के समय में सम्राट् अकबर ने गुजरात पर विजय प्राप्त करके उसे मुगल साम्राज्य में मिला लिया। मुगल साम्राज्य का पतन हो जाने के पश्चात् सिन्धविजय के उपरांत यह प्रान्त भी अंग्रेजों के अधिकार में आ गया।

गुजरात के प्रसिद्ध तीर्थस्थान

गुजरात की पवित्र भूमि हिन्दू-संस्कृति और जैन संस्कृति दोनों के संगम की अत्यन्त पवित्र भूमि रही है। इतिहास के अत्यन्त पुरातन काल से जहां यह भूमि हिन्दू धर्म के द्वारका धाम और सोमनाथ पट्टन के सुप्रसिद्ध तीर्थों से मण्डित रही। वहीं जैन-सभ्यता के महान् तीर्थ शत्रुंजय और गिरनार भी इसी पवित्र भूमि में स्थित हैं। यहाँ के राजाओं ने इन दोनों धर्मों का समान रूप से आदर किया था।

द्वारकाधाम

द्वारकाधाम हिन्दू धर्म के ४ प्रसिद्ध धामों में से एक प्रसिद्ध धाम और ७ प्रसिद्ध पुरियों में से एक प्रसिद्ध पुरी है। मथुरा से उठकर यादव वंश के सुप्रसिद्ध भगवान् श्रीकृष्ण ने यहीं पर अपनी राजधानी स्थापित की थी।

ऐसा कहा जाता है कि श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होते ही यह द्वारकापुरी समुद्र में डूब गयी। केवल भगवान का निजी मन्दिर डूबने से बचा। द्वारका के जलमग्न हो जाने पर लोगों ने कई स्थानों पर द्वारका का अनुमान करके मन्दिर बनवाए और जब वर्तमान द्वारका की प्रतिष्ठा हो गयी तब उन अनुमानित स्थलों को मूल द्वारका कहा जाने लगा।

श्रीशत्रुञ्जय महान तीर्थ

जैन-धर्म के सुप्रसिद्ध तीर्थों में महान् तीर्थ शत्रुञ्जय भी गुजरात की पवित्र भूमि में ही अवस्थित है। जैनियों के २४ तीर्थंकरों में से सबसे पहले ऋषभदेव ने इस पर्वत पर आकर तपस्या की थी, और उनके प्रधान गणधर 'पुंडरीक' ने यहीं पर निर्वाण प्राप्त किया था तथा और भी हजारों जैनमुनियों ने इस पर्वत पर तपस्या करके निर्वाण प्राप्त किया था। इसी लिए यह स्थान जैन-समाज के अन्दर अत्यन्त पवित्र माना जाता है। जैन-परम्परा के अनुसार यदि श्रीऋषभ देव के समय का निरूपण किया जाय तो वह लाखों वर्ष पूर्व पहुँचता है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यह महान् तीर्थ बहुत प्राचीन स्थिति रखता है।

शत्रुञ्जय पर्वत समुद्र की सतह से दो हजार फीट ऊंचा है। यहाँ पर आने वाले यात्री को पर्वत की तलहटी में होकर 'पालीताना' नगर को पार करते हुए उस मार्ग से जाना पड़ता है, जिसके दोनों ओर थोड़ी-थोड़ी दूर पर बहुत से विश्रामस्थान, कूएँ, तालाब और छोटे-छोटे मन्दिर बनेहुए हैं। इसी मार्ग से होता हुआ यात्री अन्त में रंग-विरंगी चट्टानों से बनी हुई उस द्वीप-कल्प सुन्दर पहाड़ी पर पहुंचता है, जहाँ जैन-धर्म के प्रधान मन्दिर बने हुए हैं। इस पहाड़ी के दो शिखर हैं। दक्षिण शिखर पर कुमारपाल और विमलसाह के बनवाये हुए मध्यकालीन मन्दिर हैं। यहाँ 'खोडियार' देवी की महिमा से पवित्र तालाब के पास ही जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की विशाल मूर्ति प्रतिष्ठित है। उत्तर शिखर पर मौर्य सम्राट् सम्प्रतिराज का बनाया हुआ एक अत्यन्त विशाल और प्राचीन मन्दिर है।

भारतवर्ष भर में सिन्धु नदी से गङ्गा तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक शायद ही कोई ऐसा नगर हो, जहाँ से शत्रुञ्जय तीर्थ के लिए एक या अधिक बार बहुमूल्य भेंट न आयी हो।

कितने ही रास्तों और प्रांगणों वाले, भव्य परकोटों से घिरे हुए, आधे महलों जैसे, आधे किलों जैसे संगमरमरके बने हुए ये जैन-मन्दिर इस विशाल पर्वत पर स्वर्गीय प्रासादों के समान खड़े हुए हैं।

ऐसा कहा जाता है कि 'जावड़' नामक एक जैन श्रावक ने ऋषभदेव की यह मूर्ति 'तक्षशिला' नगरी से प्राप्त कर के आचार्य वज्र स्वामी के निरीक्षण में शत्रुञ्जय-पर्वत पर लाकर स्थापित करने का प्रयत्न किया था। मगर कुछ विधर्मी लोगों के विरोध के कारण उसे सफलता नहीं हुई और वहीं पर सम्वत् १०८ विक्रमी में उसकी मृत्यु हो गयी।

उसके बाद आचार्य मल्लदेव सूरि ने अपने मामा राजा शिलादित्य की सहायता से शत्रुञ्जय में उसकी प्रतिष्ठा की।

इसके बाद कुमारपाल के मन्त्री उदयन के पुत्र 'वाहड़' ने सन् ११५२ में शत्रुञ्जय-तीर्थ का फिर से जीर्णोद्धार करवाया। इस जीर्णोद्धार में करीब दो करोड़ सत्तानवे लाख दम्म खर्च हुए।

सोमनाथ-मन्दिर

सोमनाथ पट्टन का मन्दिर भी हिन्दू-समाज में अत्यन्त पूज्य और १२ ज्योतिर्लिङ्गों में से एक माना जाता है। अण-हिलपुर पाटन से सन् ११६९ का भद्रकाली का एक लेख मिला है। इसमें लिखा हैं कि—"सबसे पहले सोम अर्थात् चन्द्रमा ने इस मन्दिर को सोने का बनाया था। फिर रावण ने इसको चाँदी का बनवाया। राजा भीमदेवने इसका जीर्णो-द्धार करवा कर इसमें रत्न जड़वाये। फिर कुमारपाल ने इसका जीर्णोद्धार करवा कर इसको सोने के "सुमेरु" जैसा बनवा दिया।"

सोमनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर काठियाड़ प्रदेश के 'प्रभास-क्षेत्र' में स्थित है। यहाँ भगवान् कृष्णचन्द्र ने अपनी नर-लीला को संवरण की थी। हिन्दू-पौराणिक परम्पराओं के अनुसार दक्ष-प्रजापति ने अपनी २७ कन्याओं का विवाह चन्द्रमा के साथ किया था, मगर चन्द्रमा का अनुराग उनमें से रोहिणी के प्रति अधिक था। इसलिए शेष कन्याएँ दुःख पाती थीं। इसके लिए दक्ष ने चन्द्रमा को बहुत कुछ सम-झाया, मगर जब कोई फल न निकला तो उन्होंने उसे शाप दिया कि जा तू क्षयी हो जा! चन्द्रमा के क्षयी हो जाने से संसार में बड़ी अव्यवस्था फैली। तब ब्रह्मदेव ने यह आदेश दिया कि चन्द्रमा प्रभास तीर्थ में जाकर 'मृत्युञ्जय भगवान्' की तपस्या करे। उनके प्रसन्न होने पर वह रोगमुक्त हो सकता हैं। तब चन्द्रमा ने वहां जाकर छः महीने तक घोर तपस्या की। मृत्युञ्जय ने चन्द्रमा को कृष्ण पक्ष में एक-एक कला क्षीण होने और शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ने का बरदान दिया। तभी से चन्द्रमा की प्रार्थना स्वीकार कर महादेव 'ज्योतिर्लिङ्ग' के रूप में इसी क्षेत्र में वास करने लगे।

प्राचीन सोमनाथ-मन्दिर में—जिसे ईसवी सन् १०२४ में महम्मद गजनवी ने ध्वस्त किया था—कहते हैं उसमें नीलम के ५६ खम्भे थे और बहुत से अमूल्य हीरे-मोती वहाँ पर जड़े हुए थे, उन सब को लूट कर वह आक्रमणकारी ले गया।

इसके बाद राजा भीमदेव ने इस मन्दिर की पुनः प्रतिष्ठा करवाकर इसे पवित्र किया। सन् ११६८ ई० में राजा कुमारपाल ने जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि की सलाह से 'भाव बृहस्पति' के द्वारा पुनः इस मन्दिर का निर्माण करवाया। मगर सन् १२९७ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १३९५ ई० में सुल्तान मुजफ्फरशाह ने और सन् १४१३ ई० में सुल्तान अहमद शाह ने सोमनाथ मन्दिर का फिर बार-बार विध्वंस किया।

भारत के स्वाधीन होने के पश्चात् सरदार वल्लभभाई पटेल की प्रेरणा से इस मन्दिर का पुनर्निर्माण किया गया।

गुजराती साहित्य

धार्मिक और राजनैतिक वैभव की तरह गुजरात का साहित्यिक वैभव भी किसी से पीछे नहीं है।

१२ वीं शताब्दी तक गुजरात की भूमि पर अपभ्रंश भाषा का प्रमुख्य था। गुजरात के कलिकाल-सर्वज्ञ जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने 'सिद्ध हेम व्याकरण' के अन्तिम भाग में अपभ्रंश का स्वरूप देने का जो प्रशस्त प्रयत्न किया है, उससे गुजरात की तत्कालीन देश-भाषा के स्वरूप का निश्चय करना सरल हो जाता है। इसी अपभ्रंश भाषा से आधुनिक गुजराती भाषा का निर्माण हुआ है।

आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् गुजराती-साहित्य के अन्तर्गत उन्हीं की परम्परा के बहुत से जैन-साधुओं ने सैकड़ों की संख्या में धार्मिक कथाओं से भरे हुए 'रासों' की और लालित्य पूर्ण 'फागुओ' की रचना की थी। और कुछ साधुओं ने गद्य-लेखन भी प्रारम्भ किया था। इस प्रकारकी गद्य-शैलीका उदा-हरण 'पृथ्वीचन्द्र चरित' नामक गद्य उपन्यास में देखने को मिलता है। जिसकी रचना ईसवी सन् १४२२ से कुछ पूर्व की समझी जाती हैं।

मगर गुजराती साहित्य में रस और भक्ति की शत-सहस्र धाराएँ बहती हुई भक्त 'नरसी मेहता' के पद्य-साहित्य में देखनेको मिलती हैं। नरसी मेहताने गीत-गोविंद और भागवत के आधार पर प्रवाहपूर्ण पदों की जो धारा बहाई, वह गुजराती-साहित्य में अपूर्व थी। नरसी मेहता का समय १५वीं शताब्दी के मध्य में था।

नरसी मेहता के बाद 'मीराबाई' और 'भालण' ने बड़े मनमोहक और भक्ति-पदों की रचना कीं, मगर इनकी कवि-ताओं पर ब्रज भाषा की स्पष्ट छाप थी। इसलिए बहुत से लोग मीरांबाई को ब्रजभाषा के भक्ति-साहित्य की कवियित्री मानते हैं।

भालण के पश्चात् गुजराती भाषा में पदों की रचना १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दार्शनिक कवि 'गोपाल' और 'अक्खा' ने अहमदाबाद में रह कर की। मगर इस युग में अन्य कवियों ने प्रधान रचनाएँ आख्यानों की ही की थी।

आख्यान-युग के अन्तिम कवि १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे 'प्रेमानन्द' हुए। प्रेमानन्द के समय में गुजराती-साहित्य में आख्यान-कविताएँ उन्नति की मञ्जिल पर पहुँच गयीं। प्रेमानन्द की प्रतिभा इतनी चमत्कारपूर्ण थी कि बीच में अनेक कवियों के होने पर भी गुजराती साहित्य में नरसी मेहता के बाद 'प्रेमानन्द' का ही नाम लिया जाता है।

प्रेमानन्द के पश्चात् गुजराती-साहित्य में उत्तरकालीन भक्ति युग का प्रारम्भ होता है। राजे नामक एक मुसलिम ने इस युग के प्रारम्भ में कृष्ण भक्ति के पद-साहित्य को समृद्ध किया है। इस भक्तियुग में रणछोड़, रघुनाथ, प्रीतम, धीरो, भोजो, नरभो, प्रागो इत्यादि ज्ञानमार्गी कवियों ने अपनी रचनाओं से इस साहित्य को विशिष्टता प्रदान की।

भक्ति युग के अन्तिम भाग में वल्लभाचार्य के अनुयायी 'दयाराम' और स्वामीनारायण सम्प्रदाय के 'मुक्तानन्द' 'ब्रह्मानन्द' 'प्रेमानन्द' 'प्रेमसखी' जैसे समर्थ कवियों ने गुजरात के भक्ति-साहित्य को भरा-पूरा कर दिया। इन सबमें 'दयाराम' का स्थान बड़ा ऊँचा है और इतने कवियोंके रहते हुए भी गुजराती कवियों में 'प्रेमानन्द' के बाद दयाराम का ही नाम लिया जाता है।

दयाराम ने (सन् १७७७) गुजरात के 'गरबा-साहित्य' में एक अभूतपूर्व और नवीन लहर पैदा की। दयाराम के बनाए हुए गरबा-गीत अभी भी गुजराती घरों में नृत्य के साथ में बड़े चाव से गाये जाते हैं।

दयाराम के साथ ही प्राचीन युग की समाप्ति होती है। और अंग्रेजी सभ्यता के संसर्ग से अन्य भाषाओं की तरह गुजराती भाषा में भी एक नये युग का प्रारम्भ होता है। इस युग में साहित्य के अन्तर्गत गद्य-पद्य, नाटक, उपन्यास इत्यादि सभी अंग एक नवीन रूप, एक नवीन आदर्श और एक नवीन प्रणाली को ग्रहण करते हैं। पद्य साहित्य की तरह गद्य-साहित्य में भी तेजी से विकास होने लगता है। इस युग के प्रारम्भ में नर्मदाशंकर, नवलराम इत्यादि लेखकों ने गुजराती गद्य को जहाँ एक अभिनव रूप में ढालने का प्रयत्न किया। वहाँ नन्दशंकर तुलजा शंकर ने 'करणघेलो' और महीपतराय ने 'वनराज चावड़ो' नामक उपन्यास लिखकर गुजराती के उपन्यास-साहित्य को गति प्रदान की।

मगर गुजराती के उपन्यास-साहित्य में सबसे प्रसिद्ध नाम गोवर्धनराम त्रिपाठी का आता है, जिन्होंने 'सरस्वती चन्द्र' नामक महान् उपन्यास ४ बड़े-बड़े खण्डों में लिख कर गुजराती-साहित्य में एक नवीन युग की स्थापना की। यह उपन्यास उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा और लोक-मानस के अभ्यास का सुपरिणाम था।

इसके कुछ समय पश्चात् गुजराती-साहित्य के धुरन्धर लेखक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने 'पाटणनी प्रभुता' और 'स्वप्नद्रष्टा' नामक दो प्रसिद्ध उपन्यासों की रचना की। इसके पश्चात् उन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक अनेक उपन्यासों की रचना कर के गुजराती-साहित्य को समृद्ध किया। उनकी रचनाओ के अनुवाद से भारत की अन्य भाषाओं ने भी समृद्धि प्राप्त की और मुंशी को भारत व्यापी कीर्ति प्राप्त हुई।

गुजराती-उपन्यासों के क्षेत्र में श्रीचुन्नीलाल वर्धमान शाह, धूमकेतु, रमणलाल देसाई, पन्नालाल पटेल इत्यादि प्रौढ़ उपन्यासकारों ने भी अपनी सुन्दर रचनाओं से इस साहित्य को अमरत्व प्रदान किया।

हास्यरस के क्षेत्र में कविवर दलपत राम ने अपने 'मिथ्याभिमान' नाटक के द्वारा, नवलराम ने 'भटनूँ भोपालू' रचना के द्वारा और रमणभाई नीलकंठ ने 'भद्रंभद्र' लिखकर इस साहित्य को परकाष्ठा पर पहुँचाया।

नाटक और रङ्गभूमि के क्षेत्र में गुजरात शुरू से ही अग्र स्थान में है। गुजराती रङ्गभूमि पर वहाँ के अभिनेताओं ने नवीन शैली के नाटकों को अभिनीत किया और यहीं से यह कला महाराष्ट्र ने प्राप्त की। यद्यपि द्विजेन्द्रलाल राय, गिरीशचन्द्र घोष के समान प्रकृतिवादी साहित्यिक नाट्यकार यहाँ पर कम हुए, फिर भी रंगभूमि के अनुकूल नाटकों की रचना यहाँ पर सैकड़ों की तादाद में हुई।

इसी प्रकार एकांकी नाटकों की रचनाएँ भी यूरोप के अनुकरण पर काफी हुई। एकांकी नाटककारों में उमाशंकर

जोशी, पुष्कर चन्दावरकर इत्यादि लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं।

२०वीं शताब्दी के प्रारंभ में गुजराती साहित्य ने नानालाल दलपतराम नामक एक असामान्य कोटि के कवि को प्राप्त किया। नानालाल दलपतराम ने योरोप की डोलन-शैली में अपनी पद्य-रचना प्रारम्भ की। इनकी रचनाओं में 'जया-जयन्त' 'नूरजहाँ' 'कुरुक्षेत्र' 'ऊषा' इत्यादि कई नाटक और काव्य-ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

'अर्देशर फ्रामजी खबरदार' नामक पारसी कवि और बलवन्त राय ठाकुर भी गुजराती-साहित्य में आधुनिक काव्य कला के प्रसिद्ध कवि हैं। खबरदार ने विविध छन्दों के प्रयोग से जीवन के कई विषयों पर काव्य ग्रंथों की रचना की और प्रोफेसर ठाकोर ने योरोपीय 'सॉनेट' काव्य के ढङ्ग के प्रवाही पृथ्वी छन्द में अपनी कविताएँ शुरू की जो आज के प्रगतिवादी साहित्य के कवियों का मार्ग दर्शन करती हैं।

राजनीति, समाज-शास्त्र और पत्रकार-कला के क्षेत्र में संसार प्रसिद्ध महात्मा गांधी, महादेव भाई देसाई, काका कालेलकर, किशोरलाल मशरूवाला इत्यादि गांधीयुग के अनेक महान् विद्वानों ने गुजराती भाषा के निबन्ध-साहित्य के भंडार को भर दिया।

विवेचन क्षेत्र में पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि स्व० आनंद शङ्कर 'ध्रुव', रमणभाई नीलकण्ठ, कमलाशङ्कर त्रिवेदी इत्यादि महान् विद्वानों ने अपनी ठोस रचनाओं से इस साहित्य को समृद्ध किया।

इतिहास, पुरातत्व और दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में स्वर्गीय प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल, मुनि जनविजय, जैनमुनि पुण्यविजय, पं० बेचरदास 'दोशी' स्व० डा० भगवानलाल इन्द्रजी, प्रो० रसिकलाल पारिख, डा० भोगीलाल सांडेसरा इत्यादि दर्शन शास्त्री और इतिहासकारों के नाम उल्लेखनीय हैं।

गुजराती की प्रकाशन संस्थाओं में 'सस्तुं-साहित्य मण्डल' 'गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी' एन० एम० त्रिपाठी और गुजराती के कुछ जैन प्रकाशकों के नाम उल्लेखनीय हैं।

गुटस्को-कार्ल

जर्मन-साहित्य के एक उपन्यासकार जिनका जन्म सन् १८११ में और मृत्यु सन् १८७८ ई० में हुई।

गुटस्को-कार्ल प्रगतिशील प्रणाली के साहित्यकार थे। इनका पहला उपन्यास 'वैली दी डाउटर' जब छप कर प्रकाशित हुआ तो साहित्य क्षेत्र में इसकी कड़ी आलोचना हुई। शासन ने अनैतिकता का दोष लगाकर उनको जेल में भेज दिया और उपन्यास के प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

जेल से छूटने पर इन्होंने जर्मनी की तात्कालिक समाज-व्यवस्था पर प्रकाश डालने के लिए 'नेवी-निएण्ड-ईरा नामक उपन्यास की रचनाकी। इनके और भी कुछ उपन्यास और नाटक प्रकाशित हुए।

गुण्टूर

आँन्ध्र प्रदेश का एक नगर जो वेजवाड़ासे मदरास जाने वाली रेलवे लाइन पर स्थित है।

स्वास्थ्यवर्धक जल-वायु के लिए इस नगर की स्थापना सबसे पहले फ्रेंच लोगों ने की थी। १८ वीं सदी से यह नगर निजाम बशालत जंग की जागीरी में रहा। सन् १७८८ में यह अंग्रेजी-राज्य के अन्तर्गत आया। यह नगर सूतीवस्त्र-उद्योग, दियासलाई उद्योग, रबर उद्योग और मैशीन निर्माण उद्योग के लिए प्रसिद्ध है।

शिक्षा संस्थाओं की दृष्टि से भी यह नगर बड़ा सम्पन्न है। यहाँ पर मेडिकल कालेज, साइन्स कालेज, टी० बी० हास्पिटल इत्यादि कई संस्थाएँ बनी हुई हैं।

गुणभद्राचार्य

दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध और प्राचीन आचार्य। जिनका समय ९वीं सदी के उत्तरार्द्धमें माना जाता है। यह राष्ट्रकूट-वंशीय सम्राट् अमोघवर्ष के समकालीन थे।

गुणभद्राचार्य आदि पुराण के सुप्रसिद्ध रचयिता जिन-सेनाचार्य के शिष्य थे। दिगम्बर-जैन-परम्परा के अनुसार विक्रम सम्बत् १३६ में जब दिगम्बर-सम्प्रदाय और श्वेताम्बर-

सम्प्रदाय अलग-अलग होगये, तब दिगम्बर-सम्प्रदाय 'मूल-संघ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके बाद इसके चार भेद हुए। १–नन्दी-संघ, २–देव संघ, ३–सेन-संघ और ४–सिंह-सघ। इनमें श्रीगुण भद्राचार्य सेन-संघ की परम्परा में थे।

सेन-संघ की परम्परा में वीर सेनाचार्य नामक आचार्य बहुत प्रसिद्ध हुए। जिन्होंने श्रीधवल और 'जयधवल' नामक महान् ग्रन्थ के एक अंश की रचना की।

वीर सेनाचार्य के शिष्य जिनसेनाचार्य हुए, जिन्होंने अपने गुरु द्वारा निर्मित 'जय धवल' के अपूर्ण भाग को ७ हजार श्लोक लिख कर पूर्ति की। तथा आदिपुराण नामक एक महान् ग्रन्थ की रचना भी की।

इन्हीं जिन सेनाचार्य के शिष्य गुणभद्राचार्य हुए। इन्हों ने अपने गुरु जिनसेनाचार्य द्वारा लिखित अपूर्ण आदि पुराण के अन्तिम पांच पर्वों को लिख कर उसकी पूर्ति की। और स्वयं उत्तर पुराण के नाम से एक महान् पौराणिक ग्रंथ की अत्यन्त मनोहर भाषा में रचना कीं। इनका एक और ग्रन्थ 'आत्मानुशासन' नामक है जो भर्तृहरि के वैराग्य शतक की पद्धति पर लिखा हुआ है।

इनका देहान्त ९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में अथवा १० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में किसी समय हुआ–ऐसा माना जाता है।

गुणाढ्य

'बृहत्कथा' नामक विशाल कथा-ग्रन्थ के रचयिता, एक साहित्यकार, जिनका समय पहली शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी के बीच 'सातवाहन' राजाओं के समय में माना जाता है।

वृहत्कथा की मूल-रचना पैशाची भाषा में की गई थी, ऐसा समझा जाता है और यह भी विश्वास किया जाता है कि उनका मूल-ग्रन्थ ७ लाख श्लोकों मे समाप्त हुआ था। मगर अब यह मूलग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। नेपाल के अन्दर सन् १८९३ ई० में बुद्ध स्वामीकृत एक 'वृहत्कथा श्लोक-संग्रह' नामक ग्रन्थ मिला था जिसमें सिर्फ ४५०० श्लोकों का संग्रह था। यह ग्रंथ ८वीं या नवीं शताब्दी का बतलाया जाता है।

११ वीं शताब्दी में वृहत्कथा का एक पाठ क्षेमेन्द्र ने ७५०० श्लोकों में 'वृहत्कथा-मञ्जरी' के नाम से और सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' के नाम से २१००० श्लोकों में प्रस्तुत किया। ये दोनों ही लेखक कश्मीरी थे और अपने ग्रन्थों में इन्होंने पञ्चतंत्र की कहानियों को भी सम्मिलित कर लिया है।

गुणाढ्य को इस महान् ग्रंथ की रचना की शक्ति कैसे प्राप्त हुई इसके सम्बन्ध में कई प्रकार की कहानियां प्रचलित है। सोमदेव ने इस कथा का वर्णन करते हुए लिखा है कि– 'एक बार अपने मनोरञ्जन के लिए पार्वती ने शिवजी से कुछ अच्छी कहानियाँ सुनाने का आग्रह किया। तब शिवजी ने उनको कई चक्रवर्तियों, विद्याधरों और पराक्रमी सम्राटों की कहानियाँ सुनाईं। शिवजी के एक सेवक 'पुष्पदन्त' ने इन कहानियों को चुपचाप सुन लिया और उन्हे अपनी पत्नी 'जया' को सुना दिया। जब यह बात पार्वती को मालूम हुई तो पार्वती ने क्रुद्ध होकर पुष्पदन्त को मनुष्य योनि में जन्म लेने का शाप दे दिया। उसके भाई मलयवन ने जब उसकी ओर से प्रार्थना की तो उसे भी वही शाप मिला। फिर बहुत रोने-धोने पर पार्वती ने दया करके यह सुधार किया कि मर्त्यलोक में पुष्पदन्त यदि एक पिशाच से मिलकर उसे सब कहानियाँ ठीक-ठीक से सुना देगा तो उसे पुनः स्वर्ग प्राप्त हो जायगा।

इसी प्रकार मलयवन के लिए पार्वती ने कहा कि वह मर्त्यलोक में उन कहानियों का प्रचार करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

कुछ समय के पश्चात् पुष्पदन्त वररुचि के रूप में जन्म लेकर राजा योगानन्द का मन्त्री बन गया। और मलयवन् गुणाढ्य के रूप में जन्म लेकर राजा सातवाहन का मन्त्री बना।

वररुचि जब तीर्थयात्रा पर गया हुआ था तो मार्ग में उसकी भेंट 'कणभूति' नामक पिशाच से हुई और वह उस पिशाच को सारी कहानियाँ सुना कर वापस स्वर्गलोक को चला गया।

इधर गुणाढ्य सातवाहन राजा को संस्कृत पढ़ाने के लिए नियुक्त हुआ, मगर संस्कृत पढ़ाने में अपने साथी सर्ववर्मा के साथ एक बाजी हार जाने से उसे जंगल में चला जाना पड़ा। वहीं जंगल में उसकी कणभूति पिशाच से विन्ध्यपर्वत पर भेंट हुई। पिशाच ने वे सब कहानियाँ उसे सुनाईं। इन

सब कहानियों को गुणाढ्य ने अपने रक्त से लिखा। यही कहानियां आगे जाकर बृहत्कथा के रूप में ७ लाख श्लोकों में सम्पूर्ण हुई।

जैन-परम्पराओं के अनुसार 'गुणाढ्य' जैनधर्मावलम्बी थे। इनके मुकाबले में सातवाहन राजा के दरबार में जैनाचार्य सर्ववर्म ने 'कातन्त्र' नामक व्याकरण की रचना की और जैनाचार्य 'काणभूति' ने मूल प्राकृत में जिस कथाग्रन्थ की रचना की उसी के आधार पर 'गुणाढ्य' ने बृहत्कथा की रचना की। इस बृहत्कथा में जैनधर्म में वर्णित ६३ महा-पुरुषों के सम्बन्ध की कई कथाओं का विवेचन किया गया है।

गुणराज खाँ

बङ्गाल के सुप्रसिद्ध कवि मालाधर वसु "गुणराजखाँ" जिनका जन्म ईसा की पन्द्रहवी सदी के पूर्वार्द्ध में हुआ।

गुणराज खाँ का वास्तविक नाम मालाधर वसु था इनका जन्म कायस्थ जाति में हुआ था। ये उस समय हुए जिस समय बङ्गाल में चैतन्य महाप्रभु के कारण वैष्णव धर्म का डंका बज रहा था। इन्होंने श्रीमद्भागवत के दसवें और ग्यारहवें स्कन्ध का 'श्रीकृष्ण विजय' के नाम से सुन्दर बंगला में अनुवाद किया था। यह अनुवाद इन्होंने सन् १४७३ में आरम्भ करके सन् १४८० में समाप्त किया था। इनकी कवित्व शक्ति से मुग्ध होकर बंगाल के तत्कालीन शासक सुल्तान हुसेन शाह ने इनको "गुणराज खाँ" की उपाधि प्रदान की थी।

गुना

आधुनिक मध्य प्रदेश के पश्चिमी छोर पर कोटा बीना रेलवे लाइन पर स्थित विन्ध्याचल पर्वत के पहाड़ी भाग पर फैला हुआ एक जिला और नगर। इस जिले की जन संख्या ५,६५,८२५ और नगर की जनसंख्या ३१०३१ है।

गुना पहले गवालियर रियासत के ईसागढ़ जिले का एक नगर था। पहले यह छोटा गाँव था पर सन् १८४४ में यहाँ पर गवालियर की फौजी छावनी स्थापित हो जाने से इसकी शान विशेष बढ़ गई। और सन् १८९७ में कोटा बीना रेल लाइन का एक प्रमुख स्टेशन हो जाने से इसकी और भी उन्नति हुई।

गुप्तचर विभाग

शत्रुओं की, तथा राज विद्रोही तत्वों अथवा अपराधियों की गतिविधियों का गुप्त रूप से अनुसन्धान कर, उनकी खबर अपनी सरकार या पुलिस को देने वाला राजकीय संगठन जो गुप्तचर विभाग, या जासूसी संगठन कहलाता है।

भारतीय राजनीतिशास्त्र में शासन-नीति की व्याख्या करते हुए, साम, दाम, दण्ड और भेद नामक जिन चार नीतियों का विवेचन किया गया है उनमें भेद नीति को चरितार्थ करने के लिए गुप्तचर विभाग का संगठन किया जाता है।

राज्य की बाहरी आक्रमणों से रक्षा करने के लिए, शत्रुओं के भेद को प्राप्त करने तथा राज्य के अन्तर्गत राजद्रोह का संगठन करने वाले लोगों तथा अपराधियों के संगठन का पता लगाने के लिए गुप्तचर विभाग का संगठन संसार की प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही शासन नीतियों के अन्तर्गत आवश्यक समझा गया है।

भारतवर्ष के अन्तर्गत प्राचीन युग में गुप्तचर विभाग संगठन का वैज्ञानिक विवेचन कौटिल्य अर्थ शास्त्र में देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शासन नीति में आचार्य कौटिल्य गुप्तचर विभाग को सबसे महत्वपूर्ण अंग समझते थे, इसलिए उन्होंने अपने अर्थशास्त्र में इस विभाग की स्थापना का बड़ा सूक्ष्म और विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन किया है। (देखिए तीसरे भाग में कौटिल्ल अर्थशास्त्र)।

आधुनिक युग में इंग्लैंड के स्कॉटलैण्ड यार्ड, जर्मनी के "गेस्टापो" और रूस के "ओगपो" नामक संगठनों ने विश्व-व्यापी ख्याति अर्जित की है।

पहले महायुद्ध के समय मैडम हरी नामक जासूस महिला ने तथा दूसरे महायुद्ध के समय गेस्टापोदल के जर्मन जासूसों ने जो इतिहास प्रसिद्ध कार्य किये वे सर्वविदित हैं।

दूसरे महायुद्ध के पश्चात् इस विभाग की उपयोगिता और भी अधिक मालूम होने लगी और संसार के सब देशों में अब अपने-अपने गुप्तचर विभाग सक्रिय हैं।

गुप्त साम्राज्य

भारतवर्ष का एक इतिहास प्रसिद्ध विशाल साम्राज्य जिसने ई० सन् २६० से सन् ५४० तक भारतवर्ष के विशाल भूभाग पर शासन किया और उसके बाद भी सातवी सदी तक किसी रूप में चलता रहा।

ईसा से पूर्व चौथी सदी के प्रारम्भ मे न.गवंश की समाप्ति और वकाटक वंश की शक्ति क्षीण होजाने पर भारतवर्ष का इतिहास एक युग को पार कर दूसरे युग मे प्रवेश करता है और इस दूसरे युग का प्रारम्भ महान् प्रतापी गुप्त साम्राज्य से प्रारम्भ होता है।

गुप्त साम्राज्य के संस्थापक किस जाति के थे इस सम्बन्ध में इतिहासकारों के अन्तर्गत मतभेद है। गुप्त नाम वैश्य जाति का सूचक होने से कई इतिहासकार उन्हें वैश्य मानते हैं। इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल ने उनको शूद्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। मगर यदि यह वंश शूद्र होता अथवा निम्नवर्गीय होता तो लिच्छवी वंश के समान् प्रसिद्ध राजवंश अपनी कन्या का विवाह इस वंश में कभी न करते। इससे यही सम्भावना अधिक उचित मालूम होती है कि सम्भवतय: यह वंश क्षत्रिय कुल की ही किसी शाखा में था।

इस वंश में ई० सन् २६० में श्रीगुप्त नामक एक व्यक्ति हुआ। यह वकाटक राजवंश का एक सामन्त था। वकाटक लोगों के द्वारा मगध से शक राजवंश को निर्मूल करते समय नालन्दा से करीब ४० मील की दूरी पर इसने एक छोटे से राज्य की स्थापना की। इसकी मृत्यु ई० सन् २८० ने हुई। इसका पुत्र घटोत्कच और घटोत्कच का पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम हुआ।

चन्द्रगुप्त प्रथम—चन्द्रगुप्त की भाग्यलक्ष्मी ने उसका विवाह सम्बन्ध पाटलिपुत्र की लिच्छवी राजकन्या "कुमार-देवी" के साथ करवा दिया। इस विवाह ने भारतवर्ष की राजनैतिक स्थिति को एक नया मोड़ दिया और भारतवर्ष में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना का मार्ग खोल दिया।

कुमारदेवी के साथ विवाह हो जाने पर चन्द्रगुप्त ने अपने पराक्रम से गंगा और यमुना के संगम तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। सन् ३२० ई० से उसने अपना एक सम्वत् भी चलाया था।

सम्राट् समुद्र गुप्त—सन् ३३० ई० चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु हो जाने पर लिच्छवी वंश की कुमार देवी से उत्पन्न समुद्रगुप्त उनकी गद्दी पर बैठा।

समुद्रगुप्त एक महान् प्रतापी, विजेता, वीर और उदार नरेश था। गद्दी पर वैठने के कुछ ही समय पश्चात् सारे देश में एक छत्र शासन स्थापित करने के उद्देश्य से वह दिग्विजय करनेके लिये निकला। इस दिग्विजयका वर्णन समुद्रगुप्तके दण्डनायक हरिषेण ने सन् ३८० के लगभग इलाहाबाद के 'अशोक-स्तम्भ' पर खुदवाया था। इस लेख से पता चलता है कि उसने अहिछत्र के नरेश 'अच्युत', नागवंश के नरेश 'गणपति नाग', पद्मावती-नरेश 'भारशिव नागसेन', तथा 'रुद्रदेव' 'नागदत्त' 'चन्द्रवर्मन' 'नन्दिन' 'बलवर्मन' आर्यावर्त के इन ६ राजाओं को उत्तरप्रदेशमे परास्त करके दक्षिणदेशपर अपनी विजययात्रा प्रारम्भकी। दक्षिणके कई राजाओंको पकड़-पकड़कर सम्राट्ने छोड़ दिया। इनमें दक्षिण कौशल के महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, केरल के मन्तराज, पिष्टपुर के महेन्द्र गिरि, कोट्टूर के स्वामीदत्त, एरण्डपल्ल के दमन, काञ्ची के विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज, वेंगी के हस्तवर्मन, पातल के उग्रसेन, देवराष्ट्र के कुवेर, कुस्तलपुर के अनेक राजा सम्मिलित थे।

इसी प्रकार सरहद के ५ राजाओं से उसने सम्मान और कर प्राप्त किया। और मालव, अर्जुनायन, योद्धेय, माद्रक, आभीर आदि गणराज्यों से भी अपनी अधीनता स्वीकार करवाई।

इस प्रकार इस विजेता ने सम्पूर्ण भारत में अपनी विजय पताका फहराई। और गुप्त साम्राज्य को संसार के एक महान् साम्राज्य के रूप में परिणित कर दिया।

इस विजय के उपलक्ष्य में इसने कई नवीन सिक्के भी चलाये। इन सिक्कों से यह भी मालूम होता है कि सम्राट् समुद्र-गुप्त संगीत-कला और काव्य रचना में भी बड़ा निपुण था। हरिषेण के शिलालेख में लिखा है कि—'नारद, तुम्बुरू आदि के समान सम्राट् समुद्रगुप्त भी संगीत-शास्त्र के ज्ञाता थे।' सम्राट् समुद्रगुप्त ने सन् ३३० से ३७५ तक ४५ वर्ष तक राज्य किया।

समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उनका बड़ा पुत्र 'रामगुप्त' सिंहासन पर बैठा। शक राजाओं के साथ हुई लड़ाई में वह बन्दी बना लिया गया। और अपनी रानी 'ध्रुवदेवी' को

शक-राजा के अर्पण करने की शर्त वह छूटा। तब रामगुप्त का भाई चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी की जनानी पोशाक पहन कर शक राजा के डेरे पर पहुँचा और छल से शक राजा को मारकर यह वापस आया। उसके बाद रामगुप्त को भी मार कर यह सिंहासन पर बैठा। और ध्रुवदेवी को अपनी पटरानी बनाया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय—सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन समस्त भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग का प्रवर्तक माना जाता है। इसके साम्राज्य मे प्रजा की आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक सभी दृष्टियों से महान् उन्नति हुई। इसने अपनी एक राजधानी उज्जयिनी में भी स्थापित की और 'विक्रमादित्य' का विरुद भी ग्रहण किया।

इस सब बातो से आजकल के अधिकांश इतिहासकार उज्जयिनी का प्रसिद्ध विक्रमादित्य इसी को मानते हैं और कालिदास इत्यादि सुप्रसिद्ध नवरत्नों को इसी के सभा के रत्न समझते हैं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन-काल ईसवी सन् ३७५ से ४१४ तक माना जाता है। सन् ४०९ में इसने सौराष्ट्र के क्षत्रप-राजाओं को परास्त किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी कन्या प्रभावती का विवाह वकाटक नरेश 'रुद्रसेन' के साथ किया था।

कुमार गुप्त—चन्द्रगुप्त द्वितीयके पश्चात् महादेवी-ध्रुवदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र कुमार गुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य गद्दी पर बैठा। इसने सन् ४१४से ४५५तक राज्य किया। इसके समय में गुप्त-साम्राज्य की शक्ति उन्नति की सर्वोच्च मञ्जिल पर थी। सारे साम्राज्य में सुख शान्ति और समृद्धि छाई हुई थी। नालन्दा का सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय भी इसी के समय में स्थापित हुआ बताया जाता है।

स्कन्द गुप्त—कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् राजकुमार 'स्कन्दगुप्त' विक्रमादित्य सन् ४५५ में गद्दी पर बैठा। इसने सन्४६७तक अर्थात् १२ वर्ष राज्य किया। शासन-व्यवस्थाको सुव्यवस्थित करनेकेलिए इसने अलग-अलग प्रान्तोंमें अलग-अलग शासकों की नियुक्ति की। सौराष्ट्र के अन्दर इसने 'पर्णदत्त' को अपना शासक बना कर भेजा। इसका पुत्र चक्रपालित जूनागढ़ का नगरपाल था। इसी चक्रपालित ने गिरनार के 'सुदर्शनताल' का जीर्णोद्धार करवा कर वहाँ पर स्कन्दगुप्त का शिलालेख अंकित करवाया था।

स्कन्दगुप्त के गद्दी पर बैठने के कुछ पहले ही उत्तर-पश्चिमी दिशा से श्वेत हूण जाति के बर्बर आक्रमण होने लगे थे। यद्यपि स्कन्दगुप्त ने वीरतापूर्वक इन आक्रमणों का मुकाबला किया और अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा। मगर लगातार के इन प्रहारों से साम्राज्य की शक्ति क्षीण होती गयी और खजाना भी खाली हो गया। इसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु के उपरान्त सारा साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा।

स्कन्दगुप्त के पश्चात् उसका बड़ा भाई पुरुगुप्त (४६७ से ४७०) उसके बाद नरसिंह गुप्त (४७० से ४७३) उसके बाद कुमार गुप्त द्वितीय (४७३ से ४७६) फिर बुधगुप्त (४७७ से ४९५) वैण्य गुप्त (४९५ से ५०७) उसके बाद भानुदत्त-बालादित्य (५०७ से ५३५) और भानुगुप्त के बाद कुमार गुप्त तृतीय राजा हुआ। इसने सन् ५५० ई० तक राज्य किया। मगर अब गुप्तसाम्राज्य पहले वाला गुप्तसाम्राज्य नहीं था। नाना प्रकार के प्रहारों से वह बहुत क्षीण हो गया था।

उसके बाद कन्नोज में मौखरी वंश के राजा ईशान-वर्म्मन ने स्वतन्त्र होकर सम्पूर्ण मध्यदेश से गुप्त-साम्राज्य का बिल्कुल अन्त कर दिया। इसके पश्चात् गुप्त वंश में दामोदर गुप्त, महासेन गुप्त और देवगुप्त राजा हुए। इसके बाद भी गिरता पड़ता यह राज्य ७वीं सदी के अन्त तक चला।

उसके बाद इसके अन्तिम शासक जीवित गुप्त के साथ इस राज्य का अन्त हो गया।

गुप्त-साम्राज्य के ये सम्राट् परम भागवत या वैष्णव धर्म के अनुयायी थे और उनकी पदवियाँ 'परम भागवत' 'परम भट्टारक' 'परमेश्वर' 'महाराजाधिराज' इस प्रकार लगती थीं।

गुब्बारा

रेशम या मजबूत वस्त्र से बनाया हुआ एक ऐसा खोल जिसमें हवा भर कर आकाश में उड़ाया जाता है।

गुब्बारे का सिद्धान्त सबसे पहले यूनान के प्रसिद्ध गणितकार 'आर्कीमेडीज' ने सिद्धान्तरूप में बतलाया था। उसने

बतलाया था कि—"यदि किसी पात्र में वायु का घनत्व बाहरी वायु के घनत्व से कम कर दिया जाय तो वह वायु में ऊपर उठने लग जायगा और वह तब तक ऊपर उठता रहेगा जब तक बाहरी वायु का घनत्व भीतरी वायु के घनत्व के बराबर न हो जाय।'

इस सिद्धान्त के आधार पर 'फ्रांसिस्को डी-लाना' नामक एक पादरी ने सन् १६७० ई० में नौका के आकार का एक गुब्बारा बना कर उसे उड़ाने का प्रयत्न किया। मगर उसमें उसे सफलता नहीं हुई।

उसके पश्चात् फ्रांसके 'मॉगाल्येये' बन्धु नामके दो भाइयों ने रेशम का एक बड़ा थैला बनवा कर उसका मुँह नीचे की ओरसे खुला रखा और उस थैलेके नीचे कागज जलाकर उसका धुआं उस थैले में भरने का प्रयत्न किया। सन् १७८३ ई० में हजारों लोगो के सामने उस गुब्बारे में धुवां भर कर उन्होंने उसे ऊपर उड़ाया। यह गुब्बारा १॥ मील पर जाकर नीचे उतर गया।

उसके बाद फ्रांस के 'राबर्ट-बन्धुओं' ने धूएँ की जगह हाइड्रोजन गैस भर कर उसी वर्ष अपना गुब्बारा उड़ाया। यह गुब्बारा तीन हजार फुट ऊँचाई तक ऊपर उड़ता हुआ चला गया।

इस सफलता से उत्साहित होकर गुब्बारों पर मनुष्यों को बैठा कर उड़ाने की प्रथा चालू हुई। ७ जनवरी सन् १७८५ ई० को 'ब्लैंकार्ड' और 'जेफ्रीज' नामक दो व्यक्तियों ने एक विशाल गुब्बारे में बैठ कर 'इंग्लिश चैनल' को पार किया।

प्रथम विश्व-युद्ध के समय में युद्धरत सभी देशों ने गुब्बारों के विकास पर विशेष रूप से ध्यान दिया। जर्मनी ने बेलनके आकार का एक विशाल गुब्बारा बनाया जो ५० मील प्रति घण्टे की चाल से हवा में ठीक तरह से उड़ता था।

द्वितीय महायुद्ध के समय लन्दन की सुरक्षा-योजना के अन्दर भी इन गुब्बारों का काफी उपयोग किया गया।

गुरजाडा अप्पाराव

तेलगू-भाषा के एक सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि जिनका जन्म १८६१ ई० में आन्ध्र के विशाखापट्टन जिले के रायवरम् नाम के ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

गुरजाडा-अप्पाराव तेलगू भाषा के एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि, नाटककार, इतिहासज्ञ और कहानी-लेखक थे। इन्होंने अपनी नूतन परम्पराओं से सारे तेलगू साहित्य को नवीन प्रकाश से प्रकाशित किया। सन् १९६१ में इनकी शताब्दी मनायी गयी।

गुरुकुल

प्राचीन भारत मे ज्ञान, विज्ञान की शिक्षा प्रदान करने के लिए स्थापित की हुई शिक्षा संस्थाएं, जिन्हें गुरुकुल कहा जाता था।

इस प्रकार के गुरुकुलोंमें बड़े-बड़े विद्वान्, आचार्य्य और ऋषि नि.स्वार्थ भाव से अध्यापन का कार्य्य करते थे। जब बालक की बुद्धि शिक्षा ग्रहण करने के लिए परिपक्व हो जाती थी तब छः, आठ या ग्यारह वर्ष की उम्र में किसी शुभ मुहूर्त में उसका उपनयन संस्कार करके किसी श्रेष्ठ आचार्य्य के गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करने के लिये उसे भेज दिया जाता था। जहाँ वह मनसा, वाचा, कर्मणा अपने को आचार्य्य के चरणों में समर्पित कर देता था। आचार्य्य विद्यार्थी से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य की प्रतिज्ञा लेकर उसे शिक्षा देना प्रारम्भ करते थे।

इसी समय से विद्यार्थी के संस्कार बिल्कुल बदल दिये जाते थे। और उसे 'वटु' कहकर पुकारा जाता था। वटु को उत्तम वस्त्राभूषण और भोग-विलास के पदार्थों को त्याग कर चर्म, मेखला, सूत्र, दण्ड, कमण्डल धारण करने पड़ते थे। उसे मानापमान में समदृष्टि होना पड़ता था। बन में जाकर हवन के लिए कुश, शामित् और ईन्धन लाना पड़ता था। रहने के लिए पर्णकुटि, सोने के लिए कुश शय्या, और जलाने के लिए इंगुदी तैल काम में लाना पड़ते थे। 'वटु' को अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह का व्रत धारण करना पड़ता था। और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का अभ्यास करना पड़ता था।

इन गुरुकुलों में राजकुमारों से लेकर अकिंचन वटुओं तक सबकी दिनचर्य्या और आहार विहार, रहन सहन, एक ही प्रकार का होता था। इन गुरुकुलों में प्रातः और सायं वेदाध्ययन की सुंदर ध्वनि और हवन की पवित्र गन्ध चित्त को

प्रसन्न रखते थे। जहाँ पर मृग निःशङ्क भाव से विचरण करते रहते थे और पक्षी निर्भय होकर चहकते थे।

माध्यमिक शिक्षा पूरी करने पर "बटु", "स्नातक" के पाठ्यक्रम में प्रवेश करता था। जहाँ पर उसे दर्शनशास्त्र, राजनीति या रुचिकर अन्य विषयों की ऊँची शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा समाप्त होने पर वह गुरु को शक्ति भर गुरुदक्षिणा देकर आशिर्वाद लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।

ऐसे गुरुकुलों में सन्दीपन ऋषि का गुरुकुल विशेष रूपसे प्रसिद्ध हुआ। यह गुरुकुल उज्जयिनी के समीप ही बना हुआ था। यहाँ पर श्रीकृष्ण जैसे राजपुरुष और सुदामा जैसे दरिद्र ब्राह्मण की शिक्षा एक ही वातावरण में बिना भेदभाव के सम्पन्न हुई थी।

इसी प्रकार का एक गुरुकुल उद्दालक ऋषि का भी था, जिनके शिष्य आरुणि की कथा पुराणों में बहुत प्रसिद्ध है।

बौद्धकाल में इन गुरुकुलों का रूप विशेष व्यापक हो गया था। इस युग में तक्षशिला, नालन्दा, उज्जयिनी और बलमी के विद्यालय बहुत प्रसिद्ध हुए। इन विद्यालयों में संसार के दूर-दूर देशो से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे और अपने विषय के संसार प्रसिद्ध प्रकाण्ड विद्वान वहाँ अध्यापन का कार्य्य करते थे।

प्राचीन युग में काशी भी ऐसे गुरुकुलों का प्रधान केन्द्र थी। जहाँ विद्यार्थी ब्रह्मचर्य्य पूर्वक शिक्षा ग्रहण करते थे और राज्य की ओर से अथवा धनी लोगो की ओर से उनके अन्न-वस्त्र और आवास की व्यवस्था होती थी।

आधुनिक युग मे भी प्राचीन गुरुकुलों के आदर्श पर गुरुकुल स्थापित करने के प्रयत्न किये गये। इन प्रयत्नों में स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित कांगड़ी गुरुकुल और डा० रवीन्द्रनाथ के द्वारा स्थापित शान्ति-निकेतन वृहत् प्रयत्न थे। मगर समय के प्रभाव से और पाश्चात्य शिक्षा के व्यापक प्रसार का प्रभाव इनपर पड़ा और भारतीय गुरुकुलों की विशुद्ध मौलिकता इन्हें प्राप्त न हो सकी।

गुरुत्वाकर्षण

पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के सम्बन्ध में सर 'आइजक-न्यूटन' के द्वारा स्थापित 'गुरुत्वा-कर्षण' का सिद्धान्त जो १७वीं सदी के मध्य भाग मे आविष्कृत हुआ।

सन् १६६३ ई० में सेवके एक वृक्ष परसे टूटे हुए सेव को सीधे पृथ्वी पर गिरते हुए देखकर न्यूटन ने यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी में एक ऐसी आकर्षण शक्ति है, जिसके द्वारा वह अपने चारों ओर के पिण्डों को, चाँद और सितारों को अपनी ओर आकर्षित करती-रहती है। इस आकर्षण-शक्ति को उन्हों ने गुरुत्वाकर्षण शक्ति की संज्ञा दी। आगे और गहराई में जाने पर न्यूटन को यह प्रतीत हुआ कि केवल पृथ्वी ही नहीं, बल्कि सभी ठोस पिंड अपने चारों ओर के अन्य पिण्डों को अपनी ओर खीचते हैं। और इसी आकर्षण-शक्ति के बलपर यह सारा संसार टिका हुआ है।

न्यूटन से कुछ समय पूर्व 'गेलीलियो' और 'कैपलर' भी ग्रहों की गति का निरीक्षण और विश्लेषण करते हुए कुछ इसी प्रकार के निष्कर्षों पर पहुँचे थे।

न्यूटन के द्वारा इस सिद्धान्त के विस्तृत निरूपण के पश्चात् सृष्टि के उलझे हुए रहस्यों को सुलझाने में भौतिक विज्ञान को एक सही दिशा मिल गयी।

किन्तु २० वीं शताब्दी के उदय के साथ ही वैज्ञानिकों को न्यूटन के सिद्धान्त में अनेक त्रुटियाँ नजर आने लगीं। इन त्रुटियों की क्षतिपूर्ति और नई पैदा होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'आइन्स्टीन' ने सापेक्षता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आइन्स्टीन से पूर्व वैज्ञा-निकों की यह धारणा थी कि 'शून्य' और 'समय' असीम (एक्सोल्यूट) है। सापेक्षता के विशेष सिद्धान्त ने इन धार-णाओं को बदल कर अन्तरिक्ष और काल को एक दूसरे से सम्बद्ध कर दिया।

सन् १९१५ ई० में 'आइन्स्टीन' को इस क्षेत्र में अनु-सन्धान करते हुए भारी सफलता प्राप्त हुई। उनके द्वारा प्रतिपादित गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त सापेक्षता के सिद्धान्त के साथ, संगति रखते हुए भी न्यूटन के सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन करता था।

आइन्स्टीन ने यूनान के सुप्रसिद्ध गणितकार 'यूक्लिड' के द्वारा प्रतिपादित रेखागणितीय सिद्धान्तों के मुकाबले में एक नये समीकरणका प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार समय और दूरी का नाप सब दूर एक सा नहीं होता, वह विभिन्न गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्रों में बदलता रहता है। उदाहरणार्थ एक सशक्त गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्र में घड़ियों की गति बहुत धीमी होगी।

न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तों के साथ-साथ गति के नियमों का भी सूत्रापत किया था, मगर उसके सामने कठिनाई यह थी कि वह उस सापेक्ष पृष्ठभूमि का प्रतिपादन नहीं कर पा रहा था, जिसके आधार पर गतिको नापा जा सके।

आइन्स्टीन ने सापेक्ष-सिद्धान्त का अनुसंधान करके इस कठिनाई को दूर किया।

आइन्स्टीन के पश्चात् भारतीय वैज्ञानिक डा० जयन्त विष्णु नार्लीकर ने प्रोफेसर 'हायल' के साथ गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की नवीन व्याख्या की। उन्होंने कहा कि—गुरुत्वाकर्षण की व्याख्या गणित के द्वारा भीं की जा सकती है और उसी का परिणाम वह समीकरण है जो ११ जून १९६४ ई० को उन्होंने लन्दन की रायल सोसायटी में प्रस्तुत किया।

११ जून सन् १९६४ ई०का दिन भारतीय वैज्ञानिक जयंत-विष्णु' नार्लीकर के लिए विशेष महत्व का दिन था। लन्दन का सुप्रसिद्ध रायल सोसाइटी हाल, 'ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों और विद्वानों से खचाखच भरा हुआ था। इस हाल में इस मञ्च पर आज 'नार्लीकर' को अपने नबीन गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का प्रतिपादन करना था। मञ्च पर खड़े होकर जब २६ वर्ष के इस भारतीय नबयुवक ने विश्व की उत्पत्ति, उसकी वर्तमान स्थिति और उसके भविष्य पर सरल शब्दों में प्रतिपादन करना प्रारम्भ किया तो सारी सभा आश्चर्य-चकित रह गयी। आज से ३०० वर्ष पूर्व 'रायल सोसायटी' के इसी हाल में न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का अपना सिद्धांत रख कर जो हलचल पैदा की थी, वही हलचल इस भारतीय नवयुवक ने तोन सौ वर्षों के पश्चात् रायल सोसायटी के इसी हाल में फिर से पैदा की।

दूसरे दिन ब्रिटेन के पत्रों ने इस भारतीय नवयुवक की वैज्ञानिक खोज की तुलना न्युटन और आइन्स्टीन की खोजों के मुकाबले में की।

जयंत-विष्णु नार्लीकर का जन्म १९ जुलाई १९३८ ई० को कोल्हापुर में एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण-परिवार में हुआ। इनके पिता विष्णुपंत नार्लीकर बनारस बिश्वविद्यालय में गणित विभाग के अध्यक्ष थे और इस समय राजस्थान-लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष हैं।

'जयंत' को बचपनसे ही गणितके कठिन से कठिन प्रश्नों के हल करनेका शौक था। इसीके परिणाम स्वरूप कैम्ब्रिज के किंग्स-कालेज में जयंत का गणित के शोध-कार्य के लिए चुनाव हुआ। सन् १९६२ ई० में डा० जयंत को फिट्स विलियम हाउस ने डाइरेक्टर ऑफ मैथेमेटिकल स्टडीज' के पद पर नियुक्त किया और इसी वर्ष उनको अपने संशोधन निवंध पर 'स्मिथ' पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। इसके साथ ही उन्होंने प्रोफेसर 'हायल' के साथ गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत पर अपना अनुसंधान किया।

डा० नार्लीकर की इस खोज के बारे में कहा जाता है कि वह न्यूटन और आइन्स्टीन की तरह ही महत्वपूर्ण हैं।

गुरिल्ला-युद्ध

युद्ध-सञ्चालन-कला की एक कुटिलताभरी शाखा, जिसमें छिप कर, धोखा देकर और अचानक शत्रु पर आक्रमण कर उसको कष्ट पहुँचाने का प्रयास किया जाता है।

गुरिल्ला का नामकरण अफ्रीका के जंगलों में पाये जाने वाले वानर जाति के एक हिंसक धोखेबाज और दुष्ट बनचर गुरिल्ला के नाम पर किया गया है।

गुरिल्ला युद्ध का विवेचन २५ सौ वर्ष पहले चीन के युद्ध विशारद 'सुन-त्सू' ने किया था। उसने इस युद्ध के ४ सूत्र निर्माण किये थे—

(१) शत्रु बढ़ेगा तो हम पीछे हटेंगे।
(२) शत्रु रुकेगा तो हम सतायेंगे।
(३) शत्रु थकेगा तो हम आक्रमण करेंगे।
(४) शत्रु हटेगा तो हम पीछा करेंगे।

अठारहवीं सदीमें गुरिल्ला-युद्ध का सुप्रसिद्ध विशेषज्ञ फ्रांस का 'कानेस्टेवल-द-गुइलीन' माना जाता है। यूरोप में गुरिल्ला युद्ध का अन्वेषण और प्रयोग 'गुइलीन' ने ही किया था। फ्रांस के साथ होने वाले अंग्रेजों के 'सतवर्षीय युद्ध' में गुइलीन के कारण ही अंग्रेजों को फ्रांस की भूमि से हटना पड़ा था। गुइलीन कभी सामने आकर नहीं लड़ता था। उसने फ्रांस में अंग्रेजों का जीना दूभर कर दिया था।

इस क्षेत्र में सबसे अधिक वैज्ञानिक और व्यवस्थित गुरिल्ला युद्ध का जानकार 'टी० ई० लारेंस' था। उसने इस युद्ध सम्बंधी साहित्य का व्यापक अध्ययन किया था। गोरिल्ला-युद्ध के मूलसूत्रों की भी उसने रचना की थी। और वह 'क्लार्से-वित्ज' नामक युद्ध-कला विशारद से बड़ा प्रभा-

वित था। 'लारेंस' ने अपनी युद्ध-कला का वर्णन 'सेवन पिलर्स ऑफ विजडम' नामक ग्रन्थ में किया है।

आधुनिक युग में गुरिल्ला-युद्ध का सबसे बड़ा विशेषज्ञ 'माओत्से-तुंग' समझा जाता है। सन् १९३८ ई० में माओ ने 'आन-द-प्रोटेक्टेड वार' नामक ग्रन्थ गुरिल्ला-युद्ध नीति पर लिखा और जापान विरोधी गुरिल्ला युद्ध नामक पुस्तक भी उसने लिखी।

गुरिल्ला-युद्ध का विवेचन करते हुए उसने बतलाया कि "इस प्रकार की लड़ाई में कौशल, प्रथम आघात, आक्रमण संकल्प, गोपनीयता, तीव्रता, पूर्णता तथा जन-समर्थन" ये तत्व बहुत प्रधान हैं। इन तत्वों को क्रियात्मक रूप किस प्रकार दिया जाय--इसका विवेचन करते हुए वह लिखता है कि--'एक स्थान पर झूठा आक्रमण करो! तथा वास्तविक आक्रमण किसी दूसरी जगह पर करो! जिससे कि शत्रु अपनी रक्षा न कर सके। जहाँ झूठा आक्रमण करो, वहाँ शक्ति का प्रदर्शन बहुत अधिक करो! जिससे शत्रु धोखे में आ जाय। जहाँ वास्तविक आक्रमण करना हो-वहाँ बिल्कुल हलचल मत होने दो और अचानक जिस तरह बिल्ली चूहे पर झपटती है, उसी तरह शत्रु पर झपट पड़ो और वह सावधान न हो तब तक उसे खतम कर दो।'

"कभी प्रकट हो जाओ! कभी छिप जाओ, जिससे शत्रु तुम्हारे बारे में कोई निश्चयात्मक जानकारी न पा सके। शत्रु के शक्तिशाली स्थानों को मत छेड़ो। केवल अरक्षित और निर्बल स्थानों पर ही हमला करो! आराम करते हुए, भोजन करते हुए, असावधान शत्रुपर अचानक हमला बोल दो! शत्रु के साथ आमने-सामने कभी मत होओ। शत्रु को आगे बढ़ने दो, और जब वह थक जाय तब उसे चारों ओर से घेर कर नष्ट कर दो। युद्ध में हठ से काम मत लो। उसे सम्मान का प्रश्न मत बनाओ। सदा एक सी सामरिक नीति मत अपनाओ। अपने दाव-पेंच हमेशा बदलते रहो, जिससे शत्रु का मनोबल भंग हो जाय। गुरिल्ला-युद्ध की सफलता के लिए शत्रु की शक्ति, गतिविधि, सैनिक मनोबल, शस्त्र-शक्ति और गुप्तचर सेवाओं की पूरी जानकारी इकट्ठी करो। शत्रु को ऐसे क्षेत्र में लाओ जो तुम्हारे अनुकूल हो। अपनी पसन्द की स्थान पर आक्रमण करो और उसका सर्वनाश कर दो!"

"छिप कर प्रहार करो! और हथगोले विशेष रूप से काम में लाओ। शत्रु के प्रति तनिक भी दया मन में मत लाओ। उसके सैनिकों को नष्ट कर दो और उसका साथ देने वाली प्रजा का कठोरता से दमन करो। तुम्हारा ध्येय आगे बढ़ना नहीं है। शत्रु को अधिक से अधिक हानि पहुँचाना है। आदर्शों और नैतिकता के जाल में मत फँसो। विजय और शक्ति के अतिरिक्त इस संसार में कुछ भी सत्य नहीं है। हाँ शत्रु को आदर्शों के जाल में फँसाये रखो और उसके विरुद्ध यह प्रचार करो कि वह साम्राज्यवादी, शोषक और नर-रक्त का पिपासु है।"

गोरिल्ला-युद्ध की सफलता का सबसे प्रमुख रहस्य माओ ने गोपनीयता में बताया है। वह कहता है कि-"अपने रहस्य को कभी प्रकट न होने दो। जो करना है, उसे किसी से मत कहो, और जो कुछ कहते हो उसे कभी मत करो। लड़ते समय बोलो मत! रवानगी के पहले ही सेना को तमाम आवश्यक आदेश दे दो। लौटते समय अपने मृत सैनिकों, हथियारों, खाद्य सामग्री-सबको साथ ले लो या नष्ट कर दो। अपने साथ कोई भी दस्तावेज, कागज या अभिलेख मत रखो। हत्या करने से मत घबराओ। उसको सामान्य बात समझो। क्योंकि शत्रु की हत्या करनी ही है। शत्रु के ऊपर निरन्तर, नियमित और अन्धाधुन्ध प्रहार करो। यह प्रचार करो कि शत्रु बर्बर है—वह हत्या, लूटपाट तथा शीलभंग जैसे जघन्य कार्यकर रहा है और अपने आप को निर्दोष, भोलाभाला और कमजोर बताओ। शत्रु के प्रदेश में उसकी प्रजा के सामने अपने आप को मुक्ति-सेना के रूप में प्रस्तुत करो मगर अपना आतङ्क बराबर बनाये रक्खो।"

"गुरिल्ला-युद्ध मे जन-समर्थन नितान्त अनिवार्य है। जनता से मदद और सूचना प्राप्त करो, और उसका सहयोग लो, मगर उसको मूर्ख बनाने में भी मत चूको। उसे तुम्हारी शक्ति पर विश्वास तो रहना ही चाहिए। साथ ही आतङ्क भी रहना चाहिए।"

यह 'माओ' के गुरिल्ला-युद्ध के मुख्य सिद्धांत हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर दक्षिणी वियतनाम में वह वियट-काँग लोगों को अमेरिकियों से लड़ा रहा है।

गुरुङ्ग

नेपाल देश में रहने वाली एक जाति जो बड़ी साहसी और युद्ध मे निपुण होती है। इस जाति में दशा-गुरुङ्ग और बारहा-गुरुङ्ग ये दो श्रेणियाँ होती हैं।

यह जाति किसी समय बौद्ध-धर्मावलम्बी थी, मगर अब सब हिन्दू हो गये हैं। ये पाण्डु के दूसरे पुत्र भीमसेनको अपना उपास्यदेव मानते हैं। इनके यहाँ कन्याओं का विवाह बड़ी उम्र में होता है। विवाह-बन्धन तोड़ने के लिए कन्या की माता को रुपया देना पड़ता है। तलाकशुदा स्त्री फिर से समारोह के साथ विवाह कर सकती हैं। किन्तु विधवाओं के लिए ऐसा नियम नही है। विधवाएँ केवल अपने देवर को ही स्वामी रूप में ग्रहण कर सकती हैं।

गुरुदासपुर

पश्चिमी पञ्जाब का एक जिला और नगर। इसके उत्तर में जम्मू और कश्मीर, दक्षिण पश्चिम मे अमृतसर, पूर्व में कपूरथला, होशियारपुर और काँगड़ा तथा पश्चिम में पाकिस्तान का सियालकोट जिला है।

पहले इस जिले मे गुरुदासपुर, बटाला, पठानकोट और शक्करगढ़ की चार तहसीलें थी। मगर देश-विभाजन के पश्चात् इनमें से शक्करगढ़ नामक तहसील पश्चिमी पाकिस्तान में चली गई है।

ऐसा कहा जाता है कि बारहवी सदी में जेतपाल नामक दिल्ली के एक राजपूत ने आकर इस जिले के पठानकोट नगर को बसाया था। मगर बाद मे जेतपाल के वंशजों ने काङ्गड़ा के नूरपूर नगर मे अपना राजभवन निर्माण करवाया।

जिस समय सम्राट् हुमायूँ की मृत्यु हुई उस समय युवराज अकबर इसी जिले के 'कलानौ' नामक स्थान पर थे। पिता की मृत्यु के समाचार सुन कर यही पर इन्होंने सम्राट् की उपाधि ग्रहण की और राज्य के अधिकारी हुए।

इस जिले का 'डेरा' नामक स्थान सिक्खों के प्रथम धर्म गुरु नानक की मृत्यु के उपलक्ष्य में एक तीर्थ की तरह माना जाता है। इसी स्थान के समीपवर्ती एक ग्राम में सन् १५३९ में गुरु नानक की मृत्यु हुई थी।

सन् १८१६ में यह जिला महाराजा रणजीत सिंह के शासन में आ गया। सन् १८४६ के प्रथम सिक्ख युद्ध की समाप्ति पर इस जिले के पठानकोट और कुछ पर्वतीय विभाग ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दिये गये। सन् १८६१-६२ में डलहौजी का प्रसिद्ध पर्वतीय स्थान और उसके निकटस्थ समतल क्षेत्र पर भी अंगरेज सरकार का अधिकार हो गया।

इस जिले के ऐतिहासिक स्थानों मे रावी नदी के तट पर मुक्तेश्वर का प्रसिद्ध पाषाण मन्दिर, बटाला अञ्चल में तालाब के अन्दर बना हुआ महाभारत काल का शिव मन्दिर, डेराबाबा नानक में बना हुआ सिक्खों का स्वर्ण मन्दिर, गुरुदासपुर की हिलनी दीवार इत्यादि स्थान उल्लेखनीय हैं। इस जिले के प्रधान नगरो में पठानकोट, बटाला, गुरुदासपुर, डेराबाबा नानक इत्यादि नगर उल्लेखनीय हैं।

यहाँ का 'डलहौजी' नामक पर्वतीय स्टेशन समुद्रतल से ७६८७ फुट ऊँचा है जो अत्यन्त सुन्दर बना हुआ है। गर्मी के दिनोमें यहाँ बहुत यात्री आते हैं। गुरु गोविन्द सिंह के पश्चात् सिक्खों के धर्मगुरु बन्दाबैरागी ने यहाँ एक किला बनवाया था। बादशाह बहादुर शाह की मृत्यु के पश्चात् सन् १७१२ में यही पर वे पकड़े गये और बाद में मार डाले गये।

गुरुमुखी

पञ्जाब की एक भाषा और लिपि, जिसका प्रचलन सिक्ख गुरुओं के द्वारा ईसा की सोलहवीं-सतरहवीं सदी से शुरु हुआ।

सिक्ख गुरुओ ने फारसी लिपि का स्थान ग्रहण करने के लिए इस लिपि और बोली का आविष्कार किया था। चूंकि यह लिपि और बाणी गुरुओं के मुख से निकली थी इसलिए इसका नाम गुरुमुखी हुआ। इस लिपि में ३२ व्यञ्जन और ३ स्वर होते हैं। इस लिपि का विशेष प्रचार गुरु अङ्गद ने किया। और गुरु अर्जुन देव ने इसी लिपि मे सिक्खों के परम पवित्र ग्रंथसाहिब का संग्रह करके इस लिपि को सिक्खों की धार्मिक लिपि बना दिया।

आज गुरुमुखी लिपि और भाषा पञ्जाब के एक बड़े हिस्से की लोकप्रिय लिपि और भाषा बनी हुई है और इसीके आधार पर सन् १९६६ में पञ्जाबी सूबे का निर्माण हुआ है।

गुरुदत्त

हिन्दी के एक प्रसिद्ध उपन्यासकार और चिकित्सक जिनका जन्म सन् १८९४ मे लाहोर में हुआ।

श्रीगुरुदत्त ने जिस समय होश सम्हाला, उस समय सारा पञ्जाब स्वामी दयानन्द के द्वारा स्थापित आर्य्य-समाज के दिव्य सन्देश से मुखरित हो रहा था। गुरुदत्त के उपर भी इस वातावरण का स्थायी प्रभाव पड़ा जो उनके सारे जीवन पर बराबर बना रहा।

श्रीगुरुदत्त भारतीय संस्कारों, भारतीय आदर्शो और भारतीय संस्कृति के दृढ़ उपासक हैं। यही भावनाएँ उनके प्रत्येक उपन्यास के ऊपर छायी हुई दिखलाई पड़ती हैं। उनका पहला उपन्यास 'स्वाधीनता के पथ पर' सन् १९४२ ई० मे प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् १८ वर्षों मे उन्होंने ४८ उपन्यास लिखकर प्रकाशित किये। इन उपन्यासों में पौराणिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक और सामाजिक सभी प्रकार के उपन्यास सम्मिलित हैं। प्रत्येक उपन्यास मे कथानक का क्रमबद्ध विकास, बिचार-सौष्टव, चरित्र-चित्रण और सबसे ऊपर भारतीय विचार-प्रणाली का तर्कपूर्ण समर्थन देखने को मिलता है।

गुलजारीलाल नन्दा

स्वाधीनता के पहले, भारतीय मजदूर दलके एक प्रसिद्ध नेता और वर्तमानमे भारतवर्ष के गृहमन्त्री। जिनका जन्म सन् १८९८ ई० में पञ्जाब के स्यालकोट नगर में हुआ।

गुलजारीलाल नंदा की शिक्षा पहले लाहोर, फिर आगरा और उसके बाद इलाहाबाद मे हुई।

सन् १९२१ ई० में श्रीनंदा ने गांधीजी के असहयोग-आंदोलन मे सक्रिय भाग लिया। और सन् १९२२ ई० में वे अहमदाबाद 'कपड़ा-मिल-मजदूर-संघ' के मंत्री निर्वाचित हुए और सन् १९३६ ई० तक उसी पद पर रहे।

सन् १९३७ ई० मे वे बम्बई विधान-सभा के सदस्य और बम्बई प्रात की प्रथम कांग्रेसी सरकार में संसदीय श्रम-सचिव नियुक्त हुए।

सन् १९४५ ई० से सन् १९५० ई० तक वे बम्बई-सरकार के श्रम मंत्री रहे। एक मजदूर नेता के रूप में उन्हों ने देश के श्रमिक आन्दोलन को एक अनुशासन पूर्ण आंदोलन का रूप दिया। सन् १९४७ ई० में श्री नंदा ने 'जिनेवा' के अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-सम्मेलन में सरकारी प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। सन् १९५० ई० में श्री नंदा केन्द्रीय सरकार के योजना मंत्री और योजना-आयोग के उपाध्यक्ष बनाये गये।

उसके पश्चात् 'कामराज-योजना' के अन्तर्गत जब बहुत से मंत्रियों ने इस्तीफे दिये तब पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने नये मंत्रिमण्डल में श्रीनंदा को गृह-मंत्री के रूप में ले लिया। तब से अभी तक ये उसी पद पर काम कर रहे हैं।

गुलामअली खाँ बड़े

भारतीय शास्त्रीय संगीत के एक प्रसिद्ध उस्ताद जिनका जन्म सन् १९०२ मे लाहोर मे हुआ था।

उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ पटियाला घराने के संगीतकार हैं। पाँच वर्ष की उम्र में इनकी संगीत शिक्षा इनके पिता उस्ताद अली खाँ और सुप्रसिद्ध गायक काले खाँ के निरीक्षण में शुरु हुई। सन् १९१९ में काले खाँ की मृत्यु हो जाने से इन्हे बड़ा सदमा पहुँचा, मगर उसके बाद इन्हों ने अपने अभ्यास को तेजी से बढ़ाया। सन् १९२१ में १९ वर्ष की अवस्था में इंग्लैण्ड के प्रिंस ऑफ वेल्स के दरबार में इनका संगीत हुआ। तब से इनकी कीर्ति बहुत बढ़ गई।

बड़े गुलाम अली संगीतकार के साथ-साथ अच्छे कवि भी है। ये 'सबरङ्ग' के नाम से कविता करते हैं। जितनी रचनाएँ इन्होंने स्वरबद्ध की हैं वे सब इन्ही की बनाई हुई है।

बड़े गुलामअली का संगीत-आलाप की गम्भीरता, बोल एवं तानों की विविधता, चमत्कारपूर्ण लयकारी और विशाल स्वर योजना इत्यादि मिश्रित गुणों से एक अनूठा रूप धारण कर लेता हैं। उनके कण्ठ मे गूँज, माधुर्य्य, रञ्जकता, कोमलता आदि सभी गुण विद्यमान है।

गुलाम-कादिर

रोहिला जाति का एक मुसलमान सरदार, जो बावनी महल नामक स्थान का जागीरदार था। यह मुगल सम्राट् शाह आलम का समकालीन था।

गुलाम कादिर का बाप 'जाब्ता खाँ' शाहआलम का वजीर था। यह बड़ा धूर्त, विश्वासघाती और नमकहराम व्यक्ति था। इसने सम्राट् शाहआलम के विरुद्ध कई षड्यन्त्र और विद्रोह किये, मगर इसे सफलता नहीं मिली और सन् १७८५ में इसकी मृत्यु हो गई।

जाब्ता खाँ के बाद उसका लड़का गुलाम कादिर "नजीबुद्दौला होशियार जंग" का खिताब धारण कर बावनी महल के जागीरदार की गद्दी पर बैठा। यह भी बड़ा दुष्ट, विश्वासघाती और धूर्त व्यक्ति था। थोड़े ही समय मे एक सेना का संगठन कर वह पिता का बदला लेने दिल्ली पर आक्रमण करने को निकला और शाहदरा के पास मुकाम कर इसने भेद नीति से बादशाह के घर में फूट डालने की साजिश प्रारम्भ की। इसने छल बलसे बादशाह के नाजिर मंजूरअली को अपनी तरफ फोड़ लिया। और दूसरे सैनिक अफसरों को भी रिश्वतें दे देकर अपनी तरफ मिला लिया। उसके बाद वह दिल्ली शहर में घुस गया। सम्राट् शाहआलम ने तब मराठा सरदार महादजी सिंधिया और समरूबेगम को सहायता के लिए लिखा। इन लोगों के आने पर गुलाम कादिर दिल्ली छोड़ कर भाग गया। मगर अन्त में मराठा लोगों की सलाह से बादशाह ने उसको फिर अमीर-उलउमरा बना दिया।

इसके बाद गुलाम कादिर ने बिना सम्राट् की आज्ञा लिए मराठों के विरुद्ध आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। मगर आगरा के समीप मराठा फौज ने गुलाम कादिर के सेनापति इस्माइल बेग को करारी पराजय दी और उसे दिल्ली में प्रवेश न करने देने के लिए सम्राट् को लिख दिया।

तब गुलाम कादिर ने दिल्ली पर गोले बरसाना प्रारम्भ किया। मराठों ने भी तोपोंसे करारा जबाब दिया। लड़ाई में सफलता होती न देख कर उसने इस्माइल खाँ के द्वारा शाही फौज में बगावत करवा दी। लाचार मराठो को घुटने टेकने पड़े और गुलाम कादिर ने दिल्ली मे प्रवेश किया। ता० १८ जुलाई सन् १७८८ को वह सम्राट् के सामने दीवान खाने में आया। दबी हुई बिल्ली की तरह शाह आलम ने उसे फिर वजीर का पद दे दिया। उसके आठ दिन बाद उसने बादशाह से सेना का वेतन मांगा, मगर बादशाह का खजाना खाली था। तब गुलाम कादिर ने बादशाह को जबर्दस्ती गद्दी से उतार कर मुहम्मद शाह के पौत्र और अहमद शाह के पुत्र बेदारबख्त को बादशाह की गद्दी पर बिठा दिया, और शाहआलम को सपरिवार बन्दी बना लिया।

तारीख १० अगस्त १७८८ को उसने शाह आलम के सामने उसके पुत्रों और पौत्रों को बुलाकर घोर यातनाएँ दी और उसकी बेगमो को नङ्गी कर दिया। और शाह आलम को फर्श पर गिराकर उसकी आंखे निकलवा ली।

मगर इसी समय मराठा सेना जोरशोर के साथ दिल्ली की समीप आई। गुलाम कादिर दिल्ली से भागा। मराठा सेना ने फिर से अन्धे शाहआलम को गद्दी पर बिठाया। और गुलाम कादिर को पकड़ने के लिए सेना भेजी गई। थोड़े ही समय में गुलाम कादिर रस्सियों से बंधा हुआ महादजी सेंधियां के सामने पेश किया गया। महादजी ने पहले गुलाम कादिर का मुंह काला करके उसे गधे पर उलटा बिठाया और बाजार में घुमा कर प्रत्येक दुकान से उससे बावनी नवाब के नाम पर भीख मंगवाई। फिर उसकी जबान काट ली गई, फिर उसकी आँखें निकाली गईं, फिर नाक, कान और हाथ पैर काट लिये गये और उसी हालत में उसे बादशाह के सम्मुख भेजा। मगर रास्ते में ही उसके प्राण निकल गये।

गुलाबराय (साहित्याचार्य)

हिन्दी-साहित्य के एक प्रसिद्ध साहित्यकार, समालोचक और दर्शन शास्त्री जिनका जन्म सन् १८८८ ई० मे इटावा में वैश्य जाति के अन्दर हुआ।

सन् १९१३ ई० में बा० गुलाबराय ने 'सेटजांस कालेज' आगरा से दर्शनशास्त्र में एम० ए० किया। सन् १९१३ ई० मे एम० ए० करके वे छत्रपुर राज्य के महाराजा सर विश्वनाथ सिंह जू देव के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए।

सन् १९३२ ई० में महाराजा का स्वर्गवास होने के पश्चात् बा० गुलाबराय आगरा चले आये और वहाँ पर निरन्तर साहित्य-सेवा में लगे रहे।

बा० गुलाबराय हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग के उच्चकोटि के साहित्यकार थे। उनका अध्ययन बड़ा विशाल और दार्शनिक भावनाओं से ओतप्रोत है। इनकी रचनाओं में 'कर्तव्यशास्त्र' (१९१९) 'नवरस' (१९२१) 'तर्क शास्त्र' तीन भाग (१९२९) पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास (१९२६)

मैत्रीधर्म (१९२७) प्रबन्ध प्रभाकर (१९३४) विज्ञान-वार्ता (१९३६) फिर निराशा क्यों (१९३६) सिद्धान्त और अध्ययन (१९४६) काव्य के रूप (१९४७) इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

निबन्धकार और दार्शनिक होने के साथ-साथ बा० गुलाब राय हास्यरस के भी कलाकार थे। इस क्षेत्र में उनकी 'ठलुवा-क्लब' और 'मेरी असफलताएँ' नामक रचनाएँ विशेष लोकप्रिय हुईं।

गुलबर्गा

आधुनिक मैसूर राज्य का एक जिला और उसके पहले हैदराबाद के निजाम-राज्य के गुलबर्गा डिवीजन का एक जिला और शहर। गुलबर्गा शहर की जनसंख्या ९७०३९ है।

बारहवीं तेरहवीं शताब्दी मे यह क्षेत्र वरङ्गल के काकातीय राजाओ के शासन में था। सन् १३४७ में हसन गंगू नामक एक मुसलमान सरदार ने जफरखां की उपाधि धारण कर शक्ति सञ्चय की। दौलताबाद पर कब्जा कर उसने अपने को स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया और बहमनी राजवंश की स्थापना कर गुलबर्गा को एहसानाबाद के नाम से अपनी राजधानी बनाई। बहमनी राजाओं के द्वारा बनाई हुई कई मसजिदें, किले और महल यहाँ खण्डहरों के रूप में दिखलाई पड़ते है।

हैदराबाद में निजामशाही की स्थापना के बाद यह क्षेत्र निजाम के शासन में चला गया। यहाँ की जनता में कनाड़ी, तैलगू, उर्दू और मराठी-भाषाएँ प्रचलित हैं।

गुलाबसिंह डोगरा

जम्मू-कश्मीर में डोगरा-राजवंश के संस्थापक, जिनका जन्म सन् १७८८ ई०के लगभग और मृत्यु सन् १८५७ में हुई।

राजा गुलाबसिंह डोगरा-वंश के राजपूत थे। ऐसा कहा जाता है कि यह राजवंश राजपूताने से आकर डोगरा प्रदेश के मीरपुर नामक ग्राम में बस गया था। यहाँ से यह वंश तीन शाखाओं में विभक्त हो गया। एक शाखा ने 'चम्बा' को, एक ने 'कांगड़ा' को और एक ने 'जम्मू' को अपना केन्द्र बनाया।

गुलाबसिंह इसी जम्मू वाली शाखा में पैदा हुए थे।

जब सिक्ख-नरेश 'रणजीत सिंह' ने दीवानचन्द्र मिश्र के सेनापतित्व मे एक सेना जम्मू को जीतने के लिए भेजी थी, उस समय १८ वर्ष के गुलाब सिंह ने बड़ी वीरता का परिचय दिया था। जिसकी प्रशंसा सेनापति दीवानचन्द्र ने महाराजा रणजीत सिंह के सामने भी की थी।

जब जम्मू सिक्ख-नरेश के हाथ मे आ गया, तब जम्मू का यह परिवार भयङ्कर विपत्ति में पड़ गया और गुलाब सिंह को 'मुख्लिा' नामक किले पर ३) महीने में नौकरी करनी पड़ी। परन्तु यह नौकरी भी बहुत अधिक दिनों तक नही चली और वे इस्माइलपुर में अपने पिता के पास चले गये।

कुछ समय के पश्चात् 'दुर्लभ' नामक एक महाजन से थोड़ा सा कर्ज लेकर और 'मियाँ-मोती' नामक अधिकारी से एक सिफारिशी पत्र लेकर गुलाब सिंह अपने भाई ध्यान सिंह को लेकर लाहौर में दीवानचन्द्र के पास गये। दीवानचन्द्र ने उनकी भेंट महाराजा रणजीत सिंह से कराई और सन्१८१२ ई० में ये दोनों घुड़सवार सेना मे भर्ती किये गये।

ध्यान सिंह पर महाराजा रणजीतसिंह की विशेष रूप से कृपा थी और इसी के फलस्वरूप रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद उसने पञ्जाब की राजनीति में बड़े-बड़े खेल खेले।

सन् १८१८ ई० में महाराज रणजीतसिंह ने गुलाब सिंह को राजा की उपाधि देकर उनको 'जम्मू का राजा' बना दिया। जम्मू का राज्य प्राप्त होने पर गुलाबसिंह ने वहाँ के आस पास के सरदारों को जीत कर अपने राज्य में मिलाना शुरू किया। उसके बाद गुलाब सिंहने रणजीतसिंहकी मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र खड्गसिंह, पौत्र नौनिहालसिंह और पुत्रवधू चाँदकुमारी के विरुद्ध ध्यानसिंह ने जो षड्यन्त्र किये थे—उनमे ध्यानसिंह का साथ दिया और रानी चाँदकुमारी को गद्दी से हटा कर शेर सिंह को गद्दी पर बैठा दिया और रानी चाँदकुमारी की करीब करोड़ रुपये की दौलत को लेकर वहाँ से जम्मू चला गया।

उसके पश्चात् गुलाब सिंह ने काश्मीर में अपने राज्य का और भी विस्तार किया। गुलाब सिंहका प्रधान सेनापति 'जोरावर सिंह' अत्यन्त वीर और पराक्रमी था। इसने अपनी सेना के साथ 'वलख' और 'बलूचिस्तान' पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की। इन्हीं के सेनापतित्व में एक सेनाने 'तिब्बत' पर भी आक्रमण किया था, मगर मौसम प्रतिकूल होने से वे भी मारे गये और उनकी सेना भी तहस नहस हो गयी।

सन् १८४६ ई०में 'आलीबाल' के सिक्ख-युद्ध के पश्चात् राजा गुलाब सिंह के साथ अंग्रेजों की एक सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार राजा गुलाब सिंह पुश्त-दर-पुश्त के लिए एक स्वतंत्र शासक बना दिये गये और सिंधु नदी से पूर्व और रावी नदी से पश्चिम के तमाम प्रांत उन को दे दिये गये। इसके बदले गुलाब सिंह ने अंग्रेजी सरकार को ७५ लाख रुपये एक मुश्त नगद दिये।

इस प्रकार सन् १८४६ ई०में काश्मीर के सम्पूर्ण शासन-सूत्र महाराज गुलाब सिंहके हाथों में आये। ११ वर्ष तक पूरे कश्मीर पर शासन करके सन् १८५७ ई० में गुलाब सिंह का देहान्त हो गया। (वसु—विश्वकोष)

गुलाबों का युद्ध

सन् १४५४ ई० मे इंगलैण्ड के लङ्कास्टर वंश के राजा छठे हेनरी और लंकास्टर वंश की दूसरी शाखा यार्क वंश के रिचर्ड ड्यूक ऑफ यॉर्क के बीच में छिड़ा हुआ भयङ्कर युद्ध। जो इंग्लैण्ड के इतिहास 'गुलाबों के युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है।

उस समय इंग्लैण्ड की गद्दी पर लङ्कास्टर वंश का छठा हेनरी विद्यमान था। इस समय लङ्कास्टर वंश को इंग्लैण्ड पर राज्य करते हुए ५४ वर्ष बीत चुके थे। मगर वास्तव में तृतीय एडवर्ड की गद्दीका वास्तविक हक यार्क वंश को पहुँचता था।

राजा छठा हेनरी राज्य-प्रबन्ध के सर्वथा अयोग्य था और उसे पागलपन के दौरे भी आते रहते थे। इसलिए रिचर्ड ड्यूक आफ यॉर्क ने अपने अधिकारों के लिए नियमानुसार छठे हेनरी से युद्ध छेड़ दिया।

इस युद्ध में यार्कवालों की पार्टी का निशान सफेद गुलाब का फूल था, और लंकास्टर वंश का निशान लाल गुलाब का फूल था। इसी से यह युद्ध 'गुलाब के युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसकी पहली लड़ाई सन् १४५५ ई० में हुई, जिसमें यार्क वालों की विजय हुई। राजा हेनरी कैद हो गया और उसी समय फिर पागल हो गया। दूसरी लड़ाई सन् १४६० ई० में हुई, जिसमें भी यार्क वालों की विजय हुई। रिचर्ड यार्क ने गद्दी का दावा किया, मगर प्रतिनिधि-सभा ने यह निश्चित किया कि इंग्लैंड की गद्दी पर हेनरी ही राजा रहे, मगर राज्य-प्रबन्ध रिचर्ड यॉर्क करे और हेनरी के मरने के बाद रिचर्ड यॉर्क इंग्लैंड की गद्दी पर बैठे।

इस निर्णय से असन्तुष्ट होकर हेनरी के पुत्र 'एडवर्ड' ने सेना एकत्रित करके सन् १४६० में 'वेकफील्ड' स्थान पर यार्क वालों को पराजित कर दिया। रिचार्ड यार्क मारा गया, मगर उसका लड़का एडवर्ड फिर सेना सहित लन्दन पर चढ़ आया और चौथे एडवर्ड के नाम से गद्दी पर बैठ गया। इसी वर्ष 'टोटन' की लड़ाई में चतुर्थ एडवर्ड ने छठे हेनरीके पक्ष को हमेशाके लिए हरा कर इंगलैंडकी गद्दी प्राप्त की।

गुलाम हुसेन खाँ सैयद

बङ्गाल में मुर्शिदाबाद नवाब के एक अमीर, इनके पिता का नाम हिदायत अली खाँ 'आसद जङ्ग' था।

इनका समय १८ वी सदी के मध्य में था। सन् १७८० ई० में इन्होंने 'सिआर-उल-मुताखिन' नामक मुसलमानी नवाबों का इतिहास फारसी भाषा में लिखा था। इस ग्रंथ में बङ्गाल की तत्कालीन अवस्था का बड़े सुन्दर रूप में विवेचन किया गया है।

बङ्गाल के इतिहासकार इस ग्रंथ का बड़ा आदर करते रहे। इतिहासकार 'वालफोर' ने इस ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करवाया। इस इतिहास के अलावा गुलामहुसेन ने 'वशारत-उल इमानत' नामक एक काव्य ग्रंथ की भी रचना की थी।

गुलिस्ताँ

फारसी के सुप्रसिद्ध सूफी कवि शेखसादी के द्वारा लिखा हुआ फारसीभाषा का नीति मूलक अमरकाव्य। जिसकी रचना सन् १२५८ में शीराज नगर में हुई।

"गुलिस्ताँ" एक अत्यन्त ऊँचे दर्जे का गद्य-पद्य मय काव्य

है। अपने जीवन के उत्तर काल में ६५ वर्ष की आयु में शेखसादी ने इस काव्य की रचना की। शीराज के असंख्य गुलाब के बगीचों को देखकर अपनी गुलिस्तां पुस्तक के साथ उनकी तुलना करते हुए उन्होंने कहा कि—

बचेह कार आयदत जे गुले तबके
अज गुलिस्ताने मन वेबर वके
गुल हमीं पञ्जरोजो शश बाशद
के गुलिस्तां हमेशा खुश बाशद

तुम्हारे फूलकी पंखड़ियाँ क्या काम आवेंगी? वे पाँच छः दिनों में मुरझा जावेंगी। मेरी गुलिस्तासे एक पन्ना ले जाओ इस गुलिस्तां का गुलाब हमेशा हरा-भरा रहेगा और उसकी मधुर सुगन्धि दिल को हमेंशा तर करती रहेगी।

गुलिस्तां मे कुल ८ भाग हैं। पहले भाग में बादशाहों के स्वभाव और व्यवहार का वर्णन है। दूसरे भाग में फकीरों के गुण और त्याग का वर्णन है। तीसरे भाग में सन्तोष के मधुर फल का वर्णन है। चौथे भाग में मौन रहने के सुन्दर परिःणामों को अंकित किया गया है। पाँचवें भाग में प्रेम और यौवन के गुण-दोष दिखाये गये हैं। छठे भाग में वृद्धावस्था के लिए सावधान रहने के लिए नवयुवकों को आगाह किया हैं। सातवें भाग में सेवा, रक्षा तथा त्याग की प्रशंसा हैं तथा आठवें भाग में सत्संग की महिमा का वर्णन है।

यह शेख शादी की अमर-कीर्ति छोटी छोटी हिदायतों, कहानियों और गाथाओं के रूप में वर्णित है।

गुलिस्तां और बोस्तां अत्यन्त सुन्दर, सरल और मधुर फारसी-भाषा मे लिखे गये ग्रन्थ हैं। फारसी शिक्षा का प्रारंभ इन्हीं ग्रंथों से किया जाता था। मुसलमान बादशाह और नवाबों के यहाँ इन ग्रंथों का बड़ा आदर था और ये ग्रन्थ मुतवर्रक या प्रसाद-ग्रंथों की तरह समझे जाते थे।

कहा जाता है कि लखनऊ के नवाब आसफ-उद्दौला गुलिस्तां और बोस्तां की बड़ी इज्जत करते थे। उनका कहना था कि सल्तनत चलाने, इंसाफ करने और चरित्रगठन के लिए इनसे बढ़ कर किताबें बहुत कम होंगी।

स्वयं शेख सादी को अपनी इस रचना पर गर्व था। इसकी रचना के समय उन्होंने कहा था कि गुलिस्तां के जरिये मै गुलाब के फूलों का ऐसा बगीचा बना देता हूं, जो सदा हरा-भरा रहेगा। उसके फूल कभी न सूखेंगे, न झड़ेंगे, न उन पर सर्दी-गरमी का प्रभाव पड़ेगा और न वहाँ पतझड़ होगा।

महाकवि शेख सादी के 'गुलिस्तां' से चुने हुए कुछ शेर यहाँ उद्धृत किए जाते हैं, जिनसे उनके कथन की सत्यता आप ही प्रतीत होगी—

अज दस्त व जबां के बर आयद
कज अहदये शुक्रस बदर आयद

वास्तव में वाणी और हाथों का प्रयोजन यही है कि उनके द्वारा उस परमात्मा की स्तुति की जाय और उसकी कृतज्ञता स्वीकार की जाय।

ऐ करीमे के अज खजनए गैब
गब्र व तर्सा वजीफये खुर्दारी
दोस्तां रा कुजा कुनी महरूम
तोके बादुश्मना नजरदारी

ऐ दयालु-परमात्मा! तेरे अज्ञात कोष से नास्तिक और निन्दकोंको भी भोजनादिकी सहायता दी जाती है। तो भला, जो तेरे भक्तगण हैं, वे कब तेरी उदारता से वञ्चित रह सकेंगे

मुश्क आनस्त के खुद बबूयद
न आँके अत्तार बगोयद
दाना चूँ तब्लये अत्तार अस्त
खामोश व हुनर नुमाई
व नादान चूँ तब्लये गाजो
बलन्द आवाज मियानतिही

कस्तूरी अपनी सुगन्धि अपने आप फैलाती है, उसे अत्तार द्वारा परिचय देने की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार बुद्धिमान आदमी कस्तूरी के डब्बे के समान चुप रह कर अपना गुण प्रकट करता है। किन्तु जो मूर्ख होता है, वह ढोलची की तरह अपनी बड़ाई का ढोल पीटता रहता है।

दोश चूँ ताऊस मीनाजीदं, अन्दर बागे वस्ल
दीगर इमरोज अजफ़िराके यारमी पेचं चोमार
सूद दरिया नेक बूदी गर न बूदी बीमे मौज
सोहबते गुल खुश बुदी गर नेस्ती तश्वीसेखार

बाग में कल मोर की भांति प्रेमी से मिलकर नाचता था और आज उसके वियोग में साँप की तरह लोट रहा हूँ। मगर समुद्र में तूफान का भय न होता तो उसमें यात्रा करने में

बड़ा आनन्द आता। अगर काँटों का भय न होता तो गुलाब के फूलों का सौन्दर्य और भी दर्शनीय होता।

गुलाम-राजवंश

भारतवर्ष में दिल्ली के तख्त पर स्थायी रूप से मुसलमानी सत्ता की स्थापना करनेवाला पहला राजवंश। जिसने सन् १२०६ से सन् १२६० तक शासन किया।

शहाबुद्दीन गोरी ने सन् ११९२ में तलावड़ी के मैदान में पृथ्वीराज चौहान को पराजित कर भारत में इसलामी साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया और सन् १२०३ में वह अपने जर खरीद गुलाम और सेनापति कुतुबुद्दीन को भारतीय साम्राज्य का गवर्नर बनाकर वापस गजनी चला गया। कुतुबुद्दीन ने ही दिल्ली में गुलाम राजवंश की प्रतिष्ठा की।

कुतुबुद्दीन ने सत्ता सम्हालने के पश्चात् गुजरात के चालुक्य राजा रायकर्ण को करारी पराजय (११९६) दी। जिसके परिणाम स्वरूप नहरवाला और गुजरात का प्रान्त उसके साम्राज्य में आ गये। अजमेर पहले गोरी के समय में ही साम्राज्यमें आचुका था। अजमेर और गुजरात को अपने अधीन कर कुतुबुद्दीन ने भारत प्रसिद्ध कालिञ्जर के किले पर (१२०२) आक्रमण किया। वहाँ का राजा परमर्दिदेव बहुत समय तक लड़ता रहा। मगर अन्त में उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा। कालिजर पर अधिकार करके कुतुबुद्दीन ने वहाँ के सब मन्दिरों को तोड़ डाला और उनकी जगह मसजिदें बनवा दी। दिल्ली और कन्नौज पहले ही अधिकार में आ चुके थे। इस प्रकार अजमेर, दिल्ली, कन्नौज और बनारस में मुसलमानी सत्ता पूर्णरूप से स्थापित हो गई। उधर इसी के एक सरदार मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने अवध, बिहार और बङ्गाल को जीत लिया था। इस प्रकार कुतुबुद्दीन के समय में ही भारत के बहुत बड़े हिस्से पर उस का अधिकार हो गया था।

कुतुबुद्दीन के समय में उसने तथा उसके सेनापतियों ने हिन्दुओं या काफिरों के विरुद्ध बड़े-जिहाद किये। कितनों ही को मारा, कितनों ही को मुसलमान बनाया, कितने ही मन्दिरों और मूर्त्तियों को तोड़ा और लूटा। जिसका वर्णन तबकात-इ-नासिरी इत्यादि ग्रन्थों में बड़े गर्व के साथ किया गया है।

स्वयं कुतुबुद्दीन ने उश निवासी कुतुबशाह फकीर की स्मृति में कुतुब मसजिद, कुतुबमीनार इत्यादि इमारतें बनवाईं। अकेली कुतुब मसजिद में सत्ताइस हिन्दू और जैन मन्दिरों की सामग्री लगी हुई है। अजमेर की बड़ी मसजिद तो वहाँ के एक विशाल जैन-मन्दिर को ध्वस्त करके वहीं पर बनाई गई थी।

सन् १२११ में कुतुबुद्दीन की मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका लड़का आराम शाह और उसके बाद कुतुबुद्दीन का गुलाम और बाद में उसका दामाद 'अल्तमश' (१२११-१२३६) गद्दी पर आया। यह एक प्रसिद्ध विजेता और शूरबीर था। इसने कुतुबुद्दीन के अधूरे रहे हुए काम को पूरा किया। इसीके समय में मङ्गोल सम्राट् चङ्गेज खाँ ने भारत पर सबसे पहले आक्रमण किया, मगर अल्तमश ने चतुराई से उसे सिन्ध से ही वापस लौटा दिया। अल्तमश के समय में दिल्ली, बदायूँ, अवध, बनारस, शिवालिक पर्वत, लाहौर, सिंध, बङ्गाल इत्यादि प्रान्त दिल्ली के अन्तर्गत आ चुके थे। उसने रणथम्भोर पर भी विजय प्राप्त की और गवालियर के किले पर ग्यारह महीने तक घेरा डाल कर उसे भी जीत लिया! उसके बाद उसने मालवा पर चढ़ाई करके भेलसा पर अधिकार किया और वहाँ के एक विशाल मन्दिर को जो १०५ हाथ ऊँचा था और तीन शताब्दियों में बन कर तैयार हुआ था उसे तोड़ डाला, भेलसा से अल्तमश उज्जयिनी की ओर बढ़ा और वहाँ के सुप्रसिद्ध महाकाल के मन्दिर और विक्रमादित्य की विशाल मूर्ति को भी तोड़ डाला।

सन् १२३६ में अल्तमश की मृत्यु हुई। अल्तमश के बाद कुछ महीने उसके लड़के रुकनुद्दीन ने राज्य किया मगर नालायक होने के कारण सरदारों ने उसे मार डाला और उसकी जगह उसकी बहन रजिया सुलताना को गुलाम वंश की गद्दी पर बिठाया। रजिया बड़ी योग्य और बुद्धिमती थी। इतिहासकारों ने भी उसकी प्रशंसा की है। मगर अपने किसी गुलाम के प्रेमपाश में पड़ जाने से उसने भी अपने जीवन से हाथ धोया।

रजिया के पश्चात् उसके भाई बहराम ने और उसके भतीजेने थोड़े-थोड़े समय तक राज्य किया। उसके बाद अल्त-

मश का छोटा लड़का नासिरुद्दीन राजा हुआ। सुलतान नासिरुद्दीन बड़ा नेक और धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसके एक कर्मचारी ने "तबकाते-इ-नासिरी' नामक भारतीय मुसलमानों का पहला इतिहास ग्रंथ फारसी में लिखा।

सन् १२६६ में नासिरुद्दीन की मृत्यु होने पर उसका श्वसुर 'बलबन' के नाम से गद्दी पर बैठा। इसका परिचय "गयासुद्दीन बलबन" के नाम से इस ग्रन्थ के इसी भाग में दिया गया।

'बलबन' के पश्चात् उसका पौत्र कैकुबाद गुलामवंश का अन्तिम सुलतान था। यह बड़ा दुराचारी था। जिसके परिणामस्वरूप सन् १२९० में इसकी हत्या की गई और गुलाम राजवंश का खातमा हो गया।

गुलाल साहिब

भारतवर्षमें बावरी पन्थ की सन्त परम्परा के एक प्रसिद्ध सन्त। जिनका समय अठारहवीं सदी के दूसरे चरण में और मृत्यु सन् १८१७ में हुई।

गुलाल साहिब गाजीपुर जिले के भुरकुडा गाँव में एक जमींदार थे। इनके यहाँ बुलाकी राम नामक एक कुर्मबंशी किसान हल चलाने का काम करता था। बुलाकीराम को एक बार दिल्ली जाने का अवसर आया और वहाँ पर उसे बावरी पन्थ के सन्त यारी साहब के सत्सङ्ग का अवसर मिला। यारी साहब का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वह उनका शिष्य हो गया।

कुछ समय तक इधर उधर भ्रमण करने के बाद वह फिर भुरकुडा आया। मालिक ने फिर उसे हल चलाने को रक्खा, मगर अब उसकी तबियत हल चलाने में नहीं लगती थी और वह अपने आप में खोया-खोया रहता था।

एक दिन किसी चमत्कारपूर्ण घटना को देखकर उसके मालिक उससे बड़े प्रभावित हुए और वे उसी समय अपने उसी हलवाहे के शिष्य बन गये। यही हलवाहा बावरी मत में बूला साहब के नाम से और वह जमींदार गुलाल साहब के नाम से प्रसिद्ध हुए।

गुलाल साहेब बावरी पन्थ के बड़े प्रसिद्ध सन्त हुए। इनकी रचनाओं में भक्ति की भावना और ईश्वर प्रेम के उद्गार, उनके गुरु और दादागुरुसे अधिक मात्रा में देखने को मिलते हैं। इनकी रचनाओं का संग्रह गुलाल साहब की वाणी के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इनके दो अन्य ग्रंथ "ज्ञान-गुष्टि" और "राम सहस्र नाम" भी सुनने में आते हैं। (भारत की सन्त परम्परा)

गुसाईं

गुसाईं गोस्वामी शब्द का अपभ्रंश है। गोस्वामी का अर्थ इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला होता है। यह मत एक सम्प्रदाय, के रूप में चल रहा है। इस सम्प्रदाय में वैष्णव और शैव दोनों मत के लोग होते हैं।

भारत के बहुत से पुण्यक्षेत्रों, तीर्थस्थानों और बड़े शहरों में गुसाइयों के मठ या अखाड़े स्थापित हैं। इन्द्रियों पर जय प्राप्त करने वालों को ही गोस्वामी या गुसईं कहते हैं। पहले इस सम्प्रदाय के साधु जीवन भर अविवाहित रह कर ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, मगर अब इस नियम में शिथिलता आ गई है।

गुसाईंगञ्ज

लखनऊ जिले का एक नगर। जो लखनऊ सुलतानपुर मार्ग पर स्थित है। इसकी स्थापना सन् १७५४ मे हिम्मतगिरि गुसाईं ने की थी।

गुसाईं हिम्मतगिरि १००० घुड़सवारों की राजपूत सेना के नायक थे। इस सेना के खर्च के लिए इन्हें अमेथी परगना जागीर में मिला था। नवाबी काल में यह वंश बड़ा प्रबल था। बक्सर के युद्ध में पराजित होने पर नवाब शुजाउद्दौला ने इनके यहाँ आश्रय मांगा था। मगर इन्होंने आश्रय नहीं दिया। लेकिन जब नवाब और अंग्रेजों मे संधि हो गई तब इन्हें भाग कर हरिद्वार चला जाना पड़ा।

गुसाईंगञ्ज एक साफ सुथरा कस्बा है। कानपुर और लखनऊ तक सीधा मार्ग होने से यहाँ का व्यापार अच्छा है।

गुसाईं आनंद कृष्ण

फारसी भाषा के एक प्रसिद्ध कवि, जिनका जन्म सन् १७५० के आसपास शाहजहाँबाद में हुआ था।

गुसाईं आनन्द कृष्ण ने अंग्रेज विद्वान् डङ्कन के आग्रह से फारसी के ४०००० शेरों में सात काण्ड रामायण का और १२००० शेरों में मत्स्य पुराण का अनुवाद किया था। रामायण का अनुवाद सन् १७९० (विक्रम सम्बत् १८४७) में किया गया था।

गुहिलोत-राजबंश

मेवाड़ का सुप्रसिद्ध राजबंश जो बाद में 'सीसोदिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका शासनकाल ईसा की आठवीं सदी से प्रारम्भ हुआ और भारत की स्वाधीनता मिलने के पूर्व तक बदस्तूर इसी क्षेत्र में जारी रहा।

इस प्रकार करीब तेरह शताब्दियों तक इस राजबंश ने लगातार—एक दो छोटे बड़े अपवादों को छोड़ कर—मेवाड़ पर शासन किया। इतने लम्बे समय तक एक ही क्षेत्र में शासन करने वाले एक ही वंश का उदाहरण सारे संसार के इतिहास में ढूंढे न मिलेगा।

मेवाड़ के इतिहास पर अभी तक दो ग्रंथ विशेष प्रामाणिक रूप से लिखे गये हैं। पहला ग्रन्थ प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने राजस्थान के इतिहास के रूप में लिखा और दूसरा ग्रन्थ इसी विषय पर प्रसिद्ध इतिहासकार गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने लिखा। इन दोनों इतिहासकारों में कई स्थान पर बड़े गहरे मौलिक मतभेद हैं, और कर्नल टॉड के निकाले हुए अनेक तथ्यों को ओझाजी ने कपोलकल्पित और गलत बतलाया है।

भाटों की पोथियां, शिलालेख, प्रशस्तियां तथा प्रचलित किम्वदन्तियों की टूटी फूटी कड़ियों को जोड़ कर उनको इतिहास की एक शृंखला में परिणित करने में अच्छे से अच्छे इतिहासकारों से कई जगह गलतियां हो सकती हैं, कई स्थानों पर ऐसे प्रसङ्ग आते हैं जहाँ मतभेद हो सकते हैं, मगर इन सब बातों के बावजूद किसी इतिहासकार को, एक उपन्यासकार को तरह कपोल कल्पित तो नहीं कहा जा सकता।

कर्नल टॉड ने राजस्थान के इतिहास को तैयार करने में अपना जीवन दे दिया। इस कार्य्य के लिये वे राजस्थान के कोने-कोने में घूमे, वहाँ पर जितनी भी तरह की सामग्री उन्हें प्राप्त हो सकती थी वह इकट्ठी की, और सबके आधार पर उन्होंने इस महान् ग्रन्थ को तैयार किया। उन्होंने जो तथ्य एकत्रित किये उनमें कपोलकल्पना करने में उनका क्या स्वार्थ हो सकता था। हां, तथ्यों के साथ दो इतिहासकारों में मतभेद अवश्य हो सकता है।

ऐसी स्थिति में गुहिलोत राजवंश का परिचय संक्षिप्त में हम इन दोनों इतिहासकारों के आधार पर कर रहे हैं।

गुहिलोत राजबंश की उत्पत्ति सूर्य्यवंश के लव और कुश से मानी जाती है। कर्नल टॉड ने इस वंश की उत्पत्ति लव से मानी है और ओझाजी कुश से मानते हैं।

इसी वंश में आगे चलकर 'गुहिल' नामक एक व्यक्ति हुआ और उसी व्यक्ति के नाम पर यह वंश "गुहिलोत" कहलाया।

'गुहिल' कौन था, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई। इसका वर्णन करते हुए कर्नल टॉड ने भाटों की पोथियों के आधार पर लिखा है कि—

राजा कनकसेन की आठवीं पुश्त में राजा शिलादित्य सौराष्ट्र की बल्लभी नगरी का राजा था। उसीके शासनकाल में सन् ५२४ में म्लेच्छों ने वल्लभीपुर पर आक्रमण करके उसका विध्वंस कर दिया। राजा शिलादित्य लड़ाई में मारा गया। उसके साथ उसकी कई रानियां सती हुई, मगर एक रानी जो चन्द्रावती के परमार राजा की पुत्री थी और उस समय नैहर में थी, सगर्भा होनेके कारण गर्भस्थ बालक की रक्षा के लिए जीवित रहीं, मगर सब कुछ छोड़छाड़ कर तपस्वी जीवन व्यतीत करने के लिए मलिया नामक एक पहाड़ी गुफा में जाकर रहने लगी, वहीं पर उसको एक पुत्र हुआ।

इसीं गुफा के समीप वीर नगर नामक एक वस्ती थी। उसमें कमलावती नामक एक ब्राह्मणी रहती थी। रानीने उस ब्राह्मणी को बुलाकर उसे अपना पुत्र सौंप दिया और स्वयं चिता में जलकर भस्म हो गई।

कमलावती ने अपने पुत्र की तरह ही स्नेह के साथ उसका पालन किया और गुफा में पैदा होने के कारण उसका

नाम 'गुह' रक्खा। इसी गुह के नाम से 'गुहिल' या 'गुहिलोत' वंश चला।

कुछ बड़ा होने पर 'गुह' ने भीलों का सङ्गठन किया और भीलों ने उसे 'ईडर' राज्य का राजा बना दिया। अतएव गुहिलोत वंश की पहली स्थापना 'ईडर' मे हुई।

गुहिल की आठवीं पीढी में नागादित्य हुआ। इसी नागादित्य के पुत्र का नाम 'बप्पा' था। यही 'बप्पा' मेवाड़ के राजवंश का मूल प्रतिष्ठाता था। अपने मामा चित्तोड़ के राजा मानसिंह को गद्दी से उतार कर यह स्वयं चित्तोड़ की गद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठने के बाद उसने 'हिन्दू सूर्य्य, और राजगुरु की उपाधियां धारण की।

रायबहादुर पं० ओझा ने कर्नल टॉड की उपरोक्त सारी बातों को कपोलकल्पित और अनर्गल बताया है उन्होंने अपने प्रमाणोंसे सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि मेवाड़के राजवंश का बल्लभी नगर से कोई सम्बन्ध नही है। 'गुहिल' कहां का रहनेवाला था इसका कोई निश्चित प्रमाण नही है,और 'बप्पा' किसी व्यक्तिका नाम नहीं एक पदवीका नाम है। उनके मतसे शिलादित्य गुहिलका पिता नहीं, बल्कि गुहिलके आगे वाली पुश्तोंमे होने वाला उसका एक,वंशज था। उन्होने कालभोज को ही बप्पा रावल और चित्तोड़ का विजेता माना है।

बाप्पा रावल,के पश्चात् कर्नल टॉडके मतानुसार इस वंश के प्रसिद्ध राजाओ मे अपराजित, कालभोज, खुमान (८१३-८३६) भ्रातृभाट, शक्तिकुमार (९६८) समरसिंह(११९३) राहप्प (१२०१-१२३८) लक्ष्मण सिंह (१२७५ हमीर सिंह, खेत सिंह (१३६५-१३७३) लाखा (१३७३-१३९८) मुकुल (१३९८ १४१९) और उसके बाद महाराणा कुम्भा हुए।

ओझाजी के अनुसार यह वंश इस प्रकार चला। गुहिल (५६८) भोज, महेन्द्र, नाग, शिलादित्य (६४६) अपराजित, महेन्द्र द्वितीय, कालभोज, खुमान, भ्रतृभट्ट, खुमान द्वितीय महायक, खुमान तृतीय, भातृभट्ट द्वितीय (९४२) अल्लट, (९५१) नरवाहन (९७१) शालिवाहन और शक्तिकुमार (९७७) राजा हुए।

ओझाजी ने रावल समरसी का समय १२७४ बतला कर उनको पृथ्वीराज का समकालीन होना गलत साबित किया है जब कि कर्नल टॉड ने रावल समरसिंह को पृथ्वीराज का समकालीन बतला कर उनका मुहम्मद गोरी के साथ युद्ध करते हुए मारा जाना लिखा है।

कर्नल टॉड के मतानुसार बाप्पा रावल और समर सिंह के बीच चार सौ वर्षों में इस वंश में अठारह राजा हुए। मगर उनमे 'खुमान' 'भ्रातृभट' और 'शक्ति कुमार' विशेष प्रसिद्ध थे।

राणा खुमान ने सन् ८१२ से ८३६ ई० तक राज्य किया। इसके समय में 'मुहम्मद' नामक एक मुसलमान आक्रमणकारी ने चित्तोड़ पर आक्रमण किया। इस युद्ध में खुमान ने आक्रमणकारी को परास्त कर दिया। उसकी विजयों और सुशासन के कारण उसका प्रताप उसके जीवनकाल में ही बहुत बढ़ गया था।

राणा खुमान के लड़के मंगल ने मरुभूमि मे जाकर लोद्रवा नामक नगर बसाया और मंगली गोत्र की स्थापना की।

खुमान के बाद भ्रातृभट मेवाड़ की गद्दी पर बैठा और उसने मालवा और गुजरात में तेरह स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की। उस समय से उसके पुत्र 'गाटेरा-गुहिलोत' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

पं० ओझा के मतानुसार सन् ९६७ में भ्रातृभट द्वितीय के समय से गुहिलोत वंश की बड़ी समृद्धि हुई, उसका पुत्र अल्लट और प्रपौत्र शक्तिकुमार बड़े प्रतापी हुए।

इस वंश में आगे चलकर सन् १११६ में विजयकुमार नामक राजा हुआ। जिसने मालवाके राजा उदयादित्य परमार की लड़की से विवाह किया और अपनी लड़की अल्हणदेवी का विवाह कलचुरि राजा 'गयकर्ण' के साथ किगा।

कर्नल टॉड शक्तिकुमारकी चौथी पुश्त में समर सिंह का होना मानते हैं। जिसका जन्म उनके मतानुसार सन् ११४९ ई० मे हुआ और जिसकी शादी पृथ्वीराज चौहान की बहन 'पृथा'के साथ हुई थी। पृथ्वीराज चौहानके साथ शहाबुद्दीनकी दूसरी लड़ाई में वह मारा गया और उसके बाद उसका बड़ा पुत्र राजकुमार कर्णसिंह सन् ११९३ ई० में मेवाड़ की गद्दी पर बैठा।

कर्णसिंह के बाद उसके चाचा सूर्यमल का पौत्र 'राहप्प' सन् १२०१ में चित्तोड़ की गद्दी का अधिकारी हुआ। राहप्प

के शासन-काल मे मेवाड़ राज्य में दो परिवर्तन हुए। पहला परिवर्तन यह हुआ कि मेवाड़ का राजवंश जो अब तक गहलोत-राजवंश के नाम से प्रसिद्ध था, अब सीसोदिया के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि इस वंश के राजाओं की उपाधि, जो अब तक 'रावल' नाम से चली आ रही थी, अब 'राणा' के नाम में परिवर्तित हो गयी।

राहप्प के पश्चात् सन् १२७५ में राणा लक्ष्मण सिंह चित्तौर की गद्दी पर बैठे। इनके चचा भीमसिंह की पत्नी सिंहलद्वीप की कन्या 'पद्मिनी' भारतवर्ष में अभूतपूर्व सुंदरी थी। उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुन कर उसको पाने के लिए 'अलाउद्दीन' ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। एक बार के आक्रमण मे सफलता न मिलने पर उसने दूसरी वार आक्रमण किया। इस दूसरे आक्रमण में 'चित्तौड़' का पतन हो गया और रानी 'पद्मिनी' बहुत सी अन्य क्षत्राणियों के साथ 'जौहर' व्रत करके अग्नि के समर्पित हो गयी।

पण्डित ओझा ने कर्नल टाड की इस परम्परा को गलत बतलाया है। उनके मतानुसार विजय सिंह की तीन पीढ़ी के पश्चात् 'रणसिंग' नामक राजा हुआ। उसके एक पुत्र 'क्षेमसिंह' के वंशज 'रावल' और दूसरे पुत्र 'राहप्प' के वंशज 'राणा' कहलाये। क्षेमसिंह के बाद उसका पुत्र 'सामन्त सिंह' और उसके बाद उसका भाई कुमारसिंह राजा हुआ। कुमारसिंह का 'प्रपौत्र 'जेतसिंह' बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसने गुजरात के चालुक्यों, नाडोल के चौहानों और मालवा के परमारों को युद्ध में पराजित किता। इसका देहान्त सन् १२६० के लगभग हुआ। जेतसिंह का पौत्र रतन सिंह हुआ। डा० ओझा ने इसी रतनसिंह को महारानी पद्मिनी का पति बताया है। और इसी के समय मे चित्तौड़ पर अलाउद्दीन का आक्रमण होना बतलाया है और महारानी पद्मिनी के जौहर व्रत के सम्बन्ध में भी कई शंकाएँ उपस्थित की है।

अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ को विजय करके उ.का प्रबन्ध मालदेव सोनगरा नामक सरदार के हाथ में दे दिया। उधर राणा भीमसिंह का लड़का अजयसिंह चित्तौड़ छोड़ कर केलवाड़ा चला गया। उसने वहाँ से चित्तौड़ का राज्य प्राप्त करने की योजना बनाना प्रारम्भ किया। अजय सिंह के बड़े भाई अरिसिंह का पुत्र 'हम्मीर' छोटा होने पर भी बड़ा तेजस्वी और साहसी था। अजयसिंह ने सुजान सिंह और अजीम सिंह अपने दोनों लड़कों को राजतिलक न करके 'हम्मीर' के मस्तक पर राजतिलक किया। इससे नाराज होकर उसका लड़का सुजान सिंह दक्षिण में चला गया। वहाँ पर उसने एक नये राजवंश की स्थापना की। उसीकी १२ वों पीढ़ी में छत्रपति 'शिवाजी' हुए।

'हम्मीर' को जिस समय राजतिलक किया। उस समम हम्मीर के हाथ में कोई सत्ता नही थी। कर्नल टाड के मतानुसार चित्तौड़ के शासक मालदेव ने धोखे से अपनी विधवा लड़की की शादी हम्मीर से कर दी। उसी लड़की के सहयोग से हम्मीर ने राजा मालदेव को परास्त कर चित्तौड़ की गद्दी फिर से प्राप्त की।

राणा हम्मीर ने अपने पराक्रम से मेवाड़ की बड़ी उन्नति की और थोड़े ही दिनों मे वह भारतवर्ष का बड़ा पराक्रमी राजा बन गया। उसका प्रभाव सारे राजस्थान में छा गया। राणा हम्मीर ने मेवाड़ का पुनर्निर्माण किया।

राणा हम्मीर के पश्चात् सन् १३६५ में उसका पुत्र क्षेत्र सिंह गद्दी पर बैठा। इसके समय में भी चित्तौड़ की अच्छी तरक्की हुई।

राणा क्षेत्र सिंह के पश्चात् राणा लाखा चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा। इसने महम्मद शाह लोदी की सेना को बिदनौर नामक स्थान पर परास्त किया। राणा लाखा के समय मे मेवाड़ के शिल्प की बहुत उन्नति हुई। उसने कितने ही सुन्दर तालाबों को बनवा कर राज्य की शोभा बढ़ाई। उसका बनवाया हुआ ब्रह्माजो का मन्दिर अब भी प्रसिद्ध है।

जिस समय राणा लाखा वृद्धावस्था में था, उस समय मारवाड़ के राजा रणमल्ल ने लाखा के पुत्र युवराज चन्द्र के साथ अपनी लड़की का सम्बन्ध करने के लिए अपना दूत भेजा। उस दूत को राणा लाखा ने मजाक मे कहा कि "मैं नही समझता कि तुम मेरे जैसे सफेद दाढ़ी वाले के लिए इस प्रकार के खेल की सामग्री लाये हो"। इसी समय राजकुमार 'चन्द्र' दरबार में आया। सब बात सुनकर उसने कहा कि यद्यपि मेरे पिता ने मजाक मे इस सम्बन्ध को अपने लिए माना है, फिर भी मेरे लिए यह कैसे सम्भव है कि मैं इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लूँ।

तब राणा ने चन्द्र को बहुत समझाया। मगर उसने एक न मानी। उधर राणा के लिए सगाई के लिए आया

नारियल लौटा देना भी एक नई दुश्मनी को पैदा करना था। अन्त में क्रुद्ध होकर राणा ने राजकुमार को कहा कि तुम्हारे मंजूर न करने पर मैं स्वयं इस विवाह को करूँगा, लेकिन इस बात को याद रखना कि अगर उससे कोई लड़का पैदा हुआ तो वही इस राज्य का उत्तराधिकारी होगा।

राजकुमार चन्द्र ने पिता की इस बात को सहर्ष स्वीकार किया और इस मध्ययुग में भीष्म पितामह के आदर्श को फिर से दोहरा दिया।

मारवाड़ी की रानी से राणा लाखा को 'मुकुल' नामक लड़का पैदा हुआ और यही मुकुल चित्तौड़ की गद्दी का उत्तराधिकारी हुआ।

राणा मुकुल का पुत्र इतिहास प्रसिद्ध राणा कुंभा हुआ। (राणा कुंभा का विस्तृत परिचय हम इस ग्रंथ के तीसरे भाग मे लिख आये हैं।) राणा कुंभा ने अपने सारे जीवन मे कभी पराजय का मुंह नहीं देखा। उसने मालवा और गुजरात के मुसलमान सुल्तानों को कई दफे बार बार पराजयें दी। बूँदी, मांडलगढ़, गागरोन, सारङ्गपुर, रणथम्बोर, अजमेर, नागौर, आबू इत्यादि कई स्थानों पर विजय प्राप्त करके उसने उनपर अधिकार किया। चित्तौड़ के ८४ दुर्गों में से ३२ दुर्ग अकेले आराणा कुम्भा के बनाए हुए हैं। चित्तौड़ का कीर्ति स्तम्भ राणा कुम्भा की अमर कीर्ति का द्योतक है। राणा कुम्भा अनेक शास्त्रों का ज्ञाता महान् विद्वान् और धुरन्धर संगीत शास्त्री था। राणा कुम्भा की हत्या, उसके 'ऊदा' नामक पुत्र ने सन् १४७९ ई० में कर डाली।

राणा कुम्भा के पश्चात् मेवाड़ के राजबंश में राणा संग्राम सिंह या 'सांगा' बहुत प्रतापी हुआ। यह सन् १५०९ ई० मे गद्दी पर बैठा। इसने भी कई लड़ाइयों में भारी विजय प्राप्त की। गुजरात के सुल्तान मुजफ्फर खाँ और दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी के बढ़ाव को इसने रोका। राणा कुम्भा के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के समय में मेवाड़ राज्य ने जो कुछ खोया था, वह राणा संग्राम सिंह के शासन मे फिर से प्राप्त कर लिया। संग्राम सिंह के सिंहासन पर पैर रखते ही मेवाड़ राज्य ने अपनी उन्नति प्रारम्भ की और कुछ समय में वह भारत का चक्रवर्ती राजा समझा जाने लगा। उसने अपनी सेना का संगठन भी बड़ी बुद्धिमानी से किया। मगर फिर भी दैवयोग से बाबर के साथ होने वाले 'खानवा' के युद्ध में उसकी भयङ्कर पराजय हुई और कुछ ही समय पश्चात् सन् १५२८ ई० में उसकी मृत्यु भी हो गयी। जिस स्थान पर उसकी मृत्यु हुई, उस स्थान पर उसके स्मारक में एक मन्दिर बनवाया गया।

राणा साँगा के पश्चात् राणा रत्न सिंह, उसके पश्चात् विक्रमा जीत, उसके पश्चात् रायमल और उसके बाद रायमल के पुत्र पृथ्वीराजका नाजायज पुत्र 'बनबीर' चित्तौड़ की गद्दी पर आया। उस समय राज्य का वास्तविक अधिकारी संग्राम सिंहका छोटा पुत्र उदयसिंह केवल ६ वर्ष था। बनबीर ने यह समझकर कि होशियार होने पर यह राज्य की गद्दी का मालिक होगा—उसने इस रास्ते के कांटे को साफ कर देना चाहा।

उस समय उदय सिंह, खीची राजवंश की पन्ना दाई के संरक्षण में था। पन्ना दाई को कुछ समय पहले ही बनबीर के इस भयङ्कर संकल्प का पता चल गया। सीसोदिया वंश की रक्षा के लिए उसने राजकुमार को एक टोकरे में लिटा कर, एक व्यक्ति के साथ दुर्ग के बाहर भेज दिया और उसकी जगह पर अपने लड़के को सुला दिया। थोड़ी देर के पश्चात् बनबीर हाथ में नङ्गी तलवार लेकर महल मे आया और उसने अपनी तलवार से उदय सिंह की जगह सोये हुए उस बच्चे को काट डाला। पन्नादाई के समान स्वार्थ त्याग के उदाहरण भारतवर्ष के इतिहास को छोड़ कर और कहाँ मिल सकते हैं।

उसके बाद पन्नादाई ने उदय सिंह को कमलबीर के दुर्ग में पहुँचा दिया। वहाँ से लाकर मेवाड़ के सरदारों ने सन् १५४१ ई० में उदयसिंह को चित्तौड़ की गद्दी पर बैठाया। बनबीर वहाँ से भाग कर दक्षिण में चला गया। जहाँ उसने भोंसले बंश की स्थापना थी।

राणा उदय सिंह ने चित्तौड़ को अरक्षित देख कर पहाड़ो के बीच में 'उदयपुर' नामक नये नगर की स्थापना की और उदय सागर नामक एक तालाब का भी निर्माण करवाया।

उदय सिंह के समय में सम्राट् अकबर ने सन् १५६७ ई० में चित्तौड़ पर आक्रमण किया और इस युद्ध में मेवाड़ का फिर से पतन हुआ। और उदय सिंह को भाग कर 'गोगुंडा' नामक स्थान पर जाना पड़ा। वहीं उनकी मृत्यु हुई।

उदय सिंह के पश्चात् इतिहास में सुप्रसिद्ध महाराणा प्रताप मेवाड़ की गद्दी पर आये। उनकी अनुपम वीरता, महान आत्मबलिदान और देश की स्वतन्त्रता के लिए झेली हुई महान् आपदाएँ आज भी न केवल मेवाड़ में, बल्कि समस्त भारत के घर-घर में उनके महान् गौरव का शंखनाद कर रही हैं। उनके द्वारा किया हुआ 'हल्दी घाटी' का महा भयङ्कर युद्ध यूनान की 'थर्मापोली' की याद दिलाता है। (उनका पूरा परिचय महाराणा प्रताप के नाम पर इस ग्रंथ के अगले भागों में पढ़ें।)

सन् १५८६ ई० में महाराणा प्रताप ने मांडलगढ़ और चित्तौड़ को छोड़ कर समस्त मेवाड़ पर फिर से अधिकार कर लिया। सन् १५९७ ई० मे उनकी मृत्यु हो गयी।

राणा प्रताप के पश्चात् किसी रूप में मेवाड़ को दिल्ली की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, मगर मुगल वादशाहों ने भी उनकी वीरता, साहस और आत्मत्याग को देखकर उनके गौरव को अक्षुण्ण रखा।

औरङ्गजेब के समय में राणा राजसिंह ने फिर एक बार सीसोदिया-कुल की जागती हुई ज्योति के दर्शन करवा दिए। उस समय रूपनगर नामक स्थान के सामन्त की लड़की प्रभावती अपने रूप और सौन्दर्य के लिए बड़ी प्रसिद्ध हो रही थी। बादशाह औरङ्गजेब उसको अपने हरम में दाखिल करना चाहता था। उसने २००० सैनिकों के साथ एक सेनापति को रूपनगर के सामन्त के पास यह सन्देश देकर भेजा। यह बात जब प्रभावती को मालूम हुई तो उस बीर राठौर कन्या ने राजसिंह के पास एक भावभरा पत्र अपने पुरोहित के साथ भेजा।

राजसिंह को जब यह पत्र मिला तो वह उस राठौर-कन्या की रक्षा के लिए एक छोटी सी सेना लेकर रूपनगर चल पड़ा और मुगल सेना को पराजित कर दिया। उसके बाद रूपनगर के सामन्त ने प्रभावती की सगाई का नारियल राजसिंह के पास भेज दिया। राजसिंह ने उसे स्वीकार कर लिया।

तब औरङ्गजेब ने अपनी एक विशाल सेना रूपनगर पर भेजी। मगर रास्ते ही में राजसिंह के चूड़ावत-सरदार ने बादशाही सेना को रोक दिया। तीन दिन तक वह बादशाह को फौज को रोके रहा। तब तक राजसिंह का विवाह प्रभावती से होचुका था। वहाँ से विवाह कर राजसिंह रूपनगर से लौट आये। मगर तीन दिन की भयङ्कर लड़ाई में चूड़ावत सरदार मर चुका था।

इसके बाद राजसिंह के साथ बादशाह की फौज का 'देवारी' के मैदान में बड़ा भारी संग्राम हुआ। इस युद्ध में भी औरङ्गजेव की भारी पराजय हुई।

राणा राजसिंह अत्यन्त युद्ध-कुशल होने के साथ-साथ बड़े राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने भारतवर्ष से मुसलमानी-साम्राज्य को हटा कर फिर से 'हिन्दू-साम्राज्य' स्थापित करने के लिए शिवाजी को एक अत्यन्त भावपूर्ण पत्र लिखा था। उन्होंने शिवाजी और बुन्देला राजा छत्रसाल के साथ मिलकर इस योजना को सफल करना चाहा। मगर उसके कुछ ही समय पश्चात् राणा राजसिंह और शिवाजी—दोनों की ही सन् १६८१ और १६८० ई० में मृत्यु हो गयी।

फिर भी इन लोगों की टक्कर से मुगल-साम्राज्य को जो भयङ्कर आघात लगा, उससे वह न सम्हल सका और उसका वैभव-सूर्य्य अस्ताचलगामी हो गया।

राणा राजसिंह ने राज्य के वैभव के लिए बहुत से काम किए। एक पहाड़ी नदी की धारा को रोक कर उसने १२ मील के घेरे में 'राजसमन्द' नामक विशाल सरोवर का विशुद्ध संगमरमर से निर्माण करवाया। उस झील के दक्षिण बाजू पर उसने 'राजनगर' नामक एक नगर बसाया और सङ्गमरमर के एक विशाल मन्दिर का भी निर्माण करवाया।

गुहिलोत-राजवंश के अन्य राज्य

कर्नल टाड ने गुहिलोत-राजवंश की २४ शाखाओं का वर्णन किया है। इन शाखाओं में अहाड़िया डूंगरपुर में, मांगलिया मरूभूमि में, सीसोदिया मेवाड़ में, पीपाड़ा मारवाड़ में ये शाखाएँ प्रसिद्ध थीं। इनके अतिरिक्त बाँसवाड़ा और प्रतापगढ़ के राज्य भी इसी वंश के हैं। काठियावाड़ में भावनगर के महाराजा, पालीताना के ठाकुर और मध्यप्रदेश में बड़वानी के महाराजा भी इसी वंश के थे शिवाजी का राजवंश भी इसी वंश के द्वारा स्थापित किया गया था।

नैपाल का राजवंश भी मेवाड़ के राजवंश की ही एक शाखा है। रावल समरसिंह के छोटे भाई कुम्भकर्ण ने हिमा-

लय पहाड़ में जाकर १३वीं शताब्दी में अपने इस राज्य की स्थापना की थी। कुंभकर्ण की ३४वीं पीढ़ी मे नैपाल के सुप्रसिद्ध महाराजा पृथ्वीनारायण सिंह हुए थे।

गुहिलोतोंके इतिहास पर टिप्पणी करते हुए 'टाड' लिखते हैं—'पृथ्वी पर ऐसी कौन सी जाति है, जो शौर्य, धैर्य, पराक्रम और जीवन के ऊँचे सिद्धान्तों में मेवाड़ के राजवंश की बराबरी कर सके। सैकड़ों वर्षों तक विदेशी आक्रमणकारियों के अत्याचारों को सहकर और भीषण सर्वनाश को पाकर भी इस राजपूत जाति ने अपने पूर्वजों की प्राचीन सभ्यता को सुरक्षित रखा है—उसकी समता विश्व की कोई भी जाति नहीं कर सकती। अपने सम्मान और गौरव की रक्षा करने के लिए प्राणों का उत्सर्ग करना उसके लिए साधारण स्वभाव की बात होती थी। युद्ध में पराजित होकर भागने की अपेक्षा मृत्यु का सामना करने में वे अपने जीवन का महत्व समझते हैं। उनकी समता वे जातियां नहीं कर सकतीं, जो अवसरवादी होने का लाभ उठाती हैं। राजपूत किसी प्रकार अवसरवादी नहीं कहे जा सकते—इसका प्रमाण उनका हजारों वर्षो का इतिहास है।

ग्रुण्टवग

डेनमार्क का एक सुप्रसिद्ध कवि और साहित्यकार। जिसका जन्म सन् १७८३ में और मृत्यु सन् १८७३ में हुई।

ग्रुण्टवग ने डेनमार्क के इतिहास और साहित्य में एक नवीन युगान्तर कर दिया। इसकी गणना डेनमार्क के महान् लेखकों में होती है। इतिहास के क्षेत्र में उसने नवीन आलोचनाओं के साथ कई ग्रन्थ प्रकाशित किये। इतिहास के इस नवीन अध्ययन की, प्रचलित परिपाटी के लोगों ने कठोर आलोचनाएं की थी। मगर ग्रुण्टवग इन आलोचनाओं से प्रभावित नहीं हुआ। डेनमार्क के तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक इत्यादि सभी क्षेत्रो में उसका प्रभाव और उसकी धाक मानी जाती थी। वह सर्वतोमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था।

ग्रीक-बैक्ट्रियन साम्राज्य

महान् यूनानी विजेता सिकन्दर से द्वारा मध्य एशिया मे स्थापित किया हुआ एक विशाल साम्राज्य। जो ई० पू० ३३० से लेकर ई० पू० १३० तक अर्थात् दो सौ वर्ष चला।

सिकन्दरने अपनी महान् विजयोंके द्वारा जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी उसकी मृत्यु के पश्चात् उस साम्राज्यके लिए उसके सेनापतियों में ४२ वर्ष व्यापी संघर्ष छिड़ गया।

सिकन्दर ने अपने सेनापति सेल्यूकस को सीरिया, बाबुल और पूर्वी देशों का शासक बनाया था इसके बाद एण्टीओक की सहायतासे सेल्यूकसने सूसियाना भी अपने राज्यमें मिलाया और उसके बाद ई० पू० ३०६ में उसने बैक्ट्रिया और सोग्द को फिर से जीत कर 'वसीलेउस्' अर्थात् राजा की उपाधि धारण की। उसके बाद उसने भारतको फिरसे जीतने के लिए भारत पर आक्रमण किया, मगर उसे चन्द्रगुप्त मौर्य्य से हार कर, उसे अपनी लड़की देकर वापस जाना पड़ा। ई० पू० २८० में सेल्यूकस अपने एक अफसर के हाथ से मारा गया। सेल्यूकस के पश्चात् एण्टिओक प्रथम (ई० पू० २८१-२६२) और एण्टिओक द्वितीय (ई० पू० २६२ से २४७) उसके उत्तराधिकारी हुए'।

दिवोदात प्रथम—एण्टिओक द्वितीय के शासनकाल में बैक्ट्रिया सहस्र नगरी का राज्यपाल 'दिवोदात' (प्रथम) था, इसका विवाह एण्टिओक द्वितीय की पुत्री से हुआ था। इसने केन्द्र की शक्ति को कमजोर होते देख कर अपने आप को स्वतन्त्र राजा 'वसीलेउस्' घोषित कर दिया। इसका समय ई० पू० २४५ से ई० पू० २३० तक रहा।

जिस समय यह नया ग्रीक-बैक्ट्रियन साम्राज्य स्थापित हो रहा था, ठीक उसी समय शकों की एक शाखा ईरान की पार्थिया नामक नगरी पर अधिकार करके पार्थियन नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका पहला शासक मिथ्रदात नामक व्यक्ति था। इसी शाखा ने आगे चलकर सेल्यूकीय वंश को खतम कर इरान पर लगभग ४०० वर्षों तक शासन किया था।

दिवोदात द्वितीय—दिवोदात प्रथम के पश्चात् 'दिवोदाह द्वितीय' ग्रीक बैक्ट्रियन साम्राज्य का शासक बना। इनका समय ई० पू० २३० से ई० पू० २२/. तक रहा। इसके पश्चात् इसके बहनोई 'एउथुदिम' ने इसको मार डाला और स्वयं बैक्ट्रिया का राजा बन बैठा। एउथुदिम का समय ई० पू० २२५ से ई० पू० १८९ तक रहा।

एउथुदिम—एउथुदिम और उसके पुत्र दिमित्रि द्वितीय को समय ग्रीक बैक्ट्रियन राजवंश के महान् वैभव का समय रहा। उस समय इस साम्राज्य में बैक्ट्रिया, सोग्दियाना, मर्गि-

याना, फर्गाना, ड्रंगियाना, अरखोसिया और परोपनिसदै के प्रदेश और भारतवर्ष का भी कुछ भाग सम्मिलित था। ये प्रदेश इस समय ताजिकिस्तान, उजबेकिस्तान, कजाकिस्तान, सीस्तान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान और भारत में है।

एउथिदिम का बैक्ट्रिया (वान्हीक) आज की तरह मरु-भूमि से आक्रान्त नहीं था। अपनी उर्वरता के कारण वह 'पोलितिमेतस' (बहुमूल्य) कहलाता था। अपनी हजारी नहरोंके कारण वह सहस्रभुज और हजारों नगरों के कारण सहस्र नगर कहलाता था। इस राज्य में बदख्शां के अन्दर पद्मराग-मणि की तथा ताम्बे की खानें, खुरासान में फिरोजाकी खानें और यमगान में वैडूर्य्य के समान मूल्यबान खानें थीं। चीन से पश्चिम की ओर जाने वाला रेशम पथ भी इसी राज्य में से होकर गुजरता था। इससे एउथुदिम का यह साम्राज्य अत्यन्त सम्पत्तिशाली हो गया था।

एउथुदिम ने अल्ताई पर्वत की सोने की खदानों को प्राप्त करने के लिए शक लोगों पर भी आक्रमण किया था, मगर उसमें उसे सफलता नहीं मिली। एउथुदिमकी मुद्राएं तेत्रादाख्म चाँदी की होती थी। लसके समय में इन मुद्राओं का जैसा सुन्दर रूप था वह उसके बाद की मुद्राओं में नहीं दिखलाई पड़ता।

दिमित्रि—ई० पूर्व १८६ में एउथुदिम एक लड़ाई में मारा गया। उसके बाद उसका पुत्र 'दिमित्रि' यीक बैक्ट्रिया साम्राज्य का स्वामी हुआ। इसके अन्तिमाख्रू और अपोलोदोत नामक दो भाई और थे।

दिमित्रि द्वितीय के शासनकाल में उसकी भारत'विजय सबसे महत्वपूर्ण घटना है। ई० पूर्व १८३-१८२ में एक विशाल सेना के साथ उसने हिन्दूकुश पर्वत को पार किया। दिमित्रि के साथ उसका दूसरा पुत्र दिमित्रि द्वितीय, उसका छोटा भाई अपोलोदोत और उसका सेनापति मिनाण्डर थे। उस समय भारतवर्ष में पुष्यमित्र का शुंग बंश राज्य कर रहा था। दिमित्रि सिकन्दर वाले मार्ग से भारत की ओर बढ़ा।

उसने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया। एक सेना मिनाण्डर के सेनापतित्व में गांधार से सियालकोट पर विजय प्राप्त करते हुए मथुरा पहुंची। वहाँ से पाँचाल को जीत कर वह साकेत या अयोध्या पहुँची। दूसरी सेना अपो-लोदोत के नेतृत्व में सिन्ध के डेल्टा से होकर सौराष्ट्र को विजय करके भृगु कच्छ (भड़ौच) में अपनी राजधानी बनाकर चित्तौड़ के पास माध्यमिका नगरी को जा घेरा। शायद उसने उज्जैन को भी ले लिया। इस प्रकार दिमित्री के दोनों सेना-पतियों ने भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया। मिनाण्डर गांधार से पाटलिपुत्र तक जा पहुँचा और अपोलोदोत सारे सिन्ध, सौराष्ट्र और चित्तौड़ तथा उज्जैन तक पहुँच गया।

दिमित्रि तक्षशिला में बैठा हुआ दोनों सेनाओं की गति-विधि देख रहा था। देखते-देखते दक्षिणी कश्मीर, पञ्जाव, उत्तर प्रदेश, बिहार, मालवा, राजस्थान, उत्तरी गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, और सिन्ध उसके अधिकार मे आ गये थे। मध्य एशिया और मगध के बीच में होने से 'तक्षशिला' को उसने अपनी राजधानी बनाया। इसने भारत के पुराने चौकोर सिक्कों की नकल पर अपना सिक्का चलाया। यही पहला ग्रीकराजा था जिसने अपने सिक्के का पूर्णरूप से भारतीयकरण किया। अपने सिक्के परसे उसने ग्रीक लिपि और भाषा को बिलकुल हटाकर ब्राह्मी लिपि और पाली भाषा का प्रयोग किया। इसके तेत्राद्राख्म चांदी के सिक्कों में एक ओर गजमुख मुकुट धारण किये दिमित्रि का आधा चित्र है और दूसरी ओर हाथ में दण्ड और सिंहचर्म लिये हेरकल खड़ा है। मूर्ति की दाहिनी ओर 'वसिलेउस' और पैरों के पास 'दिमित्रिओस' अङ्कित है।

इतनी भारी विजय प्राप्त करने के बाद भी दिमित्रि को अपने मूलस्थान बैक्ट्रिया पर आक्रमण की सूचना मिलने पर भाग कर यहाँ से जाना पड़ा।

बात यह थी सेल्यूक बंशी राजा अभी भी बैक्ट्रिया को अपना एक सामन्ती राज्य समझते थे जब कि बैक्ट्रिया अपने आप को स्वतन्त्र राज्य घोषित कर चुका था। इसलिये सेल्यू-कीय राजा एण्टीओक चतुर्थ ने अपने सेनापति 'एउक्रातिद' को दिमित्रि को परास्त करने का भार सौंपा। जिसके फल-स्वरूप ई० पू० १६७ तक एउक्रातिद ने हिन्दूकुश के पश्चिमी प्रदेश, सीस्तान, बलूचिस्तान, (अरखोसिया) हिरात, बैक्ट्रिया को जीत लिया। यह खबर पाते ही दिमित्रि तक्षशिला से चला। उसने मिनाण्डर को भी ऐसा करने का आदेश दिया। मगर मिनाण्डर ने इस आदेश को नहीं माना। दिमित्रि

हिन्दूकुश के पास ही एऊक्रतिद से लड़ता हुआ (ई० पूर्व १६७) मारा गया।

एऊक्रदित—ई० पू० १६७ में एऊक्रतिद का कोई प्रतिद्वन्दी नहीं रहा। सेल्यूक राजा उसका कुछ विगाड़ नही सकते थे। अतः निर्भीक हो उसने 'वसीलेउस् मेगलीस' (महा-राजाधिराज) की पदवी ग्रहण की। उसके बाद ई० पू० १६४ में उसने भारत के ऊपर अभियान किया। वह हिन्दू-कुश पारकर कपिशा पहुँचा। वहां दिमित्रि के पुत्र अगथोकल ने उसका मुकाविला किया मगर लड़ाई मे अगथोकल मारा गया। उसके वाद उसने गान्धार जीता। गान्धार की लड़ाई में दिमित्रि का भाई अपोलोदोत मारा गया। मगर मिनाण्डर ने उसकी गति को एक दम रोक दिया।

इसी समय पार्थियन राजा 'मिथ्रदोत' ने मीडिया पर आक्रमण करके उसे अपने साम्राज्य में मिला लिना। यह सुन कर 'एऊक्रतिद' को उधर भागना पड़ा। ई० पू० १५९ मे "एऊक्रतिद" पार्थियन राजा से लड़ते हुए लड़ाई में मारा गया।

एऊक्रतिद का पुत्र हेलियोकल ई० पू० १५९ में अपने पिता की गद्दी पर वैठा। इस समय तक सीस्तान, अरखो-सिया और गैवरोसिया पार्थियन साम्राज्य मे जा चुके थे। हेलियोकल ही ग्रीक वैक्ट्रियन साम्राज्य का अन्तिम राजा था। इसने अपने साम्राज्य की रक्षा और विस्तार का बहुत प्रयत्न किया। मगर पार्थियन वंश का यह मुकाविला नही कर सका और इसका साम्राज्य पार्थियन साम्राज्य में बिलीन हो गया।

मिनाण्डर—इसके वाद ग्रीक वैक्ट्रियनों की वही शाखा कायम रही जो मिनाण्डर के अधीन भारतवर्ष में राज्य कर रही थी। उस समय मिनाण्डर की राजधानी सियालकोट में थी। मगर मथुरा और भरौंच में भी इसके राज्यपाल रहते थे। गान्धार, सिन्ध और गुजरात में भी उसका शासन था मिनाण्डर का शासन ई० पू० १६६ से ई० पू० १४५ तक रहा। मिनाण्डर की मृत्यु के पश्चात् स्त्रात प्रथम और स्त्रात द्वितीय इस बंश के राजा सुए।

गू-दू-लु (इलतेरस)

मध्य-एशिया के पूर्वी तूर्क कवीले का खाकान। जिसका समय सन् ६८२ से ६९३ तक रहा।

गू-द-लू का असली नाम 'इलतेरस' था। यह खाकानों के अशेना बंश का राजकुमार था। जिस समय यह खाकान वना उस समय तुर्क जातियों में वड़ा असन्तोष छाया हुआ था। एक ओर चीन की ज्यादतियों के कारण तुर्कों में चीन के प्रति असन्तोष छाया हुआ था दूसरी ओर तोबा वंश के खाकानों के प्रति भी लोगों का विश्वास खतम हो चुका था। इस असन्तोष का इलतेरस ने फायदा उठाया। वह तुर्कों के गरम दल का नेता वन गया और बहुत सी रिश्वतें देकर कई तुर्क कवीलों को अपनी तरफ मिलाने मे वह सफल हो गया। आस पास से वहुत सी लूटमार करके उसने सम्पत्ति वटोरी, और जल्दी ही अपने को खाकान घोषित करके गू-दू-लू की उपाधि ग्रहण की और अपने एक भाई को शाह और दूसरे को जेव्-गू की उपाधि देकर उप-खाकान वना दिया।

चीन की साम्राज्ञी 'वू' ने उसकी हरकतों को देखकर १३००० सेना उसके विरुद्ध भेजी। मगर गू-दू-लूने उस सेनाको नष्ट कर दिया। इसने अपने समय में पू० तूर्क कवीले का बड़ा विस्तार किया। सन् ६९३ मे वह एक लड़ाई में लड़ हुए मारा गया।

गेइजर (Geijer)

स्वीडेन का एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार, जिसका समय अठारहवी सदी के अन्त में था।

गेइजर स्वीडन का एक महान् साहित्यकार था। उसने प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित कई मधुर कविताओं की रचना की। गेइजर को अपने एक बीर काव्य पर सन् १८०३ में स्वीडन एकेडेमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ था। यह उपसाला यूनिवर्सिटी में इतिहास का प्रोफेसर था।

गेओन-सादिया (Saadia Gaon)

इब्रानी या हिब्रू भाषा का एक महान् कवि और साहि-त्यकार। जिसका जन्म सन् ८९२ में और मृत्यु सन् ९४२ में हुई।

नवीं सदी के अन्तर्गत यहूदी साहित्य पर अरबी और स्पेनी साहित्य का काफी प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया था। अरबों की राजसत्ता हो जाने के कारण यहूदी लोग भी वैज्ञानिक ग्रन्थों का निर्माण अरबी भाषा में ही करने लगे थे। और इस कारण इब्रानी साहित्य मे नौवीं सदी से ग्यारहवी सदी तक का काल अरब-स्पेनी युग ही कहा जाता है।

इब्रानी साहित्य में इस युग को प्रारम्भ करने वालों में सबसे पहला और प्रभावशाली नाम 'गेग्रोन-सादिया' का आता है। सिर्फ पचास वर्ष के अल्प जीवन में इस अकेले व्यक्ति ने इब्रानी साहित्य के विकास में जो योगदान दिया वह कई सदियों तक कोई न दे सका।

गेग्रोन सादिया की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। केवल इक्कीस वर्ष की आयु में उसने इब्रानी भाषा का एक कोप तैयार किया। उसने 'सिड्डूर' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ मे साल भर की प्रार्थनाओं के लिए कविताओं का संग्रह किया। इसकी कविताएँ यहूदियों में बहुत लोकप्रिय हुईं। उसने बाइबिल का अरबी भाष्य के साथ अनुवाद किया। 'सेफेर योजिरो' नामक ग्रंथ पर उसने अरबी टीका का निर्माण किया।

गेग्रोन सादिया की सबसे अधिक कीर्त्ति उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ एमुनोथ-वे-डेग्रोथ नामक दार्शनिक ग्रन्थ से हुई। यह ग्रंथ विश्वास और सिद्धान्त के निरूपण पर लिखा गया है। इस महान् लेखक ने यहूदियों के ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्तों और कथानकों को बड़े सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत किया। इसने अपने प्रयत्नों से बेबीलोनिया मे कई ज्ञानपीठों की स्थापना की थी जो इसकी मृत्यु के बाद बन्द कर दिये गये।

गेंजी मोनोगातारी

प्राचीन जापानी साहित्य का एक प्रसिद्ध उपन्यास। जिसे प्राचीन जापान की प्रसिद्ध लेखिका 'मुरासाकी शिमिबू' ने ग्यारहवीं सदी में लिखा।

यह रचना जापानी भाषाका सबसे पहला उपन्यास माना जाता है। जिसको बहुतसे समालोचक आजभी जापानी साहित्य की अनुपम कलाकृति मानते हैं। कुछ लोग इसे विश्व-साहित्य का सबसे पहला मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से लिखा हुआ उपन्यास मानते हैं। इस उपन्यास में जापानी इतिहास के हेनियन युग (७९४-११९२) का दरबारी चित्र हृदयग्राही और प्रवाहयुक्त भाषा मे खींचा गया है। उस जमाने में जापान के अन्तर्गत प्रचलित यौन सम्बन्धी स्वतन्त्रता का दिग्दर्शन भी इस उपन्यास में स्पष्ट रूप से अंकित किया गया है। इसकी भाषा अलङ्कारों से जकड़ी हुई होने पर भी सरल और स्पष्ट है। इस रचना का प्रभाव भविष्य के लेखकों पर बहुत पड़ा।

इस उपन्यास में राजकुमार गेंजी उसके पुत्र और पौत्र का चरित्र चित्रण किया गया है।

गेटे

(Johann Wolegang Goethe)

जर्मन साहित्य का विश्व-प्रसिद्ध महाकवि, नाटककार और उपन्यासकार। जिसका जन्म सन् १७४९ में और मृत्यु सन् १८३२ मे हुई।

संस्कृत साहित्य में जो स्थान कालिदास का, अंग्रेजी साहित्य में जो स्थान शेक्सपियर का और ग्रीक साहित्य में जो स्थान महाकवि होमर का हैं, वही स्थान जर्मन साहित्य में महाकवि गेटे का है।

संसार में अधिकांश कलाकार ऐसे होते है जो कला के शास्त्र और अनुशासन मे बंधे रह कर ही सफलता प्राप्त करते हैं। मगर कुछ महान् और विशिष्ट कलाकार ऐसे होते हैं जो नियमों और अनुशासन को स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत नियम और अनुशासन ही उनका अनुकरण करते हैं। छन्द शास्त्र, अलंकार शास्त्र इत्यादि सब शास्त्रों के बन्धन से मुक्त उनकी स्वर-लहरी जब मुक्त आकाश मे लहराने लगती है। तो सारा संसार मुग्ध-दृष्टि से उसके आनन्द को प्राप्त कर निहाल हो जाता है।

महाकवि गेटे ऐसे ही महान् कलाकारों में से एक था। उसका जन्म सन् १७४९ मे हुआ। गेटे के साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण होने के पूर्व, जर्मन साहित्य का आकाश महा कवि हर्डर की प्रतिभा से छाया हुआ था। हर्डर से प्रभावित होकर गेटे ने उससे लाइजिक में भेंट की। हर्डर के ही अनुकरण में उसने भी अपनी कविता में "तूफान और आग्रह" का नारा लगाया। तमाम शास्त्रीय बन्धनों को तोड़ मरोड़ कर गंगा की मुक्त धारा की तरह उसकी कविताओं का मधुर

प्रवाह कलकल नाद करता हुआ जर्मन साहित्य में वह निकला। जर्मन जनता मुग्ध दृष्टि से इस महान् कवि की मुक्त काव्यधारा में गोते लगा कर आनन्द विभोर होने लगी।

उस युग में जर्मनी में कार्लड्यूक कला और साहित्य का अत्यन्त प्रेमी, समर्थक और पुजारी था। राजा भोज की धारा नगरी की तरह अथवा विक्रमादित्य की उज्जयिनी की तरह उसने अपने नगर 'वाइमर' को साहित्य और कला का एक प्रधान केन्द्र बना दिया था। उस समय 'वाइमर' नगर जर्मनी का एथेन्स या सिकन्दरिया बना हुआ था। जर्मनी के तमाम प्रसिद्ध साहित्यकार और कलाकार कार्लआगस्ट के संरक्षण में वहाँ पर अपनी प्रतिभा का विकास करते थे।

सन् १७७५ में, गेटे भी कार्लआगस्ट के वाइमर में पहुँच गया। इस समय तक उसकी लोकगीतों की परम्परा में लिखी हुई रचना 'हाइडेल-रोस्लाइन' उपन्यासों में 'डी लाइडेन डैस जुर्गेन वर्डर्स' नाटकों में 'गोन्स फॉन वार्लिखीमेन तथा प्रोमेथियस नामक महान् रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थी और इन रचनाओं ने उसे जर्मन साहित्य का सम्राट् बना दिया था। उसकी ख्याति इन रचनाओं से जर्मनी की सीमा को लांघ कर विश्व-साहित्य के क्षेत्रमे पहुँचने लग गई थी। उसकी रचना 'हाइडेल-रोस्लाइन' के मधुर गीत प्रत्येक जर्मन की जबान पर छा गये थे।

सन् १७८७ में उसके 'एग्माण्ट' और 'टारिस इफेजेनी' नामक दो काव्य पूरक नाटक प्रकाशित हुए।

मगर गेटे की कीत्ति को विश्व-साहित्य के अन्तर्गत अमरता की मञ्जिल पर पहुँचाने वाला उसका प्रसिद्ध नाटक 'फास्ट' था।

यह नाटक सोलहवीं सदी मे होने वाले एक रसायनशास्त्री और जादूगर 'फास्ट' की जीवनी पर लिखा गया था। फास्ट एक ऐसा व्यक्ति था जो समाज व्यवस्था और विधान का विरोधी था और अपराध तथा पाप करने से बिलकुल नही डरता था। उसका सारा जीवन भयंकर संघर्षो से परिपूर्ण था। इस नाटक की रचना 'गेटे' ने युवावस्था में ही प्रारम्भ कर दी थी। मगर बहुत समय तक यह अधूरा पड़ा रहा और अन्त मे जाकर सन् १७९७ में यह पूर्ण हुआ। तब तक गेटे की लेखनी भी युवावस्था के अन्धड़ से निकल कर प्रौढ़ावस्था के शान्त क्षितिज पर पहुँच चुकी थी और उसका प्रधान नायक फास्ट एक उद्दण्ड पापी और अनाचारी से बदल कर एक जन साधारण के कल्याण में मन लगाने वाला श्रद्धालु सन्तोषी फास्ट बन चुका था। इस नाटक को पूर्ण करने के पूर्व महाकवि कालिदास की शकुन्तला भी उसके पढ़ने में आ गई थी जिसे पढ़ते-पढ़ते वह नाच उठता था। कहना न होगा कि उसके इस प्रसिद्ध नाटक 'फास्ट' पर अभिज्ञान शाकुन्तल का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा जिसे स्वयं उसने स्वीकार किया है।

'फास्ट' की ही तरह उपन्यास के क्षेत्र में गेटे के 'विलियम मेइस्टर' नामक उपन्यास को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। यह उपन्यास सन् १८२९ में प्रकाशित हुआ।

महाकवि गेटे कालिदास की शकुन्तला से बहुत प्रभावित हुआ था। उसको पढ़ते-पढ़ते वह मुग्ध हो गया था और कहा था—

Wouldst thov see Spring's Blossom and the fruits of its Declinc
Wouldst thow see by what the Souls entraptured feasted fed
Wouldst thow have this earth and heaven in cne Soul name combine
I name thec Shakuntala and all at oncc is said.

इस प्रकार जर्मन साहित्य का यह महान् कवि पूरे पचास वर्ष तक जर्मन साहित्य को नेतृत्व, प्रेरणा, और जीवन देता रहा। सन् १७७५ से लेकर सन् १८३० तक का युग जर्मन साहित्य में 'गेटे-युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

गेरसप्पा (जलप्रपात)

यह प्रपात मैसूर और महाराष्ट्र राज्यों की सीमा पर 'शिवमोगा' नगर से ६२ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ पर चार जल-प्रपात है जो शिरावती नामक नदी के ऊपर से गिरने से बनते हैं :

पहला राजा नामक प्रपात ८२९ फुट की ऊँचाई से १३२ फुट गहरे कुंड में गिरता है। इसी प्रकार तीन और प्रपात भी जगह-जगह से गिरते हैं। समस्त भारत में ऐसा

दूसरा कोई भी झरना नहीं जो ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई और सुघड़ाई में इसका मुकाबला कर सके।

इस झरनेसे कोई १८ मील दूर 'गेरसप्पा'नामक ताल्लुके में जैनों की राजधानी के ध्वंसवशेष मिलते हैं। ऐसी किम्बदन्ती है कि किसी समय इस नगर में एक लाख घर और चौरासी मन्दिर थे। एक जैन-मन्दिर में अब भी चार द्वार लगे हुए हैं। और चार मूर्तियाँ रखी हुई हैं। वर्धमान के मन्दिर में २४ वें जैन-तीर्थंकर भगवान् महावीर की एक काले रङ्ग की मूर्ति स्थापित है। और ४-५ टूटे-फूटे मन्दिरों में कुछ मूर्तियाँ और शिला-लिपियाँ रखी हुई हैं। इटली के एक पादरी ने लिखा है कि—"सन् १६२३ ई० में गेरसप्पा एक प्रसिद्ध राजधानी था।"

गेबर

ईरान के एक सुप्रसिद्ध कीमियागर और रसायन-शास्त्री। जिनका जन्म सन् ७६१ ई० में और मृत्यु सन् ८१३ ई० में हुई।

'गेबर' का असली नाम अबू-मूसा-जाबिर-इब्न्न हयन था। मध्यकाल के वे एक प्रसिद्ध रसायन-शास्त्री और किमीयागिर थे। ये प्रसिद्ध खलीफा हारूँ-अल-रसीद के समकालीन थे। इनके कई ग्रंथों का लेटिन और अन्य यूरोपीय भाषा में अनुवाद किया जा चुका है। ईसा की १५वीं शताब्दी तक विज्ञान के क्षेत्र में ये सर्वोपरि विद्वान् माने जाते थे।

११वीं सदी मे जब एक मकान की नींव खोदी जा रही थी, उस खुदाई मे गेबर की सारी प्रयोग-शाला मिली। इस प्रयोग-शाला में उनकी लिखी हुई पुस्तकों की सूची भी मिल गयी।

गेबर ने भारतीय परम्पराओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि सभी धातुओं का आधार गन्धक और पारद—इन दो तत्वों पर रहता है। इनकी मान्यता थी कि यदि ये दोनों तत्व शुद्ध हों और इनके सम्मिश्रण पूर्ण अनुपात मे हों तो इनकी परिणित धातु शुद्ध स्वर्ण होगी। शुद्धता की कमी या अनुपात की अपूर्णता से वही वस्तु चांदी, राँगा या टिन में बदल जाती है।

भारतवर्ष में भी 'नागार्जुन इत्यादि रसायन् शास्त्रियों ने पारद के अष्टादश संस्कार करके गन्धक के सम्मिश्रण से धातु सिद्धि का समर्थन अपने ग्रन्थों में किया है।

श्री गेबर उन प्रथमतम वैज्ञानिको मेसे थे, जिन्होंने परीक्षणों पर विशेष बल दिया है। उनकी कुशल परीक्षाओं के विस्तृत विवरण से आधुनिक विश्व में विज्ञान की परीक्षणात्मक प्रणाली का मार्ग उन्मुक्त हो ‍ ा है।

गेमरा

यहूदियों के अन्दर प्राचीन युग में 'कल्ला' नामक धार्मिक और कानूनी विषयों की एक सभा होती थी। इस सभा में इब्रानी साहित्य मे संशोधित और संगृहीत दर्शन शास्त्र और कानून के ग्रंथ 'मिश्ना' के सूत्रों पर वाद-विवाद, विवेचन और भाष्य होते थे। यही विवेचन और भाष्य बाद में संगृहीत कर लिये जाते थे। इन्हीं संग्रहों को 'गेमरा' कहा जाता था। यह प्रथा ईसा की दूसरी सदी से पांचवी सदी तक रही।

गेलू साक, लुई जोसेफ

फ्रांस के एक प्रसिद्ध रसायन-शास्त्री, जिनका जन्म सन् १७७८ ई० में और मृत्यु सन् १८५० ई० में हुई।

गेलू साक ने गैसों के प्रसारण, भाप के दबाव, भाप के घनत्व इत्यादि विषयों पर अपने अन्वेषण-अनुसन्धान किये। आकाश मण्डल में वायु की नमी और ताप का पता लगाने के लिए उन्होंने दो गुब्बारे अन्तरिक्ष मे उड़ाये।

सन् १८०४ ई० में 'साइंस एकेडेमी' में उन्होंने अपने एक साथी के साथ इस बात की घोषणा की कि एक आयतन आक्सीजन और दो आयतन हाइड्रोजन मिल जाने पर पानी की उत्पत्ति हो जाती है।

गेलू साक ने कार्बोलिक यौगिको के विश्लेषण की विधियों का भी संशोधन किया। सन् १८२९ ई० में फ्रांस की टकसाल में गेलू-साक प्रधान विश्लेषक नियुक्त हुए और सन् १८३९ ई० में ये फ्रांस के 'पीयर' बनाये गये। सल्फ्यूरिक एसिड के औद्योगिक क्षेत्र में इनके नाम का 'टावर' गेलू-साक-टावर के नाम से अब भी प्रसिद्ध है। (नागरी-प्रचारिणी विश्वकोश)

गेलस्टेड

डेनमार्क के एक सुप्रसिद्ध कवि, जिनका जन्म सन् १८८८ ई० में 'मिडिल फोर्ट' नामक स्थान में हुआ।

गेलस्टेड डेनमार्क के एक सुप्रसिद्ध समालोचक और महान् कवि समझे जाते हैं। इनकी प्रगतिवादी कविताओं पर कम्युनिस्ट भावनाओ का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इनके निबन्ध बहुत उच्चकोटि के हैं।

गेलेन

प्राचीन यूनान का एक सुप्रसिद्ध चिकित्सा शास्त्री, जिसका जन्म सन् १३० ई० में और मृत्यु सन् २०० में हुई।

१६ साल की उम्र से गेलेन ने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया, और इस अध्ययन के लिए उसने आस-पास के कई देशों की यात्रा की। उसके पश्चात् रोम के सम्राट् 'मार्कस-आरेलियस' के उत्तराधिकारी कामोडियस का चिकित्सक बन कर वह रोम में आया।

गेलेनने चिकित्साशास्त्र तथा दर्शन शास्त्र पर कई निबन्ध और बहुत से ग्रन्थों का निर्माण किया। चिकित्सा के सम्बंध में उस समय अरस्तू-कालीन जो मत प्रचलित थे, उनके बिरोध में उसने अपनी सशक्त लेखनी से बहुत कुछ लिखा।

प्राचीन यूनान में चिकित्सा-शास्त्र के संस्थापक 'हिपाक्रेटीज'के पश्चात् 'गेलेन' चिकित्साशास्त्र का सबसे बड़ा विद्वान् माना जाता है।

शरीर-रचना और शरीर-क्रिया-विज्ञान पर इसके अनुसन्धानों ने इसकी कीर्ति को बहुत बढ़ाया। कई प्रकार के जन्तुओं के शवों का उच्छेदन करके उनके आधार पर उसने मनुष्य के शरीर का वर्णन किया। हृदय के सम्बन्ध में भी इसने बड़ी महत्वपूर्ण खोजें कीं।

इन्हीं सब कारणों से उसको प्रयोगात्मक शरीर-विज्ञान का संस्थापक माना जाता है।

धर्म और दर्शन तथा तर्क-शास्त्र के क्षेत्र में भी उसने कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की।

गेसेन-एलेक्झेंडर

रूस के सुप्रसिद्ध अराजकतावादी विचारक, क्रान्तिकारी और लेखक जिनका जन्म सन् १८१२ ई० मे और मृत्यु सन् १८७० ई० मे हुई।

सन् १८४० ई० में क्रातिकारी कामो के कारण 'गेसेन' को साइबेरिया के जेल में निर्वासित कर दिया गया। वहाँ से छूटने के बाद सन् १८४८ ई० में इन्हों ने फ्रांस की प्रसिद्ध क्रान्तियों में भाग लिया। गेसेन 'बाकुनिन' की अराजकता-वादी-विचारधारा के समर्थक थे। कार्ल-मार्क्स के साथ इनके बड़े मतभेद थे। सन् १८५२ ई० लन्दन आकर इन्होंने दो पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ किया और इन पत्रों के द्वारा अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। इन्हों ने रूस और योरोप के सामाजिक जीवन और क्रान्तिकारी आन्दोलनों का चित्रण करने के लिये कई उपन्यासों की भी रचना की।

गेंसबरो-टामस

अंग्रेज-जाति का एक प्रसिद्ध चित्रकार जिसका जन्म सन् १७२७ ई० में और मृत्यु सन् १७८८ ई० में हुई।

१४ वर्ष की उम्र में उसने चित्रकार-कला को सीखना प्रारम्भ किया। सन् १७७४ ई० मे लन्दन में आकर उसने अपनी चित्रकारिता का प्रारम्भ किया। लन्दन में उस समय चित्रकला के क्षेत्र में 'जोशुआ-रेनाल्डस' का नाम बहुत प्रसिद्ध था। 'गेंसबरो' को उसकी स्पर्धा में उतरना पड़ा, मगर शीघ्र ही उसने अपनी चित्रकार-कला के प्रभाव से लन्दन के राजकीय क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र को आकर्षित करना प्रारम्भ किया।

गेंसबरो के भू-चित्रो में अद्भुत आकर्षण था। भिन्न-भिन्न रङ्गों के जिस माध्यम का उसने अपने चित्रों में उपयोग किया। वह लन्दन की चित्रकला में एक परम्परा बन गयी। जिसके कारण गेंसबरो की गणना संसार के प्रसिद्ध भू-चित्रकारों में होने लगी।

गैरिक-डैविड

अंग्रेजी रङ्गमञ्च के विश्वविख्यात् फ्रेंञ्च अभिनेता, जिनका जन्म सन् १७१७ ई० में और मृत्यु सन् १७७६ ई० में हुई।

इनका पहला नाटक 'ईसाप इन् दी शेड्स' सन् १७४० ई० में अभिनीत हुआ और इससे इनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। सन् १७४१ ई० में इन्होंने पहली बार अभिनेता के रूप में तीसरे रिचर्ड का पार्ट अभिनीत किया। शीघ्र ही इनकी गणना अंग्रेजी-मञ्च के प्रथम श्रेणी के अभिनेताओं में होने लगी। इनका अभिनय देखने के लिए बड़े-बड़े राज्याधिकारी और धर्माधिकारी भी आतुर रहते थे; रोमन चर्च के 'पोप' भी इनका अभिनय देखने के लिए कई बार आये और उन्होंने कहा कि—'इनकी बराबरी का कोई दूसरा अभिनेता अभी नहीं और न कोई भविष्य मे हो सकेगा।"

इनके अभिनय की उच्चता उस समय प्रमाणित हुई, जब इन्होंने शेक्सपियर के नाटकों के करीब १७ भिन्न-भिन्न पात्रों के हूबहू अभिनय किये। इन्हीं के विशिष्ट अभिनय से शेक्सपियर की लोकप्रियता में भी चार चाँद लग गये।

गैरिसन

अमेरिका में गुलामी-प्रथा के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन करने वाला प्रसिद्ध नेता। जिसका जन्म सन् १८०५ ई० मे 'मेसचूयेटस' के अन्दर और मृत्यु सन् १८७९ ई० में हुई।

उस समय अमेरिका में 'वेंजामिन लैंडो' नामक व्यक्ति गुलामी-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व कर रहा था। उसके व्याख्यानों से प्रभावित होकर गैरिसन भी इस आन्दोलन में शामिल हो गया। और बड़े जोर-शोर से गुलामों को नागरिक अधिकार दिलाने के लिए सरकार पर दबाव डालना शुरू किया। उसके इस आन्दोलन से गुलामो के स्वामी लोग बड़े क्रुद्ध हो गये और सन् १८३७ ई० मे उस पर एक भारी मुकदमा चलाया गया और उसको पकड़ने के लिए ५ हजार डालर का इनाम घोषित किया गया।

तब गैरीसन वहाँ से इंग्लैंड चला गया। और वहाँ पर भी गुलामी प्रथा था विरोध करने के लिए एक सभा की स्थापना की। वहाँ से जब वह वापस अमेरिका आया, उस समय 'अब्राह्म-लिंकन' वहाँ के राष्ट्रपति हो चुके थे। अब्राह्म-लिंकन ने गेरीसन की गुलामी-विरोधी भावनाओं को बड़ी प्रशंसा की और उन्होंने पूरी शक्ति के साथ अमेरिका से गुलामी प्रथा का अन्त किया।

गेरी-बाल्डी

इटली का एक महान् उद्धारक जननेता और सेनापति। जिसका जन्म सन् १८०७ ई० में और मृत्यु सन् १८८२ ई० में हुई।

सन् १८१५ ई० में बीएना की कांग्रेस मे विजयी राष्ट्रों ने इटाली देशके टुकड़े-टुकड़े कर आपस में बाँट लिए। देश के इस प्रकार टुकड़े होने की प्रतिक्रिया वहाँ की जनता पर बहुत खराब हुई। जिसके फल-स्वरूप 'ग्वीसेप मेजिनी' नामक एक क्रान्तिकारी युवक ने सन् १८३० ई० में 'यङ्ग इटली' के नाम से एक संगठन किया। जिसका उद्देश्य सारे इटली देश को एक गणतन्त्र राज्य के रूप मे संगठित करना था। इस कार्य्य के लिए उसको बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़े। मगर इसी समय गेरीबाल्डी नामक 'गुरिल्ला-युद्ध' का विशेषज्ञ और सैनिक वृत्ति में कुशल युवक मेजिनी के दल में सम्मिलित हो गया। यद्यपि इन दोनों नेताओं के आदर्श और लक्ष्य भिन्न-भिन्न थे। पर इटली की आजादी के सम्बन्ध में दोनों का लक्ष्य समान था।

इस लड़ाई में लड़ते-लड़ते गेरीबाल्डी को कई बार अपना देश छोड़ कर भागना पड़ा। मगर गेरीबाल्डी की आजादी की लगन में कोई कमी नहीं आयी।

इसके कुछ ही समय पश्चात् 'पीडमांट' के राजा 'विक्टर इमानुएल' का प्रधान मन्त्री 'कावूर' भी मेजिमी और गेरीबाल्डी के साथ इस लड़ाई मे शामिल हुआ, मगर उसका उद्देश्य इन दोनो के उद्देश्य से भिन्न था। वह इटली में गणतन्त्र की जगह अपने राजा इमानुएल का शासन स्थापित करना चाहता था।

सन् १८५९ ई० में गेरीबाल्डी ने अपने एक हजार सैनिको के साथ बिना किसी से पूछें नैपल्स और सिसली पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि दुश्मनों की संख्या ज्यादा थी, मगर गेरीबाल्डी की संगठन कुशलता और जनता की सद्भावना से उसे एक के बाद दूसरी विजय मिलती गयी और

हजारों स्वाधीनता प्रेमी नवयुवक उसके संगठन में शामिल होने लगे। जिसके परिणामस्वरूप सन् १८६१ ई० में इटली का राष्ट्र विदेशी शासन से मुक्त हो गया। और पोडमांट का राजा इमानुएल इटलो का बादशाह बना दिया गया।

गैलिलिओ

इटाली के एक संसार प्रसिद्ध वैज्ञानिक, गति विज्ञान के जन्मदाता, दूरबीन यन्त्र के आविष्कारक और गणितज्ञ जिनका जन्म सन् १५६४ मे और मृत्यु सन् १६४२ में हुई।

गैलिलिओ का जन्म इटाली के 'पीसा' नगर में हुआ था। इनके पिता एक गणितशास्त्री और सङ्गीतज्ञ थे।

गैलिलिओ को बचपन से ही विज्ञान और अनुसन्धान से प्रेम था। अठारह वर्प की अवस्था मे एक बार जव वह पीसा के गिरिजाघर में गये तो वहाँ जलनेवाले दीपक की शिखा को हिलते डुलते देखा। उनका ध्यान उसी पर केन्द्रीभूत हो गया। उन्होंने अपनी नाड़ी की चाल से दीपशिखा के हिलने की चाल को मिला कर देखा। उन्हें पता चला कि नाड़ी की चाल और दीपशिखा के हिलने की चाल एक सी मिलती है। इसी आधार पर उन्होंने समय निरूपण की एक युक्ति निकाली और घड़ी के पेण्डुलम का आविष्कार किया। आगे जाकर घड़ी वनाने वालो ने उसी सिद्धान्त को अपना कर बड़ी घड़ियों में पेण्डुलम लगाना प्रारम्भ किया।

गणित शास्त्र के अन्दर भी गैलिलिओ की खोजें महत्व-पूर्ण हे। ज्यॉमिती गणित में उन्होंने विशेप खोज की और पानी के द्वारा किसी वस्तु का घनत्व निकालने के लिए उन्हों ने हाइड्रोस्टेटिक वैलन्स (Hydrostatic Balance) के यन्त्र का आविष्कार किया।

सन् १५८६ में उनके गणितीय ज्ञान से प्रभावित होकर रस्कनी के ड्यूक ने उनको पीसा विश्वविद्यालय में गणित का अध्यापक नियुक्त किया। यहाँ पर उन्होने गतिविज्ञान के (Laws of motion) सिद्धान्तों का निरूपण किया। उन्होंने अरस्तू के बतलाये हुए इस नियम का खण्डन किया कि, ऊपर से गिराये जाने पर भारी वस्तु पहले नीचे आती है और कम भार की उससे वाद में। गैलिलिओ ने एक दस पौण्ड के गोले के साथ एक पौण्ड के गोले को मीनार पर से गिरा कर वतलाया कि दोनों गोले एक साथ ही पृथ्वी पर आते हैं। उन्होंने गति के सम्बन्ध में तीन नियम (Three Lanues of motion) का निरूपण किया।

अरस्तू के गति सिद्धान्त का खण्डन करने से इनके लिए वहांके लोगोंमें बड़ा असन्तोष फैला। जिसके फलस्वरूप इनको 'पीसा' छोड़कर 'पेडुवा' नामक स्थान पर जाना पड़ा। यही पर वे अठारह वर्ष तक रहे। जब वे 'पेडुवा' में थे तव उनके लैक्चर सुनने के लिए भिन्न-भिन्न देशों के विद्यार्थी वहां आते रहते थे।

सन् १६०९ में गैलीलिओ ने दूरवीन या दूरवीक्षण यंत्र का आविष्कार कर उसका नमूना वेनिस के प्रधान विचारपति को भेंट किया। इसी वर्ष उन्होंने दूसरे दूरबीन का भी निर्माण किया।

पहले यन्त्र में कोई भी दूर की वस्तु वास्तविक दूरी से ⅓ दूरी पर दिखाई पड़ने लगी। दूसरे यन्त्रसे दूर के पदार्थ तीस हिस्से कम दूरीं पर दिखाई पड़ने लगे।

इस यन्त्र के द्वारा गैलीलियो ने आकाश के नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त करना प्रारम्भ किया और वे आकाश के सम्बन्ध में नये-नये रहस्यों का उद्घाटन करने लगे। जहाँ साधारण निगाह से छः तारे दिखलाई पड़ते थे वहाँ इस यन्त्र के द्वारा छत्तीस या उससे भी ज्यादा दिखलाई पड़ने लगे। ७ जनवरी १६१० को उन्हों ने वृहस्पति ग्रह के आस पास चार और तारों का पता लगाया।

गैलीलिओ ने जब प्रसिद्ध ज्योतिषी कोपरनिकस के इस सिद्धान्त का समर्थन किया कि पृथ्वी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है तो सारे ईसाई धर्म जगत् मे उनके प्रति प्रबल विरोध पैदा हो गया। क्योंकि उस समय तक लोगों का यह विश्वास था कि पृथ्वी ही सारे विश्व का केन्द्र है और उसके चारों ओर सूर्य्य आदि ग्रह घूमते हैं।

गैलीलियो के इस आविष्कार ने उनके लिए जेल का द्वार खोल दिया। इस सिद्धान्त के प्रचार के लिये ७० वर्ष की अवस्था में उन्हें आजीवन कारावास का दण्ड मिला। वहीं पर सन् १६४२ में उनकी मृत्यु हुई।

गैलीलियो की मृत्यु के पश्चात् उनके सिद्धान्तों की, सारे यूरोप में बहुत कदर हुई और फ्लोरेंस में जहाँ उनका शव

दफनाया गया था बाद में एक सुन्दर स्मारक का निर्माण करवाया गया।

गेस्टा दानोरुम

डेनमार्कके प्रसिद्ध मध्यकालीन लेखक साक्से (११६०-१२२०) के द्वारा लैटिन भाषा में लिखा हुआ ग्रन्थ। जो १६ खण्डों में पूर्ण हुआ है। और जिसमे डेन जाति के बीरों की वीरताओं का उल्लेख किया गया है। डेनमार्क में यह इस युग का सबसे बड़ा ग्रन्थ था और इसका डैनी भाषा में सौरेसन वैडेल नामक लेखक ने अनुवाद किया।

गेस्टावस प्रथम

स्वीडन का प्रसिद्ध राजा, जिसने अपने देश को डेनमार्क की दासता से मुक्त किया। इसका जन्म सन् १४९६ में और मृत्यु १५६० में हुई।

सन् १५१६ में अतिथिके रूपमें अपने यहाँ बुलाकर डेनमार्क के राजा ने गेस्टावसको कैद कर लिया। मगर किसी प्रकार वह कैद से निकल कर भागा और स्वीडन चला आया। यहाँ आते ही स्टॉकहोम के हत्याकाण्ड की उसे खबर मिली जिसमें उसका पिता भी मारा गया था। कुछ ही समय पश्चात् दक्षिणी स्वीडेन की जनता के सहयोग से उसने डेनमार्क को हरा कर स्वीडन को स्वतन्त्र कर लिया। तभी से वह स्वीडन की स्वतन्त्रता के संस्थापक की तरह स्मरण किया जाता है। सन् १५२३ में वह सीनेट के द्वारा स्वीडन का राजा चुन लिया गया। इसने अपने शासनकाल में स्वीडन की शासन व्यवस्था को दृढ़ किया। पड़ोसी देशों से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित किये तथा व्यापार और उद्योग की स्थिति को सुधार कर उसने स्वीडन को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न किया।

गेस्टावस द्वितीय

स्वीडन का राजा, जिसका जन्म सन् १५९४ में और मृत्यु सन् १६३२ में हुई।

सन् १६११ में यह स्वीडन की गद्दी पर बैठा। एक उत्तम शासक होने के साथ-साथ यह लैटिन, इटालियन, डच, स्वीडिश और जर्मन भाषाओं का विद्वान था। भाषा विज्ञान का भी यह विशेषज्ञ था। शासन सूत्र हाथ में आने पर इसने सारे शासन यन्त्र का कुशलतापूर्वक सञ्चालन किया।

सन् १६१३ में कालमार के युद्ध में इसने डेनमार्क को पराजित किया। रूस और पोलैण्ड से भी उसने लड़ाइयाँ की मगर उसमें उसको सफलता नहीं मिली। सन् १६३१ में बिटन फेल्ड नामक स्थान पर उसने टिली के काउण्ट को पराजित किया। लेकिन सन् १६३२ मे वालस्टीन के साथ हुई लड़ाई में वह गोली से मारा गया।

गेस्टावस तृतीय

स्वीडन का राजा, जिसका जन्म सन् १७४६ में और मृत्यु सन् १७९१ में हुई।

गेस्टावस तृतीय की शादी डेनमार्क के फ्रेडरिक पञ्चम की लड़की 'मेगडालेन' से हुई। सन् १७७१ में वह गद्दी पर बैठा और सन् १७७२ की क्रान्ति के पश्चात् संसद को भङ्ग कर वह एकतन्त्री शासक हो गया। गेस्टावस तृतीय स्वीड़न के अन्दर नाट्यकला का प्रवर्त्तक माना जाता है। उसके लिखे हुए अनेकों नाटक बड़े लोकप्रिय हुए।

फिर भी निरंकुश राजतन्त्र का स्वामी होने के कारण कुछ क्षेत्रों में तो उसका विरोध था ही। जिसके सलस्वरूप सन् १७९१ में एक षड्यन्त्र के द्वारा वह मार दिया गया।

ग्रे (अर्ल-ग्रे)

इंग्लैण्ड के राजा विलियम चतुर्थ के राज्यकाल में इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री जो राबर्ट पील के पदत्याग के पश्चात् सन् १८३२ में इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री हुआ। यह व्हिग दल का सदस्य था।

अर्ल-ग्रे का प्रधानमन्त्री काल इंग्लैण्ड के इतिहास में दो घटनाओं के लिए प्रसिद्ध है। पहली घटना इसके समय में 'पार्लमेंट रिफार्म बिल' का पास होना है। इस बिल के अनुसार इंग्लैण्डमें मशीन युग के कारण जो नई बस्तियाँ बस गई थीं उनको पार्लमेंट में प्रतिनिधित्व देना, तथा जो बस्तियाँ उजड़ गई थीं उनके प्रतिनिधित्व कम करना था। इस बिल के पास होने पर पार्लमेंट के करीब १४० प्रतिनिधियों को

अलग होना पड़ता था। इसलिए कई बार यह बिल पेश होकर भी असफल हो चुका था।

इस बार लार्ड रसिल ने इस बिल को पेश किया मगर फिर भी यह बिल लोगों की आवाजाकशी के बीच गिर गया। तब प्रधान मन्त्री ने पार्लमेंट भङ्ग कर दी। सारे देश में चारों ओर से रिफार्म बिल की आवाज आ रही थी। नई पार्लमेंट का चुनाव होने पर यह बिल फिरसे पेश किया गया। इस बार हाउस ऑफ कॉमन्स ने इस बिल को पास कर दिया, मगर हाउस ऑफ लार्ड्स ने इस बिल को ४१ मतों की कमी से फिर अस्वीकृत कर दिया।

बिल के अस्वीकृत होते ही सारे देश में तूफान आ गया। उपनगरों ने जिनको वोट देने का अधिकार नही था विद्रोह कर दिया। नार्टिघम का महल जला दिया गया। ब्रिस्टल दो दिन तक विद्रोहियों के हाथ में रहा और बर्मिघम समिति ने दो लाख मनुष्यों के साथ लन्दन पर धावा बोलने का निश्चय किया। इस भयङ्कर विद्रोह को देखकर अन्त मे पार्लमेट ने इस बिल को पास कर दिया। इसी समय से इंग्लैण्ड में 'टोरी दल' का नाम 'कञ्जरवेटिव' और 'व्हिग' दल का नाम 'लिबरल दल' पड़ा।

अर्ल-ग्रे के प्रधान मन्त्रित्व में दूसरा बड़ा कार्य्य 'दास-प्रथा' की समाप्ति का हुआ। सन् १८३४ में यह बिल पास हो गया। जिसके परिणाम स्वरूप इंग्लैण्ड के करीब आठ लाख दासों को मुक्ति मिली।

लार्ड ग्रे के प्रधानमन्त्रित्वकाल में विदेश मन्त्री पामर्स्टन के प्रभाव से यूरोप के अन्य देशों में भी लिबरल दल का प्राधान्य हो गया।

जुलाई सन् १८३४ में आयर्लेण्ड के दशांशीय कर (Tithe) के सम्बन्ध में मतभेद हो जाने के कारण अर्ल ग्रे ने इस्तीफा दे दिया।

ग्रेगरी महान्

प्राचीन युग में रोमन चर्च के सुप्रसिद्ध पोप। जिन्होंने संसार में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण भाग अदा किया। इनका समय ई० सन् ५९० से ६०४ तक रहा।

ग्रेगरी एक धनी पिता के पुत्र थे। सम्राट् ने इनको 'प्रीफेक्ट' का उच्च पद प्रदान किया था। इनकी माता बड़ी धार्मिक भावनाओं से परिपूर्ण महिला थीं। बचपन से ही उसने इनके अन्दर धार्मिक संस्कार आरोपित किये। युवा होने पर पोप बनने के पहले, एकाएक एक दिन इनके अन्दर यह विचार उत्पन्न हुआ कि इतना धन और इतना अधिकार होने के कारण मुझमें सहज ही अहङ्कार बुद्धि जागृत होगी, इस लिए इस धन को धार्मिक कार्य्यों में खर्च करना चाहिये। तब उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति धार्मिक मठ या धर्मशालाएँ बनवाने में लगा दीं। एक धर्मशाला इनके घर में ही थी। इसमें रह कर इन्होंने अपने शरीर को उपवास व्रतादि तपस्या के द्वारा इतना कमजोर कर दिया कि उससे इनका स्वास्थ्य हमेशा के लिए बिगड़ गया। उसी समय तत्कालीन पोप ने किसी काम से इनको कुस्तुन्तुनिया भेज दिया। वहाँ पर इन्होंने अपनी बुद्धिमानी और चतुराई का पहला नमूना दिखाया।

सन् ५९० में ग्रेगरी को पोप की गद्दी पर बैठाया गया। रोमन चर्च के सम्पूर्ण इतिहास में ग्रेगरी एक महान् पोप माने जाते हैं। ये बड़े विद्वान्, त्यागी और महान् व्यक्ति थे। इनके लिखे हुए ग्रन्थ ईसाइयों के धार्मिक क्षेत्र मे आज भी बड़े पवित्र माने जाते हैं। इनके लिखे हुए जो पत्र भी उपलब्ध हुए हैं उनसे इनकी गहरी दूरदर्शिता का पता चलता है और यह मालूम होता है कि किस प्रकार ये रोमन चर्च को यूरोप की सर्वश्रेष्ठ शक्तिपूर्ण संस्था बनाना चाहते थे।

ईसाई धर्म के सुधार के लिए, उसमे त्यागी और योग्य व्यक्तियों को ही धर्माधिकारी बनाने का इनको बड़ा ध्यान रहता था। धार्मिक क्षेत्र के अलावा राजनैतिक क्षेत्र में भी इनका काफी वर्चस्व था। कुस्तुन्तनिया के सम्राट् और आस्ट्रेसिया, न्यूस्ट्रिया बर्गण्डी आदि के राजाओं से इनका हमेशा सम्बन्ध रहता था।

इन सब बातों के बावजूद इतिहास में इनकी विशेष प्रसिद्धि इसलिए है कि इन्होंने ही क्रिस्तान धर्म का सारे संसार में प्रचार करने के लिए पादरियों और प्रचारकों के बड़े-बड़े जत्थे बना कर भेजे। आधुनिक इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, आदि देशों को क्रिस्तान धर्म में सम्मिलित करना और इनको पोप की सत्ता के नियन्त्रण में लाना इन्हीं का काम

था। ग्रेगरी स्वयं सन्यासी थे और इसी के बल से इन्हों ने इतनी भारी सफलता प्राप्त की।

ग्रेगरी महान् के पश्चात् रोमनचर्च की परम्परा में ग्रेगरी के नाम से सोलह पोप और हुए। इनमें से ग्रेगरी सप्तम का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

ग्रेगरी-सप्तम

रोमन चर्च के एक सुप्रसिद्ध पोप। जो सन् १०७३ से १०८५ तक पोप की गद्दी पर रहे।

रोमन चर्च के इतिहास में ग्रेगरी सप्तम का नाम भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इसने पोप की सत्ता को राज की सत्ता से श्रेष्ठ सिद्ध करने का भारी प्रयत्न किया। और उसके लिए जर्मनी के राजा चतुर्थ हेनरी से भारी झगड़ा भी मोल लिया।

इसके पहले विशपों और पोप की नियुक्ति का काम जर्मनी के सम्राट् ही करते थे। जर्मनी के सम्राट् तृतीय हेनरी ने पोप और विशपों के चुनाव का यह अधिकार अपने हाथ में रक्खा था।

मगर पोप ग्रेगरी सप्तम ने सम्राट् के इस अधिकार को चुनौती दी। उसने 'डिक्टेटस' नामक अपनी एक रचना मे पोप के अधिकार की विवेचना करते हुए लिखा कि –

"पोप के पद की कोई तुलना नही है। वह संसार भर में एक ही विशप है, और उसे अधिकार है कि चाहे जिस विशप को निकाल दे और उसकी जगह दूसरे की नियुक्ति कर दे। रोमन चर्च ने न कभी भूल की है न वह कभी कर सकता है। जो मनुष्य रोमन चर्च से सहमत नही है वह कैथोलिक नहीं समझा जा सकता।"

"संसार में पोप ही एक ऐसी शक्ति है जिसके पैर तमाम राजा महाराजा छूते है। वह बादशाह को गद्दी से उतार सकता है और प्रजा को अन्यायी राजा की सहगामी होनें से रोक सकता है।"

ग्रेगरी कहा करता था कि 'राज्यसत्ता को किसी दुष्ट व्यक्ति ने शैतान के सहयोग से बनाया है। उस पर धर्म संस्था का नियन्त्रण आवश्यक है।'

पोप के पद पर आते ही ग्रेगरी ने सारे यूरोप के राजाओं के पास अपने दूत भेजे और कहला भेजा कि 'बुरे रास्तों को छोड़ दें, न्याय प्रिय बनें और मेरे अनुशासन को मानें।' इस प्रकार उसने सभी राजाओं को आदेश के रूप में कुछ न कुछ सन्देश दिये।

उस समय जर्मनी के सिंहासन पर हेनरी चतुर्थ आसीन था। उसके पास ग्रेगरी ने सन् १०७५ में तीन दूत पत्र देकर भेजे। इन पत्रों में उसने राजा को उसकी बुरी कार्य्यवाहियों के लिए फटकारा था। और कहलाया था कि वह बुरे कामों को छोड़ दे वरना वह राज्य से अलग कर दिया जायगा।

हेनरी चतुर्थ ने जब इन पत्रों को पढ़ा तो वह क्रोध से आग बबूला हो गया, और सन् ११७६ मे उसने गिरजेमें एक सभा बुलाई। उस समय तक विशपों का चुनाव राजा के द्वारा होने से सब विशप भी उसके पक्ष मे थे। वहाँ पर सब लोगो ने मिलकर यह प्रस्ताव किया कि ग्रेगरी का चुनाव विधान के अनुसार नही हुआ है, इसलिए उसे पदच्युत करके दूसरे पोप का चुनाव किया जाय। तब हेनरी नें पोप के पत्र का जवाब देते हुए लिखा कि—"ईश्वर से प्राप्त इस राज्याधिकार के विरुद्ध आँख उठाते हुए तुझे कुछ भी भय नहीं हुआ। और तिसपर तू हमको यह अधिकार छीनने की धमकी दे रहा है। मे हेनरी राजा अपने तमाम विशपों के साथ तुझे आदेश देता हूँ कि तू अपने पद से उतर जा और समस्त समाज की घृणा का पात्र बन।'

ग्रेगरी राजा के इस पत्र से विचलित नही हुआ। उसने राजा को और उन विशपो को उत्तर देते हुए लिखा कि—

पूजनीय महात्मा पीटर! मेरी बात सुनिये। आप की कृपा से आप के ही प्रतिनिधि के रूपमे स्वर्ग तथा मर्त्यलोक में बन्धन तथा मुक्ति का अधिकार ईश्वर ने मुझे दिया है। उस अधिकार के आधार पर गिरजों के यश और प्रतिष्ठा के लिए मैं बादशाह हेनरी चतुर्थ को सारे राज्याधिकार से पदच्युत करता हूँ। क्यों कि वह आपके गिरजे के प्रतिकूल प्रबल उद्दण्डता से खड़ा हुआ है।"

ग्रेगरी के इस आदेश के निकलते ही राजा हेनरी का वातावरण उसके एक दम खिलाफ हो गया। उसके विशप भी उससे बदल गये। सेक्सनलोग पहले ही उसके विरुद्ध थे। उन सब लोगों ने मिलकर एक भारी सभा की। उन्होंने हेनरी

को अपना आचरण सुधारने और पोप से समझौता करने के लिए एक वर्ष का समय दिया।

इसके पश्चात् आगेकी व्यवस्थाके लिए पोप को आसबर्ग मे बुलाया गया। पोप बड़ी शान के साथ आसबर्ग आकर वहाँ के कानोसा प्रासाद में ठहरा। पोप का आगमन सुनकर हेनरी भयंकर जाड़े में आल्प्स पहाड़ियों को पारकर पोप के महल के दरवाजे पर नंगे पैर, मोटे वस्त्र पहने हुए, हाथ जोड़ कर तीन दिन तक महल के फाटक के पास आता रहा, मगर पोप ने उसको मिलने का समय नही दिया। चौथे दिन बड़ी कठिनाइयों से उसे पोप के सामने हाजिर होने की अनुमति मिली।

ग्रेगरी से क्षमा मांगने पर उसके सब अपराध क्षमा कर दिये गये। मगर सन् १०८० में ग्रेगरी ने फिर से हेनरी को पदच्युत करने का आदेश दिया। मगर इस बार के आदेश के परिणाम एक दम उलटे हुए। इस बार हेनरी के समर्थकों की संख्या अधिक थी। जर्मनी के पादरियों ने भी पोप ग्रेगरी को पदच्युत करने का आदेश निकाला। हेनरी के सब शत्रु लड़ाई मे मारे गये। ग्रेगरी ऐसी स्थिति को दो वर्ष तक सम्हालता रहा, पर अन्त मे रोम हेनरी के हाथ चला गया और ग्रेगरी को गद्दी छोड़नी पड़ी। थोड़े ही दिनों बाद ग्रेगरी सप्तम की मृत्यु हो गयी,। मरते समय उसने कहा था कि "मैं न्याय का प्रेमी और अन्याय का विरोधी था। और यही कारण है कि मैं विदेश मे प्राण त्याग कर रहा हूं।"

ग्रे टॉमस (Thomas Grey)

अंग्रेजी साहित्य में 'ऐलेजी' या विषादपूर्ण काव्यों का रचयिता एक प्रसिद्ध कवि। जिसका जन्म सन् १७१६ में और मृत्यु सन् १७७१ में हुई।

ग्रे टॉमस इंग्लैण्ड के अन्तर्गत उस युग में पैदा हुआ जब वहाँ पर मशीन युग का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था और सारा समाज पूंजीपति और मजदूरों के दो स्पष्ट विभागों में विभक्त होता जा रहा था। मनुष्य के अन्तर्जगत् में विद्रोह की भावनाएँ पैदा होना प्रारम्भ हो गया था। और इसी के फलस्वरूप कविता के क्षेत्र में 'ऐलेजी' या विषादपूर्ण भावनाओं का प्रचार बढ़ता जा रहा था।

टामस-ग्रे इसी प्रकार की विषादपूर्ण कविताओं का प्रसिद्ध कवि था। यद्यपि उसका प्रारम्भिक जीवन अत्यन्त सुखी और समृद्ध अवस्था में व्यतीत हुआ था। मगर अन्तिम जीवन में उसे कई प्रकार की कठिनाइयों का बड़ा विषादपूर्ण अनुभव हुआ और यही विषाद उसकी कविताओं में बड़े प्रभावशाली ढङ्ग से व्यक्त हुआ और इस कवि की गणना तत्कालीन यूरोप के प्रसिद्ध कवियों मे हुई।

इसको रचनाओंमें 'डिसेण्ट ऑफ ओडिन' और 'दी वार्ड' विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

ग्रेट बेरियर रीफ

संसारमें सबसे बड़ी मूंगे की दीवार। जो आस्ट्रेलिया के 'क्विन्सलैंड' प्रदेश के उत्तर-पूर्वी तट पर बनी हुई हैं।

इस दीवार की लम्बाई लगभग १२ सौ मील और चौड़ाई १० मील से ६० मील तक हैं। इसका अधिकांश भाग जल में डूबा हुआ है। कहीं-कही जल से बाहर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं।

ग्रेट बेयर झील

कनाडा के उत्तर-पश्चिम मैकेञ्जी जिले में स्थित स्वच्छ जल की एक झील। इसकी लम्बाई २०० मील चौड़ाई २५ से लेकर १०० मील तक और गहराई २७० फुट है। झील का कुल क्षेत्रफल १२ हजार वर्गमील है।

इस झील से 'ग्रेट बेयर' नाम की एक नदी का निकास होता है। इस झील का पता सन् १८२५ ई० में सर जॉन फ्रैंकलिन ने लगाया था।

ग्रेटब्रिटेन

योरोप महाद्वीपमें स्काटलैंड, आयर्लैंड वेल्स तथा इंग्लैंड के संयुक्त राज्यों का नाम सन् १७०७ ई० में ग्रेट ब्रिटेन पड़ा। इसका पूरा इतिहास इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में इंग्लैंड के साथ देखना चाहिए।

ग्रेनविल

इंग्लैण्ड के राजा तृतीय जॉर्ज के राज्यकाल मे इंग्लैण्ड का प्रधान मन्त्री। जो सन् १७६३ में प्रधान मन्त्री बनाया गया।

ग्रेनविल के मन्त्रित्वकाल में अमेरिकन-उपनिवेशों का झगड़ा, एक महत्वपूर्ण घटना है। सन् १७६५ ई० मे इंग्लैंड की पार्लियामेंट ने सप्तवर्षीय युद्ध का कुछ खर्च अमेरिका से वसूल करने के लिये 'स्टाम्प-ऐक्ट' पास किया। इस स्टाम्प एक्ट के विरोध में अमेरिका में भयंकर तूफान खड़ा हो गया। अमेरिका के लोगों ने एक ओर तो आग जला कर टिकटों की होली की और दूसरी ओर सूली खड़ी की, और टिकट बेचने वालों से कहा कि—"या तो तुम पद को छोड़ो या तुम्हें सूली दे दी जायगी।' अमेरिका के इस भयंकर विरोध के कारण ग्रेनविल की बड़ी बदनामी हुई और जार्ज तृतीय ने उससे त्यागपत्र ले लिया।

ग्रेनविल के मन्त्रिमण्डल काल में दूसरी घटना 'दि नार्थ ब्रिटेन' नामक समाचार पत्र के सम्पादक जॉन-विलक्स के सम्बन्ध मे हुई। सन् १७६३ में पेरिस की सन्धि के पश्चात् जो 'राज्य-भाषण' हुआ, उसमें राजा ने इस सन्धि को गौरव-पूर्ण बतलाया था। लेकिन विल्क्स ने अपने पत्र मे इसका विरोध किया और लिखा कि मन्त्रियों ने दवाव डालकर राजा से यह वक्तव्य दिलाया। इस पर सन् १७६४ मे विल्कस को 'हाउस ऑफ कामन्स' से निकाल दिया गया। और उसे फ्रांस भाग जाना पड़ा। पर इस झगड़े में विल्क्स बहुत लोकप्रिय हो गया और ग्रेनविल की ओर से राजा और प्रजा दोनो को अरुचि हो गयी।

ग्रेशम

महारानी 'एलिजावेथ' के समय में ब्रिटिश-रायल-इक्सचेंज के प्रथम संस्थापक और मुद्रानीति के विशेषज्ञ। जिनका जन्म सन् १५१९ में और मृत्यु सन् १५७९ में हुई।

मुद्रानीति के सम्बन्ध में इनका बनाया हुआ सिद्धान्त 'ग्रेशम सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है।

ग्रेब

जर्मन-साहित्यका एक सुप्रसिद्ध नाटककार। जिसका जन्म सन् १८०१ ई० में और मृत्यु सन् १८३६ ई० में हुई।

जर्मन-नाट्य-कला के अन्तर्गत एक नवीन यथार्थवादी प्रणाली को विकसित करने का श्रेय 'ग्रेब' को प्राप्त हैं। ग्रेब ने अपने नाटकों की रचना राष्ट्रीय और ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि पर की, जिसका अनुकरण आगे के बहुत से नाटककारों ने किया।

ग्लेडस्टन

इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और प्रधानमन्त्री, जिसका जन्म सन् १८०९ ई० और मृत्यु सन् १८९८ ई० में हुई।

इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री 'पामर्स्टन' के पश्चात् २० वर्ष तक ब्रिटिश राज्य की बागडोर बारी-बारी से 'ग्लेडस्टन' और 'डिजरेली' के हाथो मे रही। ग्लेडस्टन महानविचारक, राजनीतिज्ञ और धुरन्धर वक्ता था। इंग्लैंड की राष्ट्रीय उन्नति और जन-कल्याण इसके जीवन के प्रधान ध्येय थे।

सन् १८६५ ई० में पामर्स्टन के पश्चात् लार्ड 'रसिल' इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री हुआ। मगर इस समय भी 'हाउस ऑफ कामन्स' ग्लेडस्टन के ही हाथो मे था। ७ वर्ष से वह अर्थ-विभाग का मन्त्री था। ग्लेडस्टन के प्रयत्नों से इंग्लैंड में व्यापार के नियन्त्रणको हटा कर मुक्त द्वार व्यापार प्रारम्भ कर दिया गया था, जिससे वहाँ की गरीब जनता को बहुत राहत मिली। सैकड़ों चीजों पर से उसने चुङ्गी उठा दी।

सन् १८५३ ई० जहाँ ४६६ चीजों पर चुङ्गी लगती थी, वहाँ सन् १८६० ई० मे केवल ६८ चीजों पर ही चुङ्गी रह गयी। सन् १८६५ ई० मे ग्लेडस्टन ने पार्लियामेंट में राजनैतिक सुधार का प्रस्ताव पेश किया। जिसके अनुसार ७ पौण्ड मकान का कर देने वाले को नगर मे और १४ पौण्ड कर देने वाले को प्रान्त मे वोट देने का अधिकार मिल जाता मगर यह प्रस्ताव पास न हो सका।

सन् १८६८ ई० में ग्लेडस्टन इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री हुआ। उसने कैबिनेट मे आते ही आयरलैंड वालों की आप-त्तियों को दूर करने का प्रयत्न किया। उसने आयर्लैंड का

भूमि-सम्बन्धी कानून पास करवाया। इसी प्रकार उसने और भी कुछ कानून पास करवाये।

ग्लेडस्टन के समय मे यूरोपके अन्दर कई महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ हुई। मगर ग्लेडस्टनका ध्यान देशकी अन्तरङ्ग राजनीति की तरफ अधिक था। इस कारण वह बाहरी घटनाओं की ओर विशेष ध्यान न दे सका। जिसके परिणाम स्वरूप उसके मन्त्रिमण्डल का सन् १८७४ ई० में पतन हो गया।

सन् १८८० ई० में ग्लेडस्टन दूसरी बार प्रधान मन्त्री चुना गया। इस बार उसके मन्त्रित्वमे तीन प्रश्न मुख्य रूपसे उपस्थित थे। (१) पार्लमेंट का सुधार (२) मिस्र की समस्या और (३) आयलैंड का स्वराज्य।

सन् १८८४ ई० में ग्लेडस्टन ने एक कानून पास करवाकर ग्रामों के मजदूरों को भी मत देने का अधिकार प्रदान किया। मिस्र के प्रश्न पर वहाँ की अंग्रेजी फौज की रक्षा के लिए फौज भेजने मे सुस्ती करने के कारण, और मिस्र के सेनापति जेनरल गार्डन को विद्रोहियों के द्वारा मारे जाने के कारण तथा आयर्लेंड के स्वराज के सम्बन्ध में उसके दल में मतभेद हो जाने के कारण सन् १८८५ में उसको फिर त्यागपत्र देना पड़ा।

एक वर्ष बाद वह पुन: प्रधान मन्त्री बनाया गया। इस बार भी आयर्लेंड के स्वराज्य का प्रस्ताव ग्लेडस्टन ने फिर पार्लियामेंट में पेश किया, मगर इस वार भी उसकी हार हुई और उसे त्याग-पत्र देना पड़ा।

इंग्लैंड के इतिहास के निर्माण में ग्लेडस्टन का बड़ा महत्वपूर्ण हाथ रहा। अनुदार-दल का होते हुए भी वह विचारों में बड़ा उदार, लोकहित की भावनाओ से परिपूर्ण, समस्याओं का गहराई मे घुस कर अध्ययन करनेवाला और महान् राजनीतिज्ञ था।

सन् १८९८ ई० में ग्लेडस्टन की मृत्यु हो गयी।

गोआ

भारत के मालाबार-समुद्र-तट पर स्थित एक राज्य, जो सन् १९६१ ई० के पहले पुर्तगाली-साम्राज्य का एक उपनिवेश रहा और उसके बाद भारतवर्ष में मिलाया गया।

गोआ का इतिहास बहुत प्राचीन काल से शुरू होता है। हरि-वंश पुराण से पता चलता है कि जरासन्ध के भय से भयभीत होकर कृष्ण और बलराम दक्षिण में परशुराम के समीप गये। परशुराम ने उनको गोमन्त-शैल का पता बतलाया। यही से उन्होंने जरासिन्ध को परास्त किया। महाभारत और हरिवंश-पुराण में यह स्थान 'गोमन्त' नाम से, सह्याद्रि-खण्ड में गोमाञ्चल और कदम्बराजाओं के अनुशासन पत्र में गोपराष्ट्र और गोपकपुरी नाम से वर्णित है।

गोआ नगर तीन भागों में विभक्त है। पहला विभाग कदम्बराजाओं द्वारा स्थापित प्राचीन गोपकपुरी कहलाता है, दूसरा विभाग पोर्तुगीजों द्वारा अधिकृत पुराना गोआ हैं, सन् १४७९ में मुसलमानों ने इसे बसाया था। तीसरा नवीन गोआ सन् १७५९ में पोर्तगालों के द्वारा बसाया गया और यहाँ राजधानी की स्थापना हुई।

आधुनिक ज्ञात इतिहास में यह स्थान १० वी शताब्दीके पहले कोंकणके शिलाहार राजाओंके अधिकार में था। उसके पश्चात् कदम्ब-वंश के राजाओं ने इसको विजय कर यहाँ पर अपना अधिकार किया। कदम्ब-वंश में राजा 'जयकेशी' बड़ा प्रतापी हुआ। गुड्डीकट्टी के शिलालेख मे इसका विशद वर्णन किया गया हैं। गोवा को पहले पहल इसी ने अपनी राजधानी बनाया था। इसका समय सन् १०५२ के आसपास था। गुजरात के राजा कर्ण सोलंकी की रानी 'मीनल देवी' इसी जयकेशी की पुत्री थी।

जयकेशी के पश्चात् राजा विजयादित्य और उसके पश्चात् द्वितीय जयकेशी इस वंश का राजा हुआ। द्वितीय जयकेशी ईसवी सन् ११८७ में गद्दी पर बैठा। इसके समय की सन् १२०० और १२१० में ढाली गयी स्वर्णमुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। द्वितीय जयकेशी का पुत्र त्रिभुवन-मल्ल और उसके पश्चात् उसका पुत्र षष्ठदेव द्वितीय सन् १२४६ में गद्दी पर बैठा। उसका सन् १२५७ का लिखा हुआ शिलालेख प्राप्त हुआ है जिससे पता चलता है कि यह एक स्वतन्त्र राजा था।

सन् १३१२ ई० मे मलिक-तुबलिग नामक मुसलमान ने गोवा को अपने अधिकार में किया। उसके बाद सन् १३७० में विजय नगर के राजा हरिहर के प्रधान मन्त्री ने इस क्षेत्र का मुसलमानों के हाथ से उद्धार किया।

सन् १४४६ ई० में यह बहमनी-राज्य में मिला लिया गया।

सन् १५१० ई० की १७ वीं फरवरी को पोर्तगाल के 'अलबूकर्क' ने २० जहाज और १२०० सेना लेकर 'गोवा' पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में अलबूकर्क कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ा। उसके पश्चात् अलबूकर्क ने इस नगर को किलेबन्दी करके सुरक्षित किया। 'मार्टिन-ऐलफेंसो'सबसे पहले गोवाके शासक बनकर आये और उनके साथ 'सेंट-जेवियर' भी क्रिश्चियन धर्म का प्रचार करने के लिए यहां आये।

सन् १५७० में अली आदिल शाह ने एक विशाल सेना के साथ गोआ नगर पर घेरा डाला। यह घेरा १० महीने तक पड़ा रहा, मगर पोर्तगाल के प्रतिनिधि लुई-दि-आथेडी ने बड़ी चतुराई से इस स्थान की रक्षा की। तब से लेकर सन् १९६१ तक गोआ बराबर पोर्तुगीजों के ही अधिकार में रहा। यद्यपि मराठों और डच लोगों के आक्रमणों से वह बराबर पीड़ित होता रहा।

सत्रहवीं सदी में पोर्तुगीजों के संसर्ग से गोआ नगर अत्यंत बिलासी और नैतिक रूप से अधःपतित हो गया था। जगह-जगह जुए के अड्डे और विलासके लिए प्रमोदगृह खुल गये थे। जिनमें मुक्तरूप से जुआ और व्यभिचार होता था। ये जुआ-घर बड़े ठाटबाटसे सुसज्जित रहते थे। पोर्तुगीज सरकार इन अड्डों से कर लेती थी। प्रमोदगृहों में दिनरात, सङ्गीत, नृत्य और शराब के दौर चलते थे। उस समय के यात्रियों ने गोआ की विलासिता और उसकी समृद्धि का दिल खोल कर वर्णन किया है।

भारत के स्वाधीन होने के पश्चात् जब फ्रेञ्च सरकार ने भी अपने भारतीय उपनिवेश भारतवर्ष को दे दिये तो पोर्तुगाल उपनिवेशों का भी सवाल उठा। मगर पोर्तुगाल के सालारजङ्ग ने अपने उपनिवेश देने से साफ इनकार कर दिया। काफी समय तक इस विषय में खींचातानी चलती रहे। अन्त में सन् १९६१ में एक दिन भारतीय सेनाओं ने जाकर बहुत मामूली प्रतिकार के पश्चात् इस क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। इस समय यह क्षेत्र भारत सरकार का एक राज्य है। महाराष्ट्र और मैसूर दोनों ही राज्य इस क्षेत्र को अपना अङ्ग समझ कर अपने साथ विलीनीकरण की मांग कर रहे हैं और इसका निर्णय अभी विचाराधीन है।

गोआ के धर्मक्षेत्र

गोआ का क्षेत्र हिन्दुओं और ईसाइयों के लिए पुण्यक्षेत्र की तरह है। सेण्ट झेवियर ने यहाँ आकर भारत में सबसे पहले ईसाई धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया था। इसलिए ईसाईयों के लिए यह स्थान बहुत पवित्र है। यहाँ पर बड़े बड़े गिरजाघर बने हुए हैं।

हिन्दुओं के भी यहाँ प्राचीनकाल के बने हुए अनेक मन्दिर तीर्थ रूप में बने हुए हैं। इनमें चन्द्रचूड़ नामक तीर्थ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। जिसका वर्णन सैह्याद्रि खण्ड और स्कन्द पुराण में वर्णित है। चन्द्रचूड़ के अतिरिक्त गौतमतीर्थ, सोमतीर्थ, कपिलतीर्थ इत्यादि तीर्थ भी बहुत प्रसिद्ध हैं।

यहाँ के सुप्रसिद्ध गिरिजाघरों मे सेण्ट झेवियर, सेन्ट-फ्रान्सिस, सेण्ट ऑगस्टाइन, सेण्ट रोजारी, सेण्ट कईटानो कैथिड्रल आदि गिरजे उल्लेखनीय हैं।

गोएबल्स

जर्मनी के नाजी-शासक हिटलर का प्रसिद्ध सहयोगी डा० गोएबल्स। जिसका जन्म सन् १८९७ ई० में हुआ था।

सन् १९२६ ई० में हिटलर ने गोयबल्स को 'बर्लिन' में नाजी दल के संगठन का काम सौंपा और उसके बाद इनकी योग्यता को देखकर सन् १९२९ ई० में सारे जर्मनी के नाजी-दल का मुख्य अधिकारी बना दिया।

सन् १९३३ में नाजी दल की सत्ता कायम होने पर डा० गोयबल्स को प्रचारमन्त्री बनाया गया। नाजी-दल के संगठन में गोयबल्स का स्थान 'हिटलर' के पश्चात् बहुत ही महत्वपूर्ण रहा। जिस सूझ-बूझ और लगन के साथ इसने नाजी जर्मनी का सङ्गठन किया, वह अद्‌भुत था। नाजी जर्मनी के पतन के साथ ही ऐसा समझा जाता है कि इस व्यक्ति ने आत्महत्या करके अपने प्राण दे दिये।

गोकुलनाथ-गोस्वामी

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' नामक हिन्दी गद्य की प्रारम्भिक रचनाके रचयिता तथा वल्लभ सम्प्रदाय की परम्परा बचनामृत पद्धति का प्रारम्भ करने वाले एक सुप्रसिद्ध संत। जिनका जन्म सन् १६२१ ई० में हुआ।

जिस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत गोस्वामी गोकुल नाथ का नाम उनके द्वारा वचनामृत पद्धति का प्रारम्भ करने के कारण और धर्म के गूढ़ सिद्धान्तों को सरल भाषा में व्यक्त करने के कारण प्रसिद्ध है, उसी प्रकार हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास में हिन्दी गद्य को अपनी चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता के द्वारा प्रारम्भ करने के कारण हिन्दी गद्य के आदि कर्त्ता के रूप में भी ये प्रसिद्ध हैं।

गोस्वामी गोकुल नाथ ने अपनी वार्त्ताओं, भजनों और सङ्गीत के द्वारा वल्लभ सम्प्रदाय का प्रचार करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग अदा किया।

गोखले—गोपालकृष्ण

भारतवर्ष के एक सुप्रसिद्ध समाज सुधारक, शिक्षा-शास्त्री और राजनीतिज्ञ। अपने समयमें भारतीय राजनीति में नरम-दल के नेता। जिनका जन्म सन् १८६६ ई० में महाराष्ट्र के कोल्हापुर नामक स्थान मे और मृत्यु सन् १९१५ में हुई।

भारत की राजनैतिक और सामाजिक चेतना को एक बुद्धिवादी, शान्त और वैधानिक ढङ्ग से जागृत करने का जिन लोगों ने प्रयास किया, उनमें गोपालकृष्ण गोखले का नाम बहुत आगे है। गोखले, प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और सुधारक महादेव गोविन्द रानडे के शिष्य और अनुयायी थे।

सन् १८८९मे ये ऑल इण्डिया कांग्रेसमें सम्मिलित हुए। उस समय कॉंग्रेस का सारा संगठन वैधानिक मार्ग के द्वारा अंग्रेज सरकार से शासनाधिकार प्राप्त करने वाले लोगों के हाथ मे था। गोखले अपने समय के माने हुए उदारदलीय नेता थे। अपनी योग्यता, प्रतिभा और कर्त्तव्य परायणता के कारण वे तत्कालीन कॉंग्रेस के स्तम्भ समझे जाते थे। उनका ध्येय भारत को अंग्रेजी राज्य के संरक्षण में उन्नतिशील बनाना था। क्योंकि उनका ब्रिटिश साम्राज्यकी न्यायप्रियतामें विश्वास था और इसीलिये उनको उग्रवादी विचारधारा ने कभी आकर्षित नही किया।

गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य तिलक का जीवन साथ-साथ चलता है। दोनों एक ही प्रांत के मंजे हुए विचारक, ईमानदार और देशभक्त थे, मगर दोनों की कार्यपद्धतियाँ दो ऐसी समानान्तर रेखाएँ थीं जो कभी नहीं मिलीं। इन दोनों देशभक्तों में कॉंग्रेसके अन्तर्गत जबर्दस्त विवाद रहे, मगर दोनों अपने-अपने पथ पर अडिग रहे।

सन् १९०५ में विरोधियों के विरोध के बावजूद भी गोखले बनारस-कांग्रेस अधिवेशन के सभापति चुने गये। उस समय इन्होंने यह स्वीकार किया था कि यदि सहयोग के सारे मार्ग रुक जांय तो उस हालत में राजनैतिक बहिष्कार का प्रयोग किया जा सकता है।

राजनीति के साथ ही सामाजिक क्षेत्र मे भी गोखले की सेवाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सन् १९०५ में उन्होंने सर्वेण्ट ऑफ इण्डिया सोसायटी' नामक प्रसिद्ध संस्था की स्थापना की। यह कार्य्य शायद उनके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। इसमें ऐसे लोगों को सदस्य बनाया जाता था जो नाम-मात्र के लिए आवश्यक खर्च लेकर अपना जीवन देश सेवा में अर्पित कर देते थे। कई सुप्रसिद्ध और सुयोग्य व्यक्ति इस संस्था के सदस्य थे।

श्री गोखले के साथ महात्मा गांधी की पहली भेंट सन् १८९६ में हुई। महात्मा गांधी इस पहली ही भेंट में इनसे बड़े प्रभावित हुए। उन्हों ने लिखा है कि "सन् १८९६ की भेंट के उपरान्त गोखले का राजनैतिक जीवन मेरे लिए आदर्श बन गया है। उसी समय से मैंने हृदय में उनको अपने राजनैतिक गुरु को तरह स्वीकार कर लिया।" एक जगह गान्धीजी ने उनके लिए लिखा है—"उन्होंने लार्ड कर्जन को भी इतना प्रभावित कर लिया कि किसी से भी न डरने वाला लार्ड कर्जन भी उनसे तो डरता ही था।"

गोखले अत्यन्त मधुर भाषी वक्ता थे। जनसाधारण से लेकर बड़े से बड़े विद्वान और अधिकारी को आकर्षित कर लेने का उनमें असाधारण गुण था। लार्ड मार्ले ने एक बार उनके लिए कहा था कि—"जहाँ उनमें कुशल राजनीतिज्ञ जैसी विचारशक्ति है वहाँ एक योग्य प्रशासक की तरह उनमें व्यवहार कुशलता भी है।

गोगैं पाल

फ्रांस का एक प्रसिद्ध उत्तर प्रभाववादी चित्रकार। जिसका जन्म सन् १८४८ में और मृत्यु सन् १९०३ में हुई।

गोगैंपाल की चित्रशैली ने आधुनिक यूरोपीय चित्र कला काफी प्रभावित किया। कई चित्रकारों ने उसकी शैली का अनुकरण किया। फ्रान्स की गतिहीन चित्र-कला को उसने एक नवीन मोड़ दिया। सन् १८८९ में उसने पेरिस में अपने नवीन चित्रों की प्रदर्शनी की।

मगर इन सब सफलताओं के बावजूद उसके चित्रों का उसके जीवन में उचित मूल्यांकन नहीं हुआ। वह जीवन भर आर्थिक कष्ट से पीड़ित रहा और उसी स्थिति में सन् १९०३ मे उसकी मृत्यु हुई।

गोगोल-निकोलाय

रूसी साहित्य का सुप्रसिद्ध गद्य लेखक और नाटककार, जिसका जन्म सन् १८०९ ई० में और मृत्यु सन् १८५२ ई० में हुई।

गोगोल प्रारम्भ में कजाकिस्तान का रहने वाला था मगर बाद में वह सेण्टपीटर्सवर्ग चला गया। यह रूस के प्रसिद्ध महाकवि पुश्किन का साथी था और अपनी कई रचनाओं में इसे पुश्किन से प्रेरणा मिली थी।

इसकी पहली रचना के प्रकाशित होते ही रूसी साहित्य मे एक तहलका मच गया। और यह रूसी साहित्य का एक प्रकाशमान नक्षत्र समझा जाने लगा। इसके कहानी ग्रन्थों में 'अरावेस्क' 'मीरगोरद' 'तारासबुल्बा' इत्यादि रचनाएँ बहुत लोकप्रिय हुईं। इसके नाटकों में 'इन्सपेक्टर जनरल' बड़ा लोकप्रिय हुआ। इस नाटक में रूसी नौकरशाही के भयंकर अत्याचारों और उसकी भ्रष्टाचारिता पर बड़ी सजीव भाषा में प्रकाश डाला गया है। इस नाटक के रंगमंच पर अभिनीत होते ही गोगोल रूस छोड़कर हमेशा के लिए रोम में जा बसा।

गोगोलकी रूसी साहित्यमें सबसे सुन्दर कृति 'मृत-आत्माएँ' मानी जाती हैं। यह उपन्यास तीन खण्डोंमें समाप्त होने वाला था लेकिन दूसरा भाग समाप्त होते-होते गोगोल को अपने धार्मिक संस्कारों के कारण इससे विरक्ति हो गयी। और उसने इसके दूसरे भाग को आग में डाल कर जला दिया। फिर भी उसका कुछ अंश बच गया। और इस ग्रन्थ का पहला खण्ड और दूसरा अपूर्ण खण्ड प्रकाशित हुए।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन ने रूसी साहित्य में एक अजीब युगान्तर कर दिया। सारे रूसी जीवन को इसने झकझोर दिया। हास्य, करुणा और गम्भीर तीनों प्रकार के रसों की सृष्टि ने इस ग्रन्थ को और इसके साथ गोगोल को रूसी साहित्य में अमर कर दिया।

गोञ्चारोव-इवानोविच

रूसी साहित्य का एक उपन्यासकार जिसका जन्म सन् १८१२ में और मृत्यु १८९१ में हुई।

गोञ्चारोव उन्नीसवी सदी में रूसी साहित्य के अन्तर्गत एक प्रसिद्ध उपन्यासकार हुआ। इसने सारे संसार का भ्रमण कर अपने यात्रा सम्बन्धी अनुभवों को पत्रों के रूप में लिखा। इसका उपन्यास 'आब्लोमोव' रूसी साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस उपन्यास में रूस के सामन्ती श्रीमानों के मौज, शौक और प्रमादी जीवन का चित्र बड़ी ओजस्वी भाषा में खींचा गया है।

गोञ्जालो-डी-बर्सियो

(Gonzalo-D-Berceo)

स्पेन का प्राचीन कालीन एक पादरी और कवि जिसने छन्दबद्ध कविता मे कई ईसाई सन्तों की जीवनियाँ लिखीं। इसका समय सन् ११९८ से १२६५ तक था।

गोंडा

उत्तरप्रदेश के सरयूपार क्षेत्रमें स्थित एक जिला। जिसके उत्तरमें हिमालय की पर्वत श्रेणी, पूर्व में वस्ती जिला, दक्षिण में फैजाबाद, बाराबंकी और घाघरा नदी तथा पश्चिममें बहराइच है। इसका क्षेत्रफल १८२९ वर्गमील और जनसंख्या ३० लाख ७३ हजार २२७ है।

गोंडा जिले का प्राचीन इतिहास प्राचीन "श्रावस्ती नगरी" से सम्बन्धित है। सूर्यवंशीय राजी श्रावस्ती के पुत्र 'वंशक' ने यहाँ पर श्रावस्ती-नगरी बसाई थी। यह नगरी रामचन्द्र के पुत्र 'लव' की राजधानी भी थी। आजकल इसका नाम 'सहेत-महेत' है।

ईसा की ३री शताब्दी में अयोध्या के राजा विक्रमादित्य के राज्यकाल में यह क्षेत्र बहुत समृद्धशाली था। मगर उसके पश्चात् गुप्तवंशीय राजाओं के समय मे बौद्धों और ब्राह्मणों के संघर्ष में यह क्षेत्र बीरान हो गया।

ईसा की १४वीं शताब्दी में यह क्षेत्र 'कलहंसी' और 'विशेनवंशी' क्षत्रियों के अधिकार में आ गया। कलहंसी राजाओं ने हिशामपुर से से लेकर गोरखपुर तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था।

१५वीं सदी में विशेन राजा मानसिंह ने इस क्षेत्र की बड़ी तरक्की की। राजा रामदत्त के शासनकाल में यह नगर एक प्रसिद्ध राजपूती गढ़ और व्यापारिक संस्थान बन गया था। रामदत्त सिंह ने इस नगर की तरक्की में विशेष रूप से भाग लिया।

सन् १८५७ ई० के विद्रोहमें गोंडाके राजाने विद्रोही पक्ष में अवध की बेगम को सहायता दी थी। जिसके फलस्वरूप उनका राज्य छीन कर अंग्रेज गवर्नमेंट ने बलरामपुर के महाराज दिग्विजय सिंह और शाहगञ्ज के महराज सर मान सिंह को बांट दिया था।

गोंडा जिले के अन्तर्गत गोंडा, बलरामपुर, उतरोला, कर्नलगञ्ज और नवाबगञ्ज प्रसिद्ध नगर और कस्बे हैं।

गोण्ड

भारतवर्ष के मध्यवर्त्ती प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और नर्मदा नदी के दक्षिण क्षेत्र में फैली हुई एक प्राचीन आदिम जाति। जो द्रविड़ नस्ल की मानी जाती है।

गोण्ड भारतवर्ष की आदिम जातियों में एक श्रेष्ठ जाति मानी जाती है। ऐसा समझा जाता है कि सतपुडा की पहाड़ियों और उसकी तलहटी के अतिरिक्त छिन्दवाडा, बैतूल, होशङ्गाबाद, सिबनी, खण्डवा और मण्डला से लेकर जो भाग छत्तीसगढ़ तक फैला हुआ है उसमें गोण्ड हमेशा से रहते आये हैं। यही प्रदेश गोण्डवाने के नाम से प्रसिद्ध है। पन्द्रहवीं से सतरहवी सदी तक इस सारे गोण्डवाने पर गोण्ड राजाओं का एक छत्र राज्य था। उनका यह साम्राज्य राजपूतों, मुसलमानों और मराठों के समय में भी कायम रहा। इतिहास प्रसिद्ध रानी दुर्गावती जिसने मुगल सम्राट् अकबर के दांत खट्टे किये थे, गोण्ड राजवंश की ही रानी थी। गोण्ड राजाओं ने अपने शासन में बहुत से दुर्ग, तालाब और स्मारकों का निर्माण करवाया था।

इस जाति के लोग खेती और शिकार से अपना गुजारा करते हैं। इनके खेती करने की पद्धति 'दहिया' कहलाती है जो जंगल को जलाकर उसकी राख में की जाती है।

अपने बिवाह सम्बन्धों के लिए गोण्ड जाति के लोग दो या अधिक समूहों में बंटे रहते हैं। एक समूह के अन्दर सभी शाखाओं के लोग भाईबन्द कहलाते हैं। एक समूह के विवाह सम्बन्ध दूसरे समूह में होते हैं। विवाह के लिए लड़के के द्वारा लड़की को भगाये जाने की प्रथा है। गोण्ड जाति के सघन क्षेत्रों में बहुत से विवाह सामूहिक रूप में होते हैं। ऐसे अवसरों पर कई दिनों तक उत्सव मनाया जाता है। सामूहिक भोज और नाच गान होते है।

गोण्ड स्त्रियां बड़ी हंसमुख और आजादी पसन्द होती हैं, इनमें तलाक की प्रथा भी चालू है जो पञ्चायत की इजाजत से होती है।

गोण्डों के देवताओं में बुडादेव, दुल्लादेव, घनश्याम देव, बूढापेन, भीवासु इत्यादि देवता प्रधान हैं। इसके सिवाय फसल के देवता, शिकारके देवता, तथा बीमारियोंके देवता अलग होते हैं। इस जाति का जादू, टोना और देवता के प्रकोप पर बहुत विश्वास है। इनकी पुरानी प्रथा मृतको के शव को गाड़ने की थी मगर आजकल अच्छे लोग अपने शवों को जलाने भी लगे हैं।

गोण्ड जाति के अविवाहित युवक और युवतियाँ मनोरञ्जन के लिए अपने अलग-अलग क्लब बनाते हैं। जिन्हे 'गोतुल' कहा जाता है। बस्तीसे कुछ दूर गांवके अविवाहित युवक एक बड़ा घर बनाते हैं। जहां वे रात्रि को गाते, नाचते और सोते हैं। ऐसे ही 'गोतुल' अविवाहिता लड़कियों के भी होते हैं।

गोण्डों का खास देश गोण्डवाना के नाम से प्रसिद्ध है जो नर्मदा नदी के दक्षिणी तट पर बसा हुआ है।

गोताखोरी

समुद्र के भीतर गोता लगा कर उसके तल का पता लगाने और उसमें डूबी हुई चीजें निकालने की एक कला। जिसका विकास इस युग में बहुत हुआ।

समुद्र के अन्तर्गत सैकड़ों वर्षो से बहुत से जहाज डूब जाते हैं और उनकी सारी धनराशि समुद्र के गर्भ मे समा जाती है। इसी प्रकार समुद्र के बढ़ाव से बहुत से नगर और बहुत सी सभ्यताएँ ज्यों की त्यों समुद्र के गर्भ में चली जाती हैं। पिछले ४०० वर्षो में जहाज-दुर्घटनाओं के कारण अरबों रुपयों की सम्पत्ति समुद्र के पेट में चली गयी।

गोताखोरी-विद्या के द्वारा समुद्र के अन्दर डूबी हुई इस सम्पत्ति का और उन सभ्यताओं का पता गोताखोर लोग लगाते हैं। वे नवीनतम साधनों और यन्त्रों के द्वारा समुद्र के अन्दर गोता लगा कर कई घण्टों तक सुरक्षित रूप में समुद्र के अन्दर रह सकते हैं। वहाँ से अपना काम करके फिर सुरक्षित रूप में वापस चले आते हैं।

इसी प्रकार हाल ही में 'आर्थर क्लार्क' और 'माइक विल्सन' नामक दो गोताखोरों ने लङ्का के पास सन् १९६१ ई० मे 'ग्रेट-बेसेस' नामक द्वीप के समानान्तर स्थित डूबी हुई शैल मालाओं के निकट गोता लगाकर औरङ्गजेब के डूबे हुए खजाने को बरामद किया। इस गोताखोरी में इन लोगों को पहले पीतलकी छोटी-छोटी दो तोपें प्राप्त हुई जो पुरानी होने बावजूद काफी चमक रही थीं। इन तोपो के पीछे की तरफ सैकड़ों पुराने सिक्के चिपके हुए थे। जो समुद्र में बहुत वर्षों तक पड़े रहने के कारण मैले पड़ गये थे और आपस में जुड़ भी गये थे। ये सिक्के २५-२५ या ३०-३० पौंड के पिंडो में जुड़े हुए थे। इन सिक्कों की परीक्षा करने के लिए जब उन्हें एक मुद्राशास्त्रीके पास भेजा गया तो उन मुद्राओंपर लिखी हुई फारसी लिखावट और उनकी तिथि को देखकर उसने बतलाया कि ये मुगल-सम्राट् औरङ्गजेब के शासनकाल के चाँदी के रुपये हैं।

इसके बाद और भी बहुत सी मुद्राएँ और दूसरी-दूसरी सामग्रियाँ वहाँ से प्राप्त हुई।

इस प्रकार गोताखोरी के द्वारा भिन्न-भिन्न समुद्रों में और भी कई चमत्कारपूर्ण खोजें करने के उदाहरण मिलते हैं।

गोदान

हिन्दी के सुप्रसिद्ध इतिहासकार 'प्रेमचन्द' का सबसे अंतिम और श्रेष्ठ उपन्यास। जिसका प्रकाशन सन् १९३६ ई० में हुआ।

इस उपन्यास में भी प्रेमचन्द की स्वाभाविक कला का सुन्दर विकास हुआ है। भारतीय प्रकृति का वास्तविक और सच्चा स्वरूप ग्रामोंके अन्दर ही देखा जा सकता है। इसीलिए प्रेमचन्द ने अपने अनेकों उपन्यास और कहानियों में भारतीय ग्राम्य जीवन का स्वाभाविक और वास्तविक चित्रण करने का प्रयास किया है और उसके साथ ही उसकी पृष्ठभूमि मे शहरी सभ्यता का भी चित्रण करके उनका तुलनात्मक अध्ययन किया है।

'गोदान' भी इस पृष्ठभूमि पर लिखा हुआ उपन्यास है। इसके मुख्य पात्रों में एक ओर होरी, धनियाँ, गोबर, झुनियाँ इत्यादि ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र हैं तो दूसरी ओर राय साहब अमरपाल सिंह, मिल मालिक खन्ना, लेडी डाक्टर मालती, पं० ओंकारनाथ इत्यादि शहरी जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले आनुसङ्गिक पात्र हैं।

इस उपन्यास का प्रधान पात्र 'होरी' एक सरल, निष्कपट, आत्मसम्मानी, ईमानदार और सामाजिक प्रतिष्ठा का महत्व समझने वाला किसान हैं। पूरे परिश्रम के साथ खेती करके अपनी आजीविका पैदा करता है, मगर फिर भी दरिद्रता पर विजय नहीं प्राप्त कर पाता। वह उदार और विशाल हृदय है। कुल की मर्यादा को प्राणों से भी अधिक समझता है, और उस मर्यादा की रक्षा के लिए घर के आँगन मे एक गाय को बाँधना आवश्यक समझता है। भोला से एक गाय खरीदकर वह अपने आँगन मे बंधवाता है। मगर उसके भाई हीरा को इससे बड़ी ईर्ष्या होती हैं और एक दिन मौका पाकर वह उस गाय को जहर दे देता है। गाय के मरने से सारे गाँव में तूफान मचता है। पुलिस थानेदार आकर जब हीराके घरकी तलाशी लेने लगता है तो होरी को फिर कुल-मर्यादा का ख्याल आता है और वह थानेदार को घर की तलाशी लेने से मना करता है और बड़ी कठिनाई से थानेदार को वापस लौटाता है।

इसी के बीच होरी के लड़के 'गोबर' का भोला की विधवा लड़की झुनियाँ से प्रेम हो जाता हैं और इसको गर्भ

रह जाता है। इस अवैधानिक कार्य के लिये पञ्चायत उस पर सौ रुपये नगद और ३० मन अन्न का जुरमाना करती है। इससे उसकी आर्थिक स्थिति और भी खराब हो जाती है और वह किसान से मजदूर बन जाता है। उसकी बैल-जोड़ी और घर गिरवी हो जाते हैं। वह चारो ओर ऋण के बोझ से दब जाता है। जीवन के संघर्ष में वह चूर-चूर हो जाता है। फिर भी वह अपने हृदय की विशालता और इंसानियत को नहीं छोड़ता। अन्त मे एक दिन उसको लू लग जाती है। वह मृत्यु शैया पर पड़ जाता है। उसकी गाय की लालसा पूर्ण नही होती और मृत्यु के समय उसकी स्त्री धनियां अपनी समस्त कमाई बीस आने पति के ठण्डे हाथ में रखकर रोती हुई ब्राह्मण से कहती है—'महाराज! घर में न गाय हैं, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं और यही इनका 'गोदान' है।' इस प्रकार अत्यन्त करुणापूर्ण और हृदय-द्रावक स्थिति में उपन्यास समाप्त होता है।

शहरी सभ्यता के पात्रों में लेडी डाक्टर मालती और प्रोफेसर मेहता की घनिष्ठता एक शिकार पार्टी में बढ़ जाती है। मालती बाहर से तितली और भीतर से मधुमक्खी है उसकी चटक-मटक को देख कर मिल मालिक खन्ना भी उसकी ओर आकर्षित होते हैं। और पैसे के बल पर उसको खरीदना चाहते हैं, किन्तु इस कार्य में उन्हें सफलता नहीं मिलती। उधर मेहता और मालती दोनों का प्रेम दृढ़ होता जाता है। मगर वे विवाह के बन्धन में बंधकर समाज की संकीर्ण मर्यादा से अपने आप को नहीं बाँधना चाहते, और मित्रभाव से रह कर समाज की सेवा करने मे लग जाते हैं। मिल मालिक खन्ना जो समाज के पूँजीपति अङ्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और मजदूरो का शोषण और स्वार्थ-साधन ही जिनका मुख्य ध्येय है। मजदूरों की हड़ताल के बाद जब मजदूर उनकी मिल को जला देते हैं, तब सीधी राह पर आकर अपने पिछले जीवन के लिए पश्चात्ताप करते हैं।

इस प्रकार इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने अपनी कला के द्वारा देहाती जीवन का सुन्दर चित्र, मनुष्य की उत्कृष्ट भावनाओं का प्रतिबिम्ब, शहरी जीवन की विलासपूर्ण सभ्यता का सजीव चित्र, पूँजीपतियों की शोषण-नीति का और शिक्षित समाज में वैवाहिक जीवन के प्रति उत्पन्न होने वाली उदासीनता का मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है।

उपन्यास बहुत बड़ा हो जानेसे कहीं २ लम्बे-लम्बे वर्णनों के कारण कथा के प्रवाह में कुछ शिथिलता अनुभव होती है। फिर भी सब बातोके बावजूद भारतीत जीवन का सुन्दर और विशद चित्रण करनेमें 'गोदान' को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

गोपालराम गहमरी

हिन्दी-साहित्य में जासूसी-उपन्यासो के प्रथम प्रवर्तक, जिनका जन्म सन् १८६६ ई० में गाजीपुर जिले के 'गहमर' नामक गाँव में हुआ और मृत्यु सन् १९४६ ई० में काशी में हुई।

गहमर में जन्म होने के कारण ये गहमरी नाम से मशहूर हुए। गोपालराम गहमरी की प्रतिभा बहुमुखी थी। शुरु-शुरु में इन्होंने बङ्गला के कई नाटकों और उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया। मगर इनकी सबसे अधिक ख्याति जासूसी-उपन्यासों के क्षेत्र मे हुई। सन् १८९६ ई० से इन्होने अपने जासूसी उपन्यासों की परम्परा प्रारम्भ की जो सन् १९४६ ई० तक बराबर चलती रही।

भारत के जासूसी साहित्य में इनका स्थान अंग्रेजी जासूसी-साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक 'कानन-डायल' की तरह माना जाता है।

गोपबन्धु-दास

उड़ीसा के एक सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय और सामाजिक कार्य्यकर्ता। जिनका जन्म सन् १८८७ में पुरी जिले के सत्यवादी नगर में और मृत्यु सन् १९२८ में हुई।

राष्ट्रीय, सामाजिक और शैक्षणिक तीनों ही क्षेत्रों में गोपबन्धु दास की सेवाएँ बहुत महत्वपूर्ण थी। अपनी जन्म भूमि सत्यवादी में उन्होंने खुले आकाश के नीचे गुरुकुल के ढङ्ग के एक बनविद्यालय की स्थापना की थी। राष्ट्रीय जागृति के लिए उन्होंने 'समाज' नामक एक दैनिक पत्र का भी प्रारम्भ किया था। उत्कल की जनता में वे 'दरिद्ररसखा' के नाम से प्रसिद्ध थे। पुरी में जगन्नाथ मन्दिर से कुछ दूरी पर उनकी यादगार में एक सङ्गमरमर की मूर्ति लगाई गई है।

गोपालचन्द्र प्रहराज

उड़िया भाषा के विशाल कोष के प्रणेता और व्यङ्ग साहित्यकार। जिनका जन्म सन् १८७२ में कटक जिले के सिद्धेश्वरपुर में और मृत्यु सन् १९४५ में हुई।

उड़िया भाषा में "पूर्णचन्द्र उड़िया भाषा कोष' नामक महान् कोष की रचना कर उन्होंने अमर कीर्ति सम्पादन की। यह विशाल कोष डेढ़ डेढ़ हजार पृष्ठों के सात खण्डो में विभाजित है और इसमें एक लाख चौरासी हजार शब्दों का वर्णन दिया गया है। प्रत्येक शब्द का उच्चारण अंग्रेजी अक्षरों में भी दिया हुआ है और कई शब्दों के साथ उनके हिन्दी, वङ्गला और अंग्रेजी अर्थ भी दिये गये हैं। इस कोष की रचना में उनका बीस बरस से भी अधिक समय लगा था।

गोपालदास बरैया

दिगम्बर जैन दर्शन और न्याय के एक प्रकाण्ड विद्वान्, जिनका जन्म सन् १८६६ मे आगरा में और मृत्यु सन् १९१७ ई० में हुई।

पं० गोपालदास बरैया, जैन दर्शन और जैन न्याय के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी विद्वता के कारण जैन समाज ने इनको 'स्याद्वाद वारिधि' 'वादिगज केशरी' 'न्याय वाचस्पति' इत्यादि कई उपाधियां प्रदान की थी। गवालियर के समीप मुरैना नामक स्थान पर इन्होंने 'जैन सिद्धान्त विद्यालय' के नाम से एक जैन विश्वविद्यालय की स्थापना की थी और उसी की सेवा में अपना सारा जीवन अवैतनिक रूप से अर्पित कर दिया था। इस विद्यालय से पचासों जैन सिद्धान्त के विद्वान तैयार हुए। 'जैनमित्र' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रारम्भ भी इन्ही के द्वारा हुआ था।

जैन न्याय और दर्शन के सम्बन्ध मे इन्हों ने कई ग्रन्थों की रचना की। इनमे 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' जैन सिद्धान्त दर्पण इत्यादि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

गोपाल

गौड़ देश या उत्तरी वङ्गाल में सुप्रसिद्ध पाल राजबंश के संस्थापक। जिनका समय आठवी शताब्दी के मध्य में समझा जाता है।

आठवीं सदी के प्रारम्भ में गौड़ नरेश आदिशूर के पश्चात् गौड़ देश में अराजकता की स्थिति प्रारम्भ हो गई। सन् ७५० ई० के करीब 'गोपाल' नामक एक व्यक्ति ने इस अराजकता का अन्त कर 'पालवंश' नामक सुप्रसिद्ध राजबंश की स्थापना की। पालवंश वङ्गाल का एक सुप्रसिद्ध राजवंश रहा। इस वंश के सभी राजा प्रायः बौद्ध मतावलम्बी थे। गोपाल ने उद्दण्डपुर मे एक बौद्ध बिहार का निर्माण करवाया। कन्नौज के वत्सराज प्रतिहार ने एक बार "गोपाल" को युद्ध में परास्त भी किया था।

गोपाल एक अत्यन्त उदार, वीर और प्रजाप्रिय राजा था। उसने धीरे-धीरे सारे बङ्ग देश पर अधिकार कर 'गौड़ाधिपति' का विरुद ग्रहण किया। उसके राज्य की तुलना पृथु और सगर के प्रजाप्रिय राज्यों के साथ की जाती थी।

गोपालशरण सिंह

हिन्दी-साहित्य मे द्विवेदी-युग के एक सुप्रसिद्ध कवि, जिनका जन्म सन् १८९१ ई० में रीवां राज्य के 'नईगढ़ी' नामक स्थान पर और मृत्यु सन् १९६० ई० में हुई।

सन् १९११ से इन्होंने कविता करना प्रारम्भ किया। इनकी सबसे पहली काव्यकृति 'माधवी' प्रकाशित हुई, जो इनकी मुक्तक रचनाओं का संग्रह है। इनकी दूसरी रचना 'कादम्बिनी' मे जीवनकी अनुभूतियां और अनुभूतियों से अनुप्राणित नैसर्गिक दृश्यों के अनेक चित्र अङ्कित हैं। इनकी तीसरी कृति 'मानवी' नारी-जीवन की विविध अवस्थाओं का मर्मान्तिक प्रदर्शन करने वाली काव्यकृति है। इसमें लेखक ने नारी को देवदासी, उपेक्षिता, अभागिनी, भिखारिणी, वीराङ्गना, विधवा आदि अनेक रूपो मे देखा है।

इसके अतिरिक्त इनकी 'सुमना' 'ज्योतिष्मती' 'सञ्चिता' इत्यादि काव्य कृतियां भी उल्लेखनीय हैं। ठाकुर गोपालशरण सिंह उस युगके कवियोंमे एक श्रेष्ठकवि समझेजाते थे। इनकी काव्य भाषा शुद्ध, सहज और प्रासाद गुण से परिपूर्ण है।

गोपालसिंह नैपाली

हिन्दी-साहित्य में मानववादी कविता के क्षेत्र में सबसे प्रसिद्ध और अविस्मरणीय कवि। जिनका जन्म सन्१९०२ ई० में बेतिया के अन्दर और मृत्यु सन् १९६३ ई० में हुई।

यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने प्रसिद्ध और महान् कवि की शिक्षा केवल प्रवेशिका परीक्षा तक हुई। यह इस बात का प्रमाण है कि जिसके हृदय में प्रकृति प्रदत्त स्वाभाविक प्रतिभा रहती है वह व्यक्ति स्कूली शिक्षा का मोहताज नही रहता।

नैपाली की कविताका प्रारम्भ सन् १९२९ ई०से हुआ। सन् १९३४ ई० मे इनकी 'उमङ्ग' नामक पहली काव्यकृति प्रकाशित हुई। इस पहली कृति से ही कवि को प्रतिभा का प्रमाण लोगों को मिल गया। इस कृति मे कवि की काव्य-प्रतिभा स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित होकर प्रवाहित हुई हैं। भावों की मादकता, शब्द लालित्य और उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा का इसमें प्रदर्शन हुआ है।

इसी वर्ष उनका दूसरा काव्य 'पंछी' के नाम से प्रकाशित हुआ। सन् १९३५ ई० में उनका तीसरा काव्य-संग्रह 'रागिनी' के नाम से प्रकाश में आया। इसी प्रकार 'नीलिमा' 'पञ्चमी' और 'सावन' भी 'नेपाली' की उत्कृष्ट रचना है।

सावन नामक रचना १०१ रुबाइयों मे समाप्त हुई है, जिसमें जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में बड़ी सुन्दर व्याख्या की गयी है।

भाषा का माधुर्य, प्रकृति के सहजस्वरूप का चित्रण, मस्ती, निर्भीकता, उत्कृष्ट काव्यप्रतिभा इत्यादि जो विशेषताएँ नैपाली की काव्य-रचना में मिलती हैं, वह छायावाद के प्रथम् द्वितीय और तृतीय उत्थान के कवियों में भी दृष्टिगोचर नहीं होतीं। रसपूर्ण सङ्गीतमय छन्द, सुकुमार भावशय्या, सौन्दर्य मयी वृत्ति, आन्तरिक स्फुरण, मन की सहज प्रेरणा और कल्पनाप्रवण यौवन की उष्मता के लिए नैपाली के गीत हमेशा चिरस्मरणीय रहेगे।

गोम्मटेश्वर

मैसूर राज्य के श्रवणवेलगोला नामक सुप्रसिद्ध जैनतीर्थ विन्ध्यगिरि के ऊपर स्थित 'गोम्मटेश्वर' की विशाल प्रतिमा। जिसका निर्माण गङ्ग राजवंश के राजा राचमल्ल चतुर्थ के प्रधान मन्त्री और सेनापति चामुण्डराय ने ई० सन् ९७७ के आसपास करवाया।

श्रवण वेलगोला की 'विन्ध्यगिरि' या 'इन्द्रगिरि' नामक पहाड़ी समुद्रतल से ३,३४७ फुट ऊँची है। इस पहाड़ी के शिखर पर पहुंचने के लिए लगभग ५०० सीढियाँ बनी हुई हैं। ऊपर एक समतल चौक है। चौक के ठीक बीचोबीच 'गोम्मटेश्वर' की विशाल-नग्न-खड्गासन मूर्ति स्थापित है।

यह उत्तरमुख खड्गासन-मूर्त्ति समस्त संसार की आश्चर्यकारी वस्तु मे से एक है। सिर के बाल घुँघराले, कान बड़े और लम्बे, वक्षस्थल चौड़ा, विशाल बाहू नीचे को लटकते हुए हैं। मुख पर अपूर्व कान्ति और अगाध शान्ति है। घुटनों से *कुछ ऊपर तक बाँबिएँ दिखाई गयी हैं जिनसे सर्प निकल* रहे हैं। दोनों पैरो और बाहुओं से माधवी लता लिपट रही है। मूर्ति के ऊपर तपस्या का तेज और शान्ति छायी हुई है।

निस्सन्देह मूर्तिकार ने अपने इस अपूर्व प्रयास में अनुपम सफलता प्राप्त की है। देश और विदेश के बड़े-बड़े पुरातत्वज्ञ और इतिहासकार इस विशाल मूर्ति की कारीगरी को देखकर हैरतअंगेज हो गये हैं! एशिया खण्ड हीं नहीं, सारे विश्व में भी गोम्मटेश्वर के समान मूर्ति-कला का उत्तम उदाहरण देखने को नहीं मिलेगा।

अभी तक इस विशाल मूर्ति की ऊँचाई का ठीक-ठीक पता लोगों को नहीं मिला है। अंग्रेज विद्वान् 'बूचानन' ने इसकी ऊँचाई ७० फीट ३ इञ्च और सर 'आर्थर-वेलेस्ली' ने ६० फुट ३ इञ्च दी है।

सन् १८६५ ई० में मैसूर के चीफ कमिश्नर मि० 'बोरिंग' ने मूर्ति का माप करवा कर उसकी ऊँचाई ५७ फुट दर्ज करवाई है।

गोम्मट स्वामी कौन थे और उनकी मूर्ति, यहाँ किसके द्वारा, किस प्रकार प्रतिष्ठित की गयी--इसका विवरण एक शिलालेख में (२३४) पाया जाता है। यह लेख एक छोटा सा कनाड़ी काव्य है। जो सन् ११८०के लगभग'बोप्पण' कवि के द्वारा रचा गया है। इस लेख के अनुसार गोम्मट प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र के। इनका नाम बाहुबली या भुजवली भी था। इनके भाई भरत चक्रवर्ती थे। ऋषभदेव के दीक्षा धारण करने के पश्चात् भरत और बाहुबली दोनों

भाइयों में राज्य के लिए लड़ाई हुई। इसमें बाहुबली की विजय हुई, पर संसार की गति से विरक्त हो, उन्होंने अपना राज्य बड़े भाई भरत को दे दिया और स्वयं तपस्या के हेतु बन को चले गये। 'पोदनपुर' नामक स्थान में तपस्या करते हुए उन्होंने केवल ज्ञान की प्राप्ति की। भरत चक्रवर्ती ने उनके स्मारक में उनकी शरीराकृति के अनुरूप ५२५ धनुष ऊँची प्रतिमा पोदनपुर में स्थापित करवाई। कुछ समय पश्चात् पोदनपुर के आसपास का सारा क्षेत्र 'कुक्कुट' सर्पों से व्याप्त हो गया। जिससे उस मूर्ति का नाम 'कुक्कुटेश्वर' पड़ गया। धीरे-धीरे वह मूर्ति लुप्त हो गयी और उसके दर्शन केवल दीक्षित व्यक्तियों को मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राप्त होने लगे।

दसवी सदी में गंगवंश के राजा राचमल्ल चतुर्थ के प्रधान मन्त्री जैन-श्रावक चामुण्डराय ने जब इस मूर्ति का वर्णन सुना तो उन्हे उसके दर्शन करने की अभिलाषा हुई, पर पोदनपुर की यात्रा अशक्य जान उन्होंने उसी के समान मूर्ति का निर्माण करवा कर श्रवणबेलगोला में उसे स्थापित किया।

भुजबली शतक नामक १६ वी सदी के लिखे हुए एक काव्य में भी इसी प्रकार का वर्णन कुछ हेर-फेर के साथ पाया जाता है।

मूर्ति का निर्माण होने के पश्चात् उसके अभिषेक की तैयारी की गयी। मगर जितना भी दूध चामुण्डराय ने अभिषेक के लिए इकट्ठा करवाया था, वह सारा दूध मूर्ति पर डाल देने पर भी जंघा से नीचे का स्नान नही हो सका। तब चामुण्डराय ने घबरा कर अपने गुरु आचार्य अजितसेन से सलाह ली। आचार्य ने उन्हें बतलाया कि एक वृद्धा स्त्री अपनी गुल्लकाई मे थोड़ा सा दूध लाई है, उससे स्नान कराओ। चामुण्डराय ने तब उस थोड़े से दूध की धारा गोम्मटेश्वर के मस्तक पर छोड़ी तो सारी मूर्ति का स्नान हो गया। और दूध धरती पर बह निकला।

इस वृद्धा स्त्री का नाम इसी समय से 'गुल्लकायज्जी' पड़ गया। इसके पश्चात् चामुण्डराय ने पहाड़ी के नीचे एक नगर बसाया और मूर्ति के लिए ६८ ग्राम नाम मे दिये। इस नगर का नामकरण उस वृद्धा स्त्री के नाम पर 'बेलगोल' रखा गया और उस वृद्धा स्त्री गुल्लकायज्जी की एक मूर्ति भी स्थापित की गयी।

इस मूर्ति का अभिषेक १२ वर्षों के अन्तर से होता है। जो बड़ी धूमधाम, क्रिया काण्ड और भारी द्रव्य व्यय के साथ मनाया जाता है। इसे महाभिषक भी कहते हैं। इस महाभिषेक का सबसे प्राचीन उल्लेख शक-सम्वत् १३२० के एक लेख में पाया जाता है।

इसके बाद सन् १८२५ ई० के लगभग मैसूर-नरेश कृष्णराज ओडायर तृतीय के द्वारा कराये हुए महाभिषेक का उल्लेख एक शिलालेख में पाया जाता है। इसके बाद समय-समय पर कई महाभिषेक होते रहते हैं जिनमें लाखों दिगम्बर जैन सारे भारतवर्ष से आकर इकट्ठे होते रहते हैं।

सन्दर्भग्रंथ—

मैसूर आर्कियालॉजिकल रिपोर्ट
एपी ग्राफिया कर्नाटिका
डॉ० हीरालाल जैन-जैन शिलालेख संग्रह

गोम्मट सार

दिगम्बर जैन साहित्य का एक महान् और बिशाल ग्रंथ। जिनकी रचना जैनाचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने ईसा की दशवीं सदी में की।

इस ग्रंथ के जीव काण्ड, कर्म काण्ड आदि कई भाग हैं। जैन धर्म के जीव सिद्धान्त और कर्म सिद्धांत की इस ग्रंथ में विशद आलोचना की गई है। यह ग्रंथ जैनिओं के सुप्रसिद्ध ग्रंथ धवल-सिद्धांत से संग्रहीत किया गया है। गंगवंश के राजा 'राचमल चतुर्थ' के मंत्री चामुण्डराय की प्रेरणा से नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने इस ग्रंथ की रचना की थी।

गोरखनाथ

नाथ योगी सम्प्रदाय के एक सुप्रसिद्ध सिद्ध। जिनका समय ईसाकी दसवी से ग्यारहवीं सदी के बीच माना जाता है।

गुरु गोरखनाथ नाथ-योगी सम्प्रदाय के सर्वप्रधान नेता थे। और इस सम्प्रदाय को संगठित करने और सुव्यवस्थित रूप देने का श्रेय इन्ही को प्राप्त है। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए इन्होंने समस्त भारत को, नेपाल की

ग्रौर कश्मीर की लम्बी-लम्बी यात्राएँ कीं। ग्रौर कई स्थानों पर अपने केन्द्र स्थापित किए। इन केन्द्रों में १२ केन्द्र अब भी प्रसिद्ध हैं। जिनके नाम हैं—

(१) उड़ीसा स्थित भुवनेश्वर का सत्यनाथ पन्थ, (२) कच्छ का धर्मनाथ पन्थ (३) गंगा सागर के निकट का कपिलानी पन्थ, (४) गोरखपुर का रामनाथ पन्थ (५) पञ्जाब में झेलम जिले के अन्तर्गत गोरख टीकाका लक्ष्मणनाथ पन्थ (६) पुष्कर के पास रातं डूंगा स्थान का वैराग्य पंथ (७) जोधपुर के महामन्दिर का माननाथी पन्थ, (८) बंगाल मे दिनाजपुर जिले के गोरखकुईं का ग्राई पन्थ, (९) पञ्जाब के गुरुदासपुर का गंगानाथ पन्थ (१०) ग्रम्वाले का ध्वजनाथ पन्थ, (११) बोहर का पागल पन्थ ग्रौर (१२) रावलपिण्डी का नागनाथ पन्थ हैं।

उपर्युक्त १२ पन्थों के अतिरिक्त ९ नाथों के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नव नाथोमें पूरन भगत, भर्तृहरि, गोपीचन्द ग्रादि के नाम उल्लेखनीय हैं जिनके सम्बन्ध में अनेक रहस्यमय कथाएँ भी प्रचलित हैं।

गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्त के सिद्धान्तों से मिलते जुलते हैं। परन्तु वेदान्त की साधना ग्रौर नाथ पंथ की साधना मे बहुत मौलिक अन्तर है। वेदान्त जहाँ ज्ञानमार्ग के द्वारा तत्व-विचार को सर्वोच्च स्थान देता है तथा नित्यानित्य विवेक, वैराग्य, एवं ब्रह्म स्वरूप में समाहित होने की एकान्तिक चेष्टा को ही सब कुछ समझता है। वहाँ गोरखनाथ का योगदर्शन शारीरिक प्रक्रियाग्रों के द्वारा प्राणों के नियमन ग्रौर चित्तवृत्तियों के अवरोधपर भी पूर्ण बल देता है। इनके मत से योग-साधना का मुख्य ध्येय किसी प्रकार चित्तवृत्तियों की बहिर्मुखता ग्रौर बहुमुखता को अन्तर्मुखता व एकमुखता में परिणित करना हैं,। जिसके द्वारा साधक के सभी भाव ज्ञान एवं कर्म एकात्मतत्व की ग्रोर ही केन्द्रीभूत हो जायँ तथा उसके जीवन में साम्य एवं शान्ति ग्रा जाय।

गुरु गोरखनाथ की गोरखवाणी में बताया है—

अवधू नवघाटी रोकिले बाट,
बाई बणिजै चौसठि हाट।
काया पलटै अविचल विध,
छाया बिविरजित निपजै विध॥

अर्थात्—शरीर के नवों द्वारों को वन्द करके वायु के ग्राने जाने का मार्ग रोक दिया जाय तो उसका व्यापार ६४ सन्धियों में होने लगेगा। इससे निश्चय ही काया-कल्प होगा। ग्रौर साधक एक ऐसे सिद्ध में परिणित हो जायगा, जिसकी छाया नही पड़ती।

सारमसारं गहर गम्भीरं, गगन उछलिया नादं।
मानिक पाया, फेरि लुकाया, झूठा वाद बिवादं॥

अर्थात् साधना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाने पर अनाहत नाद सुनाई पड़ता है, जो समस्त सारतत्वों का भी सार है ग्रौर गम्भीर से भी गम्भीर है। इससे ब्रह्मानुभूति की स्थिति उपलब्ध होती है। जिसे कोई शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। तभी प्रतीत होने लगता है कि इसके अतिरिक्त सारा वाद-विवाद झूठा है।

गोरखनाथ कहते हैं कि यदि तुम्हें मेरे वचनों में पूरी ग्रास्था हो जाय ग्रौर तुम उसके अनुसार कर देखो तो पता चलेगा कि बिना खम्भे के ग्राधार पर स्थित ग्राकाश में तेल ग्रौर बत्ती के बिना ज्ञान का प्रकाश हो गया। ग्रौर तुम सदा उसके उजाले में विचरण कर रहे हो।

इसी कारण गोरखनाथ प्राणायाम की साधना को पूरा महत्व देते हुए बतलाते हैं कि उन्मनी योग इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा ही सिद्ध होता हैं। इस लिए साधकों को चाहिए कि कोरे अध्ययन मे ही लीन न रह कर उक्त सारी बातों को क्रियाग्रों के द्वारा प्रत्यक्ष कर ले।

उक्त युक्तियों के द्वारा 'शब्द' को प्राप्त कर लेने पर परमात्मा ग्रात्मा मे वैसे ही दिखने लगता है, जैसे जल में चन्द्रमा प्रतिविम्बित होता है।

गोरखनाथ के सम्बन्ध मे यह भी कहा जाता है कि पारद की रस क्रिया के द्वारा शरीर-सिद्धि ग्रौर धातु-सिद्धि के ज्ञान का भी उन्होंने प्रचार किया था। मगर उनकी रचनाग्रों में इस प्रकार के प्रयोगों का उल्लेख बहुत कम पाया पाया जाता हैं।

इस प्रकार गुरु गोरखनाथ के द्वारा निर्दिष्ट निर्गुण व निराकार की उपासना, भक्ति व प्रेम का ग्राधार पाकर ग्रौर भी लोकप्रिय वन गयी।

गोरखनाथ के सम्प्रदाय में ग्रागे जाकर कई लोग 'ग्रौघड़' या 'ग्रौघड़पन्थी' भी हो गये। ऐसे लोग सम्भवतः पाशुपत

शैवों और कापालिकों से विशेष प्रभावित थे। ऐसे लोगों में मोतीनाथ, दत्तात्रय, और कालूराग के नाम विशेष उल्लेखनीय समझे जाते हैं।

इनकी संस्कृत रचनाओं में अवधूत-गीता, अवरोध शासनम्, गोरक्षगीता, गोरक्षसंहिता, योगशास्त्र, गोरख सिद्धासन पद्धति और हिन्दी-रचनाओं में ज्ञानोदय बोध, प्राणसंकली, आत्मबोध, मच्छीन्द्र-गोरखबोध, गोरख-गणेश-गोष्ठी, गोरख-वाणी इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

ऐसा कहा जाता है कि नाथयोगी-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक आदिनाथ स्वयं शिव थे। उनके शिष्य मच्छेन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ हुए। जालन्धरनाथ के शिष्य कृष्णापाद और मच्छेन्द्रनाथके शिष्य गोरखनाथ हुए। जालन्धरनाथ और कृष्णापाद का सम्बन्ध कापालिक साधना से रहा। और मछेन्द्रनाथ और गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के संस्थापक हुए।

(परशुराम चतुर्वेदी—भारत की सन्त-परम्परा।)

गोर्की (Maxim Gorky)

रूसी साहित्य में नवीन युग के महान् और अप्रतिम लेखक और उपन्यासकार। जिनका जन्म सन् १८६८ ई० में और मृत्यु सन् १९३६ ई० में हुई। इनका असली नाम Alokscy Nikoloyevish, Pycshkov (एलेक्सी निकोलेविच पेसकोव) था।

पुश्किन, गोगोल, टालसटाय और चेखव की कृतियों में मूर्त रूसी साहित्य की मानवतावादी परम्परा को आगे बढ़ाते और विकसित करते हुए महान् रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की ने विचारों, भावचित्रों और सौन्दर्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों की एक नई दुनियाँ का उद्घाटन किया। मानवतावाद का एक नया रूप, एक नया दृष्टिकोण उन्होंने पेश किया।

साहित्य की पुरानी परम्पराओं को तोड़ कर एक मौलिक भावना, मौलिक विचार-धारा और मौलिक पृष्ठभूमि के साथ उन्होंने वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज के शोषण से पीड़ित किसानों और मजदूरों के चरित्रों का चित्रण किया। मगर ऐसे चरित्रों में दूसरे लेखकों की तरह उन्होंने कहीं भी निराशा, मायूसी, करुणा तथा दुर्दैव के सम्मुख नतमस्तक होने का अंकन नहीं किया। उनके चरित्र जीवन की चुनौती को स्वीकार करते हैं। साहस और आत्मबल के साथ कार्यक्षेत्र में बढ़ते है। अपनी कठिनाइयों को दूर करने के लिए न वे किसी के सामने हाथ पसारते हैं और न आत्मसमर्पण करते हैं।

सन् १९०६ ई० में उनका अमर उपन्यास "माँ" प्रकाशित हुआ। विश्व-साहित्य में पहली बार इस ग्रंथ मे क्रान्तिकारी संघर्ष और क्रान्तिकारी मजदूरों का व्यापक चित्र प्रस्तुत किया गया। उसमें उन्होंने दिखाया कि केवल वे ही लोग, जो जनता के साथ घनिष्टरूप में गुंथे हुए होते है और अपने कर्तव्य के प्रति असीम निष्ठा का परिचय देते हैं—जनता को विजय की ओर ले जा सकते हैं।

दुनियाँ की सभी भाषाओं में 'माँ' का अनुवाद किया गया। सभी देशों के मजदूरों के लिए 'माँ' एक प्रिय पुस्तक बन गयी। इसके बाद विश्व-साहित्य के विकास में गोर्की की कृतियों ने धुरी का स्थान ग्रहण कर लिया।

उपन्यासों के सिवा कविता के क्षेत्र में और कहानियों के क्षेत्र में भी गोर्की ने बहुत सफलता प्राप्त की। उनकी 'लड़की और मौत' नामक कविता, पहली कविता थी, जो सन् १८९२ में प्रकाशित हुई थी। इस कविता में उन्होंने जीने तथा संघर्ष करने के संकल्प को ऊँचा उठाया।

इस प्रकार गोर्की ने मजदूर वर्ग के जीवन की व्याख्या करने में रूसी साहित्य को नया मोड़ दिया। उनके द्वारा किया हुआ प्रकृति का चित्रण भी पुराने लेखकों के प्रकृति चित्रण से एक दम भिन्न, बिलकुल वास्तविक और स्वाभाविक है।

इस प्रकार इस महान रूसी लेखक ने रूसी-साहित्य के अन्दर एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ।

गोरखपुर

उत्तर प्रदेश के उत्तर पूर्वी भाग का एक जिला और शहर। इसके उत्तर में नैपाल राज्य, पूर्व में सारन और चम्पारन जिला, दक्षिण में घाघरा नदी तथा पश्चिम में वस्ती जिला है।

गोरखपुर शहर का नामकरण सुप्रसिद्ध सिद्ध गोरखनाथ के नाम पर किया गया था। बावा गोरखनाथ का मन्दिर जिसपर इस नगर का नाम आधारित है, नगर के विकास का मुख्य केन्द्र रहा है।

गोरखपुर का नामकरण सन् १४०० के करीब हुआ ऐसा समझा जाता है उस समय के आस पास यह क्षेत्र मझौली वंश और शतासी वंश के राजाओं के अधिकार में था। अकबर महान् के समय में यहाँ पर राजपूत राजाओं का आधिपत्य समाप्त हुआ तथा यह क्षेत्र मुसलमानों का बहुत बड़ा गढ़ बन गया।

सन् १६१० ई० में श्रीनेत राजपूत राजा बसन्तसिंह ने यहाँ पर फिर हिन्दू राज्य की स्थापना की। जो सन् १६८० ई० तक चला। सन् १६८० ई० में औरङ्गजेब ने इस पर फिर अधिकार कर लिया। उसी समय की बनी हुई जामा-मस्जिद अभी विद्यमान है।

सन् १८०१ ई० में यह क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार में आया। अंग्रेजी-राज्य में आने के पश्चात् गोरखपुर नगर का सर्वतोमुखी विकास हुआ। सन् १८८५ ई० में यहाँ पर रेलवे-लाइन प्रारम्भ हुई और बी० एन० डब्ल्यू० आर० का मुख्य केन्द्र यहाँ पर स्थापित हुआ।

इसी प्रकार सिविललाइन, पोलिस लाइन, रेलवे कालोनी तथा तरह-तरह के उद्योग-धन्धों से यह नगर चहल-पहल का बड़ा केन्द्र हो गया।

आजकल यह नगर उत्तर-पूर्व रेलवे का बहुत बड़ा जंक्शन और केन्द्र है। यहाँ पर निजी क्षेत्र के आठ और सरकारी क्षेत्र के चार कारखाने हैं। जिनमें ६००० से अधिक व्यक्ति काम करते हैं। हाथ-करघा उद्योग का गोरखपुर एक बहुत बड़ा केन्द्र है। यहाँ के हाथ-करघे की कारीगरी बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ एक युनिवर्सिटी, दो डिग्री कालेज और बारह माध्यमिक विद्यालय हैं।

गोरख प्रसाद डॉक्टर

हिन्दी-साहित्य में वैज्ञानिक विषयों के सुप्रसिद्ध लेखक। जिनका जन्म सन् १८९६ ई० में गोरखपुर में हुआ और मृत्यु सन् १९६१ ई० में काशी के अन्तर्गत गंगाजी में डूब जाने से हुई।

सन् १९१८ ई० में काशी-विश्व-विद्यालय से एम० एस० सी० करनेके पश्चात् महामना मालवीयजीकी प्रेरणासे इन्होंने एडिनबरा जाकर सन् १९२४ ई० में गणित शास्त्र में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। सन् १९२५ ई० में इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में गणित विभाग के रीडर नियुक्त हुए और सन् १९५७ ई० तक वहाँ काम किया।

दूरूह और जटिल वैज्ञानिक विषयों को सरल हिन्दी-भाषा में प्रस्तुत करने में डाक्टर गोरखप्राद ने बहुत सफलता प्राप्त की। सन् १९३० में इनका 'फोटोग्राफी' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। जिस पर उन्हें 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का मङ्गला-प्रसाद-पुरस्कार प्राप्त हुआ।

सन् १९३१ में इनकी 'सौर-परिवार' नामक खगोल-शास्त्र की महत्त्वपूर्ण रचना प्रकाशित हुई। सन् १९५५ ई० में 'नीहारिकाएँ' और सन् १९५६ ई० में 'भारतीय-ज्योतिष का इतिहास' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुए।

अंग्रेजी भाषा में गणित शास्त्र पर इनकी कई पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित हुईं। सन् १९५७ में विश्वविद्यालय से रिटायर होकर डा० गोरख प्रसाद 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी में 'हिन्दी विश्व-कोश' के एक सम्पादक नियुक्त हुए। मगर सन् १९६१ में नदी-दुर्घटना में इनकी मृत्यु हो गयी।

गोरखा

नैपाल-राज्य के 'गोरखा' नामक जिले के अन्तर्गत बसने वाली एक बहादुर सैनिक जाति।

गोरखा जिला गंडकी नदी के उत्तर-पूर्व में अवस्थित है। कहा जाता है कि एक समय गुरु गोरखनाथ नैपाल में आये थे। जिस स्थान पर रह कर उन्होंने १२ वर्ष तक घोर तपस्या की थी, वह स्थान उनके नाम पर 'गोरखा' नाम से प्रसिद्ध हुआ और वहाँ के निवासी भी गोरखनाथ के भक्त होने से 'गोरखा' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार गोरखा शब्द का प्रयोग उन सब जातियों और वर्गोंके लिए होता है जो गोरखा प्रदेश में रहती थी।

ईसा की १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण से त्रस्त होकर उदयपुर के गहलोत-वंश की एक शाखा उदयपुर से निकल कर नैपाल की पालपा और गोरखा बस्तियों में जाकर बस गयी। और वहीं पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

ये लोग धीरे-धीरे वहाँ के निवासियों के साथ घुल मिल गये। १५ वीं, १६वीं, और १७वी सदियों मे वर्तमान नेपाल में किसी सुसंगठित राज्य की सत्ता नहीं थी। छोटे छोटे पहाड़ी राज्य विद्यमान थे। इनमें गोरखा राज्य सबसे शक्तिशाली था। इस राज्य के राजा 'नर पाल शाह' थे। इनकी कल्पना सारे नेपाल-राज्य को एक संगठित रूप देने की थी। उनके जीवन मे यह कल्पना पूरी न हो सकी, मगर उनके पुत्र पृथ्वीनारायण शाह ने गोरखा सेना को नवीन अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर निरन्तर युद्धों के पश्चात् सारे नेपाल को एक झंडे के नीचे संगठित कर दिया। उन्होंने नेपाल की घाटी और उसके चारों ओर के पार्वत्य प्रदेश में सुव्यवस्थित गोरखा-शासन की स्थापना कर दी।

सन् १७७२ ई० में राजा पृथ्वीनारायण शाह की मृत्यु हो गयी और सन् १७७७ ई० मे उनके पुत्र प्रताप सिंह भी चल बसे। तब प्रतापसिंह की विधवा रानी राजेन्द्र लक्ष्मी अपने नाबालिग पुत्र रणबहादुर के नाम पर राज्य करने लगी। इस समय गोरखा सेनाओं ने नेपाल के पश्चिम 'सप्त गण्डकी प्रदेश' और पूर्व मे 'सप्त कौशिकी प्रदेश' पर भी विजय प्राप्त कर उसे नेपाल-साम्राज्य में मिला लिया।

इसके पश्चात् रणबहादुर के सन्यासी हो जाने के कारण उसकी बड़ी रानी राजराजेश्वरी ने नेपाल की सत्ता अपने हाथ में सम्भाली।

इस काल में गोरखा-इतिहासमें अमरसिंह थापा का नाम चमकता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह व्यक्ति बड़ा बहादुर, राजनीतिज्ञ और योग्य सेनापति था। रानी राजेश्वरीने अमरसिंह थापा को सेना में उच्च स्थान देकर उसे गढ़वाल को विजय करने का काम सौंपा। कुमायूँ पहले ही नेपालके आधीन हो चुका था। अमरसिंह थापाने गढवाल विजयके साथ-साथ सारे हिमाचल प्रदेश को, जिसमें सुकेत, कुल्लू, चम्बा, नूरपुर, बसोली, कांगड़ा इत्यादि शामिल थे विजय प्राप्त की। निस्सन्देह अमगरसिंह थापा एक अत्यन्त योग्य और कुशल सेनापति था। हिमालय के इतने विशाल प्रदेश को विजय कर नेपाल की अधीनता में ले आने में उसे अद्भुत सफलता प्राप्त हुई, मगर नेपाल की ओर से सैनिक मदद न मिलनेसे उसकी आगे की योजनाएँ सफल न हो सकीं और पञ्जाब के राजा रणजीत सिंह ने उसकी बढ़ती हुई गति को रोक दिया।

उसके बाद अंग्रेजों के साथ नेपाल के गोरखा-राज्य का संघर्ष शुरू हुआ। इस संघर्ष में भी अमरसिंह थापा ने बड़ी बहादुरी से अंग्रेजों का मुकाबला किया। मगर नेपाल दरबार से समय पर पर्याप्त सहायता न मिलने के कारण उसे असफल होना पड़ा। जिसके परिणाम स्वरूप मई सन् १८१५ ई० में अंग्रेजों के साथ नेपाल की एक अत्यन्त अपमानजनक सन्धि हुई। जिसमें अमरसिंह का जीता हुआ सारा प्रदेश और सिक्किम का राज्य नेपाल के अधिकार से निकल गये और राज्य में अंग्रेज रेजिडेण्ट के रूप में अंग्रेजों का प्रभाव कायम हो गया।

गोरखा-जाति वफादारी और सैनिक बहादुरी के क्षेत्र मे अतुलनीय समझी जाती है। इनकी वफादारी को देख कर अंग्रेज सरकार ने भारतवर्ष में कई गोरखा-रेजिमेंटें तैयार की थी। इन रेजिमेंटों मे करीब ३० हजार गोरखा सैनिक भर्ती हो गये थे। इन गोरखा सैनिकों ने समय-समय पर कई बार अंग्रेजी सरकार की कई कठिन परिस्थियों में बड़ी महत्वपूर्ण सहायता की थी। सन् ५७ के सिपाही विद्रोह के समय में 'जंगबहादुर' ने गोरखा सैन्य की सहायता से ब्रिटिश सल्तनत की रक्षा करने में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया था।

प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के समय में भी गोरखा सैनिकों ने जो बहादुरी बतलाई, वह इतिहास के पृष्ठों पर अङ्कित है।

गोरी-राजवंश

मध्य-एशिया के गोर प्रदेश में गयासुद्दीन मुहम्मद गोरी के द्वारा स्थापित एक साम्राज्य, जिसने भारत में भी इसलामी राज्य की स्थापना की। इसका समय सन् ११५६ से १२०७ तक रहा।

मध्य-एशिया में हिरात से पूर्व और दक्षिण की ओर तथा गजिस्तान और ग़ुजगान के दक्षिण में जो पहाड़ी प्रदेश है उसे गोर कहा जाता है। सन् ११५६ में जब मध्य-एशिया में सल्जुकी साम्राज्य बिखरने लगा तब आसपास के सब सामन्त स्वतन्त्र होने लगे।

इसी धींगाधींगी में गोर के सामन्त गयासुद्दीन ने भी गोर में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, और शीघ्र ही

गजनी, वामियान, तुखारिस्तान, शुगनान तथा चितराल की पहाड़ियों पर और पश्चिम में हिरात और खुरासान पर भी अधिकार कर लिया। जिसके फलस्वरूप गोरवंश मुसलिम एशिया के पूर्वी भाग का एकमात्र स्वतन्त्र और सबल राज्य-वंश हो गया।

गयासुद्दीन ने अपने भाई शहाबुद्दीन को गजनी का शासक बना दिया था। शाहबुद्दीन बड़ा महत्वाकांक्षी और युद्धलोलुप व्यक्ति था। भारत पर विजय करने की उसकी बड़ी आकांक्षा थी। उसने धीरे-धीरे मुलतान और सिंध पर अधिकार कर लिया और सन् ११७८ में उसने गुजरात पर आक्रमण किया। मगर उस लड़ाई मे गुजरात की सेनाओं ने उसे बुरी तरह पराजित किया।

सन् ११९१ मे उसने तरावड़ी के मैदान में दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान से भयङ्कर युद्ध किया। मगर इस युद्धमें भी पृथ्वीराज ने उसे बुरी तरह पराजित किया। मगर अगले साल फिर उसने पृथ्वीराज पर चढ़ाई की। इस लड़ाई में उसने पृथ्वीराज को पराजित कर पकड़ लिया और बाद में मार डाला। उसके बाद उसने अजमेर को भी जीत लिया और इस क्षेत्र का राज्यपाल गुलाम कुतुबुद्दीन को बना कर गजनी लौट गया।

मगर वह जानता था कि भारत की सबसे बड़ी शक्ति दिल्ली में नही कन्नौज में है। इसलिए सन् ११९४ में उसने कन्नौज के राजा जयचन्द पर आक्रमण कर उसे पराजित किया और भारतवर्ष मे एक स्थायी इसलामी साम्राज्य की नीव डाल दी।

गयासुद्दीन की मृत्यु होने पर सन् १२०३ में शहाबुद्दीन भारत से लौट कर गोर आया। उसके बाद उसे ख्वारेज्मशाह और कराखिताइयों से भयङ्कर युद्ध करना पड़ा। इन लड़ाइयो में उसे भारी पराजय का मुंह देखना पड़ा। उसका सारा साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। सन् १२०६ में वह अपने खेमें में एक गक्खड़ सिपाही के हाथों मारा गया।

इस प्रकार अपने देश में उसका स्थापित किया हुआ साम्राज्य ५० वर्ष में छिन्न-भिन्न हो गया। मगर भारत में उसने जिस इसलामी साम्राज्य की नींव डाली वह कई सदियों तक चलता रहा।

गोलकुण्डा

दक्षिणी भारतवर्ष में हैदराबाद नगर से ५ मील पश्चिम में स्थित एक दुर्ग तथा ध्वस्त नगर।

भारत के प्राचीन दुर्गों में दक्षिण के दुर्गम दुर्ग 'गोलकुंडा' का अपना विशेष महत्व है। विश्व के सर्वश्रेष्ठ 'कोहेनूर' हीरे का बाल्यकाल गोलकुण्डा के राजवंश में ही व्यतीत हुआ।

गोलकुण्डा का दुर्ग समुद्र-तल से २००० फुट की ऊँचाई पर बना हुआ है। १२ वी शताब्दी मे इस क्षेत्र पर वारंगल के काकातिय राजवंश का आधिपत्य था। इस वंश के राजा 'प्रताप रुद्रदेव प्रथम' ने एक गड़ेरिए के कहने पर, एक पहाड़ी पर, एक छोटे से दुर्ग का निर्माण करवाया और उसका नामकरण उन्होंने गड़ेरिये के नाम पर ही 'गोला कोंडा' रख दिया।

सन् १३६४ में वारंगल के राजा कृष्णदेव ने यह दुर्ग बहमनी-राज्य के मुहम्मद शाह प्रथम को दे दिया। बहमनी राज्य का शासन गोल-कुंडा पर सन् १३६४ से सन् १५१८ तक रहा।

सन् १५१८में मुहम्मद शाह चतुर्थ बहमनीकी मृत्युके बाद उसके तेलंगाना के गवर्नर कुतुब-अल-मुल्क सुल्तान कुली ने बगावत करके बहमनी-राज्य के कई किलों पर अधिकार कर गोलकुण्डा दुर्ग में अपनी राजधानी स्थापित की।

सुल्तान कुली कुतुबशाह ने इस छोटे से दुर्ग को विशाल किले के रूप मे परिणित कर दिया। इस नव निर्माण मे इस वंश के तीन सुल्तानों को करीब ६२ वर्ष का समय लगा। सन् १५८७ मे मुहम्मद कुली कुतुबु शाह ने हैदराबाद को बसा कर वहाँ पर अपनी राजधानी स्थापित की। तब से इस दुर्ग का वैभव फिर कम होने लगा।

गोलकुण्डा का यह विशाल दुर्ग ५ मील के क्षेत्रफल में फैला हुआ था। दुर्गमें ९ शाही दरवाजे तथा ५२ झरोखे थे। दुर्ग की रक्षा करने के लिए ऊंचे-ऊंचे ४८ त्रिकोण बने हुए थे, इन पर रखी कुतुबशाही तोपें हमेशा गरजा करती थीं।

सन् १६५६ में औरंगजेब ने अब्दुल्ला कुतुबशाह शाह के शासन में इस दुर्ग पर पहली बार आक्रमण किया, जिसमें कुतुबशाह ने अपनी पुत्री का विवाह औरङ्गजेब के लड़के

मुहम्मद सुल्तान के साथ करके किसी प्रकार अपना बचाव किया।

सन् १६८७ में औरंगजेब का दूसरा आक्रमण हुआ। उस वक्त मुगल फौजों ने ८ महीने तक इस दुर्ग पर अपना घेरा डाले रखा। अन्त में कुतुबशाही फौज के एक सूबेदार को प्रलोभन देकर उसने किले का पूर्वी द्वार खुलवा लिया और सुल्तान को कैद करके दौलताबाद के किले में बन्द कर दिया। तब से गोलकुण्डा दुर्ग मुगल-साम्राज्य के अधीन हो गया।

दक्षिण के सुप्रसिद्ध सन्त, छत्रपति शिवाजी के धर्मगुरु स्वामी रामदास की कहानी भी इसी दुर्ग से सम्बन्धित बतलाई जाती है। ऐसा कहा जाता है कि सन् १६४७ ई० में गोलकुंडा-राज्य के प्रधान मन्त्री 'मदन्ना' तथा सेनापति 'अकन्ना' बनाये गये। इसी अकन्ना का भानेज 'गोपेन्ना' था। जो बाद में स्वामी रामदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गोपेन्ना भद्राचलम् में मालगुजारी वसूल करने के लिए तहसीलदार बनाया गया था। गोपेन्ना भगवान् राम का परम भक्त था। इस भक्ति के आवेश में उन्होंने सुल्तान से अनुमति लिए बिना ही मालगुजारी के रुपये से भगवान् राम का एक विशाल मन्दिर बनवा डाला। इससे नाराज होकर बादशाह ने उनको गोलकुंडा की एक अन्धेरी कोठरी में बन्द कर दिया। उसी कोठरी में उनको भगपान् रामचंद्रके दर्शन हुए औ रभगवान् ने मनुष्य का रूप धारण कर रामदास का सम्पूर्ण ऋण चुका कर उन्हें कारागार से मुक्त करवाया। आज भी 'भद्राचलम्' में स्वामी रामदास की स्मृति में प्रत्येक वर्ष एक मेला लगता है, जिसमें दूर-दूर से यात्री आते हैं।

गोलकुंडा दुर्ग में मदन्ना और अकन्ना का बनाया हुआ महाकाली का मन्दिर अभी भी विद्यमान है। प्रत्येक आषाढ़ मास में हिंदुओं का वहां एक विशाल मेला लगता है।

गोलगुम्बज

बीजापुर में मुहम्मद आदिलशाह के द्वारा बनाया हुआ एक विश्व-विख्यात् स्मारक जिसका निर्माण सन् १६२७ ई० से सन् १६५५ ई० तक हुआ।

आदिलशाही युग में बीजापुर के अन्दर जिन भव्य इमारतों और स्मारकों का निर्माण हुआ, उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध स्थापत्यकलाविज्ञ 'फर्ग्यूसन' ने अपने सुप्रसिद्ध 'इण्डियन ऐंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर' नामक ग्रंथ में लिखा है कि—

'हिन्दुस्तान मे भव्यता की दृष्टि से ऐसी कोई दूसरी चीज नही, जो बीजापुर के गोलगुम्बज का मुकाबला कर सके तथा वैभवपूर्ण अलङ्करण की दृष्टि से 'इब्राहिम के रोजा' के मुकाबले मे कोई भी चीज दृष्टिगोचर नही होती। कुछ लोगों के विचार मे आगरे का ताजमहल सर्वोपरि माना जाता है। श्वेत सङ्गमरमर और बहुमूल्य पत्थरों से निस्सन्देह ताज की शोभा में वृद्धि हुई है। साथ ही यमुना के किनारे पर स्थित होने से ताज की परिस्थिति बहुत सुन्दर हो गयी है, मगर ऐसी ही परिस्थितियां यदि 'इब्राहिम के रोजे' को मिली होती तो निश्चय ही वह ताज से अधिक सुदर होता।

बीजापुर का गोल-गुम्बज विश्व विख्यात भारतीय स्मारक है। यहाँ की गूँजती हुई बीथिका संसार के गिने-चुने आश्चर्यों में से एक है। मुहम्मद आदिलशाह ने इस स्मारक को सन् १६२७ ई० मे बनाना शुरू कियाथा और यह सन् १६५५ई० मे बन कर तैयार हुआ था। गोल गुम्बज एक विशाल वर्ग के ऊपर रखे ऐसे गोलार्ध के आकार की है जिसके चार ओर चार मीनारें खड़ी हैं। इस विशाल वर्ग का क्षेत्रफल १८३३८ वर्ग गज है। गुम्बज के चारों ओर एक वीथिका बनी हुई है। इस वीथिका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि गुम्बज में उच्चारित स्वरों की उसमें तत्काल प्रतिध्वनि सुनाई देती है। गुम्बज के ठीक नीचे तहखाने मे मुहम्मद आदिल शाह और उनकी बेगमो की कब्रें बनी हुई हैं।

गोल्ड स्मिथ

अंग्रेजी के एक सुप्रसिद्ध कवि और लेखक, जिनका जन्म सन् १७२८ में आयर्लेण्ड मे और मृत्यु सन् १७७४ में हुई।

गोल्डस्मिथ अंग्रेजी के ऐसे साहित्यकारो में थे जो जीवन भर आर्थिक कष्ट और दरिद्रता से पीड़ित रहे। उनके पिता थोड़ी तनख्वाह पाने वाले एक कर्मचारी थे और परिवार बड़ा होने से उनका गुजारा नहीं होता था। गोल्डस्मिथ ने

इस दरिद्रता से छुटकारा पाने के लिए कई प्रकार के व्यवसाय किये मगर सफलता नहीं मिली।

अन्त में सन् १७५६ में वे लन्दन आये और यहाँ पर उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र को अपनाया। इस क्षेत्र में उनकी प्रतिभा खिल उठी। सन् १७६४ में उनकी 'दी ट्रेव्हलर' नामक कविता प्रकाशित हुई। इस कविता से लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। इसके पश्चात् उनके उपन्यासों ने तथा हास्यरस सम्बन्धी कृतियों ने उनको बहुत लोकप्रिय बना दिया और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उनकी कीर्ति बहुत बढ़ गई। इस कार्य में जो भी पैसा उनके पास आता उसे वे मुक्त हस्त से खर्च कर देते और उनका आर्थिक कष्ट ज्यों का त्यों बना रहता। इसी आर्थिक कष्ट के बीच केवल ४६ वर्ष की उम्र में इस महान् लेखक की मृत्यु हो गई।

गोल्डस्मिथ बहुत अच्छे बांसुरी वादक भी थे और इस बांसुरी के द्वारा ही ये अपने कठिनाई के क्षणों को मादक बना लेते थे।

इनकी रचनाओं में 'दी विकार ऑफ वेकफील्ड' 'डेजर्टेड विलैज' इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। गोल्डस्मिथ की शैली अत्यन्त सुन्दर, मधुर और समाज के पारदर्शी दर्पण की तरह है।

गोल्ड-फेडेन

एक यहूदी नाटककार, कवि और लेखक जिनका जन्म सन् १८४० ई० में और मृत्यु सन् १९०८ मे हुई।

गोल्ड-फेडेन यहूदी-रङ्ग-मञ्च के आधुनिक प्रणेता माने जाते हैं। यहूदियों के बोलचाल की भाषा 'ईद्दिश' के रङ्ग-मञ्च की, सन् १८७६ ई० में रूमानियाके जेसी नगरमें इन्होंने स्थापना की। इनके नाटको में स्वतन्त्रता और आधुनिकता की छाप बहुत अधिक रहती थी, जिसके परिणाम-स्वरूप सरकार ने इनके थियेटर पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसके पश्चात् यह अमेरिका चले गये।

नाटकों के साथ-साथ इनकी कविताएँ भी बहुत लोकप्रिय हुईं। इनकी बहुत सी कविताएँ यहूदियों में लोकगीतों की तरह गायी जाती हैं।

गोल्डस्टकर थियोडोर

जर्मनी के यहूदी परिवार में उत्पन्न संस्कृत के एक प्रसिद्ध विद्वान्, जिनका जन्म सन् १८२१ ई० में और मृत्यु सन् १८७२ ई० में हुई।

'गोल्डस्टकर' संस्कृत में उच्च शिक्षा प्राप्त कर लन्दन के युनिवर्सिटी कालेज मे संस्कृत के प्रोफेसर हो गये। गोल्ड-स्टकर पाणिनीय व्याकरण के योरोप में सबसे बड़े विद्वान् माने जाते थे। इन्होंने 'पाणिनी' की 'अष्टाध्यायी' पर विद्वत्तापूर्ण जर्मन-व्याख्या प्रकाशित की थी।

गोल्डोनी-कार्लो

इटालियन भाषा के एक सुप्रसिद्ध नाटककार, रङ्गमञ्च अभिनेता जिनका जन्म सन् १७०७ में और मृत्यु सन् १७९३ में हुई।

गोल्डोनी इटाली के एक सुप्रसिद्ध नाटककार और अभि-नेता थे। इन्होंने रङ्गमञ्चके लिए सैकड़ों नाटक और प्रहसनों की रचना की। अपने समय में वे इटाली और फ्रांस के रंग-मञ्चीय क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध हो गये थे। इन्होंने नाटकों के अन्दर प्रचलित कृत्रिमता और कुरुचि को निकालकर स्वाभा-विकता और सुरुचि को स्थापित किया। रंगमञ्च में भी इन्होने काफी सुधार किया। 'होटलवली' (लोकांदिएरा) प्रेमी (इन्नमोरातीं) इत्यादि इनकी कृतियां बहुत लोकप्रिय हुई।

गोवर्द्धन राम त्रिपाठी

गुजरात के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार, जिनका जन्म सन् १८५५ ई० में नडियाद नगर मे हुआ और मृत्यु सन् १९०७ में हुई।

गोवर्द्धन राम त्रिपाठी बचपन से ही साहित्यिक प्रवृत्ति और त्याग भावना से युक्त व्यक्ति थे और तत्वचिन्तन तथा समाज स्थिति का अध्ययन ही उनके जीवन का प्रिय विषय था। इस कार्य के लिए सन् १८९८ में इन्होंने अपनी तेजी से चलती हुई वकालत को छोड़ दिया।

गोवर्द्धनराम त्रिपाठी की सबसे महान् कृति 'सरस्वतीचंद्र' नामक उपन्यास है, जो इन्होंने १४ वर्ष के परिश्रम से सन्

१८८७ से प्रारम्भ कर सन् १९०१ में पूरा किया। यह महान् ग्रंथ ४ बड़े-बड़े भागों में विभाजित है। किसी मूल्यवान् रत्न को भिन्न-भिन्न बाजुओं से देखने पर उसमें जिस प्रकार भिन्न २ प्रकार की ज्योति दिखलाई पड़ती है, उसी प्रकार इस ग्रंथ को भी विविध दृष्टि-बिन्दुओं से देखने पर इसमें भिन्न-भिन्न विचार-धाराएँ बहती हुई मालूम पड़ती हैं।

इस ग्रंथ में लेखक ने अपने जीवन के सारे अनुभवों को उँडेल कर रख दिया है।

इसमें व्यावहारिक, धार्मिक और राजकीय दर्शन पर रामायण, महाभारत और पौराणिक ग्रंथों के अध्ययन से प्रकाश डाला गया है और लोककल्याण की भावना से एक 'कल्याण-ग्राम' नामक आदर्श वस्ती के साथ यह उपन्यास समाप्त होता है।

इस प्रकार इस उपन्यास के प्रकाशन ने सारे गुजराती-साहित्य को एक नवीन दिशा प्रदान की।

गोवर्धनराम त्रिपाठी की अन्य कृतियों में 'स्नेह-मुद्रा' नामक काव्य ग्रंथ भी बहुत सुंदर समझा जाता है जो सन् १८८९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त इनकी रचनाओं में 'दयाराम नो अक्षरदेह' 'लीलावती नी जीवन-कला' तथा 'नवल ग्रंथावली' इत्यादि उल्लेखनीय हैं। 'लीलावती नी जीवन कला' में उन्होंने अपनी स्वर्गीय पुत्री लीलावती के जीवन-चरित्र को बड़ी सुंदरता से अङ्कित किया है।

गोवर्धनाचार्य

'आर्या-सप्तशती' नामक काव्य-ग्रंथ के रचयिता, जिनका समय १२वीं सदी में, बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के समकालीन माना जाता है।

गोवर्धनाचार्य की रचित 'आर्या-सप्तशती' प्राकृत भाषा की गाथा-सप्तसती के आधार पर रची हुई एक रचना है। जो जयदेव के गीतगोविंद की तरह शृंगाररस की एक उत्कृष्ट कृति मानी जाती है। जिसमें आधुनिक समय की परिभाषा के अनुसार यत्र-तत्र अश्लीलता का दोष भी आ गया है।

गोविंद राष्ट्रकूट

दक्षिणी भारत के सुप्रसिद्ध राष्ट्रकूट-वंश के नरेश। जो गोविन्द प्रथम, गोविन्द द्वीतिय और गोविंद तृतीय के नाम से प्रसिद्ध हुए।

ईसा की ८वीं शताब्दी में वातापि के चालुक्य-राजवंश का अन्त होने पर दक्षिण भारतीय साम्राज्य का उत्तराधिकार राष्ट्रकूट-वंश को प्राप्त हुआ। इस शाखा का प्रथम, ज्ञात राजा 'दन्ति वर्म्मन' था और दन्तिवर्म्मन के पुत्र इन्द्र प्रथम गोविंद प्रथम और कर्क थे। ये सब वातापी के चालुक्यों के करद सामन्त थे।

इन्द्र प्रथम का पुत्र 'दन्ति दुर्ग' अत्यन्त चतुर, साहसी और महत्वाकांक्षी था। सन् ७४२ के लगभग उसने 'एलोरा' पर अधिकार करके वहाँ पर अपनी राजधानी स्थापित की और सन् ७५२ में चालुक्य-नरेश 'कीर्तिवर्म्मन' को पराजित करके कई उपाधियों के साथ उसने अपने को सम्राट् घोषित किया। 'दन्तिदुर्ग' की मृत्यु के पश्चात् उसका चाचा कृष्ण प्रथम सिंहासन पर बैठा। और उसने सन् ७७३ तक राज्य किया।

गोविन्द द्वितीय – कृष्ण प्रथम की मृत्यु के पश्चात् गोविंद द्वितीय इस वंश का राजा हुआ। इसने सन् ७७३ से ७७९ ई० तक राज्य किया। मगर गोविंद द्वितीय अयोग्य और दुराचारी था। इसलिए उसके भाई ध्रुव ने उसको हरा कर राष्ट्रकूट वंश की राजगद्दी प्राप्त की। ध्रुव ने अपने साम्राज्य का बहुत विस्तार किया।

गोविन्द तृतीय—ध्रुव के पश्चात् उसका पुत्र गोविंद तृतीय गद्दी पर बैठा। इसने सन् ७९३ से सन् ८१४ ई० तक राज्य किया। गोविंद तृतीय अत्यन्त प्रतापी नरेश था। उसने कई राज्यों को पराजित करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया। गङ्ग-नरेश को पराजित करके अपने बड़े भाई 'कम्ब' को उसने वहाँ का शासन सौंप दिया। उसके पश्चात् 'लाटदेश' को विजय करके अपने छोटे भाई 'इंद्र' को गुजरात का शासक बनाया। इसी प्रकार मालवा, वेंगी इत्यादि कई नरेशों को पराजित कर अपनी राजधानी को 'एलोरा' और 'मयूरखण्डी' से हटा कर 'मान्यखेट' में स्थापित की और इस नगरी को एक सुंदर और सुदृढ़ महानगरी के रूप में परिवर्तित

कर दिया। उसने गुर्जर प्रतिहार 'नागभट्ट द्वितीय' को कन्नौज के 'चक्रायुध' को और बङ्गाल के 'धर्मपाल' पराजित कर उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराई। उत्तरापथ के एक अभियान से लौटते हुए सन् ८०३-४ में जब गोविंद तृतीय नर्मदा तटवर्ती 'श्री-भवन' नामक स्थान में छावनी डालकर पड़ा हुआ था, उसी समय उसके पुत्र 'अमोघवर्ष' का जन्म हुआ और उसी समय पल्लव राज्य 'दन्तिवर्म्मन के आक्रमण का समाचार उसे मिला। तुरत उसने वहाँ जाकर पल्लव-राज का दमन किया। सन् ८१३-१४ में गोविंद तृतीय की मृत्यु हो गयी।

गोविंद तृतीय इस वंश के महान् नरेशों में से एक था। भारतवर्ष की समस्त शक्तियां उसका लोहा मानती थीं। साथ ही वह एक महान् निर्माता, दानी, विद्वानों का आदर करने वाला और सर्वधर्म समदर्शी नरेश था। शैव-धर्म और जैनधर्म के प्रति भी वह अत्यन्त सहिष्णु और उदार था। सन् ८०२ सन् ८०७ और सन् ८१२ के उसके दानपत्र प्राप्त हुए हैं। जिनमे उसके द्वारा कई जैन-मन्दिरों और अन्य धर्म-संस्थाओं को दिये गये दानों का उल्लेख किया गया है।

गोविन्द सिंह—गुरु

सिक्ख जातिके दसवें धर्मगुरु। जिनका जन्म सन्१६६६ में पटना में और मृत्यु सन् १७०८ में नान्देड़ में हुई।

गुरू गोविन्द सिंह, सिक्खों के नौवें गुरु तेगबहादुर के पुत्र थे। गुरु नानक के पश्चात् पाचवें गुरु अर्जुनदेव तक पांचों गुरु जनताभे केवल धार्मिक शिक्षाका ही प्रचार करते थे, राजनीति से उनका कोई सम्बन्ध नही था। मगर गुरु अर्जुनदेव के बलिदान के पश्चात् मुगलों के अत्याचारों से त्रस्त हो सिक्ख-जाति में आत्म-रक्षा और धर्म-रक्षा की भावनाएँ जागृत हुई। और अर्जुनदेव के पुत्र और शिष्य गुरु हरगोविन्द ने धर्म-प्रचार के साथ २ आत्मरक्षा के लिए तलवार का भी सहारा लिया। वे अपने साथ हमेशा दो तलवारें रखते थे। एक तलवार धर्मसत्ता की और दूसरी राजसत्ता की प्रतीक थी।

औरंगजेबके समयमें उसके द्वारा होने वाले अत्याचारोंसे हिन्दुओं और सिक्खोंमे त्राहि २ मचगई थी। उसीके अत्याचारों की परम्परा में नौवें गुरु गुरु तेगबहादुर का बलिदान हुआ। यह देखकर तेगवहादुरके पुत्र और शिष्य दसवें धर्म गुरु गोविन्द सिंह को भयङ्कर कष्ट हुआ। गुरु गोविन्द सिंह बड़ी सूझ बूझ के और दूरदर्शी व्यक्ति थे। उन्होंने मुगलों की इस नीति का दमन करने के लिए स्वयं शस्त्र विद्या का अभ्यास किया और अपने सहयोगियों को भी इसके लिए प्रवृत्त किया। नाहन की पहाड़ियों में ग्यारह वर्षों तक उन्होंने इसके लिए कठोर तपस्या की।

उन्होंने गुरु नानक के तीन सिद्धांतों (१) किरत करना (ईमानदारी की आजीविका) (२) नाम जपना (भगवान् का भजन) और (३) वंड छाकना (बाँटकर खाना) में अपनी ओर से तीन नये सिद्धान्तों को जोड़ा। देग (१) (सामुदायिक भोजन) (२) तेग (तलवार) और (३) फतेह ये तीन सिद्धांत और जोड़कर उसे षट् सूत्री बना दिया।

सन् १६९९ को गुरु गोविन्द सिंह ने वैशाखी के दिन एक बड़ा उत्सव किया। उत्सव में जब चारों ओर गाना बजाना हो रहा था तब अचानक गुरु गोविन्द सिंह ने नंगी तलवार लेकर भरी संगत में कहा कि "है कोई ऐसा ब दा जो धर्म के लिए अपना जीवन न्योछावर कर सकता हो।" गुरु गोविन्द सिंह की ऐसी ललकार सुनकर सारी संगत में सन्नाटा छा गया। जब उन्होंने तीसरी वार यही आवाज लगाई तो संगत में से दयाराम खत्री आगे बढ़ा, और उसने अपना जीवन गुरु को समर्पित किया। गुरु उसे लेकर तम्बू में गये और वहाँ से खून से भरी हुई तलवार लेकर फिर बाहर आये और फिर वही ललकार लगाई। इस बार धर्मदास जाट आगे बढा। उसको भी तम्बू में ले जाकर फिर गुरु बाहर आये। इस प्रकार पांच बलिदानियों को गुरु तम्बू में ले गये। गुरु ने उन पांचों व्यक्तियों की जगह पांच बकरियां काटी थी। और उन्ही के खून से लथपथ तलवार सभा में दिखाई थी।

इसके बाद गुरु उन पांचों बलिदानियों को लेकर बाहर आये। ये पांचों बलिदानी "पंज प्यारों" के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी समय से खालसा-सम्प्रदाय की स्थापना हुई। इसके अनुयायी 'संत सिपाही' कहलाने लगे, और सबके नाम के आगे दास, राय, लाल के बदले "सिंह" लगाया जाने लगा। खालसा लोगों का नारा "वाह गुरुजी का खालसा, वाह गुरुजी की फतेह" बना और "केश, कच्छा, कड़ा, कंघा

और कृपाण ये पांच ककार प्रत्येक सिख के लिए धारण करना अनिवार्य हो गया !

गुरु गोविन्द सिंह की इस बढ़ती हुई सैनिक शक्ति को देखकर आसपास के पहाड़ी राजा बड़े चिंतित हुए। औरंगजेब भी इनसे सतर्क रहने लगा। सन् १७०१ में पर्वतीय सामंतों ने गुरु गोविंद सिंह के विरुद्ध आनन्दपुर पर चढ़ाई कर दी। मगर इस चढ़ाई में खालसा लोगों ने उनको हरा दिया। तब इन सामन्तों ने गुरु के विरुद्ध औरंगजेब से साठ-गांठ की। जिसके फलस्वरूप सन् १७०३-४ में सरहिन्दके गवर्नर ने इन पर हमला किया। इस हमले में इन्हें अपना किला (पौण्टा) छोड़ना पड़ा। इस लड़ाई में गुरु गोविन्द सिंह के २ पुत्र पकड़े गये जिन्हें जीते जी दीवार में चुनवा दिया गया।

इसके बाद "चमकौर" में फिर तीसरी लड़ाई हुई। जिसमें केवल ४० खालसा शूरवीरों ने मुगल सेनाका सामना किया। इस लड़ाईमें इनके बचे हुए दो पुत्र भी मारे गये। सन् १७०६ में मुक्तसर में फिर चौथी लड़ाई हुई, इसमें सिक्खों ने मुगलों को करारी पराजय दी। इसके बाद गुरु गोविन्द सिंह दक्षिणी भारत में नान्देड़ में जाकर रहने लगे। वहीं पर एक पठान के हाथों सन् १७०८ में इनकी मृत्यु हुई। गुरु गोविन्द सिंह का नारा था—"चिड़ियों से मैं बाज उड़ाऊं तो गुरु गोविंद कहलाऊँ।" गुरु गोविंद की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्य वन्दा वैरागी ने मुगलों से कड़ा मुकाबिला किया।

गुरु गोविन्द सिंह को कविता और धर्म साहित्य से बड़ा प्रेम था। कहा जाता है कि उनके दरबार में बावन कवि रहा करते थे। इनमें नन्दलाल, हुसैन अली, मंगल, चंदन, ईशरदास, कुंवर इत्यादि उल्लेखनीय हैं। गुरु गोविंद सिंह की निजी रचनाओं में "दशम ग्रंथ" "गोविंद गीता" "प्रेम प्रबोध" इत्यादि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

गोविन्ददास मालपाणी

हिन्दी-साहित्य के एक सुप्रसिद्ध लेखक, कांग्रेसी नेता, हिन्दी-भाषा के प्रसिद्ध समर्थक, जिनका जन्म सन् १८९६ ई० में जबलपुर में हुआ।

सेठ गोविंददासका जन्म ऐसे माहेश्वरी परिवारमें हुआ था जो अपनी सम्पन्नता, उदारता और रईसी के लिए सारे भारत वर्ष में प्रसिद्ध था। इनकी फर्म भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध फर्मों में एक गिनी जाती थी।

इनके दादा का नाम राजा गोकुलदास था, जो सारे मध्यप्रदेश के नामांकित व्यक्ति थे। जब सेठ गोविंददास देश-भक्ति की तरंगमें सन् १९२० में भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सम्मिलित हो गये, उस समय इनके राजभक्त परिवार से इनका गहरा मतभेद हो गया। उस मतभेद के कारण इनको अपनी बहुत सी सम्पत्ति और जायदाद से वंचित होना पड़ा। जिसे इन्होंने हँसते-हँसते स्वीकार किया।

सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट होने के बाद सेठ गोविंददास ने पूरी शक्ति से अपने आप को उस आंदोलन में लगा दिया। और इस सिलसिले में कई बार जेल में भी गये। जेलों में ही इन्होंने अपने बहुत से साहित्य का निर्माण किया। देश के स्वाधीन होने के बाद वे लगातार भारतीय संसद के सदस्य बने हुए हैं। संसद के इस जीवन में इनका सबसे महत्वपूर्ण और ठोस कार्य राष्ट्रभाषा हिन्दी को उसके उचित आसन पर प्रतिष्ठित करना है। इस कार्य के लिए सेठ गोविंददास ने जिस नैतिक निष्ठा, दृढ़ता और साहस का परिचय दिया है, वह उनके जीवन की बहुमूल्य वस्तु हैं। पार्टी के लोगों के विरोध की चिंता न करते हुए अत्यन्त तर्कपूर्ण शैली से उन्होंने हिंदी के पक्ष में जो काम किया है, वह संसद ने चाहे स्वीकार न किया हो, मगर देश के अधिकांश भाग के विचारपूर्ण व्यक्तियों ने उसको जरूर स्वीकार किया है।

राजनीति की अपेक्षा भी हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में सेठ गोविंददास की सेवाएं अधिक महत्वपूर्ण हैं। केवल १२ वर्ष की उम्र से ही इन्होंने लिखना प्रारम्भ कर दिया था। सन् १९१६ में शारदा-भवन पुस्तकालय की स्थापना, 'श्रीशारदा' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन और शारदा-पुस्तकमाला के प्रकाशन से साहित्य क्षेत्र में इनका व्यवस्थित कार्य प्रारम्भ हुआ। वैसे सेठ गोविंददास ने साहित्य के कई क्षेत्रों में अपनी रचनाएं कीं, मगर उनकी विशेष ख्याति नाटकों के क्षेत्र में हुई। इनके द्वारा रचित नाटक, तीन विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। १—पौराणिक, २—ऐतिहासिक, और ३—सामाजिक। इनके पौराणिक नाटकों में 'कर्तव्य' (१९३६) 'कर्ण' (१९४६) 'स्नेह या स्वर्ग' (१९४६) ऐतिहासिक नाटकों में 'हर्ष' (१९३५) 'शशिगुप्त' (१९४२)

तथा विश्वासघात, शेरशाह' अशोक, सिंहल-द्वीप इत्यादि उल्लेखनीय हैं। सामाजिक नाटकों में 'प्रकाश' सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' 'पाकिस्तान' 'भूदान' 'दलित कुसुम' 'पतित कुसुम' इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं।

गोविन्दवल्लभ पंत

भारतीय स्वाधीनता के पूर्व कांग्रेस के एक प्रसिद्ध राष्ट्र-कर्मी, स्वाधीनता के पश्चात् यू० पी० के प्रधान मंत्री और उसके बाद केन्द्रीय सरकार के गृहमंत्री। जिनका जन्म १० सितम्बर सन् १८८७ ई० को और मृत्यु ७ मार्च सन् १९६१ को हुई।

पं० गोविंदवल्लभ पंत का जन्म उत्तर प्रदेश के अलमोड़ा जिले के खुंत नामक ग्राम में हुआ। उनकी उच्चशिक्षा प्रयागके म्योर सेण्ट्रल कॉलेज में हुई। जहाँ से सन् १९०७ में उन्होंने बी० ए० और १९०९ में एल० एल० बी० की परीक्षाएँ पास की। विद्याध्ययन के समय इनकी आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर होने से इन्हें ट्यूशन करके अपना निर्वाह करना पड़ना था। अपने कॉलेज जीवनमें ही पं० पंत, लाला लाजपतराय और लोकमान्य तिलक से प्रभावित हो देशभक्ति की बातें करने लगे थे। जिससे कॉलेजमें वे विद्रोही छात्र के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे।

सन् १९१६ से पं० गोविंदवल्लभ पंत कांग्रेस में सम्मिलित हो गये, मगर विशेष सक्रिय रूप में वे महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन के पश्चात् ही प्रगट हुए।

सन् १९२५ में कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में कौंसिल-प्रवेश के प्रस्ताव पर तीव्र वाद-विवाद चल रहा था। उस समय पं० गोविंदवल्लभ पंत ने भी उसमें बड़ा महत्वपूर्ण हिस्सा लिया और वे मोतीलाल नेहरू के स्वराज्य-दल के सक्रिय सदस्य हो गये। पं० मोतीलाल नेहरू ने संयुक्त प्रांत विधान परिषद् में उनको विरोधी दल का नेता बनाया, जहां पर उन्होंने सात वर्षों तक काम किया। सन् १९२७ में जब वे संयुक्त प्रांतीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे—साइमन कमीशन के विरुद्ध देश भर में प्रदर्शन हो रहे थे। ऐसे ही एक प्रदर्शन में पं० गोविंदवल्लभ पंत पुलिस के लाठी-चार्ज से घायल हो गये; जिसका असर उनके शरीर पर जीवन भर बना रहा। उनका शिर और उनके हाथ-पैर जीवन भर कांपते रहे।

सन् १९३५ के अधिनियम के अनुसार जब कांग्रेस ने चुनाव लड़ना स्वीकार किया, पं० गोविंदवल्लभ पंत संयुक्त प्रांत की विधान-सभा में कांग्रेस दल के नेता चुने गये। सन् १९३७ में वे संयुक्त प्रांत के मुख्य मंत्री बने। दो वर्ष के पश्चात् सन् १९३९ में युद्ध के प्रश्न पर भारत भर के कांग्रेस-मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफा दिया, तब उन्होंने भी अपना इस्तीफा पेश कर दिया। उसके पश्चात् अप्रैल सन् १९४६ से जब कि भारत की अंतरिम सरकार बनी, तब से सन् १९५५ तक वे उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पद पर आसीन रहे। उनके समय में उत्तर प्रदेश का प्रशासन बड़ी कुशलता के साथ सञ्चालित होता रहा।

सन् १९५५ में पं० जवाहरलाल नेहरू ने केंद्रीय सरकार में उन्हें गृहमंत्री के पद पर नियुक्त किया। यहाँ के कार्य को भी पं० पंत ने सफलता-पूर्वक सम्हाला।

पं० गोविंदवल्लभ पंत एक कुशल प्रशासक और संगठन-कर्ता थे। सन् १९२५ से लेकर लगातार उन्हें शासन का कार्य करना पड़ा। इसलिए उनको इस विषय का गहरा अनुभव प्राप्त हो गया था। धुवांधार विरोध के वातावरण का भी हँसते-हँसते सामना करने की और विरोधियों के साथ समन्वय करने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। इसलिए स्वाधीन भारत के प्रशासकीय इतिहास में उनका नाम बड़ा महत्वपूर्ण समझा जाता है।

गौड़पादाचार्य

वेदान्त-दर्शन के एक महान् आचार्य, जो जगद्गुरु शङ्कराचार्य के गुरु गोविंदपाद के गुरु के रूप में स्मरण किये जाते हैं।

गौड़पादाचार्य का समय अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। पौराणिक परम्परा के अनुसार गौड़पादाचार्य महर्षि शुक के शिष्य थे। महर्षि शुक द्वापर युग के अन्त में राजा परीक्षित के समकालीन थे। ऐसी स्थिति में यदि गौड़पादाचार्य को महर्षि शुक का शिष्य माना जाय तो जगद्गुरु शङ्कराचार्य के दादा गुरु होने की सम्भावना गलत हो जाती है। क्योंकि शङ्कराचार्य ईसा की ८वीं शताब्दी में हुए और उनके दादा गुरु उनसे अधिक से अधिक १०० वर्ष पहले माने जा सकते

हैं। इसलिए अधिकांश इतिहासकार इनका समय ईसा की सातवीं सदी में मानते हैं।

गौड़पाद की रचनाओं में उनकी गौड़पादी कारिकाएँ भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। इन कारिकाओं को चार भागों में विभक्त किया गया है पहला विभाग आगम-विभाग है, जो उपनिषदों पर आधारित है। दूसरा विभाग वैतथ्य-विभाग है, जिसमे संसार के मिथ्यात्व को सिद्ध किया गया है। तीसरा अद्वैत-विभाग है, जिसमें वेदांत के अद्वैत तत्व का प्रतिपादन किया गया है और चौथा विभाग अलात-शान्ति के नाम से विख्यात है।

गौड़-प्रदेश

आधुनिक बंगाल का प्राचीन नाम गौड़-प्रदेश था। इस गौड़-प्रदेश की सीमा में भुवनेश्वर और उड़ीसा का भी कुछ भाग शामिल था। भिन्न २ राजाओं के समय में इसकी सीमाएं घटती बढती थीं।

गौड़-प्रदेश की राजधानी कभी गौड़-नगर में, कभी लखनौती में और कभी पाण्डुवा नामक स्थान में रहती थी। पाल-राजवंश की राजधानी 'गौड़' में और सेन राजवंश की राजधानी 'लखनौती' में थी।

गौड़-राज्य का पूरा इतिहास बंगाल नाम के साथ इस ग्रंथ के अगले अंकों में देखना चाहिए।

गौतम-न्याय सूत्र

न्याय-दर्शन के सुप्रसिद्ध संस्थापक महर्षि गौतम। जिनके काल निर्णय में विद्वानों के अन्दर बहुत मतभेद हैं। कुछ इतिहासकारों के मत से इनका समय ईसा से ६ शताब्दी पूर्व और कुछ के मत से ४ शताब्दी पूर्व और कुछ के मत से २ शताब्दी पूर्व समझा जाता है।

इनका दूसरा नाम 'अक्षपाद' भी था। महर्षि गौतम का मूल ग्रंथ न्याय-सूत्र है। जिसमें ५ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय २ आह्निकों में बँटा हुआ है। सारे सूत्रों की संख्या ५३० है।

हिन्दू साहित्य में महर्षि गौतम न्याय-सूत्र के प्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका न्याय-सूत्र इस कथन से प्रारम्भ होता है—"प्रत्येक आध्यात्मिक महत्वकांक्षी का चरम लक्ष्य मोक्ष होता है और मोक्ष की यह पूर्णता तथा स्वतंत्रता १६ सिद्धांतों को समुचित रूप से समझने से ही संभव हो सकती है। ये १६ सिद्धान्त—१–प्रमाण २–प्रमेय ३–संशय ४–प्रयोजन ५–दृष्टांत ६–सिद्धांत ७–अवयव ८–तर्क ९–निर्णय १०–वाद ११–जल्प १२ वितण्डा १३–हेत्वाभास १४–छल १५–जाति और १६–निग्रह स्थान है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन ४ प्रमाणों से ज्ञान उत्पन्न होता हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान 'श्रीकृष्ण चैतन्य' का कथन है कि :—"न्याय-दर्शन एक यथार्थवादी दर्शन हैं। आदर्शवादियों के समान यह इस बात पर बल नहीं देता कि वाह्य जगत् की वास्तविकता प्रत्यक्षीकरण करने वाले मन पर निर्भर करती है। इसके तर्क सामान्य ज्ञान पर आधारित स्वस्थ विचार है। यद्यपि यह गंभीर विचार-पद्धतियों में चमत्कार पूर्ण शोध-कार्य आरंभ करता है। जिसमें प्रत्यक्षीकरण, प्रमाण, सादृश्यता तथा अनुमान के मूल्य स्पष्टता पूर्वक दरसाये गये हैं। यदि अरस्तू ने योरोप में निगमात्मक तर्क के लिए हेत्वनुमान को आधारभूत सिद्धांत के रूप में स्थापित किया तो भारत में न्याय-विचारधारा ने एक दम स्वतंत्र रूप से इसे प्राप्त किया।

न्याय-दर्शन के लिए वेदों को 'अपौरुषेय' स्वीकार करना संभव न हो सका। न्याय ईश्वर को विश्व का कारण स्वरूप तथा अंतिम प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वीकार करता है। न्याय एक विशुद्ध दर्शन है जो तर्क और परम्परा में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है।

वह बतलाता है कि स्पष्ट और स्वस्थ चिंतन मोक्ष का मार्ग है। मुक्ति का अर्थ अभिलाषाओं के अत्याचार से स्वतंत्रता प्राप्त करना है। घृणा, प्रेम और अज्ञानता के कारण मनुष्य मूर्खता पूर्ण क्रियाओं को करने के लिए प्रेरित होता है। प्रेम के अंतर्गत वासना, घृणा और लालच सम्मिलित हैं।

इस प्रकार न्याय-दर्शन एक सुविकसितय दर्शन है जो आचार-शास्त्र से परिपूर्ण और तर्क-शास्त्र से पूर्णतया सम्बंधित है। न्याय-दर्शन ने भारतीय मस्तिष्क को तर्क करने को स्पष्ट विधि प्रदान की।"

न्याय-दर्शन के टीकाकारों और व्याख्याकारों में वात्स्यायन, वाचस्पति मिश्र, उद्योतकर, भारद्वाज, गांगेश, विश्वनाथ और दिङ्नाग हैं।

न्याय-दर्शन का आधुनिक आलोचनात्मक अध्ययन करने में बी० एल० आत्रेय, एस० भादुड़ी, एस० सी० चटर्जी, ए० बी० कीथ, यू० मिश्र, एच० एन० रेंडल, एस० सी० विद्याभूषण तथा डी० एल० एच० इंगलिस के नाम उल्लेखनीय हैं।

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

भारतवर्ष के एक मशहूर पुरातत्वज्ञ और सुप्रसिद्ध इतिहासकार। जिनका जन्म सन् १८६३ में सिरोही के 'रोहेड़ा' नामक ग्राम में औदीच्य-जाति में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। मगर फिर बम्बई जाकर इन्होंने पुरातत्व और लिपियों का विशेष अध्ययन किया। उसके पश्चात् उदयपुर में पुरातत्व-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए।

सन् १८९८ ई० में इन्होंने भारत की प्राचीन लिपी-माला' का प्रकाशन किया, जिससे इनकी कीर्ति बहुत बढ़ गयी। सन् १९०८ ई० में ये 'राजपूताना म्युजियम' के अध्यक्ष नियुक्त हुए। और सन् १९३८ ई० तक वहीं काम करते रहे। सन् १९१४ ई० में इनको रायबहादुर की और सन् १९२८ ई० में महामहोपाध्याय की सम्मानित उपाधि प्राप्त हुई। सन् १९३७ई० में इन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि, सन् १९३७ में काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय से डी० लिट् की उपाधि और आन्ध्र-विश्व-विद्यालय से 'पुरातत्ववेत्ता' की मान्यता प्राप्त हुई। सन् १९१८ में प्राचीन लिपि माला का बड़ा संस्करण प्रकाशित हुआ। जिस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने 'मंगला-प्रसाद-पारितोषिक प्रदान किया।

सन् १९०२ में ओझा जी ने कर्नल टॉड के 'राजस्थान के इतिहास' का सम्पादन किया। सन् १९२३ से इन्होंने राजपूताने का विशाल इतिहास लिखना प्रारम्भ किया जो कई खंडों मे समाप्त हुआ। यह इतिहास राजपूताने का एक प्रामाणिक इतिहास माना जाता है।

इस प्रकार पुरातत्व और इतिहास दोनो ही क्षेत्रों में डा० ओझा की सेवाएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनकी सेवाओं का सम्मान करने के लिए उन्हें 'ओझा-अभिनन्दन-ग्रन्थ' भेंट किया गया।

गोसाल-मंखलीपुत्त

सुप्रसिद्ध आजीवक-सम्प्रदाय के संस्थापक और 'नियतिवाद' नामक सिद्धांत के पुरस्कर्ता। जिनका समय ईसा से पूर्व ६वीं शताब्दी में था। और जो भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध के समकालीन थे।

गोसाल के आजीवक सम्प्रदाय और नियतिवाद-सिद्धांत का कोई स्वतंत्र ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि सम्राट् अशोक के पश्चात् आजीवक सम्प्रदाय का अस्तित्व समाप्त हो गया था। इसी लिए उनका कोई स्वतंत्र साहित्य उपलब्ध नहीं है, पर जैन-साहित्य और बौद्ध-साहित्य में इनके सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा हुआ प्राप्त होता है।

जैन-परम्परा के अनुसार गोसाल के पिता का नाम 'मंखली' और माता का नाम 'भद्रा' था। ये दोनों पति-पत्नी तरह तरह के चित्रपट लेकर उनको दिखा कर शिक्षासे अपनी आजीविका चलाते थे। घूमते-घूमते ये एकबार 'शंखरण' नामक ग्राम में पहुँचे वहाँ की एक गोशाला मे इनको एक पुत्र हुआ। गोशाला में जन्म होने के कारण ही इसका नाम 'गोशाल' रखा गया।

युवा होने पर वह घूमता-घूमता एक वार राजगृह नगर में आया। उस समय भगवान् महाबीर भी वहीं पर ठहरे हुए थे। गोसाल भगवान महाबीर को देखकर उनसे बहुत प्रभावित हुआ और उसने उनसे शिष्य बना लेने की प्रार्थना की। भगवान् महावीर ने मौन रह कर उसकी प्रार्थना का कोई उत्तर नहीं दिया। गोसाल उनके मौन को स्वीकृति समझ कर उनके साथ रहने लगा और साथ रह कर तरह-तरह के उपद्रव करने लगा।

जब भगवान् महाबीर छद्मस्थ अवस्था में अपने १० वें चातुर्मास के समय 'सिद्धार्थपुर' में आये, मार्ग में एक तिल के पौधे को देखकर गोसाल ने उनसे पूछा कि-'भगवान्! यह तिल का पौधा फलेगा या नहीं ?' भवितव्यता के योग से स्वयं भगवान् महाबीर मौन छोड़ कर बोले—'भद्र! यह तिल का पौधा फलेगा और इससे ७ तिल उत्पन्न होंगे।

महाबीर की इस बात को असत्य करने के लिए गोसाल ने उस पौधे को उखाड़ कर एक तरफ रख दिया। दैवयोग से

उसी समय वहाँ पर एक गाय निकली। उसके पैर का जोर लगने से वह पौधा वहीं पर लग गया।

जब महावीर के साथ गौशाल सिद्धार्थपुर से वापस लौटा तो वहाँ आकर पूछा कि भगवान् ! आपने तिल के पौधे के सम्बन्ध में जो बात कही थी-वह तो नष्ट हो गया। महाबीर ने कहा कि नहीं, वह यहीं हैं और लगा है। तब गौसाल ने उस पौधे को देख कर उसे चीरा और उसमें देखा तो ७ ही दाने नजर आये।

यह देख कर उसी समय गौसाल ने यह सिद्धान्त निश्चित किया कि शरीर का परावर्तन करके जीव वापिस जहाँ के तहाँ उत्पन्न होते हैं। जैन सिद्धान्त जहां पर मानता है कि प्राणी कर्म करने में स्वतंत्र है, मगर उसका फल भोगने में परतंत्र है। वहाँ गौशाल ने यह स्थिर कियत कि प्राणी कर्म करने में भी परतन्त्र है और उसका फल भोगने मे भी परतंत्र है। एक दुर्दान्त नियति के चक्र में पड़ा हुआ, वह उसी की प्रेरणा से कर्म करता है और उसके फल भी भोगता है।

एक राजा ने जब गौसाल से कर्मफल के विषय मे प्रश्न किया तो उसने उत्तर दिया कि—'महाराज ! प्राणियों के पाप कर्म के लिए कोई कारण नहीं है। जीव बिना कारण के ही पापी हो जाते हैं। पुण्य कार्य के लिए भी कोई कारण नहीं। वह बिना कारण के ही पवित्र हो जाते हैं। शक्ति, तेज, बल या पराक्रम-आदि कुछ भी माननीय तत्व नहीं हैं। अंडज, पिंडज, वनस्पति आदि कोई भी प्राणी बलवान, वीर्यवान् या शक्तिवान नहीं है। नियति के दुर्दान्त चक्र में पड़े हुए उसी की प्रेरणा से ये प्राणी कर्म करते और उसका फल भोगते हैं।'

इसके बाद गौसाल महावीर का साथ छोड़कर श्रावस्ती-नगरी में जाकर स्वतन्त्र रूप से तपस्या करने लगा। वहाँ पर उसने 'तेजोलेस्या' इत्यादि कई सिद्धियां भी प्राप्त की और 'आजीवक' सम्प्रदाय नाम से एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की।

इस सम्प्रदाय के उस समय करीब ११ लाख अनुयायी हो गये थे। भगवान् महावीर के साथ इनका संघर्ष और मतभेद चलता रहा।

'ऐन्शेंट सिविलिजेशन' नामक ग्रंथ में उसके विद्वान् लेखक ने लिखा है कि-'ईसवी सन् से ६०० वर्ष पूर्व बौद्धों और जैनियो के साथ त्याग धर्म मत वाले जो दूसरे धर्म प्रचलित हुए, उनमें गौशाल के द्वारा स्थापित किया हुआ 'आजीवक' सम्प्रदाय सबसे अधिक लोक,परिचित था।' सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में बौद्धो और जैनियो के साथ इस सम्प्रदाय का भी विवेचन किया है। इससे मालूम होता है कि गौशाल बुद्ध और महावीर का प्रतिस्पर्धी था लेकिन अब उसका चलाया हुआ धर्ममत लोप हो गया है।''

गौहाटी

असम राज्य का कामरूप जिले का प्रसिद्ध शहर, जो पहले आसाम की राजधानी था और अब भी उस प्रदेश का सबसे बड़ा नगर है। इसका इतिहास बहुत प्राचीन है।

गौहाटी प्राचीन युग में प्रागज्योतिषपुर के नाम से प्रसिद्ध था। महाभारत काल में यहाँ का राजा भगदत्त था।

मन्दसौर के एक स्तम्भलेख से पता चलता है कि मालवा के राजा बशोधर्मन के सामने ब्रह्मपुत्र के राजाओं ने आत्म-समर्पण किया था। एक दूसरे लेख से पता चलता है कि मालवा के राजा महासेन गुप्त ने कामरूप के राजा सुस्थिर वर्मन को हराया था और मालवा के राजा देवगुप्त ने सातवीं सदी में कामरूप के राजा भास्कर वर्मन के विरुद्ध गौड़ प्रदेश के राजा शशाङ्क से मित्रता भी कर ली थी जिसके प्रतिवाद स्वरूप भास्कर वर्मन ने कन्नोज के हर्ष से मित्रता की थी। सन् ६४३ मे चीनी यात्री हुएनसंग भास्कर वर्मन के यहाँ गया था। इन सब बातों से ऐसा मालूम होता हैं कि छठीं, सातवीं सदी में कामरूप मे वर्मन वंश के लोग राज्य करते थे। इनके नामों के आगे वर्मन लगा रहता था। और इनका मालवा के राजाओं से वैर रहता था।

नौवीं शताब्दी में बंगाल के पाल राजवंश ने कामरूप पर अधिकार कर लिया। सन् १२२८ से लेकर १८२५ ई० तक आसाम पर शान जातिकी अहोम शाखा का राज्य रहा। और इसी जातिके नाम पर इस देशका नाम 'आसाम' पड़ा। बीच में सोलहवीं सदी में यहाँ पर कूच बिहार के कोच राजाओं का अधिकार हो गया था। सत्रहवीं सदीके प्रारम्भमें कुछ मुसलमान आक्रमणकारियों ने वहां पर अपना आधिपत्य कर लिया था, मगर सन् १६८१ में वे यहाँ से निकाल दिये

गये। सन् १८२६ में यह स्थान अंग्रेजी हुकूमत में आया। सन् १८९७ में यहाँ पर भयङ्कर भूकम्प आया जिसमें यहाँ का हर एक पक्का मकान ध्वस्त हो गया था।

गौहाटी में कामाख्या देवी का मन्दिर भारत का प्रधान शक्ति पीठ है जो तांत्रिक लोगों का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा हैं। सन् १५६६ में प्रसिद्ध आक्रमणकारी काला पहाड़ ने इस मन्दिर को तोड़ कर नष्टभ्रष्ट कर दिया था। उसके बाद कूच बिहार के राजा नरनारायण ने इसका फिर से निर्माण करवाया।

गौहाटी आसाम का सब से बड़ा नगर और शिक्षा तथा व्यापार का केन्द्र है। यहाँ पर विश्वविद्यालय, हवाई अड्डा और नदी का बन्दरगाह बने हुए हैं।

घड़ी

मनुष्य को समय का ज्ञान कराने वाला एक यंत्र। जिसने सभ्यता के प्रारम्भ से अब तक कई रूपों में अपने आप को परिवर्तित किया।

मानव-जाति के आविर्भाव के साथ ही उसे समय के ज्ञान की आवश्यकता विशेष रूप से महसूस हुई।

घड़ियों का इतिहास देखने से पता लगता है कि सूर्य की चाल से समय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य ने सबसे पहले धूप घड़ी का आविष्कार किया।

मिस्र की सबसे प्राचीन धूप घड़ी, जो इस समय बर्लिन के संग्रहालय में सुरक्षित है, ईसवी सन् से १५५० वर्ष पूर्व की मानी जाती है। चीन में भी ईसा से ११०० वर्ष पूर्व धूप-घड़ी का आविष्कार हो गया था, ऐसा समझा जाता है। भारतवर्ष में भी ईसा से पूर्व धूपघड़ियों का ज्ञान हो चुका था। रोम में सबसे पहली धूप-घड़ी ईसा से २९० वर्ष पूर्व स्थापित हो चुकी थी।

मगर रात्रि के समय में, बदली के दिनों में धूप-घड़ी से समय का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता था। इसलिए इस कठिनाई को दूर करने के लिए जल-घड़ी का आविष्कार हुआ। जल-घड़ी का आविष्कार सबसे पहले चीन में हुआ। वहाँ से मिस्र और यूनान में इसका प्रचार हुआ।

इसके पश्चात् मनुष्य की [illegible] हुई आवश्यकता ने उसे यांत्रिक घड़ियों के आविष्कार की ओर प्रेरित किया। यांत्रिक घड़ियों में सबसे पहले दीवाल-घड़ियों का आविष्कार हुआ। इन घड़ियों का सबसे पहले १३ वीं शताब्दी में इटली के अन्दर आविष्कार हुआ ऐसा समझा जाता है।

सन् १३६२ ई० में जर्मनी के 'हेनरी-डी-विक' ने फ्रांस के तत्कालीन सम्राट् 'चार्ल्स' के लिए एक बड़ी घण्टा-युक्त घड़ी बनाई, जो कि 'पैलेस-दि-जस्टिस' नामक उसके महल की मीनार पर लगाई गयी। उसके अवशेष अभी भी उपलब्ध हैं। ये भारी-भरकम दीवार घड़ियाँ कमानी के जोर से नहीं, बल्कि लटकते हुए बाँट के बल से चलती थीं। एक बेलन पर लिपटी रस्सीके निचले सिरे पर भारी बाँट बंधा हुआ रहता था। यह बाँट अपने भारी वजन के कारण धीरे-धीरे नीचे उतरता तो बेलन भी घूमता था और बेलन के सहारे सुइयाँ भी डायल पर घूमती थीं। बाँट की इसी सूझ के ऊपर इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'गेलीलियो' ने सन् १५८१ में पेंडुलम् युक्त बड़ी घड़ी का आविष्कार किया। उसके बाद तरह तरह की विशाल घड़ियों का निर्माण हुआ।

लन्दन की 'बिग बेन घड़ी' तो विश्व की आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक है। लन्दन के पालियामेंट भवन में लगी हुई इस घड़ी में हाथ से चाभी भरने में पूरे दो घण्टे लगते थे, पर सन् १९२७ ई० से इसमें मैशीन के द्वारा चाभी भरी जाती है।

न्यूयार्क नगर में कोलगेट कम्पनी के ऊँचे भवन में एक बड़ी लगी हुई है। इस घड़ी में मिनट की सूई १५ फीट लम्बी और घण्टे की सूई १० फीट लम्बी है। रात्रि में प्रकाश होने पर यह घड़ी दूर से दिखाई देती है।

दक्षिण भारत के विशाल नगर हैदराबाद के सालारजङ्ग तृतीय के संग्रहालय में पुराने समय की अनेक विचित्र घड़ियाँ संगृहीत की हुई हैं। एक घड़ी के डायल में झूला पड़ा हुआ है जिसमें बच्चे बैठे झूल रहे हैं। एक ऐसी अद्भुत घड़ी है जिसमें हर एक घण्टे के ५ मिनट पहले उसमें से एक आदमी निकलता है और घण्टा पूरा होते ही उतने घण्टे बजाकर उसी में वापस चला जाता है।

सिसली द्वीप के मैसीना नामक नगर में गिरजाघर की मीनार पर एक अद्भुत घड़ी लगी है। इस घड़ी के पास ही एक ऐसे सिंह की मूर्ति बनी हुई है जो दोपहर होते ही अपनी पूँछ हिलाने लगता है और साथ ही साथ गरजने लगता है।

इस प्रकार यह घड़ी सुबह, दोपहर और सायंकाल के बाद ३ बार मुर्गे की तरह बांग भी देती है ।

बड़े आकार की घड़ियों को चलाने के लिए अब बिजली की शक्ति का भी प्रयोग होने लगा है। लीवरपूल के टावर में लगी हुई एक घड़ी के डायल का व्यास २५ फुट है। इसके घण्टे और मिनट की सूइयों की लम्बाई १८ फुट है। और पूरी घड़ी का वजन ५०० मन के करीब है। यह घड़ी विद्युत शक्ति से चलाई जाती है।

जमीन पर लिटाई हुई संसार की सबसे बड़ी घड़ी दक्षिण अफ्रीका के रैंड-एयरोड्रम पर लगी हुई है। इसके डायल का व्यास ३० फुट है। यह घड़ी हवाई जहाज के पाइलेटों को समय का ज्ञान बताने के लिए लगाई गयी है।

स्विट्जरलैंडके जिनेवा नगर के एक विशाल घण्टाघर पर एक ऐसी घड़ी लगी हुई हैं जिसमें जब घण्टा बजता है, तब घड़ी के डायल के आगे एक सिरे से खिलौने के जानवरों और बच्चों का एक जलूस निकलता है और दूसरे सिरे पर जाकर खतम हो जाता है।

घड़ी-उद्योग

आधुनिक घड़ी-उद्योग का प्रारम्भ योरोप में व्यवस्थित रूप में १८वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इस उद्योग का प्रारम्भ ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस में हुआ, मगर इसका पूरा विकास स्विट्जरलैंड मे हुआ। थोड़े ही समय में इस उद्योग ने वहाँ पर आशातीत उन्नति की और वहाँ की घड़ियाँ संसार भर में प्रचलित हो गयी। स्विटजरलैंड की घड़ियाँ ठीक समय बतलाने के लिए संसार मे प्रसिद्ध हैं। इस लिए इसे घड़ियों का देश भी कहा जाता है तरह तरह की छोटेबड़े साइज की जेब घड़ियाँ, हाथ घड़ियाँ अत्यन्त सुन्दर डिजाइनों में वहाँ निर्मित होती हैं। स्विट्जरलैंड के न्यु चाटल नामक स्थान पर स्थित स्विस घड़ी-अनुसन्धान-शाला ने हाल में एक ऐसी अणुशक्ति की घड़ी बनाई है, जो २७००० वर्षों तक बिल्कुल सही समय बताती रहेगी। इस तमाम अर्से में अगर उसके समय में फर्क पड़ा भी तो वह एक सेकंड से अधिक न होगा।

संयुक्त राज्य अमेरिका में घड़ी उद्योग का जन्म १८ वी सदी के अन्त में एल्-टेरी नामक व्यक्ति के द्वारा हुआ यह लकड़ी की घड़ियाँ बनाया करता था। यांत्रिक विधियों से घड़ी का निर्माण सबसे पहले उसी ने किया। सेट-टामस और चांसी-जेरोम ने इस उद्योग मे लकड़ी के बदले पीतल के पुर्जे का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। १६वी सदी के अन्त और २० वीं सदी के प्रारम्भ में इस उद्योग का बहुत विस्तार हुआ। विद्युत-घड़ियों के आविष्कार ने इस उद्योग में क्रांति कर दी अब वहाँ अणुशक्ति की घड़ियों का निर्माण की योजना चल रही है।

घण्टा-नाद

मन्दिरों में और ईसाई गिर्जों मे ऊपर से लटका कर बांधा जाने वाला एक वाद्ययन्त्र, जिसका प्रचार बहुत प्राचीन काल से पूजा-स्थानों मे किया जाता है।

मन्दिरों में घण्टा बजाने की प्रथा भारत में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। स्कन्द पुराण में लिखा है कि जो वासुदेव के सामने पूजा के समय घण्टा बजाता है, वह हजारों वर्ष तक देवलोक में वास करता है और मनोहारिणी अप्सराएँ उसकी सेवा करती हैं। सर्ववाद्यमय घण्टा विष्णु को अतिशय प्रिय है। दूसरे वाद्य-यंत्रों के अभाव में केवल घण्टा बजाने से ही पूजा सिद्धि होती है।

मिस्र, प्राचीन यूनान और प्राचीन रोम मे भी हाथ से बजाने योग्य घंटा का काफी प्रचार था। मिस्र में 'ओरिसिस के भोज' नामक उत्सव के समय घण्टा बजा कर सबको सूचना दी जाती थी।

मगर घण्टा का जैसा विशाल रूप ईसाइयों के गिरजों में स्थापित हुआ, वैसा दुनियाँ में शायद कही भी नही हुआ।

सन् ४०० ई० में कैम्पानियाँ के अंतर्गत नोला के बिशप पोलिनियास ने सबसे पहले बड़े घण्टा का व्यवहार प्रारम्भ किया। विशाल रूप का पहला घण्टा कैम्पानिया में बना इसीलिए गिरजाघरों में टंगे हुए बड़े घण्टों को कैम्पानिया के नाम पर 'कैम्पेनाइल' कहा जाता है।

फ्रांस मे सन् ५५० मे गिरजाघरों में घण्टा बँधना चालू हुआ। छठी शताब्दी में आयर्लेण्ड, स्काटलैण्ड इत्यादि कई देशों में घण्टों का बजना प्रारम्भ हो चुका था। उस समय के कई घण्टे अभी सुरक्षित रखे हुए हैं।

ईसा की ग्यारहवीं सदी में 'आरलिस' नगर के गिरजाघर को एक घंटा किसी राजा ने दान में दिया था। इस घण्टे का वजन २६०० पौण्ड था। उस समय इस घण्टे ने बड़ी प्रसिद्धि पाई थी। सन् १४०० में पारी नगर में 'जैकलिन' नामक एक घण्टा सांचे मे ढाला गया था जिसका वजन १५००० पौण्ड था।

रूस के मास्को नगर में यूरोप का सबसे बड़ा घण्टा ढाला गया था। इसका नाम 'जार कोलोकोल' था इसका निर्माण पन्द्रहवीं सदी में किया गया था। ऐसी किम्वदन्ती है कि मास्को के गिरजाघरों में १७०६ घण्टे थे। इसमें यह घण्टा इतना भारी था कि उसको हिलाने में २४ आदमी एक साथ लगते थे। इसका वजन ३६०० मन के करीव था। एक बार यह टूट गया था तब सन् १६५४ में फिर वनाया गया। उसके बाद सन् १७६४ में इसे तोड़ कर इसमें और धातु मिलाकर फिर ढाला गया, उसी समय इसका नाम 'जार कोलोकोल' रखा गया। यह घण्टा १८ फुट ३ इञ्च लम्बा, ६० फुट ९ इंच घेरा और २ फुट की मोटाई का था। इसके निर्माण में ६७००० पौण्ड खर्च हुए थे और इसका वजन १९८ टन था। दूसरे-दूसरे गिर्जाघरों के घण्टे भी ५ टन से लेकर १८ टन तक के होते थे।

जिस प्रकार भारतवर्ष मे मूर्तियां स्थापित करते समय विधि विधान के साथ उनकी प्रतिष्ठा की जाती है। उसी प्रकार ईसाइयों में घण्टा बाँधते समय कई प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान होते थे। फिर मनुष्यों की तरह उसका वैप्टाइज्म किया जाता था। ईसाई लोग घण्टा को अत्यन्त पवित्र मानते हैं और उस पर पवित्र धर्मवाक्य खुदवाते थे। मध्य युग के प्रायः सभी घण्टों पर निम्नलिखित शब्द खुदे रहते थे–

'Funera plango, fulgura frango, Sabbata pango, Excito lentos, dissipoventos paco cruentos'

उस समय के लोगों का विश्वास था कि 'घण्टानाद' से आन्धी, तूफान, अग्निकाण्ड इत्यादि दैवी विपत्तियाँ रुक जाती हैं। सन् १८५२ में जब मालटा के उपकूल में भयङ्कर आंधी आयी थी। तब मालटा के विशप ने उस आंधी को रोकने के लिए सब गिरजाघरों में लगातार कई घण्टों तक घण्टानाद करवाया था। सत्रहवीं सदी के पहले तक मरणोन्मुख व्यक्ति के कानों पर घण्टे की आवाज डाली जाती थी, यह विश्वास किया जाता था कि उससे मरने वाले की आत्मा पवित्र हो जाती है।

इसके पश्चात् घण्टानाद में से तरह-तरह के सङ्गीत के स्वर निकालने की प्रथा प्रारम्भ हुई। इस प्रथा का जन्म सबसे पहले नैदरलैंण्ड में हुआ। इस प्रकार के घण्टे 'कैरिलेन्स' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इंग्लैंण्ड में ५६ घण्टों को सुर मिलाकर ऐसे कौशल से रक्खा गया है कि बजते समय उन घण्टों से तरह-तरह के सुर निकल कर वड़ी मनमोहक ध्वनि पैदा करते हैं। बार्गेस नगर के 'लि-हौले' नामक प्रासाद के शिखर पर एक ऐसा ही 'कैरिलोन्स' लगा हुआ है। कहा जाता है कि ऐसी सर्वाङ्ग सुंदर और मधुर ध्वनिवाला घण्टा यूरोप में दूसरा नहीं है।

एशिया के दक्षिण पूर्वी देशों में भी घण्टा-नाद का बहुत प्रचार है। वरमा मे बहुत से घण्टों में लटकन नहीं रहता। वे हिरन के सींग की हथौड़ी से बजाये जाते हैं। ब्रह्मदेश के करीब-करीब सब मन्दिरों में घण्टे लगे हुए हैं। रंगून के 'शुयेदागुन' नामक मन्दिर में सन् १८४२ का ढला हुआ एक घण्टा है जिसका वजन ४२ टन से अधिक है इसकी ऊंचाई ९॥ हाथ है।

चीन के पेकिंग नगर में एक छोटे से मठ में एक घण्टा हे जिसका वजन ५३॥ टन है। इस घण्टे पर चीनी भाषा में बौद्ध धर्म का उपदेश और मठ का इतिहास खुदा हुआ है। चीन मे और भी कई स्थानों पर बड़े विशाल घण्टे लगे हुए हैं जिनका वजन ५० टन से अधिक है।

घाना (Gold Coast)

पश्चिमी अफ्रीका का समुद्रतटवर्ती देश, जो पहले गोल्ड-कॉस्ट नाम से प्रसिद्ध था और अब 'घाना' के नाम से विख्यात है। इसका क्षेत्रफल ९२१०० वर्गमील और जन-संख्या ६६९७७३० है।

चौथी सदी से लेकर तेरहवीं सदी तक इस क्षेत्र पर नाइजर क्षेत्र के घाना-राजवंश का राज्य था। १४ वीं सदी में सबसे पहले यहाँ पुर्तगाली लोग आये। १७ वीं सदी में अंग्रेज तथा डच व्यापारी इस क्षेत्र से गुलामों को पकड़-पकड़ कर उन्हे मण्डियों में ले जाकर बेचते थे। उसके बाद यह क्षेत्र धीरे-धीरे अंग्रेजी राज्य का एक उपनिवेश बन गया।

दूसरे महायुद्ध के पश्चात् जब दूसरे सब उपनिवेश अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त होने लगे, तब सन् १९५१ ई० में गोल्ड-कॉस्ट के अन्दर भी डा० एन्क्रूमा के नेतृत्व में वहाँ की 'पीपुल्स-पार्टी' ने स्वतन्त्रता का जोरदार आन्दोलन प्रारम्भ किया। उन दिनों एन्क्रूमा का गोल्ड-कॉस्ट की जनता पर इतना भारी प्रभाव था कि ब्रिटिश सरकार की नजरबन्दी में रहते हुए भी 'अकरा' शहर के चुनाव में उनको २३१२२ मतों में से २२७८० मत मिले थे। उनकी इस सफलता से प्रभावित होकर ब्रिटिश-गवर्नमेंट ने १३ फरवरी सन् १९५१ ई० को उन्हें छोड़ दिया और मार्च सन् १९५२ में उन्हें वहाँ का प्रधान मन्त्री बना दिया।

उसके बाद पहली जुलाई सन् १९६० को घाना एक स्वतंत्र गणराज्यके रूप में इतिहास के पृष्ठों पर आया। वहाँ के नये विधान में राष्ट्रपति को सर्वोच्च शक्तियाँ प्रदान की गयी और डाक्टर 'एन्क्रूमा' उस सर्वशक्ति-सम्पन्न राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुए।

इस पद पर आने के साथ ही, उनमें एक तानाशाह की दुर्दान्त भावनाओं का उदय होना प्रारम्भ हुआ। इसके पहले ही सन् १९५९ में उन्होंने प्रधान मन्त्रीकी हैसियतसे कई ऐसे कानून पास कर दिये थे, जो जनतन्त्रीय परम्परा के विरुद्ध थे। मगर राष्ट्रपति होने के बाद उनका रूप और भी विकृत हो गया।

सन् १९६१ के अक्टूबर महीने में उन्होंने लगभग ५० ऐसे प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार किया जो स्वाधीनता-आंदोलन में उनके साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर लड़े थे, मगर अब वे उनकी तानाशाही को मानने के लिए तैयार नहीं थे। इनमें डा० 'जे० बी० डैन्क्वाह' का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिनकी जेल के अन्दर सन्देहास्पद स्थिति में मृत्यु हो गयी। और भी डा० एन्क्रूमा से मतभेद रखने वाले कई लोगों को तङ्ग आकर देश से बाहर चला जाना पड़ा।

जनवरी सन् १९६४ में डा० एन्क्रूमा ने संविधान में संशोधन करके 'घाना' को एक पार्टी वाला राज्य घोषित कर दिया जिसके फलस्वरूप पीपुल्स-पार्टी ही घाना की एक मात्र राजनैतिक पार्टी हो गयी। इससे भी अधिक खतरनाक बात यह हुई कि डा० एन्क्रूमा ने एक संशोधन पास करवा कर उच्च न्यायालय के जजों को भी अपनी मरजी से हटाने के अधिकार प्राप्त कर लिए। इस अधिकार से उसने बहुत से जजों को बरखास्त कर दिया और प्रधान सेनापति 'अंक्राह' और गुप्तचर विभागके प्रधान 'अमीयाहिया' को भी बरखास्त कर दिया। इधर घाना की प्रमुख फसल 'कोको' के दाम गिर जाने से वहाँ की आर्थिक स्थिति भी बहुत खराब हो गयी।

इन सब बातों से असन्तोष की ज्वाला बड़ी तेजी से बढ़ने। लगी जिसके परिणाम स्वरूप वहांपर एक मुक्ति-परिषद की स्थापना हुई और जिस समय डा० एन्क्रूमा बड़े ठाट-बाट से 'वियेटनाम' में शान्ति स्थापित करने के लिए 'हनोई' के लिए रवाना हुए। उसी समय को क्रान्तिकारियों ने उचित समझा और फरवरी सन् १९६६ में एक दिन अचानक सारे संसार को मालूम हुआ कि घाना में एन्क्रूमा की सरकार उलट दी गयी। डा० एन्क्रूमा और उनके मंत्री पदच्युत कर दिये गये।

२४ फरवरी १९६६ को उनकी राजधारी 'अकरा' में स्थापित उनका आदमकद स्टैच्यू तोड़ फोड़ कर नष्ट कर दिया गया। पीपुल्स-पार्टी भङ्ग कर दी गयी। राजनैतिक बंदी छोड़ दिये गये और सेना तथा पोलिस ने सत्ता के अधिकार सम्भाल लिये। विद्यार्थियों ने इस खुशी में बड़े-बडे जलूस निकाले और जनता ने इस तानाशाह के पञ्जे से छूट कर राहत की साँस ली।

घाना का प्रदेश सोना, मैंगनीज, हीरा, बाक्साइट इत्यादि खनिज सम्पदा के लिए प्रसिद्ध है। खेती की प्रधान

उपज में 'कोको' सबसे प्रधान है। यहाँ से निर्यात होने वाली वस्तुओं में कोको, सोना, हीरा, लकड़ी, मैगनीज, बाक्साइट इत्यादि चीजें प्रधान हैं। सन् १९५८ में यहां का निर्यात व्यापार १०,४५,५७,३१० स्टर्लिङ्ग का था। यहाँ की राजधानी 'अक्करा' (Accra) समुद्र तट पर स्थित है। यही इस प्रदेश का सब से बड़ा शहर है। यहाँ की जनसंख्या ३,२५,९७७ है।

घूसेबाजी (Boxing)

घूसेबाजी या मुक्कों की लड़ाई। जिसका व्यवसायिक रूप में प्रारम्भ सबसे पहले इंग्लैंड में १८ वी सदी मे हुआ।

वैसे प्राचीनकाल में भारतवर्ष के अन्दर भी मल्लयुद्ध के साथ मुष्टिका युद्ध प्रचलित था। रामायण के अनुसार वालि और सुग्रीव मे मुष्टिका-युद्ध हुआ था, जिसमें बालि के मुष्टिका प्रहार से घबरा कर सुग्रीव मैदान से भाग खड़ा हुआ था इसी प्रकार रावणने हनुमानके मुष्टिका-प्रहार की प्रशंसा की थी।

मगर आधुनिक युग में घूसेबाजी का व्यवसायिक रूप से प्रारम्भ इंग्लैण्ड के अन्दर १८वीं शताब्दी में हुआ। इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध घूसेबाज 'जेम्स-फिग' पहला पहलवान था, जिसने व्यापारिक स्तर पर मुक्केबाजी प्रारम्भ की। सन् १७१६ में नंगे घूसे से युद्ध करने का श्रीगणेश हुआ और जेम्स-फिग ने अपने आप को प्रथम विश्व-विजेता घोषित किया।

अवकाश ग्रहण करने के बाद 'फिग्' ने घूसेबाजी सिखाने का स्कूल खोला। जो बाद मे 'फिग्स एकेडेमी फॉर बाक्सिग' के नाम से विख्यात हुआ। कुछ ही समय में 'फिग्' का यह स्कूल सारे योरोप में प्रसिद्ध हो गया। और वहाँ पर दूर-दूर से लोग घूसेबाजी सीखने के लिए आने लगे।

अमेरिका में भी इंगलैण्ड के अनुकरण पर 'घूसेबाजी' का प्रारम्भ हुआ और कहा जाता है कि अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति 'जॉर्ज वाशिंगटन' अपने समय में नङ्गे हाथों से घूसेबाजी करने में बहुत प्रसिद्ध थे। वे केवल १६ वर्ष की आयु में वर्जीनियाँ के चैम्पियन बन गये थे।

अमेरिका में घूसेबाजी का प्रारम्भ भारी विरोध के बीच में हुआ। अमेरिका में उन दिनों घूसेबाजी कानून से वर्जित थी। इसलिये घूसेबाजी वहाँ पर खुलेआम न होकर लुके-छिपे होती थी। और इस घूसेबाजी को रोकने के लिए राज्य को जल और थल-सेना से काम लेना पड़ता था।

मगर अब वहाँ पर घूसेबाजी वैध समझी जाने लगी है।

अभी कुछ ही दिनों पहले बॉक्सिग के अखाड़े में विश्व-प्रख्यात बॉक्सिग-चैम्पियन 'डेविड्मूर' की मुक्कों की चोट से मृत्यु हो जाने से फिर सारे संसार में घूसेबाजी के विरुद्ध एक बड़ा आन्दोलन खड़ा हो गया। रोमन-चर्च के पोप ने *इस अवसर पर कहा था कि—'यह खेल नही है, आदमी की* जिन्दगी के साथ खेलवाड़ है, यह अनैतिक और गैरकानूनी है। पेशेवर मुक्केबाजी कानूनन मना होनी चाहिए।"

अमेरिका की विधान सभा में एक और सदस्य ने कहा था कि--'मूर की मौत मुक्केबाजी के इतिहास में एक और दुःखद घटना है। यह खेल नहीं, कानूनी हत्या है।"

मूर की मृत्यु पर मुक्केबाजी के इतिहास में जो प्रतिक्रिया हुई, वह अनूठी है। इस खूंख्वार और लोमहर्षक खेल के लम्बे इतिहास में यह पहली मौत हो ऐसी बात नहीं! पिछले ६०-६२ वर्षों मे रिंग में जीवन-लीला समाप्त करने वाले डेविडमूर ४५१वें शहीद हैं। अर्थात् इनसे पहले ४५० व्यक्ति इश खेल में बलिदान हो चुके हैं।

और यह सब किस लिए? केवल पैसे के लिए। स्वर्गीय 'डेविड' ने खुद एक बार कहा था कि—'मैं सिर्फ एक चीज के लिए लड़ता हूँ- वह है रुपया। मैं किसी उच्च आदर्श के लिए नहीं लड़ता। मुक्केबाजी सिर्फ एक व्यापार है।' और इसी व्यापार के लिए उसने अपने प्राण दे दिये।

मूर की मौत से सारा बॉक्सिग-जगत् हिल गया। बहुत से मुक्केबाजो ने अपने 'ग्लूव' उतार दिये और सारे संसार मे पेशेवर मुक्केबाजी को बन्द करने के नारे लगने लगे।

❋